लेखक की अन्य रचनाएँ

प्रबन्ध-सागर : साहित्यिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक इत्यादि विषयों पर उच्चकोटि के सैकड़ों निबन्धों का ५५० पृष्ठों का अपूर्व ग्रन्थ। (तीसरा संस्करण, १९५४) ५॥)

आदर्श पत्र-लेखन : व्यक्तिगत, व्यावहारिक, निजी तथा व्यापारिक पत्रों का भावनात्मक, कथात्मक तथा विचारात्मक संग्रह। इसमें हर परिस्थिति का पत्र उपलब्ध है। पृष्ठ संख्या ५६८; ७॥)

कबीर-साहित्य और सिद्धान्त : कबीर के जीवन, साहित्य, सिद्धान्त और भाषा इत्यादि का संक्षिप्त, परन्तु सम्पूर्ण, सारगर्भित आलोचनात्मक विवेचन। २॥)

सूर-साहित्य और सिद्धान्त : सूर के जीवन, साहित्य, सिद्धान्त और भाषा इत्यादि का संक्षिप्त, परन्तु सम्पूर्ण, सारगर्भित आलोचनात्मक विवेचन। २॥)

जायसी-साहित्य और सिद्धान्त: महाकवि जायसी के जीवन साहित्य, सिद्धांत और भाषा इत्यादि का संक्षिप्त परन्तु सम्पूर्ण आलोचनात्मक विवेचन।

हिन्दी के उपन्यासकार : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का विकास, प्रधान उपन्यासकार और उनके प्रधान उपन्यासों का आलोचनात्मक परिचय। ३)

इन्सान (उपन्यास) : भारत विभाजन की रोमांचकारी कहानी का सारगर्भित विवेचना-पूर्ण उपन्यास। यू. पी. सरकार द्वारा पुरस्कृत। ४)

हमारे अन्य प्रकाशन

शिवालक की घाटियों में (सचित्र)—लेखक श्री निधि सिद्धान्ता-लंकार। शिवालक की बीहड़ घाटियों में आप बीती रोमांचकारी घटनाओं का सजीव चित्रण। पृष्ठ २५६; ५)

सचित्र गृह-विनोद—ले० श्री अरुण एम० ए०, गोष्ठियों तथा एकान्त में भी मनोविनोद की सैकड़ों विधियां खेल, चुटकुले, पहेलियां इत्यादि संगृहीत हैं। पृष्ठ ४१२; २२५ चित्र; ८)

भूगोल के भौतिक आधार (सचित्र)—ले० श्री रामस्वरूप वशिष्ठ। भौतिक वातावरण के विभिन्न रूपों की परिचय देने वाली ज्ञानवर्धक पुस्तक। पृष्ठ ३३० ६)

भारत का चित्रमय इतिहास—ले० श्री महावीर अधिकारी। प्रस्तावना लेखक— डा० रघुवीरसिंह। प्रागैतिहासिक काल से लेकर तालीकोट युद्ध तक का इतिहास। पृष्ठ ३६६; ३०० से अधिक चित्र। ६)

आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-६

आदर्श भाषण-कला

भाषण और वाद-विवाद-कला का स्पष्टीकरण। अनेकों विषयों के पक्ष और विपक्षों का स्पष्टीकरण। विद्यार्थियों तथा संसदीय सदस्यों के लिए अपूर्व लाभदायक ग्रन्थ।

लेखक

यज्ञदत्त शर्मा

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली–६

मूल्य ७॥)

मुद्रक
रामाकृष्णा प्रेस
कटरा नील, दिल्ली।

विषय-सूची

आदर्श भाषण-कला

अध्याय १

भाषण और वक्ता

'भाषण' शब्द जितना सूक्ष्म है इसका प्रभाव उतना ही व्यापक है। 'भाषण' में जो शक्ति विद्यमान है वह भाव-प्रकाशन के अन्य साधनों में मिलनी सम्भव नहीं। 'भाषण' के अस्त्र को लेकर बड़े-बड़े साहित्यिक, राजनैतिक और धार्मिक महारथियों ने विश्व में समय-समय पर नवीनतम क्रांतियों को जन्म दिया है। बड़े-बड़े विचारकों ने जब-जब अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने की ओर कदम उठाया है तब-तब भाव-प्रकाशन के सब साधनों के पश्चात् उन्हें 'भाषण' का ही आश्रय लेना पड़ा है। 'गीता' भगवान् कृष्ण का एक भाषण ही था जो उन्होंने महाभारत के प्रारम्भ में पाण्डवों की सेना के सम्मुख दिया। महात्मा बुद्ध, शङ्कराचार्य, स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी, सुभाष बोस और पंडित जवाहरलाल नेहरू के भाषणों ने समय-समय पर भारत की जनता में किस प्रकार धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्रांति को जन्म दिया है, यह कहने की बात नहीं। विश्व के इतिहास में ईसा, मुहम्मद साहब, अरस्तू, मार्टिन ल्यूथर, अब्राहम लिंकन, क्रामवेल, वाशिंगटन, नेपोलियन, चर्चिल, हिटलर, लेनिन, स्तालिन, इत्यादि के नाम धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में वह ज्वलन्त उदाहरण हैं कि जिन्होंने अपने भाषणों से युग परिवर्तित किये हैं, विचारधाराएँ बदली हैं और विश्व को अपने प्रभाव से हिलाया है।

वक्ता, भाषण का विषय तथा श्रोता

भाषण द्वारा वक्ता अपने विचार, अपनी भावना, अपने ज्ञान और अपनी कल्पना को श्रोताओं तक पहुँचाता है,—माध्यम है यह वक्ता और श्रोता के बीच का। इस प्रकार भाषण में तीन वस्तुएँ सन्निहित हैं,—वक्ता, भाषण का विषय और श्रोता। इन्हीं तीन वास्तविक तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का नाम भाषण है।

उक्त तीनों वास्तविक तथ्यों का सम्बन्ध क्या है,—यह जाने बिना वक्ता के लिए यह नितान्त असम्भव है कि वह इस सम्बन्ध का उचित रूप से निर्वाह कर सके। तीनों तथ्यों में सम्बन्ध और तादात्म्य स्थापित करने के लिए क्या तरीका काम में लाना चाहिए, यही जान लेना यहाँ विशेष महत्त्व की बात है। वक्ता भाषण देता है, अपने विचारों, सिद्धान्तों और कल्पनाओं को श्रोताओं के पास तक पहुँचाने किसी पुराने विचार के समर्थन या नवीन विचार के प्रति पालन के लिए। उसकी यह महत्त्वाकांक्षा तो फलीभूत हो सकती है जब उसकी भाषा, उसके विषय और वाक-चातुर्य में इतनी क्षमता हो कि वह श्रोताओं को प्रभावित कर सके, मोहित कर सके, अपनी उस विचारधारा में प्रवाहित कर सके जिसमें कि वह स्वयँ बह रहा हो। भाषण द्वारा श्रोताओं को प्रभावित करना वक्ता की एक प्रधान कला है। इस विषय में अरस्तू ने जिस रूप में अपने विचार प्रकट किये हैं उससे आगे आज तक कोई अन्य वक्ता या वाक्-कला का निरीक्षक तथा कलाकार नहीं बढ़ सका है।

वक्ता अपने भाषण में प्राचीन का समर्थन या निषेध करता है, नवीन का प्रतिपादन या खंडन करता है, प्रचलित प्रवृत्तियों को बल अथवा निर्बलता प्रदान करता है, किसी विचार धारा के प्रति श्रोताओं के समर्थन को बढ़ावा देता है या उन की प्रवृत्ति का खंडन कर दूसरा मार्ग सुझाता है,—कुछ भी सही, इसके लिए वक्ता में श्रोताओं को प्रभावित करने का गुण वर्त्तमान होना आवश्यक है।

भाषण की प्रभावात्मकता

जनता में भाषण देने की कला विद्यालयों में अध्यापकों के भाषणों की कला से सर्वथा भिन्न है। श्रोताओं को केवल विषय की जानकारी भर करा देने से जन-वक्ता का कार्य सिद्ध नहीं हो जाता। भाषण में वक्ता और उसके विषय का प्रधान गुण सूचना न होकर प्रभावात्मकता होनी चाहिए। बहुत से सूचनात्मक वक्तव्य भी, यदि उनमें अपने श्रोताओं को प्रभावित करने की क्षमता है तो, भाषणों की कोटि में रखे जा सकते हैं। ऊपर विश्व इतिहास के कुछ विशेष व्यक्तियों के नाम गिनाये हैं जिनके समय-समय पर दिये गये भाषणों ने युग-के-युग परिवर्तित कर दिये हैं, विचार धाराएँ बदल दी हैं और समाज तथा राजनीति के क्षेत्रों में महानतम क्रान्ति को जन्म तथा बल दिया है।

भाषण की प्रभावात्मकता ही भाषण का वह प्रधान तत्त्व है कि जिसके आधार पर भाषण के विषय और भाषण के श्रोताओं का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है। यही प्रभावात्मकता एक को दूसरे के निकट खींचकर लाती है और भाषण के विषय को श्रोता के हृदय और मस्तिष्क में स्थापित कर देती है। इसी में बहकर तो बड़े-बड़े नेताओं के अनुगामी अपने जीवन को उनके उद्देश्यों

की पूर्ति के लिए समर्पित कर देते हैं।

एक सफल-जन-वक्ता बनने के लिए यह आवश्यक है कि वक्ता पहले अपने भाषण के विषय को पूरी तरह समझे, फिर अपने श्रोताओं को पहचान सके कि उनके मस्तिष्क तथा हृदयों में किस विचार-धारा का संचार वह किस हद तक करने में समर्थ हो सकेगा और फिर प्रभावात्मकता के साथ अपनी शैली तथा अपने ढंग से भाषण-कला-चातुर्य द्वारा काम ले; तो कोई कारण नहीं कि श्रोताओं पर उसका प्रभाव न पड़े और उसके श्रोता मंत्रमुग्ध होकर उसकी विचारधारा में अपने को भुला न बैठें।

वक्ता की आवश्यकताएँ

पक्का इरादा और अभ्यास (Determination and Practice) : कोई भी व्यक्ति जो एक सफल जन-वक्ता बनना चाहता है उसके लिए जन-वक्ता बनने की प्रथम आवश्यकता यह है कि उसके मन में वक्ता बनने की उत्कट इच्छा और गहरी लगन होनी चाहिए; जो चौबीसों घंटे उसके हृदय और मस्तिष्क में प्रेरणा स्वरूप उसकी वक्ता बनने की इच्छा को जगाती रहे। उसका इरादा बहुत पक्का और विश्वास अटल होने की आवश्यकता है।

पक्का इरादा और पक्का विश्वास लेकर भाषण-कला के क्षेत्र में अवतीर्ण होने वाले जन-वक्ता को चाहिए कि वह विषय की जानकारी और भाषण के निरन्तर प्रयोगों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करे। जन-वक्ता को अपने विषय का माहिर होने की आवश्यकता है क्योंकि उसे जनता के सामने अपने विचारों को रखना होता है। साथ ही यह भी सम्भव हो सकता है कि उस विषय पर उसे अपने से पूछे जाने वाले सवालातों का भी कहीं किसी मंच से उत्तर देना पड़ जाय। उस स्थिति में यदि वक्ता का ज्ञान उस विषय पर अधूरा ठहरता है तो उसकी स्थिति उसके श्रोताओं की दृष्टि में काफी नीची गिर जाती है। भाषण देने के निरन्तर प्रयोगों से जनता के बीच बोलने और अपने विचारों को रखने की हिचकिचाहट तथा भय आपसे आप चला जाता है और कुछ ही अवसरों के पश्चात् वक्ता में खुल कर मंच पर उतर पड़ने का साहस दिखलाई देने लगेगा। विषय पर अधिकार पाकर वक्ता में प्रभावात्मकता का आजाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि ऐसी दशा में विषय उसके सामने सब ओर से सरल प्रतीत होगा और फिर जिस ओर से भी वह उसे पकड़ कर श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगा, उसमें उसे कठिनाई नहीं होगी।

प्रत्येक विषय के वक्ता को प्रारम्भ में मंच पर उतरते समय कठिनाई का सामान करना होगा। उसके विचारों का जमाव भी एक ही बार में इतना व्यव-

स्थित नहीं हो सकता कि वह तमाम बातों को सिलसिलेवार इस तरह श्रोताओं के सम्मुख रख सके कि जिससे श्रोतागण वाह-वाह करके तालियों की ध्वनि से पंडाल को गुंजादें । इस दशा तक पहुँचने में समय लगता है और इसके लिए वक्ता को प्रयास करने की आवश्यकता होती है ।

जन-वक्ता बनने की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि पहले वह अपनी विचार-धारा को अपने मित्रों के बीच रखे, उस पर उनके विचार प्राप्त करे और अपने विचार प्रस्तुत करे, बहस करे, घर, बाहर, ट्रेन, क्लब, होटल सभी स्थानों पर लोगों के बीच उस विषय को अपने दिमाग से उतार कर खड़ा करदे और फिर उस पर इधर-उधर की लच्छेदार बहसों को चलने दे, उसके पक्ष और विपक्ष की बातों को समझे और सवाल करे उन लोगों के बीच और फिर सबकी सुन लेने के पश्चात् अपना एक निश्चित मत बनाने का प्रयत्न करे। फिर छोटी-छोटी दस-दस पाँच-पाँच आदमियों की सभाओं में अपना मत प्रस्तुत करे और उन सब या उनमें से अधिकांश की अपना मत मनवाने की क्षमता प्राप्त करे। बस यहीं से एक सफल वक्ता बनने का अंकुर जमना प्रारम्भ हो जायगा उस व्यक्ति में। परन्तु यहाँ यह ध्यान रहे कि वक्ता के मन से यह विश्वास नहीं उठ जाना चाहिए कि उसे एक सफल वक्ता बनना है और वह, वह बन सकता है; ठीक उसी प्रकार बन सकता है जिस प्रकार संसार के अनेकों वक्ता हुए हैं। वक्ता के चरित्र का प्रधान गुण है उसका आत्मविश्वास और पक्का इरादा, बस इन्हीं दोनों के बल पर उसे आगे बढ़ना होता है। "आत्म विश्वास और अभ्यास के बल पर कौन व्यक्ति है जो एक सफल वक्ता नहीं बन सकता ?" अमरीका का जबरदस्त जन-वक्ता हैनरी वार्ड बीचर अपने भाषणों के दौरान में कहा करता था।

भाषण-कला के अतिरिक्त जब हम अन्य कलाओं की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमारे सामने उनकी सफलता में आत्म विश्वास और निरन्तर अभ्यास का वही स्थान मिलता है जो भाषण-कला के विषय में हमने ऊपर संकेत किया। यदि कोई व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे अपनी सफलता का मूल्य निरन्तर अभ्यास और कार्यकुशलता से देना ही होगा। कुशलता पूर्वक कार्य न करने और प्रयास में आनाकानी करने से कभी-कभी यह देखा गया है कि असाधारण बुद्धि वाले व्यक्ति भी लक्ष्य-प्राप्ति में असफल सिद्ध हो जाते हैं। मेहनत और अभ्यास के बिना कोरी योग्यता और बुद्धिमत्ता साधारणतया एक ओर रखी रह जाती हैं और ऐसे व्यक्तियों को जीवन में कभी किसी दिशा में भी आशातीत सफलता प्राप्त नहीं होती। कार्य की दिशा में निरन्तर प्रयास, अभ्यास और आत्मविश्वास से ही निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति सर्वदा सम्भव है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने भजनों का जनता में गा-गा कर प्रचार किया और जनता दीवानी होकर उनके

पीछे-पीछे होली। स्वामी दयानन्द ने जनता के बीच समाज की कुरीतियों का खण्डन किया और जनता ने उनके विचारों की कद्र की। महात्मा गांधी ने भारत की पराधीन जनता के डूबते हुए विश्वास को अपनी वाणी से जगाया और उनके साथ देश का बच्चा-बच्चा अपने प्राणों को हथेली पर रख कर खड़ा हो गया। लेनिन और स्तालिन ने अपने देश और विदेशों के दलित वर्गों को उत्थान का मार्ग सुझाया और उनमें जागृति पैदा हुई। यह सब क्या था? विचारधारा का बल और उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में निरन्तर प्रयास और अपनी मान्यताओं का विविध परिस्थितियों में अभ्यास। यह प्रयास और अभ्यास कभी असफल सिद्ध नहीं हुए,—सर्वदा सफलता मिली।

जन वक्ता की कला का क्षेत्र अन्य कलाओं की ही भाँति मैं साधारण मानता हूँ,—असाधारण नहीं। वाक्-चातुर्य या भाषण देना केवल असाधारण बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए ही सम्भव नहीं, वरन् साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति भी निरन्तर प्रयास और लगातार अभ्यास से थोड़ा विषय की जानकारी करके कुशलता पूर्वक जनता के सामने चमत्कार पैदा कर सकते हैं। जन-वक्ता को कभी भी जनता के सामने हताश या निराश होने की आवश्यकता नहीं। सफल वक्ता वही है जो जनता के विपरीत दिशा में बहते हुए प्रभाव को भी अपनी विचारधारा में बहा सके और अपने विपक्ष में ऊँचे उठे हुए मस्तकों को झुका कर अपने सामने नीचा कर सके।

सरलता और निष्कपटता (Sincerity of Speech) : पक्का इरादा और अभ्यास के साथ-ही-साथ एक सफल वक्ता के लिए यह भी आवश्यक है कि वह जिस विषय पर भाषण देने खड़ा हो उसपर उसके विचार सरल और निष्कपट होने की आवश्यकता है। सोफ्तेबाजी और नीलाम के वक्तव्यों को छोड़ कर शेष किसी भी क्षेत्र में कोई व्याख्यान अपने श्रोताओं को उस समय तक प्रभावित नहीं कर सकता जब तक वक्ता के आदर्श की सचाई और उसके भाव-प्रकाशन की सरलता और निष्कपटता से श्रोता मंत्रमुग्ध न हो जाय। सुन्दर भाषण देना एक कला है और विचारात्मक तथा प्रभावात्मक वक्ता जब अपनी लच्छेदार भाषा में समयोपयुक्त हाव-भावों के साथ मंच पर आता है तो अपने श्रोताओं को अपनी विचार-धारा के साथ बहा ले जाता है और उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता भी मिलती है परन्तु यह सम्पूर्ण सफलता असफलता में भी परिणित हो जाती है यदि कहीं श्रोतागण यह भाँप जायँ कि वक्ता के कथन में कपट है, सत्यता नहीं। श्रोता के मन में इस भावना के जाग्रत होते ही भाषण का प्रभाव एकदम नष्ट हो जाता है। यह सिद्धान्त रूप से सत्य है कि जब तक वक्ता अपने आप में अपने कथन के प्रति सच्चा नहीं है तब तक वह श्रोताओं के हृदयों में अपने कथन

की सचाई को नहीं उतार सकता।

किसी भी वक्ता के श्रोतागण जब अपने वक्ता को उसके कथन के विपरीत आचरण करता हुआ पाते हैं, तो उनके मन में शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। वह महसूस करते हैं कि वक्ता ने उन्हें धोखा दिया और उनका अपमान किया। वक्ता का उन्हें उस विचार-धारा को ग्रहण करने का आदेश करना कि जिसका वह स्वयँ कायल नहीं,एक छल है अपने श्रोताओं के साथ। वक्ता को अपने श्रोताओं को इस प्रकार छलने का कोई अधिकार नहीं। फलस्वरूप श्रोता पर वक्ता का कथन प्रभावोत्पादक न होकर निष्फल सिद्ध होता है और भाषण की प्रभावात्मकता शून्य हो जाती है।

ठीक इसके विपरीत वक्ता के विचारों में उसके आचरण की सचाई देखकर उसका श्रोता प्रभावित होता है और उसके प्रशंसात्मक दृष्टिकोण पर वक्ता का अधिकार हो जाता है। यह ठीक है कि सचाई के साथ अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होने वाले वक्ता के विचारों में भी श्रोता उतनी गहराई के साथ नहीं पैठ सकता जितनी गहराई के साथ वह स्वयँ पैठा हुआ है, परन्तु फिर भी उनका सम्मान उस ओर होगा और वह निरन्तर बढ़ता ही जायगा,—उसमें कभी कमी आने की सम्भावना नहीं। सच्चे वक्ता का श्रोता यह अनुभव नहीं कर सकेगा कि उसके वक्ता ने कभी उसे ठगने, धोखा देने या कुमार्ग पर लगाने का प्रयास किया। इस प्रकार इस वक्ता को अपने श्रोताओं का सक्रिय सहयोग तथा हार्दिक शुभ कामनाएँ प्राप्त होंगी और इसी सहयोग तक शुभकामना के बल पर वक्ता अपनी विचार-धारा को निरन्तर प्रभावशाली बनाता चला जायगा और उसके श्रोताओं तथा प्रशंसकों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती चली जायगी। अपने श्रोताओं की सद्भावना और उनके संयोग पर विजय प्राप्त करने की ओर यह प्रथम कदम है। उनके दिल और दिमाग पर अपना असर जमाने के लिए वक्ता के कथन में निष्कपटता होना नितान्त आवश्यक है। इसलिए वक्ता के व्यवहार या कथन से कभी भी उसके वक्तव्य की सचाई को कोई ठेस न लगे, इस दिशा में उसे सर्वदा जागरूक रहना चाहिए।

ज्ञान : पक्का इरादा, अभ्यास और निष्कपटता के पश्चात् एक वक्ता के लिए तीसरी आवश्यकता है उसके भाषण सम्बन्धी ज्ञान की। इस आवश्यकता की पूर्ति के बिना पक्का इरादा और अभ्यास तथा निष्कपटता निष्फल ही सिद्ध नहीं होंगे वरन् श्रोताओं पर उसका उलटा ही प्रभाव पड़ेगा और उससे वक्ता के विचार को बल मिलने की अपेक्षा उलटी हानि ही होगी।

वक्ता को केवल भाषण देते समय यही जान लेने की आवश्यकता नहीं है कि उसके भाषण के विषय में क्या-क्या ज्ञातव्य बातें हैं वरन् यह भी समझ लेना नितान्त आवश्यक है कि उसके भाषण का विषय ही वास्तव में क्या है। भाषण का विषय छाँटने से पूर्व वक्ता को दो बातों का ध्यान रखना चाहिए, प्रथम

तो यह कि जो विषय वह अपने भाषण के लिए चुन रहा है वह क्या है और उस विषय का उसके पास कितना ज्ञान-भण्डार है। बिना इन दो बातों पर ध्यान दिये कोई भी जन-वक्ता कभी अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं हो सकता। मैंने अनेकों व्याख्यान सुने हैं और बड़े-बड़े वक्ताओं को देखा है कि वह मंच पर पहुँच कर भाषण की ठरक में ऐसे बहकते हैं कि विषय और विषय की विवेचना से सम्बन्ध विच्छेद कर अपनी मन-मानी गाथाओं या कहानियों पर इस तरह फैलते हैं कि श्रोता चाहे उस समय उनकी लच्छेदार भाषा में बहता चला जाय परन्तु सार तत्व की बात उनके कुछ हाथ-पल्ले नहीं पड़ती। गीता पर भाषण देते हुए बाल-कृष्ण का वर्णन करते और गाँधीजी पर भाषण करते समय ईसा, मूसा और मसीहा तक दौड़ लगाते मैंने वक्ताओं को देखा और सुना है। परन्तु भाषण के अन्त में पाया कि वास्तविक तथ्य के विषय में वक्ता केवल इधर-उधर कुछ संकेत भर कर देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह पाया। इसलिए उस विषय-विषयक जानकारी श्रोताओं की अपूर्ण ही बनी रही और जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भाषण सुनने पहुँचे और अपना समय नष्ट किया वह ज्यों-की-त्यों ही रह गया।

वक्ता को चाहिए कि वह इस प्रकार के अव्यवस्थित भाषण करके जनता का और अपना समय नष्ट न करे। इस प्रकार के भाषणों से वक्ता को ख्याति के स्थान पर उलटी बदनामी ही प्राप्त होगी। वक्ता को भाषण देते समय अपना असली विषय दिमाग से इधर-उधर गिरा नहीं देना चाहिए। उसे चाहिए कि वह विषय को उसकी व्याख्या के साथ अपने मस्तिष्क में फैलाकर विस्तार के साथ संजोये। अपने विषय के समर्थन में जो कुछ भी प्रमाण वह प्रस्तुत करे उनकी पुष्टि के लिए उसके पास निश्चित घटनाएँ और सचाई भी होनी चाहिए कि जिनकी झड़ी लगाता हुआ वह अपने श्रोताओं पर छाता चला जाय। भाषण-कला के इस महत्त्वपूर्ण रहस्य को भुला कर चलने वाला वक्ता कभी भाषण-कला का सफल कलाकार नहीं बन सकता। विविध विषयों का विस्तृत ज्ञान होना किसी जन-वक्ता के लिए नितान्त आवश्यक है। वक्ता चाहे नया हो या पुराना, व्यावहारिक हो या व्यापारिक, उसे चाहिए कि वह अपने विषय तक ही सीमित रहने का प्रयत्न करे और उस विषय की अपने श्रोताओं के सम्मुख जितने भी विस्तार के साथ व्याख्या कर सके, करे। इसी से उसकी वक्तव्य-कला की उन्नति होगी और उसके भाषण को बल मिलेगा।

वक्ता को चाहिए कि वह मंच पर जाने से पूर्व विषय को परखना; उसकी गम्भीरता को कायम रखना; उसकी पूर्ण जानकारी को सप्रमाण थोड़े में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना; उसकी तारीख, हिसाब, घटनाएँ और सूचनाएँ अधिक से अधिक खोज कर जनता के सामने लाना; आवश्यक बातों को प्रस्तुत करना तथा

अनावश्यक बातों को छोड़ देना; सम्भव शंकाओं को अपनी ओर से प्रस्तुत करके उनका सही-सही निराकरण करने का प्रयास करना, बस यही वह चन्द बातें हैं जिनका ध्यान रखकर जनवक्ता को मंच पर कदम बढ़ाना चाहिए। इतनी जानकारी के बिना भाषण देने से प्रोत्साहन की अपेक्षा अप्रोत्साहन ही प्राप्त होगा; तथा जनता की सहानुभूति न मिलकर भ्रामक विचार-धारा का ही प्रसार होगा।

शब्द चयन : एक सफल वक्ता के सामने उक्त तीन प्रधान आवश्यकताओं के पश्चात् जो चौथी आवश्यकता आती है वह है भाषणोपयुक्त शब्द चयन करने की। जिस वक्ता का जितने भी अच्छे-से-अच्छे और प्रभावशाली शब्दों और उनके प्रयोग पर अधिकार होगा, वह उतना ही सफल वक्ता बन सकेगा और उसके भाषण में उतना ही दम भी रहेगा। एक सफल वक्ता के शब्दों को श्रोता के कानों में बज उठना चाहिए और उनकी झंकार उनके हृदय में एक प्रभावशाली गूँज बन कर उतर जानी चाहिए। जिस प्रकार एक दूकानदार के पास जितना भी अच्छा संग्रह अपने सामान का होगा उतनी ही अच्छी दूकानदारी वह कर सकेगा। इसी प्रकार एक वक्ता के पास जितने भी उपयुक्त शब्दों का भण्डार होगा उतने ही सुन्दर से-सुन्दर और प्रभावशाली-से प्रभावशाली शब्दों में गूंथ कर वह अपने भावों और विचारों की माला बना सकेगा। ताजे-से-ताजे और सुन्दर-से-सुन्दर फूलों से गुथी यह विचार-मालाएँ आप-से-आप उसके श्रोताओं के गलों का हार बनकर उन्हें वक्ता के बन्धन में बाँध सकेंगी। सुन्दर शब्द-चयन से वक्ता के भाषण की प्रभावात्मकता को बल मिलेगा।

शब्द ही वक्ता के पास वह औजार हैं जिनके जरिये से वह अपने श्रोता के मस्तिष्क की नाड़ियों को हिला-हिला कर उनमें अपनी आवाज भरता है और उनके दिल के पर्दों में अपनी भावना को संजोता है। यह शब्द वक्ता की वह कलात्मक तूलिकाएँ हैं कि जिनसे वह पाठकों के सामने अपनी भावनाओं, कल्पनाओं और विचारों का आकर्षक चित्र प्रस्तुत करता है। श्रोताओं के निराश्रित हृदयों को आशा से पूरा कर देना और उनमें कर्त्तव्य की ज्वाला सुलगा देने का कार्य वक्ता शब्दों की ही सहायता से करता है। असहाय पड़ी भारत की जनता में आजादी की भावना भरने को लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, सुभाष और जवाहर ने जो कुछ भी किया, क्या वह कभी सम्भव था, यदि इनके पास अपने भावों को श्रोताओं तक पहुँचाने के लिए प्रभावशाली शब्दों का अभाव होता ? यह नितान्त असम्भव था। कार्य और कारण की सत्यता को व्यापक रूप देना शब्दों का ही काम है। सुन्दर और प्रभावशाली शब्द ही इसके सफल साधन हैं। एक सफल वक्ता को चाहिए कि उसके अनुशासन में शब्दों की कतारें हर समय हाथ बांधे खड़ी रहें और अवसर मिलते ही वह उसके विचारों को अपने में भरकर वक्ता के श्रोताओं पर एक कलात्मक ढंग से बरस पड़ें,—एक उतार-चढ़ाव के साथ, एक प्रवाह और शक्ति-

के साथ।

वक्ता को शब्द-चयन में दो बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान देकर उनका प्रयोग करना चाहिए,—एक तो किसी भी शब्द का प्रयोग करने से पूर्व उसका सही अर्थ उसे ज्ञात होना चाहिए और दूसरे उस शब्द का ठीक-ठीक उच्चारण उसे आना चाहिए। गलत अर्थ में शब्द प्रयोग करने से तो अर्थ का अनर्थ हो ही जाता है परन्तु उच्चारण की अशुद्धता भी श्रोताओं के कानों में बहुत खटकती है। शब्दों के गलत प्रयोग और उच्चारण की अशुद्धता का श्रोताओं पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और इसी के आधार पर वह कभी-कभी वक्ता की योग्यता का मूल्याङ्कन कर बैठते हैं।

गलत शब्द के प्रयोग से कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वक्ता जो कुछ कह रहा है वह सब मूर्खतापूर्ण है, परन्तु यदि केवल उस शब्द के प्रयोग मात्र की भूल को सुधार दिया जाय तो पता चलता है कि वह कुछ पते की बात कह रहा था। इस प्रकार वक्ता की महत्त्व पूर्ण बात भी कभी-कभी उसके गलत शब्द प्रयोग से मूर्खतापूर्ण बन जाती है। शब्दों के इस गलत प्रयोग से बचने के लिए वक्ता को चाहिए कि वह अपने नपे-तुले और जाने-पहचाने तथा परखे हुए शब्दों का ही प्रयोग करे; केवल पांडित्य-प्रदर्शन की ठरक में आकर निराधार और व्यर्थ शब्दों की झड़ी लगाता न चला जाय। भाषण फटकारते समय शब्दों का प्रयोग उसे सोच-समझ कर संयत रूप से करने की आवश्यकता है। वक्ता को चाहिए कि वह अपने भाषण में जिन शब्दों का प्रयोग करे उनके सही प्रयोग, उच्चारण और अर्थ तथा विभिन्न अर्थ और प्रयोगों से परिचित हो। अन्यथा कहीं पर भी ऐसी भूल होने की सम्भावना बनी रहेगी कि जिसके कारण वक्ता का विषय और उसकी विचार-धारा ही खतरे में पड़ जाय और उसका मंतव्य उसके श्रोताओं तक सही माने में न पहुँच सके। एक सफल वक्ता बनने के लिए यह आवश्यक है कि शब्द-चयन का कार्य बहुत ही सावधानी और उत्तरदायित्व के साथ किया जाय क्योंकि शब्दों के ही ऊपर वास्तव में भाषण के ढाँचे को खड़ा होना होता है और यदि वक्ता का यही ढाँचा मजबूत और स्थायी न बन सका तो भाषण में बल नहीं आ-सकता और वक्ता को उसके लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव हो जाती है। वक्ता को चाहिए कि वह एक नोटबुक में अपने विशेष रूप प्रयोग में आने वाले शब्दों को लिख डाले और प्रति सप्ताह उनकी संख्या में आवश्यकता या प्रयोग के अनुसार वृद्धि करता चला जाय। इस दिशा में सफलता की यही एक कुंजी है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक सफल वक्ता बनने के लिए उसकी प्रधान आवश्यकताएँ हैं : उसका मजबूत इरादा, भाषण देने का अनथक अभ्यास, निष्कपटता, विषय का ज्ञान और शब्दों का सही चयन तथा उनका प्रयोग। इन सभी दिशाओं में जागरूक रहकर वक्तव्य-क्षेत्र में अग्रसर होने वाला वक्ता अवश्य एक

दिन कुशल वक्ता बन सकता है। भाषण-कला की यही प्रधान आवश्यकताएँ हैं कि जिनके बिना भाषण न तो प्रभावात्मक ही बन सकता है और न ही श्रोताओं के मस्तिष्क को झुला देने की शक्ति ही उसमें आ सकती है। इन शक्तियों के सही संकलन और प्रसार पर ही वक्ता की सफलता आधारित है और इनका जितना भी कलात्मक-से-कलात्मक स्पष्टीकरण और प्रदर्शन करने में जो कलाकार सफल होगा, उतना ही सफल वक्ता वह बन सकेगा।

अध्याय २

भाषण की विशेषताएँ

गत अध्याय में हमने वक्ता की आवश्यकताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए यह बतलाने का प्रयत्न किया कि किन गुणों से सम्पन्न होकर किसी भी व्यक्ति को जन-वक्ता बनने की ओर कदम बढ़ाना चाहिए। इस अध्याय में हम भाषण के उन प्रधान गुणों का विवेचन करेंगे कि जिनके द्वारा कोई भी भाषण प्रभावशाली बन सकता है और श्रोताओं की विचारधारा को अपने साथ बहाता हुआ अपने में विलीन कर सकता है।

यहाँ भाषण-कला के विद्यार्थियों का ध्यान मैं एक मूल सत्य की ओर दिला देना उचित समझता हूँ कि भाषण देने के इच्छा रखने और इस विषय की पुस्तकें पढ़लेने से ही कोई व्यक्ति एक सफल वक्ता नहीं बन सकता। इसका प्रधान कारण यही है कि यह पुस्तकें पाठकों के सम्मुख केवल यही प्रस्तुत करने का प्रयास मात्र हैं कि जो कुछ आपको कहना है वह किस ढग और किस प्रकार की भाषा में तथा किस तरह कहना चाहिए, जिससे कि वह श्रोताओं के लिए अधिक-से-अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सके। यह पुस्तकें विचार न होकर विचार का साधन और मार्ग प्रदर्शन की योजना हैं जिनके सहयोग से कोई भी व्यक्ति ठीक दिशा में प्रगति कर सकता है। परन्तु इस प्रगति के मूल में वक्ता के अपने विचार और उसकी अपनी प्रेरणा सम्मिलित रहनी आवश्यक है। वक्ता का यही विचार और उसकी यही प्रेरणा इस पुस्तक द्वारा सही मार्ग प्रदर्शन पाकर उसे एक सफल वक्ता बनाने में लाभकर सिद्ध होगी। यदि वक्ता में अपने विचार और अपनी प्रेरणा का अभाव है तो उसके लिए कोई विशेष लाभ होगा, ऐसा हमारा विचार नहीं।

स्पष्टता, सरलता और स्वाभाविकता

स्पष्टता : स्पष्टता से यहाँ हमारा तात्पर्य उस वक्तव्य से है जिसमें बात को गुत्थियाँ बनाकर श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास न करके वक्ता खोल

कर स्पष्टीकरण के साथ बात को रखने का प्रयत्न करता है; अस्पष्ट और दुअर्थी बातें न कहकर वह बात कहता है जिसका अर्थ ग्रहण करने में कोई कठिनाई न हो, कोई दिमाग को जोर न देना पड़े। श्रोता जो कुछ सुने वह खुलासा हो, समझ में आने वाला हो और इसी तरह वक्ता जो कहे उसमें राज छुपाकर न कहे, खोल कर रखदे अपने हृदय के उद्‌गारों को, अपने मस्तिष्क की विचार-धारा को।

सच यह है कि अस्पष्ट और दुअर्थी बातें सर्वदा दूसरों को धोखा देने और भुलावे में रखने के लिए कही जाती हैं। इस प्रकार की बातें कुछ तो निश्चित रूप से कहने के लिए ही कही जाती हैं और कुछ गलतफहमी या अज्ञानता के कारण होती हैं। जो बातें केवल कहने के लिए कही जाती हैं, कुछ क्षेत्रों में उस प्रकार के प्रयोग का निश्चित लाभ भी होता है। राजनीति के क्षेत्र में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग होना साधारण सी बात है परन्तु जब यह प्रयोग गलत-फ़हमी या नासमझी के कारण होता है तो इसका प्रभाव श्रोता पर बहुत गलत पड़ता है और इससे विषय का सार-तत्त्व ही नष्ट हो जाता है।

अस्पष्ट बातें बहुत बड़े मामलात में बहुत बड़ी असाधारण घटनाओं का कारण बन जाती हैं। बात के कहने के ढंग मात्र से ही कभी बात दुअर्थी हो जाती है। महाभारत के युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर के यह भ्रामक बात कहने मात्र से कि 'अश्वत्थामा मारा गया, नर या हाथी यह वह नहीं जानते' उस दिन के युद्ध का पासा पलट गया था—द्रोणाचार्य की मृत्यु का कारण बन गया और पाण्डवों को विजय प्राप्त हुई। यह अस्पष्ट प्रयोग अनजान में न होकर कृष्ण की राजनीति का अङ्ग था। आज भी विश्व की राजनीति संसार की जिन दो शक्तियों के हाथों में नाच रही है उनकी पारस्परिक बातें स्पष्टता को लेकर चलने के स्थान पर अस्पष्टता को लेकर चलती हैं, इसीलिए वह दोनों पक्षों के लिए भ्रामक बनी रहती हैं। यही अस्पष्टता मन-मुटाव और खिन्चाव का प्रधान कारण हैं। संसार के बड़े-बड़े युद्धों के बीच यही अस्पष्टता अपना प्रधान हाथ रखती है। दो अथवा तीन पक्षों की तना-तनी और खिंचाव जब-जब भी चला है तब-तब दुअर्थी बातों ने उस खिंचाव और तनाव को बढ़ाने में पूर्ण सहयोग दिया है।

भाषा में यह अस्पष्टता या दुअर्थीपन आने के दो कारण होते हैं। या तो वाक्य-गठन में लापरवाही करने से ऐसा होता है, जिसका कि निराकरण व्याकरण की सहायता और ठीक विराम इत्यादि के प्रयोग से हो सकता है और दूसरे किस्म की अस्पष्टता वाक्य की वास्तविक कमजोरी के कारण आती है जिसमें कि शब्दों के प्रयोग भी गलत और भ्रामक पाये जाते हैं। इस प्रकार की अस्पष्ट भाषा के प्रयोग से साधारण पाठक या श्रोता की बहुत बड़ी हानि होने की सम्भावना है। अस्पष्ट या दुअर्थी बात उसके सामने आते ही वास्तविकता लोप होजाती है। यही लेखक या

वक्ता के उद्देश्य की असफलता है।

वक्ता को चाहिए कि वह ऐसी भाषा का प्रयोग करे कि जिससे मूर्ख-से-मूर्ख और अनजान-से-अनजान आदमी उसके आशय को समझ सके और उसका मस्तिष्क वक्ता के शाब्दिक माया-जाल में न उलझा रहे। वक्ता जो कहना चाहता है वह सादगी और सच्चाई के साथ उसकी अक्ल में आये और वह उससे कुछ लाभ उठा सके।

लिखित वक्तव्यों में कभी-कभी विराम इत्यादि चिन्ह भी वाक्यों के भावों को परिवर्तित करने के कारण बन जाते हैं। इस प्रकार के लेखों या वक्तव्यों से लेखक या वक्ता को सावधान रहना चाहिए। ऐसे भ्रामक प्रयोग कभी भी वक्ता की ख्याति को बढ़ने वाले नहीं होते और इनसे वक्तव्य का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है।

वक्ता को चाहिए कि वह उन शब्दों का ही प्रयोग करे जिन्हें वह पहले भी अनेकों बार जनता के सामने नाप-तौल कर देख चुका है और उनके प्रभाव से भी वह अपरिचित नहीं है। किसी भी नये शब्द का प्रयोग करते समय उसके अर्थ की पूरी जानकारी होना नितान्त आवश्यक है। कभी-कभी शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध में आकर भी अर्थ बदल जाते हैं और वह साधारण से शब्द मुहावरों का रूप धारण कर दुअर्थी हो जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से वक्ता को सावधान रहने की आवश्यकता है। शब्दों के सही या गलत, उचित या अनुचित प्रयोग में वक्ता की स्पष्ट या अस्पष्ट बात का राज छिपा रहता है, वक्ता के विचारों का सार भरा रहता है। इन शब्दों में शब्द का गलत प्रयोग हो जाने से वक्ता जो कुछ कहना चाहता है वह न कह कर, कुछ समझता है और कुछ कह जाता है। वहाँ यह स्पष्ट ही समझ में आने वाली बात है कि श्रोता का सम्बन्ध वक्ता से कम और उसके भाषण से अधिक रहता है। वक्ता का श्रोता पर स्थायी प्रभाव भी उसके वक्तव्य द्वारा ही होता है। श्रोताओं को प्रभावित वह शब्द ही करते हैं जिन्हें वक्ता का भाषण अपने साथ लेकर चलता है। शब्दों का रूप भी समय-समय में परिवर्तित होता चला आया है और इस परिवर्तन का वक्ता को पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है।

कुछ शब्दों के साधारण अर्थों को लेकर ही उनका हर स्थान पर प्रयोग नहीं होता। कुछ रूढ़ शब्द अपने अन्दर एक विचारधारा या कुछ विशेष अर्थों को संजोये रहते हैं। इनका प्रयोग करते समय बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, राष्ट्रीयता और इसी प्रकार कुछ अन्य अंगरेजी के शब्दों को हम ले सकते हैं जैसे Value, Wealth, Labour, Capital, Organisation, इन शब्दों के पर्यायवाची शब्द हिन्दी में बना लिए गए हैं। इन शब्दों का प्रयोग साधारण अर्थों में तो होता ही है परन्तु जब

किसी विषय विशेष पर वक्तव्य देने या लेख लिखने का प्रश्न आता है तो इन शब्दों का प्रयोग बहुत सोच समझ कर करना होता है। ढीले तरीके से इन शब्दों का प्रयोग भाषण को निरर्थक और भ्रामक बना देगा। इस प्रकार के शब्द अनेकों हैं और प्रत्येक विषय में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली पर दृष्टि डालने से बहुत से ऐसे शब्द सामने आजाते हैं कि जिनका प्रयोग भाषण में बहुत समझदारी और संतुलन के साथ करने की आवश्यकता है।

वक्ता अपने विचार को जिन शब्दों द्वारा व्यक्त करता है वह शब्द वक्ता की भावना, कल्पना, विचार और उसके उद्देश्य को श्रोता के पास तक पहुँचाने में पूरी तरह समर्थ होने चाहिएँ। भाषण के शब्द ऐसे बोझिल और दुअर्थी नहीं होने चाहिएँ कि श्रोता अपने अन्दर उनका अर्थ लगाने के लिए स्वाधीन हो जाय। इस प्रकार के शब्दों से युक्त भाषण कभी भी अपने लक्ष्य की पूर्ति में उतना सफल नहीं हो सकता जितना कि वह होगा जो श्रोता के मस्तिष्क, हृदय और उसकी कल्पना पर बोझ बन कर सवारी न गाँठे। भाषण के शब्द श्रोता के कानों में मिठास घोलने वाले, प्रभावात्मकता पैदा करने वाले और उत्साह बढ़ाने वाले सरल, सुगम और स्पष्ट होने चाहिएँ। भावों और विचारों के स्पष्टीकरण के लिए यदि श्रोता को भटकना पड़ा तो निश्चित रूप से वह भाषण प्रभावात्मक नहीं हो सकता।

सरलता : भाषण पर जब हम विचारकों की श्रेणी में उसे रखकर विचार करते हैं तो कुछ श्लेष की भावना को सहन किया जा सकता है, परन्तु जहाँ तक जनता के बीच दिये गये भाषणों का सम्बन्ध है वहाँ तो अलंकारिक भ्रामकता भी कभी-कभी घातक सिद्ध होती है और भाषण में चमत्कार पैदा होने के स्थान पर उल्टा और उद्देश्य का गला घुट जाता है। जन-वक्ता के भाषण में भ्रामकता या दुअर्थी बातें कभी सहन ही नहीं की जा सकतीं। जन-वक्ता तो कम समझ से कम समझ प्राणी का अध्यापक होता है जिसे उसपर पांडित्य प्रदर्शन न करके अपने विचारों का अभिप्राय उसके पास तक पहुँचाना होता है। उसे समझाना होता है एक अबोध बालक की तरह। उस बालक का मस्तिष्क बहुत कच्चा और परिवर्तनशील होता है। उस कच्चे और परिवर्तनशील मस्तिष्क पर भ्रामक और दुअर्थी शब्दों से युक्त भाषण का दबाव डालने का प्रभाव यह होगा कि वह या तो उस भाषण का गलत अर्थ लगा कर मार्ग से विचलित हो जायगा या उसे व्यर्थ मानकर समझने के लिए अपना समय नष्ट करना ही व्यर्थ समझेगा।

जन-वक्ता को अपने भाषण में जहाँ स्पष्टता अर्थात् दुअर्थी और अस्पष्ट अर्थी शब्दों के प्रयोग का ध्यान रखना चाहिए वहाँ उसे उनसे भी अधिक, क्लिष्ट और न समझ में आने वाले शब्दों से भी अपने भाषण को मुक्त रखना आवश्यक है। जन-भाषण में पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयास वक्ता तथा श्रोता दोनों के

लिए ही हानिकारक सिद्ध होगा और वक्ता अपने जिस अभिप्राय को लेकर श्रोता के सम्मुख पहुँचा है उसका न तो सही स्पष्टीकरण ही हो सकेगा और न उसपर कोई अमल ही होने की सम्भावना होगी।

वक्ता को चाहिए कि वह जिस समुदाय में भाषण दे रहा है उस समुदाय की समझ में आने वाली भाषा के ही शब्दों का उच्चारण करे। ऐसा करने से उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिलेगी और उसके भाषण की प्रभावात्मकता बढ़ जायगी। जनता को, जो कुछ भी वह सुनेगी अपनी बोली में होने के कारण, अपनी बात-सी मालूम देगी और उनका सम्मान वक्ता की ओर आप-से-आप अधिक हो जायगा। श्रोता के मस्तिष्क में मौजूद रहने वाले शब्दों द्वारा जब उसकी विचार-धारा को छूने का प्रयास किया जायगा तो निश्चित रूप से श्रोता की विचार-धारा और भावना पर उसका प्रभाव होगा और वक्ता के वह शब्द श्रोता के मर्म-स्थल को छूने में सफल सिद्ध होंगे।

भाषण के शब्द और उसकी भाषा में अलंकारिकता केवल उसी हद तक सहन की जा सकती है जहाँ तक कि वह पाठक को अपनी ओर खींचने और वक्ता का आशय उसे समझाने में सफल सिद्ध हो। जहाँ यह शब्द-श्रृंगारिकता श्रोता को अस्पष्टता की ओर लेजाने लगेगी वहाँ भाषण के मूल सिद्धान्त को ठेस लगती है और उसकी प्रभावात्मकता नष्ट होने लगती है।

भाषण की सरलता का सम्बन्ध केवल कुछ शब्दों, उनके व्यवहार, विराम इत्यादि चिन्हों के प्रयोग इत्यादि तक ही सीमित नहीं है। जहाँ वक्ता भाषण की सरलता के क्षेत्र में अवतीर्ण होता है वहाँ उसे भाषा और भाव दोनों को ही ध्यान में रखकर चलना चाहिए। सफल वक्ता वही है जो गम्भीर-से-गम्भीर बात को चुटकलों में जनता के सामने इस तरह रख जाय कि जनता की विचार-शक्ति पर उसकी बात के बोझिल बन उठने का कोई प्रश्न ही न उठ सके। सरलता भाषण का वह गुण है कि जो उसे सबसे अधिक प्रभावशाली बनाता है। जनता के मस्तिष्क में उसकी पैठ को इससे प्रश्रय मिलता है।

भाषण को शब्दों की दृष्टि से सरल बनाने और अपने विचारों को सुगमता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि वक्ता उसमें प्रयुक्त मुहावरों और मिसालों को भी उन्हीं लोगों के जीवन में से चुन कर पेश करे कि जिनके बीच वह भाषण दे रहा है। इतिहास और वेद पुराणों के तथ्यों और श्लोकों को बार-बार दुहराने से श्रोताओं पर यह छाप भले ही पड़ जाय कि वक्ता बहुत विद्वान है और वहाँ के वायुमण्डल में यह नाद चाहे भले ही गुंजायमान हो उठे 'वक्ता बड़ा काबिल है' लेकिन श्रोताओं के हाथ-पल्ले पड़ने वाला कुछ नहीं। यहाँ मुझे एक ऐसे ही भाषण का स्मरण हो आया। अंगरेजी शासनकाल में जब हिन्दू और मुसलमानों के आपसी इख़तलाफ को बढ़ावा दिया जा रहा था, तो उस समय आर्य

समाज और अन्य धर्मों के मुबाहसों की अखाड़ेबाजी का कुछ दिन खूब रंग जमा। यह मुबाहिसे यों तो हिन्दू, जैन, ईसाई और मुसलमान सभी के पंडित, गुरू, पादरी और मौलवियों में हुए, परन्तु हिन्दू और मुसलमानों के मुबाहसों ने खूब तनातनी के साथ जोर पकड़ा। आमने सामने मेजें लगती थीं और जोरदार वाद-विवाद चलते थे। आर्य समाज के पास दो महारथी पं० रामचन्द्र देहलवी और पं० कालीचरण बरेलवी थे। इन्हीं मोहरों को मुबाहसों की शतरंज पर टिकाया जाता था। कई-कई घंटे वादविवाद चलता था और मैं देखता था कि उस सुनने वाली भीड़ के हाथ-पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता था। वेदों के श्लोकों का उच्चारण एक ओर से होता था तो कुरान शरीफ की आयतें दूसरी ओर से पेश की जाती थीं और बहस ऐसे होती थी जैसे कभी सुना है कि लखनऊ में नवाब लोग अपने तीतर और बटेरों को लड़ाते थे। विषय से बहक न जाऊँ इस लिए मैं अपने उसी भाषण की ओर आता हूँ जिसका यहाँ मुझे विशेष रूप से जिक्र करना है। यह भाषण पं० कालीचरण का था और लगभग सन् १६३४ में सहारनपुर जिले के एक साधारण कस्बे रामपुर मन्हियारान में दिया गया था। कस्बे के लोग साधारणतया बहुत कम पढ़े लिखे थे, लेकिन आर्य समाज रामपुर वहाँ की जनता को यह दिखला देना चाहती थी कि उनके पास एक अरबी का धुरंधर आचार्य मौजूद है। आचार्य का तीन घंटे का भाषण वहाँ की स्टेज से अरबी में हुआ। मेरे खयाल से उस भाषण का एक शब्द भी समझने वाला वहाँ वक्ता के अलावा कोई नहीं था, और वक्ता बहुत खुश था, साथ ही सभा के प्रधान भी।

जन-वक्ता के लिए इस प्रकार के भाषण हिमाकत के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहे जा सकते। जन-वक्ता के भाषण में हर प्रकार की स्पष्टता और सरलता का होना नितान्त आवश्यकता है। उसके भाषण को श्रोताओं के विचारों में घुल-मिल जाना चाहिए,—उनकी जिन्दगी की कहानी और वह भी एक सच्ची कहानी बन जाना चाहिए। भाषण वही सबसे सफल है जिसे सुन कर हर सुनने वाला महसूस करे कि वह सब कुछ जो वक्ता कहता है, उसका अपना विचार भी वही है। वह भी वही सोचता है जो वक्ता भाषण में कह रहा है, बस जरा समझ में आने वाली बात बना दिया है उसे वक्ता ने और कुछ उसके दिमाग की उलझी हुई समस्याओं को सुलझा दिया है। कुछ प्रश्न थे श्रोता के दिमाग में कि जिनका हल उसे उस भाषण में मिल गया। बस यही चाहता है श्रोता और उसकी इसी इच्छा की पूर्ति जिस भाषण में जिस हद तक होगी, वह भाषण उसी हद तक प्रभावात्मक साबित हो सकेगा।

स्वाभाविकता : स्पष्टता और सरलता के पश्चात भाषण को प्रभावात्मक और अधिक से-अधिक जनता में पैठने वाला बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें बनावट को स्थान न दिया जाय। बनावट के बहुत कुछ अंशों को तो हम

ऊपर परख कर देख ही चुके हैं, स्पष्टता और सरलता पर विचार करते समय। और भी स्पष्ट रूप से यों कह सकते हैं कि अस्पष्ट और दुरुअर्थी या कठिन और पांडित्य पूर्ण संस्कृत-गर्भित शब्दों का भाषण में प्रयोग करना कभी भी भाषण की स्वाभाविक प्रभावात्मकता को प्रश्रय नहीं दे सकता। विचारों को गुत्थियाँ बनाकर पेश करने की कला भी भावों के विकास और प्रकाशन में बाधक सिद्ध होगी। इसलिए भाषण में स्वाभाविकता लाने के लिए उक्त दोनों गुण स्पष्टता और सरलता का होना नितान्त आवश्यक है और इन्हीं दोनों-गुणों का समावेश भाषण में करके भाषण को स्वाभाविक बनाया जा सकता है।

वक्ता को चाहिए कि वह जितना भी बनावट से दूर रहकर सरल वातावरण का अपने भाषण से निर्माण कर सके उतना ही वह उसके विचारों के प्रसार और उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रेयस्कर सिद्ध होगा। वक्ता जब तक अपने श्रोताओं में मिलकर उनका एक भाग नहीं बन जायगा तब तक उसमें वह स्वाभाविकता आना असम्भव है कि जिसको श्रोता अपनी बात कह सके। जन-वक्ता को अपने विचार कभी भी घुमा-फिरा कर श्रोताओं के सम्मुख रखने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उसका तो लक्ष्य ही व्यापक-से-व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करने का रहे। उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का राज़ उसके भाषण की स्वाभाविकता है। भाषण जितना भी स्वाभाविक होगा उतनी ही उसकी पैठ तीखी, पैनी और व्यापक होगी।

कथन की सचाई और प्रामाणिकता

भाषण के शैलीगत गुणों के पश्चात अब हम उसके कथन की सचाई और प्रामाणिकता पर विचार करेंगे। क्योंकि कोई भाषण चाहे जितना भी मधुर और प्रभावात्मक भाषा तथा शैली में पूर्ण स्पष्टता के साथ क्यों न दिया जाय, जब तक उसमें कथन की सचाई और प्रामाणिकता नहीं होगी वह श्रोताओं को प्रभावित नहीं कर सकता। श्रोताओं के मन में कथन के प्रति विश्वास दृढ़ करने के लिए भाषण में प्रमाणिकता होना नितान्त आवश्यक है।

भाषण देते समय वक्ता को अपने कथन की पुष्टि में प्रमाण देने की आवश्यकता है। यह प्रमाण वह वेद और पुराणों से छाँट कर लाता है; रामायण और महाभारत से खोज कर लाता है; गीता, इंजील और बाइबिल से तलाश करता है; कुरान शरीफ़ या किसी अन्य धार्मिक ग्रन्थ का सहारा लेता है; विश्व के बड़े-बड़े विचारकों और युगनिर्माताओं की जीवनी या उनके भाषण अथवा लेखों को पेश करता है; इतिहास के पन्ने उलटता है; बड़े-बड़े साहित्यिक ग्रन्थों की सूची तलाश करता है या वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों की हल-चलों पर अपने विचारों को आधारित करता है। प्राचीन और आधुनिक सभी

वक्ता के सम्मुख रहता है और विशेषरूप से उस विषय का तो आदि अन्त उसे ज्ञात होना आवश्यक ही है कि जिस विषय पर वह भाषण दे रहा है।

एक सफल वक्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह श्रोताओं को देख कर यह अनुमान लगा सके कि उनके सामने किस प्रकार के प्रमाण अधिक प्रभावशाली होंगे। बस, उसे भाषण में उसी प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिएँ। उदाहरण स्वरूप यदि आज पंडित जवाहरलाल को देहली की जामामस्जिद में ईद के शुभ अवसर पर भाषण देना हो और उसमें वह अपने मकसद की बात कहकर यह प्रमाण दे डालें कि मोहम्मद ने भी वही बात कही थी जो वह कह रहे हैं, तो उनका कथन वहाँ के श्रोताओं के लिए कुरानशरीफ़ की आयत बन जायगा। इसी तरह मौलाना आजाद भी किसी काशी के मंदिर का उद्घाटन करते समय रामायण की दुहाई देकर अपनी बात की पुष्टि कर सकते हैं।

यहाँ तक तो रही श्रोताओं की मनोवृत्ति को देखकर भाषण में सप्रमाण प्रभावात्मकता भर देने की बात; परन्तु जहाँ खुले मैदानों में खुले विचारों पर खुले अधिवेशनों में भाषण की बात आती है वहाँ उन सचाइयों के प्रमाण अधिक प्रभावशाली सिद्ध होंगे जो प्रमाण कि अटल सत्य हैं। जिन्हें प्रकृति और इतिहास दोनों ने सत्य साबित किया है और जिनकी असत्यता पर कोई प्रश्न ही नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार के प्रमाणों के आधार पर वक्ता अपने भाषण में भविष्य की ओर संकेत करता है और पुराने निर्णयों के आधार पर जनता को आगे बढ़ने का मार्ग सुझाता है। इस प्रकार के भाषण में वक्ता पिछली सचाई को जितनी प्रामाणिकता के साथ जनता के सामने रखेगा, उतना ही उसका भाषण जनता की समझ में आने वाला होगा। कथन की सचाई जनता के दिल में एक विश्वास पैदा करती है और वह समझता है कि वक्ता जो कुछ भी कह रहा है उसकी भलाई के लिए कह रहा है, उसे धोखा देने के लिए नहीं। वक्ता और उसके भाषण का उद्देश्य उसका सही मार्ग प्रदर्शन करना है, उसे गुमराह करना नहीं।

भाषण की सचाई और प्रामाणिकता के इसी बल से महात्मा गाँधी ने भारत की सोती हुई जनता को जगा दिया और उसमें विश्वास पैदा कर दिया कि वह निहत्थी भी अंगरेजी सरकार के गोले बारूद से मुकाबिला ले सकती है। महात्मा गाँधी का यही सच्चा विश्वास देश के विचारकों, राजनैतिक कार्यकर्ताओं और जनता के हृदयों का विश्वास बना। उनकी वाणी के शब्द देश के वायुमण्डल में गूँज उठे और जनता ने उन्हें वेद-वाक्य से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मान कर आजादी का शंखनाद बजाया। धन, जन, विचार और कल्पना का बलिदान गाँधीजी के भाषण की सचाई और प्रामाणिकता पर आकर न्यौछावर हो गया।

जगत गुरु शङ्कराचार्य के भाषणों के ज्वलन्त प्रमाण का इतिहास साक्षी है। कथन की सचाई और पांडित्यपूर्ण प्रामाणिकता ने ही देश को उनका पुराना धर्म लौटा दिया और विविध प्रकार के पाखण्ड का खण्डन हुआ। लेनिन, स्तालिन और चीन गण-राज्य के प्राण माओ से टुंग ने भाषण की सचाई, दूरदर्शिता तथा प्रामाणिकता के आधार पर ही मजदूर वर्ग में प्राण फूँका और औद्योगिक क्रांति के फल-स्वरूप मानव के उत्थान और पतन की एक लम्बी कहानी को नया रूप रंग प्रदान किया। पिसते हुए मानव समाज को बल दिया और अत्याचार करते हुए वर्ग को ललकारा, संघर्ष लिया उनकी प्रबल सत्ता से, क्रांति कर दी विश्व के कोने-कोने में। इस सब के मूल में उनके भाषण की सचाई और उसकी प्रामाणिकता ही प्रधान रूप से आते हैं।

इस सब से हमारा तात्पर्य यही है कि भाषण में जिस विषय को भी वक्ता पकड़े उसके आदि और अन्त का ज्ञान या कल्पना होनी चाहिए। परन्तु, कल्पना का आधार बहुत स्पष्ट और सच्चा होना आवश्यक है। जब तक उसमें सचाई नहीं होगी तब तक वह जनता में स्थायी रूप से प्रभावात्मक सिद्ध नहीं हो सकता। प्रभाव में स्थायित्व लाने के लिए भाषण का मूलाधार सचाई और प्रामाणिकता होना नितान्त आवश्यक है। श्रोता के सम्मुख सप्रमाण बात आजाने से उसे अपने दिमाग पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। समस्या और उसका हल स्पष्ट हो जाता है श्रोता के लिए और उसी के आधार पर वह भविष्य की कल्पना कर सकता है।

वक्ता को चाहिए कि वह सर्वदा जनता के सम्मुख निर्भीक विचार लेकर उपस्थित हो। सचाई और प्रमाणिकता तभी प्रभावात्मक हो सकती हैं जब भाषण द्वारा निर्भीक विचारधारा का समर्थन किया जाय। भय या द्वेष के कारण सचाई को दबालेने से वक्ता का काम नहीं चल सकता। निर्भय होकर सचाई को सामने लाने वाले भाषण का जनता सर्वदा स्वागत करती है। उत्साही श्रोता ऐसे ही भाषण पर त्याग और बलिदान के लिए उतारू हो जाता है और इसके विपरीत यदि वक्ता में भय, संकोच, भ्रामकता, झूट और सचाई को छुपाने की प्रवृत्ति मिलती है तो श्रोता में सहानुभूति या प्रेरणा और त्याग के स्थान पर रोष उत्पन्न हो जाता है।

शुद्धता (Correctness)

भाषण की भाषा में जहाँ स्पष्टता, सरलता और स्वाभाविकता की आवश्यकता है वहाँ भाषा का शुद्ध प्रयोग होना भी नितान्त आवश्यक है। भाषा की शुद्धता का सीधा सम्बन्ध व्याकरण और व्याकरण के नियमों से है। यहां व्याकरण के अंतर्गत विराम इत्यादि चिन्हों के विषय में हमें अधिक नहीं कहना इनके

उलट-फेर से भी भाषा के अर्थ और भावों में कभी-कभी बड़ा भारी अन्तर आ जाता है।

परन्तु विराम इत्यादि के लिए लेखक को इतना ही समझ लेना आवश्यक है कि उसके चिन्ह पाठक को लेखक के मंतव्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध हों। पाठक पूरी तरह यह समझ सके कि लेखक क्या कहना चाहता है। केवल व्याकरणाचार्य होने से ही भाषा में प्रभावात्मकता आजाती हो, ऐसी बात नहीं और न ही व्याकरण के नियमों की जंजीरों में जकड़ी हुई चल कर भाषा विचारों और भावनाओं के स्पष्टीकरण में फलीभूत हो सकती है। व्याकरण का जाल मस्तिष्क में लेकर भाषण तय्यार करने से विचार जकड़ता है और भावना कुंठित हो जाती है। भाषा का स्वाभाविक प्रवाह नष्ट हो जाता है और उसमें बनावट स्पष्ट दिखलाई देने लगती है। तुम्हें एक बात **किस तरह** कहनी है यह विचार मन में आते ही बात **क्या** कहनी है यह भावना ढीली पड़ जाती है। ऐसी दशा में भाषा के स्पष्टीकरण का प्रभाव नष्ट हो जाता है और कुछ अंशों में वह भाषण अपने सही मंतव्य को स्पष्ट करने में असफल ही सिद्ध हो जाता है।

लिखना लिखने से आता है, व्याकरण के नियम रटने से नहीं। यदि आपका लिखा हुआ या दिया हुआ भाषण अपने सही अर्थों के स्पष्टीकरण में सही न उतर रहा हो तो उस दशा में व्याकरण की सहायता से कुछ सहयोग मिल सकता है; परन्तु लेखक और वक्ता को चाहिए कि वह अपनी सम्पूर्ण स्पष्ट करने की शक्ति को, उसे क्या कहना है, इसी पर केन्द्रित करे। चाहे आप का भाषण सम्मति देने वाला, विश्वास दिलाने वाला या सूचना प्रद हो; और चाहे उसमें किसी प्रकार की आज्ञा, विचार या प्रस्ताव हो,—सभी में आपका ध्यान कहने के तरीके की अपेक्षा कहने के विषय पर अधिक होना चाहिए। आपके विचार प्रकट करने के यही प्रधान कारण हो सकते हैं। इनका स्पष्टीकरण व्याकरण सम्बन्धी पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं होना चाहिए।

व्याकरण के सर्वमान्य सिद्धान्तों के सिद्धहस्त लेखक की भाषा में व्याकरण के सर्वमान्य सिद्धान्तों का आना स्वाभाविक ही है। उनकी मान्यता वहाँ स्वाभाविक रूप से आती है। लेखक या वक्ता को प्रयास नहीं करना होता उनके लिए। परन्तु यदि कहीं पर भाषा में भाव का स्पष्टीकरण ठीक स्पष्ट तथा प्रभावात्मक है तो वहाँ व्याकरण की सर्वमान्य परम्पराओं को भी लेखक तोड़ कर आगे बढ़ जाता है, और अपनी स्वाभाविक गति में बन्धन सहन नहीं करता। परन्तु यह स्वच्छन्दता व्यर्थ के लिए सहन नहीं की जा सकती। बिना प्रतिबन्ध व्याकरण के नियमों की अवहेलना करने से तो भाषा ही अंडबंड तथा अप्रभावशाली और भ्रामक बन जायगी। लेखक या वक्ता को लिखते या वक्तव्य देते समय इस बात का ध्यान

रखना चाहिए कि पाठक या श्रोता का पहला सम्बन्ध उससे है जो लेखक लिखता या वक्ता बोलता है। उसी के आधार पर वह फिर अपना सम्बन्ध उस बात से जोड़ता है जो बात कि वह कहना चाहता है। यहाँ यदि उसके लिखने या कहने का साधन अस्पष्ट और भ्रामक बन गया तो पाठक या श्रोता उस लक्ष्य तक कभी पहुँच ही नहीं सकेगा जहाँ लेखक या वक्ता उसे लेजाना चाहता है और इस प्रकार लेख या भाषण का अभिप्राय ही नष्ट हो जायगा। लेखक या वक्ता को लिखते या बोलते समय इस बात की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि उसके लेख या कथन का अभिप्राय फलीभूत हो रहा है अथवा नहीं।

व्याकरण की साधारण गलतियाँ कभी-कभी पाठकों और श्रोताओं को यह समझने का अवसर भी देती हैं कि लेखक अथवा वक्ता की योग्यता ही इतनी है कि वह इतनी साधारण बातों का भी गलत ही प्रयोग करता है। इस विचार के मन में आते ही पाठक और श्रोता के मन की लेखक अथवा वक्ता के प्रति श्रद्धा कम हो जाती है और वह प्रभाव जो उसके हृदय और मस्तिष्क पर पड़ना चाहिए था नष्ट हो जाता है।

व्याकरण और विराम इत्यादि चिन्हों के प्रयोग वास्तव में लेखकों के प्रयोगों पर बहुत कुछ आधारित रहते हैं। दो तीन सौ वर्ष पूर्व इस दिशा में प्रतिबन्ध बनाये जाने की ओर आचार्यों ने जोर दिया था। फिर वह बन्धन इतने जकड़े कि उन्होंने भाषा का दम घोंटना प्रारम्भ कर दिया। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप स्वच्छंद भाषा का प्रवाह क्षेत्र में आया परन्तु उसमें भी व्याकरण के कठोर नियमों को छोड़ा जा सकता है साधारण नियमों को नहीं। साधारण नियमों की शृंखला भावों और विचारों के विशृंखल न होने में सहायक सिद्ध होती है और उससे प्रभावात्मकता के साथ-ही-साथ स्पष्टीकरण भी सरल और स्वाभाविक हो जाता है। भाषा की बनावट पर विचारों और भावनाओं का प्रसार आधारित है। शब्दों का सुन्दर और उपयुक्त चयन भाव-प्रकाशन के लिए जितना आवश्यक है, भाषा का गठन भी उससे किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

जहाँ हम भाषा की शुद्धता के प्रश्न पर आते हैं वहाँ शब्दों के प्रयोग को नहीं भुला सकते। पिछले अध्याय में हम वक्ता के शब्द-प्रयोगों पर साधारण प्रकाश डाल चुके हैं, परन्तु यहाँ भी इतना जान लेना आवश्यक है कि उन शब्दों पर अधिकार रखने की योग्यता, जिनके कि खास और भिन्न अर्थ हैं और उनका सही प्रयोग ठीक, व्यापक या संक्षिप्त भाव-प्रकाशन में बहुत सहयोगी सिद्ध होता है, इसकी सहायता के लिए वक्ता को ध्यान पूर्वक पढ़ने और शब्दों के प्रयोगों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। फिर इन शब्दों का सही प्रयोग करने के लिए लेखक या वक्ता को अपने लेख या भाषण की प्रयोगशाला में इन्हें भेजना होगा और वहाँ पहुँच कर इनकी वास्तविकता का राज़ पाठकों या श्रोताओं के

सम्मुख आयगा।

इस प्रकार सुन्दर शब्द-चयन, सही-प्रयोग, सही व्याकरण सम्बन्धी नियमों पालन, सही विराम इत्यादि चिन्हों का प्रयोग भाषा के लिए विचारों और भावों का के स्पष्टीकरण में अधिकाधिक सहयोगी साबित होगा और उसमें प्रभावात्मकता का बल भी आ सकेगा।

विषय का गठन तथा विस्तार

किसी बात को संक्षेप में कहजाना एक कला है और इसीलिए प्राचीन साहित्यकारों ने जीवन की महत्त्वपूर्ण बातों को सूत्ररूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जितनी भी कहावतें और मुहावरे हैं, वह सब बड़ी बात को चन्द शब्दों में ही कहने के प्रयास हैं। अंगरेजी की एक कहावत में कहा है कि सूत्रीकरण बुद्धि की आत्मा है (Brewity is the soul of wit)। हमारे सामने जब लम्बे-लम्बे महाकाव्य, उपन्यास और नाटक; परिषदीय लम्बे वक्तव्य और इसी प्रकार अन्य सभा-सोसाइटियों में दिये गये विस्तारपूर्ण भाषण आते हैं तो मन खीज-सा उठता है उनका आकार देखकर और हिम्मत नहीं होती पन्ने पलटने के पश्चात अन्दर घुसजाने की।

इनके विपरीत कुछ पुस्तकों की मोटाई देखकर भी खरीदने वाले पाठक होते हैं, जिन्हें कोई भी चीज संक्षेप में पसंद ही नहीं आती। उनके सम्मुख हर चीज खुलासा ही आने में वह समझ पाते हैं। ऐसी परिस्थिति में विचारों का सूत्रीकरण अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं होता। विशेष रूप से भाषण देने वाले वक्ता के पास न तो सूत्रीकरण का समय ही होता है और न वह अपने को इस दिशा में लेजाने का ही प्रयत्न करता है। वह तो जहाँ तक उससे बन पाता है बात को विस्तार ही देने का प्रयास करता है। परन्तु यह प्रसार की प्रवृत्ति लेखक अथवा वक्ता तथा पाठक अथवा श्रोता, किसी के लिए भी लाभदायक सिद्ध नहीं होती। बात संक्षेप में कहदेने से श्रोता और वक्ता दोनों का ही समय बचता है और बात व्यर्थ का विस्तार न पाकर भ्रामक नहीं बन पाती। वक्ता चन्द शब्दों में अपने मंतव्य को श्रोताओं के सम्मुख रख देता है और जो बात उसे विशेष जोरदार शब्दों में कहनी होती है उसकी ओर श्रोता का सीधा ध्यान चला जाता है। विचारों और भावों की स्पष्टता में भी वक्ता की संक्षेप-प्रवृत्ति लाभदायक सिद्ध होती है। जिस प्रकार होशियार माली की काट-छाँट से बगिया का सौंदर्य बढ़ता है, वृक्षों की सूखी और न पनपने वाली डालियाँ निकल जाती हैं और उनके हटजाने से वृक्ष के अन्दर रोशनी जाने का सीधा प्रबन्ध हो जाता है तथा वृक्ष की बढ़ोतरी में सहायता मिलती है, उसी प्रकार भाषण में चुने हुए शब्दों का प्रयोग और व्यर्थ के

शब्दों की काट-छाँट से भाषण में ताजगी आती है और उसकी प्रभावात्मकता बढ़ती है।

शब्दों की इस काट-छाँट में लेखक या वक्ता को सही शब्दों के प्रयोग और उनके सही अर्थों के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। शब्दों का चयन विचारों की व्यवस्थित श्रृंखला पर आधारित होता है। यदि विचार-धारा विश्रृंखल है तो उसके प्रकाशन का साधन कभी व्यवस्थित हो ही नहीं सकता। वक्ता को चाहिए कि पहले वह अपने विचारों को श्रृंखलाबद्ध करने का प्रयास करे और तब भाषण के विस्तार की ओर ध्यान दे। विचार के प्रकाशन में प्रभावात्मकता लाने वाली भाषा को और उसके आशय का बल प्रदान करने वाले शब्दों का प्रयोग ही भाषण को जोरदार बना सकता है। संक्षिप्त शब्दों का विवेचन इतना व्यवस्थित होना चाहिए कि जिससे वक्ता की विचार-धारा इधर-उधर बहकने न पाये, जो कुछ वक्ता कहना चाहता है वह स्पष्ट और सरलता पूर्वक समझ में आने वाला हो, और जिस श्रोता-वर्ग में वह भाषण दिया जा रहा है, उसके मस्तिष्क और विचार-धारा से सामंजस्य स्थापित करने वाला हो।

वक्ता को जो कहना है वह कहते समय उन सभी शब्दों को निकाल कर बाहर कर देना चाहिए जिनके निकल जाने से भाषण के प्रभाव या अर्थ में कोई बाधा उपस्थित न हो। केवल भाषण को बोझल बनने के लिए शब्दों का पांडित्यपूर्ण प्रयोग भाषण को व्यर्थ का विस्तार देता है और उससे भाषण की प्रभावात्मकता तथा सर्वगम्यता को ठेस लगने के साथ-ही-साथ विचारों के बहकजाने से श्रोताओं के लिए वह भाषण व्यर्थ सिद्ध होता है।

भाषण में व्यर्थ के संज्ञा-विशेषणों और क्रिया-विशेषणों की झड़ी लगाने वाली प्रवृत्ति भाषण को प्रभावात्मक बनाने की दिशा में कोई विशेष सफल सिद्ध नहीं होती। इन शब्दों की बार-बार पुनरावृत्ति से भाषण के प्रवाह में गति आने की अपेक्षा और शिथिलता आ जाती है और इन शब्दों का बलात् प्रयोग कभी भी भाषण की विचार-धारा को आगे बढ़ाने में सहायक नहीं होती। योग्य वक्ता कभी-कभी इस पुनरावृत्ति द्वारा भाषण को प्रभावात्मक और उत्तेजक बनाने में भी सफल हो जाता है, परन्तु इस कला में प्रवीणता प्रत्येक वक्ता नहीं पा सकता। साधारणतया वक्ताओं को शब्दों की इस व्यर्थ पुनरावृत्ति से अपने भाषण को मुक्त रखने की आवश्यकता है।

विषय की तारतम्यता और क्रम

भाषण का विषय श्रोताओं के सम्मुख रखते समय वक्ता अपना पूरा-का-पूरा विचार एक बार में प्रस्तुत नहीं कर सकता। भाषण एक चित्र के मानिन्द नहीं कि जिसका सब कुछ एक ही दृष्टि में दर्शक की आँखों के सम्मुख आ जाय।

वहाँ तो धीरे-धीरे ही उसे आगे बढ़ना होता है और इसीलिए वह आगे बढ़ने की प्रगति एक क्रम बद्धता के साथ आगे चलने की आवश्यकता है। वक्ता अपने श्रोता को भाषण के आदि से अन्त तक अपने विचारों के साथ बाँध कर चलता है। और किसी भी वक्ता के साथ श्रोताओं का बंध जाना केवल उसी समय सम्भव होगा जब श्रोतागण वक्ता के विचारों में पूर्ण रूप से पैठ सकें। श्रोताओं के अन्दर उस भाषण को घुस कर अपना स्थान बना लेना चाहिए और उनके विचारों का अपने विचारों के साथ आत्मसात कर देना चाहिए।

भाषण का एक क्रम होता है और उसी के अनुसार वक्ता अपने भाषण के विषय को बाँटता और उस पर प्रकाश डालता है। विषय के कुछ भाग ऐसे भी होते हैं कि जिन पर वक्ता कुछ अधिक न कह कर तेजी से आगे बढ़ जाता है और कुछ भाग ऐसे भी होते हैं कि जहाँ वक्ता ठहर जाता है और गम्भीर विवेचन के साथ अपनी भाषा और विचार के द्वारा उसे श्रोताओं के दिल और दिमाग में उतार देने का प्रयत्न करता है। भाषण वास्तव में एक स्वाभाविक प्रवाह के साथ बहने वाली सरिता के समान है जो कहीं पर तो पानी में डेल्टा बना देती है और कहीं पर भँवरदार चक्कर काटता हुआ गहरा अतल प्रस्तुत करती है, कि जिसकी गहराई का कोई पता ही न पा सके,—पर यह सब होने पर भी जो भाषा के विषय की प्रधान धारा है उसकी गति में कोई अन्तर नहीं आता। वह तो चलती ही रहती है, उसी गम्भीरता के साथ, उसी मुस्तैदी के साथ।

भाषण में वक्ता को चाहिए कि वह आदि से अन्त तक अपने लक्ष्य और ध्येय को निभाता हुआ चले। वक्ता को भाषण पारम्भ करने से पूर्व यह ज्ञात होना चाहिए कि उसे किस लक्ष्य पर पहुँचना है और उस लक्ष्य पर पहुँचने का उसका ध्येय क्या है। वक्ता के भाषण का हर शब्द, हर वाक्य उसके इच्छित तथा निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़नेवाला होना चाहिए और ध्येय की सिद्धि उसकी हर पुकार में मौजूद होनी आवश्यक है। इस प्रकार वक्ता के अपने ध्येय से न बहकने का फल स्पष्ट ही उसकी सफलता होगा और उसके शब्द, वाक्य इत्यादि किसी में भी उसकी विचार-धारा का प्रवाह बन्धन में नहीं बँध सकेगा।

भाषण में क्रम-बद्धता का बहुत बड़ा महत्त्व है। वक्ता के पास चाहे जितने भी विचार, भावनाएँ, कल्पनाएँ, सूचनाएँ, शब्द-योजनाएँ और वाक् चातुर्य क्यों न हो लेकिन यदि उसके कहने, बोलने या लिखने का कार्य क्रम-बद्धता के साथ नहीं चलता है तो श्रोता या पाठक के लिए यह सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। श्रोता को वक्ता के मंतव्य तक पहुँचना ही कठिन हो जायगा और जो कुछ वह कहना, समझाना या सूचित करना चाहता है वह अपने मन में यह समझते हुए भी कि वह कर रहा है, कर नहीं पायगा। विचार उलझ जायँगे और बिना क्रम के उसके लिए आगे बढ़ना कठिन हो जायगा। विचारों के सरल और भाव-

गम्य स्पष्टीकरण के लिए क्रम-बद्धता होना नितान्त आवश्यक है। शब्दों और वाक्यों की क्रम-बद्धता के साथ-ही-साथ विचारों और भावनाओं की क्रम-बद्धता होनी चाहिए। भाषण का क्रम ठीक रखने और उसे रोचक तथा प्रभावशाली बनाने के लिए भाषा और भाव दोनों का ही गठन एक क्रम के साथ चलना ठीक है।

वक्ता को चाहिए कि वह एक नियम और क्रम के साथ विषय पर धीरे-धीरे प्रकाश डाले और श्रोता के सम्मुख अपनी बात को थोड़ी-थोड़ी करके रखे। थोड़ी-थोड़ी क्रम के साथ बात श्रोताओं के सम्मुख आने से बात धीरे-धीरे समझ में आती जायगी और एक दम उनके लिए भारी बनकर समस्या नहीं बनेगी। वक्ता को चाहिए कि वह समस्याओं में उलझता हुआ न चलकर एक क्रम के साथ सुलझता हुआ चले। यही क्रम और तारतम्यता वक्ता और श्रोता के बीच का वह बन्धन है जो वक्ता के भाषण देने से प्रारम्भ होकर आखीर तक चलता है।

प्रभावात्मक भाषण के प्रधान गुण निम्नलिखित हैं :

१. भाषण में प्रयुक्त शब्द अस्पष्ट और दुअर्थी नहीं होने चाहिएँ।

२. भाषण में पांडित्य प्रदर्शन के लिए क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग न हो।

३. भाषण की भाषा श्रोताओं की भाषा हो तो भाषण सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा।

४. भाषण में जो बात कही जाय वह सूत्र रूप में या समस्या बना कर प्रस्तुत न की जाय।

५. भाषण की भाषा और उसके विचारों का स्पष्टीकरण बहुत सरल और स्वाभाविक होना आवश्यक है।

६. भाषण में जो भी सूचना, जिस विषय की भी आप देना चाहें, ऐसी होनी चाहिए कि श्रोताओं की जिज्ञासा को तृप्त कर सके।

७. भाषण इतना स्वाभाविक तथा सरल होना चाहिए कि श्रोता उसे अपनी जिन्दगी का राज़ मान कर उस पर मंत्रमुग्ध हो उठें।

८. भाषण में अनावश्यक बातें रखकर श्रोताओं का समय व्यर्थ नष्ट करने की प्रवृत्ति भाषण की प्रभावात्मकता को ठेस पहुँचाती है।

९. जल्दबाजी में लिये गये निर्णयों को भाषण में श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करना हानिकारक है।

१०. भाषण में कोई भी बात ऐसी नहीं कही जानी चाहिए कि जिसमें श्रोता को भ्रम पैदा हो सके और बहक जाने की सम्भावना हो।

११. भाषण में स्पष्ट बात, स्पष्ट भाषा में स्पष्ट शैली के अन्दर रखी जानी चाहिए।

१२. भाषा के शुद्ध प्रयोग के लिए सही शब्द-चयन, शुद्ध प्रयोग और व्याकरण तथा विराम इत्यादि के साधारण नियमों का पालन होने से भाषा अधिकाधिक प्रभावात्मक बन सकेगी।

१३. भाषण में कथित बात सत्य और प्रामाणिकता पर आधारित होनी आवश्यक है।

१४. वक्ता को सचाई के स्पष्टीकरण में निर्भीक प्रवृत्ति अपनानी चाहिए।

१५. भाषण में प्रयुक्त शब्दों और वाक्यों का क्रम ठीक रहना चाहिए।

१६. भाषण के विचारों, भावनाओं, कल्पनाओं इत्यादि का भी गठन एक क्रम के साथ होना आवश्यक है।

अध्याय ३

जनता के बीच भाषण

गत अध्यायों में वक्ता, भाषण का विषय और श्रोता तीनों पर हम संक्षेप में विचार कर चुके हैं। इसके पश्चात् भाषण और उसकी विशेषताओं पर भी सरसरी दृष्टि डाली। अब हमें उस स्थिति पर आना है, जहाँ जनता और वक्ता का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है। यह सम्बन्ध स्थापित होता है किसी सभा के मंच पर।

किसी सभा के मंच पर जाने के लिए वक्ता को चाहिए कि वह भाषण के विषय पर पहले से विचार करले और तय्यारी के साथ भाषण दे। तय्यारी के साथ भाषण न देने का अर्थ यह होगा कि वक्ता के भाषण में विचारों की तारतम्यता और क्रमबद्धता नहीं आसकेगी। विषय का गठन और विस्तार दोनों ही ढ़ीले पड़ जायँगे और भावना तथा कल्पना की शृंखलाएँ भी टूटी-टूटी रहेंगी। इधर-उधर की बातें बनाकर वक्ता को समय पूरा करना होगा, विषय का क्रम-बद्ध विचार वह जनता के सम्मुख नहीं रख सकेगा। इससे भाषण की स्पष्टता और सरलता तथा स्वाभाविकता को भी ठेस लगेगी और भाषण का वह कलात्मक चमत्कार पैदा नहीं हो सकेगा, जो अपनी शृंखला में श्रोताओं को भी बाँधता चला जाय।

भाषण की तय्यारी

वक्ता की एक स्थिति वह भी आती है जब उसे कोई विशेष तय्यारी की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु किसी विषय पर व्यवस्थित विचार प्रकट करने के लिए हर लेखक को कुछ कहने से पूर्व विषय को समझ लेने की आवश्यकता होती है। वक्तव्य-कला के विद्यार्थी के लिए तो मंच पर जाने से पूर्व भाषण की तय्यारी करना नितान्त आवश्यक है।

जनता के बीच सभा के मंच पर भाषण देना एक निरन्तर प्रयास चाहता है, जिसके बिना वक्तव्य में वह स्वाभाविक प्रवाह नहीं आपाता जो श्रोताओं को

प्रभावित कर सके। प्रारम्भिक स्थितियों में वक्ता को कठिनाई भी होती है परन्तु धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा वह कठिनाई साधारण सरल प्रयास बन जाता है। हारमोनियम या सितार बजाने वाले की उँगलियाँ जिस गति के साथ चलती हैं, उसका भी एक प्रयास है और वही प्रयास एक दिन उसे स्वाभाविक गति में परिणित कर देता है। ठीक यही दशा एक वक्ता की भी है। जब वह प्रथम बार किसी सभा के मंच पर जाता है तो उसे पसीना छूटने लगता है, रोम-रोम खड़ा हो जाता है, मन कुछ घबराहट महसूस करता है और जबान उन शब्दों और वाक्यों को उच्चारण करने से जवाब-सा देने लगती है, जिन्हें वह एकान्त में बैठा झट-झट बोलता चला जा रहा था। यह स्थिति अधिक दिन नहीं रहती। धीरे-धीरे वक्ता का साहस खुल जाता है और वह मंच पर खड़ा होकर भी अपने श्रोताओं से उसी प्रकार बातें करता है जिस प्रकार साधारणतया आपस में बातें चलती हैं। श्रोताओं की जिज्ञासा से वह परिचित हो जाता है और हर परिस्थिति में अपने को संभालने में उसे कठिनाई नहीं होती।

जहाँ तक भाषण की तय्यारी का सम्बन्ध है वह मूल रूप से वक्ता की विचार एकत्रित करने की प्रणाली और फिर उनकी सहायता से एक व्यवस्थित विचारों की श्रृंखला तय्यार करने की रीति से सम्बंधित है। जो कुछ वह पढ़ता, सुनता या देखता है उससे उसे कुछ विचार मिलते हैं और उन विचारों का खज़ाना उसके मस्तिष्क में भर जाता है। अपने इसी खजाने से वक्ता समय-बे-समय आवश्यक चीजें निकाल कर जनता के सामने पेश करता है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि भाषण की सफलता के लिए वक्ता के मस्तिष्क में विचारों और तथ्यों के जमाव से भी आवश्यक उसके परीक्षण और अपने विचार हैं कि जिनकी तराजू पर वह उन सभी चीजों को तोलता और परखता है। वक्ता होने की आकांक्षा किसी व्यक्ति में केवल कुछ तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए न होकर अपने विचारों के प्रकाशन के लिए ही प्रधान रूप से होती है।

वक्ता किसी भी विषय पर भाषण देने के लिए उसके आवश्यक तथ्यों की सूची तुरन्त तय्यार कर सकता है परन्तु यह तुरन्त तय्यार की गई सूची कभी भी पूरी नहीं हो सकती। जनता के सम्मुख किसी विषय को रखने से पूर्व यह आवश्यक है कि वह विषय कुछ दिन वक्ता के मस्तिष्क में घूमता रहे और उसे उस पर विचार करने का पूरा-पूरा अवसर मिल सके। विषय की वक्ता के मस्तिष्क में वही दशा होती है जो किसी वस्तु की वैज्ञानिक परीक्षण-ग्रह में होती है। वक्ता की मानसिक प्रवृत्तियाँ उस विषय को उलट-पलट कर परखती और देखती हैं और फिर उसके फलस्वरूप वक्ता की उस विषय में एक अपनी विचारधारा का निर्माण होता है। वक्ता के मस्तिष्क को इस प्रकार विषय के विश्लेषण और परीक्षण का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा और कुछ ही दिन के निरन्तर प्रयास के बाद मस्तिष्क बिना प्रयास

किसी भी विषय से अपने मतलब की बातें चुन लेने में पटु हो जायगा।

इस प्रकार वक्ता को विषय की सम्पूर्ण जानकारी और उसके विषय में अपने विचारों को एक शृंखला के साथ जनता के सामने रखना चाहिए। जनता को भी उसे समझने और अपनाने में कठिनाई नहीं होगी और वह कम-से-कम प्रयास से वक्ता के उद्देश्य को परख सकेगी। वक्ता का यह कर्तव्य है कि वह अपनी बात जनता के सामने इस तरह पेश करे कि जिससे वह उसे अपना सके और बिना प्रयास या श्रम के अपना सके। और यह वक्ता उस समय तक नहीं क सकता जब तक कि वह जो कुछ पढ़े, सुने या देखे उसे बराबर अपने दिमाग में घुमा फिरा कर उस पर विचार न कर सके।

किसी भी विषय पर भाषण की तय्यारी के लिए निश्चित रूप से तीन स्थिति सामने आती हैं :

१. साधारण (Remote)
२. प्रारम्भिक (Preliminary)
३. तात्कालिक (Immediate)

साधारण तय्यारी

भाषण की साधारण तय्यारी के लिए वक्ता को चाहिए कि वह सम्पूर्ण विषय और उसकी जानकारियों को अपने मस्तिष्क में इस प्रकार उंडेल ले, जिस प्रकार ननने में कोई चीज छानने के लिए डाली जाती है। विषय की आवश्यक और प्रधान बातों का वक्ता के मस्तिष्क का ननना विषय को, सम्पूर्ण जानकारी से, चुनबीन कर निकाल लेगा। फिर वक्ता को चाहिए कि वह विषय की उन प्रधान बातों को अपने विचारानुसार उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए एक क्रम के साथ चुनले। इस प्रकार विषय की एक शृंखला-बद्ध सूचना और आवश्यक बातों की सूची वक्ता के पास तय्यार हो जायगी और विषय का साधारण ज्ञान उसे मिल सकेगा। इस प्रथम साधारण तय्यारी के तरीके से विषय और वक्ता के विचारों का सामंजस्य स्थापित हो जायगा और उसके भावप्रकाशन में भी विषय और वक्ता का विचार, दोनों साथ-साथ श्रोताओं के पास तक पहुँचेंगे। विषय की इस साधारण तय्यारी से वक्ता विषय के किसी भी पहलू से अपरिचित नहीं रहेगा और श्रोताओं के सम्मुख अपने विचार को प्रकट करने में उसे यह घबराहट नहीं होगी कि कहीं उसके सामने उस विषय से सम्बन्धित कोई ऐसी वस्तु न आजाय जिसका साधारण ज्ञान उसे नहीं है।

विषय की साधारण तय्यारी से हमारा सम्बन्ध यही है कि वक्ता को मंच पर जाने से पूर्व अपने भाषण के विषय की प्रायः सभी बातों की जानकारी होनी

चाहिए। विषय को पूरी तरह समझ लेना चाहिए और फिर उसे सादा शब्दों में जनता को समझाने के लिए उद्यत रहना चाहिए।

भाषण की प्रारम्भिक तय्यारी

भाषण की साधारण तय्यारी के पश्चात प्रारम्भिक तय्यारी की स्थिति पैदा हो जाती है। इस स्थिति में वक्ता अपने भाषण का विषय निश्चित कर चुका होता है। बहुत से वक्ता भाषण का विषय निश्चित करने के सवाल को भी तात्कालिक तय्यारी के लिए स्थगित कर देते हैं। परन्तु यह वक्ता के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। और इस प्रकार तात्कालिक तय्यारी से तय्यार किया हुआ भाषण 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली कहावत को ही चरितार्थ करेगा और प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकता।

भाषण की साधारण तय्यारी के समय ही वक्ता को भाषण का विषय और अपना उद्देश्य निश्चित कर लेने चाहिएँ। वक्ता को यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि क्या उसका वह भाषण जनता को हिला डालने के लिए है? क्या वह श्रोताओं को प्रभावित करके किसी कार्य पर कटिबद्ध करने के लिए है? क्या यह केवल विषय की व्यापक सूचना मात्र प्रसारित करने के लिए है? क्या इसका तात्पर्य केवल श्रोताओं का मनोरंजन मात्र है? वक्ता के मन और दिमाग में यह निश्चय होना चाहिए कि आखिर वह किस अभिप्राय से भाषण देना चाहता है। भाषण का साधारण अभिप्राय निश्चित कर लेना वक्ता के लिए नितान्त आवश्यक है और विषय की साधारण तय्यारी का यही मुख्य अंग है।

जब बिना शंका और संकोच के भाषण का साधारण अभिप्राय निश्चित हो गया तब वक्ता को अपने विशेष अभिप्रायों को उभार कर सामने लाना चाहिए। वक्ता के साधारण अभिप्राय के अंतर्गत कई विशेष अभिप्राय सम्मिलित रहते हैं। उदाहरणार्थ समझ सकते हैं कि मानो कोई वक्ता संगीत पर भाषण देना चाहता है। उसके इस भाषण का साधारण अभिप्राय यह है कि कुछ परिवार तथा व्यक्ति मिल-जुल कर अपने संगीत-क्लब तय्यार कर लें। उन्हीं क्लबों के द्वारा उन परिवारों के मनोरंजन का साधन जुट जाय। यहाँ वक्ता के साधारण अभिप्राय में विशेष अभिप्राय यह हो सकते हैं कि इस प्रकार के संगीत क्लबों की वृद्धि हो, संगीत को प्रोत्साहन मिले, कलाकारों की वृद्धि हो, पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने के यह क्लब माध्यम बनें। इन संस्थाओं के लिए धन एकत्रित किया जाय। इन छोटी संस्थाओं को बना कर उनके ऊपर एक बड़ी संस्था का निर्माण किया जाय और और भी इसी प्रकार के बहुत से विशेष अभिप्राय साधारण अभिप्राय में छिपे रह सकते हैं जिनका क्रमिक विवेचन करने की वक्ता को आवश्यकता रहती है।

साधारण अभिप्राय मोटा और व्यापक होता है; उसमें उसकी विभिन्न धाराओं का स्पष्टीकरण नहीं रहता। विशेष अभिप्रायों में वक्ता के मस्तिष्क का पूरा चित्र सामने आ जाता है। यहाँ बात केवल इन विशेष अभिप्रायों के स्पष्टीकरण की है। इनके क्रमिक विकास, प्रभाव, उपयोग और श्रोताओं के जीवन में सहयोग तथा सूचना और लाभ की बात भी विशेष रूप से स्पष्टीकरण पर ही आधारित है।

भाषण की साधारण तय्यारी के पश्चात् प्रारम्भिक तय्यारी करते समय केवल दो ही बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना है, एक इस बात पर कि भाषण में अनावश्यक भरत की बातें नहीं आनी चाहिएँ और कोई बात ऐसी भी नहीं आनी चाहिए कि जो वक्ता के विशेष अभिप्रायों के स्पष्टीकरण में घातक सिद्ध हो। भाषण के बीच में किस्से कहावत, मिसाल या उदाहरण ऐसा प्रस्तुत नहीं करने चाहिएँ कि जो सोलहों आने भाषण के विषय में मिल कर अपना एकीकरण न कर सकें। विषय से तादात्म्य न रखने वाली कहावत या मिसाल चाहे जितनी भी रोचक और तीखी क्यों न हो, विषय के प्रभाव की वृद्धि में सहायक नहीं हो सकती। इस प्रकार का विषयान्तर श्रोताओं और विशेष रूप से विचारक श्रोताओं के मन से वक्ता की श्रद्धा को समाप्त कर देता है।

विषय का साधारण और फिर उसके पश्चात् विशेष अभिप्रायों को क्रमबद्ध करने के पश्चात् भाषण की तीसरी स्थिति आती है जहाँ प्रत्येक विशेष अभिप्राय की पुष्टि के लिए कुछ कहावतें, कुछ मिसालें और कुछ प्रमाण खोज निकालने होते हैं और फिर इन सब के मेल (Combination) से ढाँचा तय्यार हो जाता है। भाषण के प्रत्येक वाक्य में वक्ता का उद्देश्य और अभिप्राय किसी न किसी रूप में मुखरित हो ही उठना चाहिए। वक्ता के मुख से निकलने वाला हर शब्द वक्ता के संदेश को लेकर श्रोताओं के कानों में घुसता हुआ उनके दिल और दिमाग को छू जाना चाहिए। भाषण के दौरान में कभी किसी बात पर विशेष बल देना होता है और कभी-कभी उसे साधारण रूप से ही कह कर आगे बढ़ जाते हैं। यह विशेष अभिप्राय के मूल्यांकन पर आधारित है।

तात्कालिक तय्यारी

साधारण और प्रारम्भिक तय्यारी के पश्चात विषय की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है और विषय के साधारण तथा विशेष अभिप्राय सामने आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त उन विशेष अभिप्रायों की कुछ मिसालें और उनके उदाहरण भी एकत्रित हो जाते हैं।

विषय का साधारण ढाँचा बनकर तय्यार हो गया; अब इसे अंतिम रूप प्रदान करने वाली बात रह जाती है। भाषण को रूप देने का सामान इस समय

तक तय्यार हो जाता है और केवल रह जाती है उसे संजोने की बात। वक्ता को चाहिए कि वह इस सब एकत्रित सामान में से अपने अभिप्राय की पूर्ति करने वाला सामान छाँट कर क्रमबद्धता के साथ भाषा, भावना और विचार को लड़ी में गूंथता चला जाय। यहाँ आकर भाषण की वास्तविक रूपरेखा तय्यार होती है। भाषण को निम्नलिखित भागों में विभाजित करके वक्ता को अपने विचारों और भावनाओं का प्रसार करना चाहिए :

१. विषय की परिभाषा (Definition of the subject) : श्रोताओं के विचार से सर्वप्रथम वक्ता को चाहिए कि वह अपने विषय की सरल, स्पष्ट और संक्षेप में परिभाषा प्रस्तुत करे। इसके फल स्वरूप श्रोता वक्ता के मंतव्य को प्रारम्भ में ही जान लेगा और उसे उसके साथ भाषण में आगे बढ़ने और समझने में कठिनाई नहीं होगी।

२. विषय की प्रधान विशेषताएँ (The qualities of the subjcet) यहाँ वक्ता को विषय की वह विशेषताएँ खोज कर एक ओर कर लेने की आवश्यकता है जिनके सहयोग से वक्ता के अभिप्राय के स्पष्टीकरण, उत्थान और प्रभावात्मक बनने में सहयोग मिलता है। विषय को प्रभावात्मक बनाने के जितने भी साधन जुटाये जा सकते हैं उन्हें जुटाने का प्रयत्न करना चाहिए।

३. विषय सम्बन्धी उदाहरण (Instances and examples regarding the subject) : यहाँ पुराने विद्वानों के उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि इन उदाहरणों, प्रमाणों या उद्धरणों से कुछ नये तथ्यों की ओर संकेत नहीं हो जाना चाहिए। ऐसा हो जाने से विषय की गम्भीरता को ठेस लगेगी और वक्ता का विचार केन्द्रित न होकर बिखर जायगा। उदाहरण खोजने के लिए तो साहित्य, इतिहास और अन्य विषयों के भंडार भरे पड़े हैं। उनमें से अपने मतलब की बात खोज निकालनी है। इनके अतिरिक्त जो श्रोताओं पर अधिक प्रभावशाली बनते हैं वह हैं वक्ता के अपने जीवन के प्रयोग, घटनाएँ और विचार। वक्ता के अपने अनुभव जो चमत्कार पैदा कर सकते हैं वह वेदों के श्लोक, कुरान की आयतें और बाइबिल के सर मन पढ़ने का भी नहीं हो सकता।

४. विषय सम्बन्धी भ्रमपूर्ण बातें (Fallacies concerning your subject) : प्रायः सभी विषयों के सम्बन्ध में अन्य आवश्यक बातों के साथ ही साथ वक्ता को उसके विषय में भ्रमपूर्ण बातों का भी ज्ञान होना चाहिए। भाषण के समय इन भ्रमपूर्ण बातों का स्पष्टीकरण करना भी उतना ही आवश्यक है जितना विषय सम्बन्धी ज्ञातव्य बातों को समझाना और अपने मंतव्य का स्पष्टीकरण करना। बहुत से श्रोता किसी विशेष विषय के वक्ता का भाषण सुनने के लिए

ही इस अभिप्राय से जाते हैं कि उस विषय में उनके मस्तिष्क की जमी हुई शंकाओं के निवारण का अवसर मिल सके। इन शंकाओं का निवारण विषय सम्बन्धी भ्रम-पूर्ण बातों का स्पष्टी करण करने से ही हो सकता है।

५. विषय की पुष्टी में प्रमाण (Evidence concerning the subjcet) : वक्ता को चाहिए की वह जो बात भी श्रोताओं के सम्मुख रखे वह उसे सप्रमाण रखनी चाहिए। यह विषय की प्रामाणिकता ही है जो श्रोताओं में उसके प्रति विश्वास और सद्भावना पैदा करती है। प्रामाणिकता का सीधा सम्बन्ध श्रोता के मस्तिष्क से है और जब कोई विषय श्रोता के मस्तिष्क में घर कर जाता है उसके अपने अन्दर विषय की तह में पहुँचने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी दशा में वक्ता को चाहिए कि वह अपने विषय के साधारण और विशेष अभिप्रायों को जहाँ तक भी बन सके सप्रमाण सभा के मंच पर प्रस्तुत करे जिससे कि श्रोताओं के शंकाओं का आप से आप निराकरण होता चला जाय।

६. कारणों का स्पष्टीकरण (Main causes of the subjcet) : जब किसी विषय पर कोई व्यक्ति भाषण देना चाहता है और उसके मन में अपने उद्‌गारों और विचारों को श्रोताओं तक पहुँचाने की भावना उत्पन्न होती है तो अवश्य उसके कुछ ज्वलंत कारण होते हैं। उदाहरणार्थ आज विश्व के और विशेष रूप से ऐशिया के वातावरण में अमेरिका और पाकिस्तान की सैनिक संधि के प्रस्ताव ने एक उथल-पुथल पैदा कर दी है। तीसरे विश्व-युद्ध की आशंकाओं से एशिया के विचारकों का मस्तिष्क ग्रस्त हो गया है और उसके विषय में व्यापक आंदोलन तथा भाषण एशिया भर में ही नहीं विश्व के कोने-कोने में दिये जा रहे हैं। शांति के अग्रदूत विचारक अपने मस्तिष्क में एक अशांति का वातावरण देख रहे हैं। वह रोक नहीं सकते अपने विचारों को और जहाँ जिस रूप में भी उनसे बनता है अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने में कटिबद्ध हैं। भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहर लाल भी आजकल इसी विश्वव्यापी तीसरे युद्ध के आने की सम्भावना को पैदा होने से पूर्व ही रोक देने पर कटिबद्ध हैं। इस प्रकार यह विश्व-शांति का आज एक विषय है विश्व के सम्मुख और उसके कारण भी हैं। वक्ता को चाहिए कि वह कारणों की ओर श्रोताओं का ध्यान दिलाता हुआ विषय की ओर अग्रसर हो। इस से विषय का क्रम निश्चित् करने में सुगमता होती है।

७. विषय के स्पष्टीकरण में सहायता और रुकावटें (Helps and hindrances in explaining the subject) : वक्ता को चाहिए कि वह विषय का विश्लेषण करते समय अपने कथन के सहायक और विरोधी अंगों को छाँट कर पृथक-पृथक कर ले और फिर उनके क्रमिक प्रयोगों द्वारा

भाषण को प्रभावात्मक बनाये। भाषण के विचार-प्रसार में जो भी रुकावटें आ सकती हैं यदि उनका वक्ता को पहले से ज्ञान रहता है तो वह भाषण के मध्य में कोई भी परिस्थिति पैदा होने पर विचलित नहीं हो सकता। उसकी हर बात का सही और विचारा हुआ स्पष्टीकरण उसके सामने रहेगा और यह वक्ता को विषय का विवेचन करने में सहायक सिद्ध होगा। विषय के स्पष्टीकरण तथा उसे प्रभावात्मक बनाने में सहायक अंग वक्ता को अपने मस्तिष्क में सुरक्षित रखने की आवश्यकता है, जिससे समयानुकूल वह उनका उपयोग कर सके।

८. विषय का वर्णन (Description of the subject): विषय की तय्यारी की यह वर्णनात्मकस्थिति भाषण की तय्यारी में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसका वर्णन संक्षेप में भी हो सकता है परन्तु वक्ता की स्मृति, याददाश्त (memory) की सबसे बड़ी परीक्षा इसी क्षेत्र में होती है। वक्ता को चाहिए कि वह वक्तव्य के विशेष अभिप्रायों को समय और आवश्यकता की कसौटी पर कसे और इन्हीं के आधार पर भाषण की रूप रेखा तय्यार करे। इस पर नीचे हम प्रथक-प्रथक रूप से संक्षेप में विचार करेंगे।

(१) समय की सीमा (Extent of time): इस दिशा में इतिहास सम्बन्धी सामग्री से हमारा सम्बन्ध है। यदि वक्ता के पास अपने निजी पुस्तकालय में उस विषय पर प्रकाश डालने वाली सामग्री न मिले तो उसे किसी अन्य पुस्तकालय की सहायता लेनी चाहिए और संक्षेप में यह जान लेना चाहिए कि इतिहास में कहाँ-कहाँ और किस-किस प्रकार उस विषय का प्रयोग होता रहा है।

(२) स्थान की सीमा (Extent of place): यहाँ हमारा सम्बन्ध विषय की व्यापकता से है। विश्व के कितने भूखण्ड से वक्ता के विषय का सम्बन्ध है, यह उसे श्रोताओं के सम्मुख स्पष्ट कर देना चाहिए। यदि कोई प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण है और उसका प्रभाव संसार के अधिक-से-अधिक भाग पर होता है, तो स्पष्ट है कि वक्ता के विचारों का प्रभाव भी उतना ही व्यापक हो सकेगा और उतने ही स्थानों तक उसकी मान्यताओं को सम्मान की दृष्टि से देखा जायगा। आज विश्व-शांति का प्रश्न ऐसा है कि जिसके लिए विश्व की मानवता आँख पसारे निहार रही है। यदि कोई विचारक या वक्ता इस विषय को लेकर इसका सही स्पष्टीकरण या सुझाव पेश करता है तो उसे विश्व के कोने-कोने में सम्मान की दृष्टि से सुना और पढ़ा जाता है।

(३) विषय के विभिन्न भागों का पारस्परिक सम्बन्ध (Inter Connection between parts of the subject): यहाँ वक्ता को विशेष रूप से सतर्क होने की आवश्यकता है। यदि वक्ता को नासमझी, भूल,

जल्दबाजी या लापरवाही के कारण विषय के विभिन्न भागों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता न मिली या गलत सम्बन्ध स्थापित कर दिया तो निश्चित रूप से विषय के अर्थ का अनर्थ हो जायगा और वक्ता का अभिप्राय प्रभावात्मक बनने के स्थान पर उल्टा कुप्रभाव स्थापित करने में सहयोग देगा। वक्ता को चाहिए कि इस दिशा में बहुत सावधानी बरते और विषय के विभिन्न भागों को समय और स्थान की उपयुक्तता के ही आधार पर भाषण में स्थान दे। भाषण तो माला की तरह वह लड़ी है जिसमें कहीं पर भी अक्रमबद्धता आने पर विशृङ्खल विचारों का प्रसार होने लगता है और श्रोतागण मूल सिद्धान्त और विषय से बहक जाते हैं। श्रोताओं का बहक जाना ही वक्ता के अभिप्राय का नष्ट हो जाना है।

(४) विषय सम्बन्धी सुझाव : विषय की पूरी रूपरेखा तय्यार होने के पश्चात और उसके स्पष्टीकरण तथा अपने आशयों के समझाने के पश्चात विषय सम्बन्धी वक्ता के सुझावों के सामने आने की आवश्यकता है। इन सुझावों का आधार वक्ता को प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित करना चाहिए और उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए उन्हें बल देना चाहिए। कोई भी विषय का विवेचन सुझावों के बिना निरर्थक है और वक्ता के अभिप्राय को आगे बढ़ाने में सहायक नहीं होता। विषय को आगे बढ़ाने में यह सुझाव विशेष रूप से लाभकर सिद्ध होंगे।

(५) आशाएँ, भय और उसका भविष्य : जिस विषय कोभी वक्ता लेकर अपना भाषण तय्यार करता है उसके मन में विषय के स्पष्टीकरण और जनता की जानकारी बढ़ाने में कुछ आशाएँ होती हैं, कुछ भय भी होता है जिस की ओर वह संकेत करता है और फिर उसके भविष्य की कल्पना सामने आती है। विश्व-शांति की कल्पना आज अणु-आविष्कार ने विश्व के सामने लाकर रखी है। विज्ञान की उन्नति के साथ-ही-साथ बन्दूक, तोप और अन्य युद्ध सम्बन्धी आविष्कार हुए और उनकी सहायता से अनेकों युद्ध भी लड़े गये। यह आविष्कार यों कहने को रक्षा के ही लिए किये गये हैं परन्तु इनका प्रयोग रक्षा की अपेक्षा युद्ध के ही लिए अधिक हुआ है। आज विश्व-शांति पर भाषण देने वाले वक्ता को इन सभी वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर आशा और भय की दृष्टि डालते हुए भविष्य की कल्पना करनी होगी और इसी के आधार पर भविष्य के विषय में अपना मत भी प्रकट करना होगा। वक्ता के सामने प्रत्येक विषय पर विचार करते समय यह तीनों ही स्थितियाँ आकर उपस्थित होती हैं और तीनों को ही समझ कर उसे चलना भी चाहिए।

(६) विषय का प्रभाव : समय, स्थान, क्रम, सुझाव, आशाएँ, भय

और विषय के भविष्य पर विचार कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि वक्ता उसके व्यापक प्रभाव और उससे होने वाले लाभ तथा हानि पर भी प्रकाश डाले। जिस विषय का प्रभाव जितना ही व्यापक होगा उतने ही अधिकाधिक श्रोताओं को वह वशीभूत कर सकेगा और अपने अन्दर घुसने तथा समझने का अवसर प्रदान करेगा।

इस प्रकार सामग्री जुटाने पर जो भाषण तय्यार होगा उसमें क्रम होगा, प्रवाह होगा, प्रभावात्मकता होगी, रोचकता होगी और सुन्दर स्पष्टीकरण भी। किसी भी विषय पर भाषण देते समय यह आवश्यक नहीं कि उसके सम्बन्ध में वक्ता जो कुछ भी जानता है वह सभी कुछ कह डाले। वक्ता को चुनना होगा कि उसे क्या कहना है और जो कुछ कहना है वह भाषण के विषय और वक्ता के मंतव्यों को आगे बढ़ाने में कहाँ तक सहायक सिद्ध होते हैं। इस विधि से तय्यार किया गया भाषण निश्चित रूप से वक्ता को जनता में ख्याति देगा और उसके श्रोताओं में निरंतर वृद्धि होती चली जायगी। उसका जन-भाषण मंच पर धीरे-धीरे एक स्थति बनाता चला जायगा।

श्रोताओं को प्रभावित करने के गुण

भाषण की तय्यारी के पश्चात् वक्ता के सम्मुख प्रश्न होता है अपने विचारों के प्रसारित करने और श्रोताओं को प्रभावित करने का भाषण देते समय उसके सम्मुख अनेकों श्रोताओं के दिमाग रहते हैं, जिनकी विचार-धारा को उसे अपनी विचार-धारा के अनुसार बनाने और बदलने का प्रश्न होता है। वक्ता को प्रेरित करना होता है उनके दिमागों को अपने विचार और सुझाव मानने के लिए। भाषण की तय्यारी पर हमने पीछे विचार अवश्य किया है परन्तु यह तय्यारी उस समय तक प्रभावात्मक नहीं हो सकती जब तक वह श्रोताओं का मत बदलने में सार्थक सिद्ध न हो। वक्ता को भाषण की तय्यारी के साथ-ही-साथ भाषण का प्रयोग अर्थात् सभा में उसके मुक्त प्रवाह के साथ प्रभावात्मक प्रदर्शन करना भी आना चाहिए। किसी चीज के बनाने का सही उपयोग उसका प्रयोग करना है। प्रयोग के बिना बनाने की सार्थकता सिद्ध नहीं होती।

ऊपर हमने वक्ता की योग्यता और भाषण की तय्यारी पर विचार किया। अब हम श्रोताओं सम्बन्धी समस्या और उनकी दृष्टि से भाषण को प्रभावात्मक बनाने के प्रश्न पर विचार करेंगे। हमें विचार करना है कि किस प्रकार वक्ता के मस्तिष्क की विचार-धारा डाक्टर की औषधि के समान श्रोता के मस्तिष्क में पहुँचे और अपने प्रभाव से उसे अन्दोलित कर सके।

मनुष्य कारण और भावना दोनों के प्रभाव से कार्य करता है और दोनों का

ही श्रोताओं पर प्रभाव पड़ता है। वक्ता को किस-किस प्रकार श्रोताओं को प्रभावित करना चाहिए और किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, इसका क्रमबद्ध विवेचन हम नीचे प्रस्तुत करेंगे।

अपने को सुरक्षित रखने की भावना : वक्ता को श्रोताओं की नाड़ी अपने हाथ में संभालने के लिए सीधा उनके भावना-क्षेत्र में घुसने की आवश्यकता है। कारण का क्षेत्र भावना के बाद उपस्थित होता है। भावना के क्षेत्र में घुसकर श्रोता को इसलिए प्रभावित करना होता है कि वक्ता जो कुछ भी कह रहा है वह सब उनके ही लाभार्थ है। यदि श्रोता वक्ता की बात पर अमल करेगा तो इसमें उसका निजी हित है। जब तक श्रोता वक्ता की बात में अपने स्वार्थ की कल्पना नहीं करेगा तब तक चाहे यह भले ही हो कि वह वक्ता की बात सुन कर तालियाँ बजादे और वाह-वाह कर दे, परन्तु कटिबद्ध होकर उसके कार्य पर अग्रसर नहीं हो सकता। कार्यारूढ़ होने के लिए श्रोता को इस दिशा में प्रभावित करने की आवश्यक्ता है कि वक्ता के कथन का पालन करने में उसका बहुत बड़ा स्वार्थ मिश्रित हो। उसके जीवन का सुख, शांति और सम्पन्नता इसी पर आधारित है।

जनता में भाषण देते समय वक्ता को ध्यान रखना चाहिए कि वह जो शब्द भी अपने मुख से उच्चारण करे उनमें संकुचित भावना का समावेश न होकर विस्तृत योजना सन्निहित हो। वक्ता की विचार-धारा जितनी भी व्यापक होगी उसका प्रसार और प्रभाव भी उतना ही अधिक-से-अधिक जन-समाज में अपनी पैठ कर सकेगा। वक्ता के भाषण में अधिकाधिक हितों का संरक्षण होना आवश्यक है और इसी के द्वारा वह जनता के निकट पहुँच सकता है।

वक्ता को भाषण का विषय छाँटने से पूर्व इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि उसके विषय में अपना महत्त्व निहित होना चाहिए। उसके मूल सिद्धान्त की जड़ों में कुछ सर्व मान्यताओं का होना नितान्त आवश्यक है। भाषण सर्वमान्यता के जितना भी निकट होगा उतना ही जनता का प्रेम और हित उसकी ओर खिंच सकेगा। जनता की मान्यताओं के विपरीत विचार-धारा प्रस्तुत करने में वक्ता को बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना होता है। पग-पग पर उसके विरोध और असहनशीलता से टक्कर लेनी होगी और हर समय विरोधी पक्षों से टक्कर लेने के लिए अखाड़े में डटा रहना होगा। इस दशा में यदि वक्ता मजबूत, तर्क युक्त, योग्य और मानव-हित के उसूलों का पक्षपाती है तो हो सकता है उसका विरोध भी एक दिन सहयोग में बदल जाय; परन्तु इसमें कठिनता अवश्य आयगी वक्ता के मार्ग में। उदाहरणार्थ स्वामी दयानन्द के हरिद्वार कुम्भ के अवसर पर 'पाखण्ड खण्डनी पताका' की छत्रछाया में दिये गये उस ऐतिहासिक भाषण को लिया जा सकता है जिसमें उन्होंने धर्मान्ध जनता को धोखा देने वाले ठग

धार्मिक आचार्यों को फटकारा और तर्क द्वारा उनके पौंगा पंथी मत का खण्डन किया। यों प्रारम्भ में उनका भाषण नक्कारखाने में तूती की आवाज थी और साथ ही देश के बहुत बड़े स्वार्थी समुदाय का विरोध भी था उसके सामने, परन्तु दयानन्द के सिद्धान्त मानव-मंगल की कामना को लेकर अग्रसर हुए थे इसी लिए जब उन्होंने स्त्री-शिक्षा और अछूतोद्धार की ओर कदम बढ़ाया तो देश की प्रगति शील विचार-धारा ने उनका साथ दिया और एक लम्बे काल तक आर्य समाज ने भारत के समाज-सुधार क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

वक्ता के भाषण में श्रोता का हित इस हद तक सन्निहित और प्रस्फुटित होना चाहिए कि श्रोता वक्ता के शब्दों को वेदवाक्य मान कर उनपर न्यौछावर होने के लिए उद्यत हो जाय। महात्मा गांधी, लैनिन और स्तालिन के कई भाषण इस कोटि में रखे जा सकते हैं। श्रोता के अत्याधिक प्रभावित होने का मूल कारण यही है कि उन भाषणों में उसके हित का सब से अधिक संरक्षण और बचाव छुपा हुआ है। श्रोता और श्रोता की आने वाली पीढ़ियों की सुख और मंगल शांति तथा समृद्धता उसमें निहित है।

मनोविज्ञान बतलाता है कि जनता के सम्मुख रखा गया कोई भी अनुचित सुझाव कभी भी जनता को मान्य नहीं हो सकता। वक्ता को जनता की भावनाओं के साथ खेलना होता है। उसकी भावनाओं के साथ वही खेल-खेल सकता है कि जिनके साथ वह तादात्म्य स्थापित कर सके। हानिकारक चीजों से भय और उनसे दूर रहने की प्रवृत्ति, घृणास्पद चीजों के प्रति क्रोध और उनका सामना करने का साहस तथा शक्ति; अच्छी चीजों के प्रति स्नेह और उन्हें प्यार करने तथा उनकी ओर आकृष्ट होने की उत्सुकता; लाभदायक चीजों के लिए मोह और उन्हें प्राप्त करने की मनोकांक्षा, यह मानव-प्रकृति के गुण हैं, लक्षण हैं और इनका सामूहिक रूप जनता की प्रवृत्ति को द्योतक बनता है। एक कुशल वक्ता को चाहिए कि वह जनता की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करे और जितना सही उसका मूल्यांकन होगा उतना ही प्रभावशाली उसका भाषण बन सकेगा।

वक्ता अपने लक्ष्य की पूर्ति को लिए जनता के सहयोग को ललकारने और प्राप्त करने के लिए मंच पर जाता है और वह उसे उसी समय प्राप्त होता है जब उसकी वाणी जनता की वाणी बन जाती है, उसका विचार जनता का विचार बन जाता है, उसका हित जनता का हित बन जाता है, उसकी समस्या जनता की समस्या बन जाती है और उसकी उन समस्याओं का सुझाव जनता की अपनी समस्याओं का सुझाव बन जाता है। वक्ता की ईमानदारी पर शैदा होकर जनता झूम न उठी तो भाषण का प्रभाव ही क्या ?

अधिकार की भावना : प्रत्येक मानव की प्रवृत्ति में अधिकार के प्रति

मोह निहित है। संसार का हर व्यक्ति अपनी शक्ति के विस्तार के लिए अधिकार चाहता है, अधिकार प्राप्त करने के लिए वह बलिदान भी करता है और बड़े-से-बड़ा साहसपूर्ण कार्य करने के लिए उद्यत होता है। अधिकार छिने हुए व्यक्ति को जब उन अधिकारों की वक्ता याद दिलाता है तो उसके मन में एक छटपटाहट पैदा होती है और एक विशेष प्रकार की स्फूर्ति का संचार होता है।

विश्व के इतिहास में बड़ी-से-बड़ी क्रांति ने इसी अधिकार की भावना को लेकर जन्म लिया है और उसके विस्फोट के मूल में निहित प्रधान रूप से यही भावना रही है। अधिकार उचित और अनुचित दोनों ही प्रकार के होते हैं। स्वार्थ की भावना दोनों में समानरूप से कार्य करती है और वक्ता दोनों का ही समान रूप से उपयोग कर सकता है,—किया भी है, यह इतिहास बतलाता है।

आक्रमणकारियों ने दुर्बल देशों को पदाक्रांत कर उन पर अधिकार जमाये हैं और ऐश की है,—मानवता की छाती पर दानवता का नग्न नृत्य हुआ है और सहयोग दिया है भाषण ने उन दानवों का भी। इन दानवों के अनुचित अधिकारों से दबी पिसी जनता ने करवट ली है, जन नेताओं ने अपने और जनता के अधिकारों की दुहाई देकर जाग्रति के मंत्र फूँके हैं और तख्ता पलटा है इन निन्दनीय अधिकारों का,—इसके भी ज्वलंत उदाहरण मौजूद हैं। भारत, चीन और रूस की क्रांतियाँ और वहाँ के जन-नेताओं के भाषण आज भी वहाँ की जनता के कानों में सोते जागते बज उठते हैं।

अधिकार मानव के जीवन का वह मोह है जिसके लिए वह अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु का भी बलिदान दे डालता है। पिताओं ने पुत्रों को कत्ल कराया है और पुत्रों ने पिताओं को जेल की तंग हवालातों में जीवन भर के लिए कैद कर दिया है। यह भारत का मुगल कालीन इतिहास बतलाता है और विश्व के इतिहास पर दृष्टि डालने से तो पता चलता है कि अधिकार के सामने कोई नाता रिश्ता नहीं, कोई किसी प्रकार का सम्बन्ध ठहरता ही नहीं। यह वह लोभ है जिस पर मानव की हर प्यारी-से-प्यारी वस्तु न्यौछावर है।

भारत का स्वतंत्र-आंदोलन एक तूफान था जिसमें पड़ कर न जाने कितने माई के लाल हँसते-हँसते प्राणों की आहूती दे गये। फाँसी के तख्ते पर चढ़े, मुस्कराये और उनका वजन बढ़ गया मौत के मुँह में जाने से पहले। वह मानव के खोये हुए अधिकार की रक्षा के लिए 'इनकलाब जिन्दाबाद' का नारा लगाते हुए मरे। यह अधिकार की प्रेरणा थी। अधिकार की इसी भावना को उभार कर वक्ता अपने श्रोताओं को प्रभावित कर सकता है और अपने विचारों की शृंखला में उन्हें बाँध कर एक शक्ति का संचार करता है।

सशक्तता की भावना : शक्ति प्राप्त करने के लिए संसार का प्रत्येक

मनुष्य प्रयत्न करता है। ऊपर हम अधिकार शब्द पर प्रकाश डाल चुके हैं और अधिकार तथा शक्ति ऊपर से देखने पर कुछ मिले-जुले से शब्द प्रतीत होते हैं; परन्तु अधिकार में हम केवल व्यक्ति के 'हक' तक ही सीमित हैं और शक्ति वह ताकत है जो अधिकार प्राप्त करने तथा अन्य बहुत से संगठन और क्रियात्मक कार्यों के लिए प्रयोग में लाई जाती है।

यह शक्ति प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहती है परन्तु इसका सही अनुभव, संचालन और संगठन करना भी एक समस्या है, जिसके बिना उसका होना-न-होना व्यर्थ है। शक्ति का संगठन अच्छे और बुरे सभी कामों के लिए किया गया है और किया जाता है। जहाँ एक ओर देश को परतंत्रता से मुक्त करने के लिए जनता की शक्ति को संगठित किया जाता है वहाँ चन्द डाकुओं द्वारा किसी गाँव को लूट लेने के लिए भी इसका प्रयोग रोजाना होता है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रधान चीज शक्ति नहीं है बल्कि शक्ति-संगठन और संचालन का लक्ष्य तथा ध्येय है। ध्येय और लक्ष्य की महानता के साथ-साथ शक्ति का संगठन आगे बढ़ेगा और वक्ता के भाषण का बल भी उसका लक्ष्य और ध्येय ही होगा।

यों साधारण रूप से हर व्यक्ति में शक्ति के लिए ललक विद्यमान रहती है। हर इन्सान शक्तिशाली बनना चाहता है। फर्क केवल इतना ही है कि एक शक्तिशाली बनना चाहता है दूसरों को आतंकित करने के लिए तथा दबे हुए को कुचल डाल कर समाप्त कर देने के लिए, और दूसरा शक्ति प्राप्त करना चाहता है दबे हुए को उबारने के लिए और असहाय की सहयता करने के लिए। ऐसी दशा में निश्चित् रूप से जनता की सहानुभूति दूसरे प्रकार के व्यक्ति के साथ जायगी। इसी प्रकार की विचारधारा का वक्ता जनता का नेतृत्व ग्रहण कर सकता है और उसके सम्मान का पात्र भी निश्चित् रूप से वही बनेगा।

भाषण शक्ति के संगठन को प्रेरणा प्रदान करता है और विशृंखल होती हुई ताकतों को एक सूत्र में बाँध कर किसी क्रियात्मक कार्यक्रम की ओर अग्रसर करता है। जब यह प्रेरणा जन-हित को लेकर आगे बढ़ती है तो जनता की सामूहिक शक्ति स्वाभाविक बल प्राप्त करके क्रांति का महान यंत्र बन जाती है और मानव-हित की सुरक्षा का वह नारा बुलन्द करती है जिसे सुनकर वैज्ञानिक शक्ति दहल उठती है,—भ्रमग्रस्त हो जाती है।

ख्याति की भावना : अन्त में भाषण ख्याति की भावना को प्रेरणा देता है और जनता में नाम पैदा करने तथा सम्मानित व्यक्ति बनने की मनोकांक्षा को अंकुरित करता है। बलिदानों के मूल में जितना सहयोग लक्ष्य की महानता का है उससे कहीं अधिक में ख्याति प्राप्त करने की उत्कट इच्छा और भावना का

समझता हूँ। जिन्दगी का जोश और आगे बढ़ने की उमंग के मूल में नाम हासिल करने और एक ख्याति प्राप्त व्यक्ति बनने की भावना मूल रूप से निहित रहती है।

भाषण वही सब से सफल है जो जनता में अपने लक्ष्य के प्रति इतनी महानता की भावना को प्रतिष्ठित कर सके कि जिसके लिए न्यौछावर होने में उसके श्रोता अपना मान और कल्याण समझें। वह महसूस करें कि यदि उन्होंने इसमें सहयोग न दिया तो वह जमाने से पछड़ जायेंगे और जमाना उन्हें पीछे छोड़ कर आगे कदम बढ़ाता चला जायगा। ऐसा महसूस करने से उन्हें अपने अन्दर एक कमी दिखलाई देगी और किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति का मनोविज्ञान उसे पीछे रह जाने के लिए अनुमति दे सकेगा, यह सम्भव नहीं। वह अपना कदम आगे ही बढ़ाना चाहेगा और प्रगति की अगली पंक्ति में नाम लिखाने की उत्कट इच्छा उसे बाध्य कर देगी कि वह भाषण की लकीर का फकीर बनकर उत्साह के साथ आगे बढ़े।

भाषण में ख्याति और नाम का मूल मंत्र निहित होना चाहिए और यही मूल मंत्र श्रोताओं की प्रेरणा बन कर उन्हें बढ़ावा देता हुआ वक्ता को लक्ष्य की प्राप्ति तक घसीट लायेगा। श्रोता रुक नहीं सकता पीछे-पीछे रुकने में उसे अपमान महसूस होगा और इस अपमान को वह सहन नहीं कर सकता।

अपमान को सहन करने में दक्ष व्यक्ति भी संसार में कम नहीं हैं। वह चिकने घड़े के समान हैं, जिनके कानों पर किसी के कहने की जूँ नहीं रेंगती। उनके या तो अपने जीवन के रास्ते इतने दृढ़ बन चुके हैं कि उनमें कोई तबदीली होने वाली नहीं या स्वार्थ उनके जीवन में इतना गहरा घर कर गया है कि वहाँ फेर-बदल के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं।

भाषण को प्रभावात्मक बनाने के लिए उसमें वक्ता की सुरक्षा, अधिकार, शक्ति तथा ख्याति की भावनाओं को मूल रूप से टंकारना चाहिए। इन तंत्रियों को छूने से जो स्वर पैदा होंगे वह श्रोता को प्रेरित करने में निश्चित रूप से सफल रहेंगे और उनका गहरा प्रभाव श्रोता पर पड़ेगा।

श्रोताओं के रीतिरिवाजों के प्रति सहमति : श्रोताओं के मनोभावों के साथ-ही-साथ उसके रीति रिवाजों को भी ध्यान में रखकर वक्ता को आगे बढ़ना है। रीति रिवाजों का भी सम्बन्ध सीधा मनुष्य की भावनाओं से होता है और उनके प्रति एक जन्म जन्मांतर का मोह बन जाता है। उसे ठेस लगने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई उसके हृदय पर प्रहार कर रहा है। यह प्रहार श्रोता को कभी-कभी असहनीय हो उठता है और वह वक्ता के भाषण से ऊब ही नहीं उठता बल्कि उस के प्रति कटुता की भावना बना लेता है। परन्तु इन रीति रिवाजों को

रेडियो का प्रभाव उसके पास होता है। थियेटर और सिनेमा में तो पूरी पीटिका वक्ता के पास होती है। परन्तु वक्ता को यह सब वातावरण और पीठिका अपने शब्दों की चित्रकारी द्वारा ही प्रस्तुत करनी होती है। इस दिशा में जो वक्ता जितना अधिक सफल होगा, वह उतना ही अधिक सफल वक्ता बन सकेगा। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि वक्ता जितना भी अधिक-से अधिक साकार शब्दों का प्रयोग करेगा उसका वर्णन उतना ही चित्रमय और पीठिकापूर्ण बन उठेगा।

विस्तार और संक्षेप : वक्ता के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि वह अपनी सूचना को अनिश्चित न रहने देकर उसे निश्चित बना दे और बात को इतना सूक्ष्म न कहे कि वह सूत्र ही बन जाय, वहाँ व्यर्थ के विस्तार में जाने से भी वक्तव्य की रोचकता में बाधा आती है और वक्तव्य अरोचक बन जाता है, तथा श्रोता ऊब उठता है। इस लिए वक्ता को चाहिए कि वह विस्तृत सूचनाओं को भी संक्षेप में ही कहने का प्रयत्न करें। श्रोताओं को यह भी न अनुभव हो कि किसी विषय विशेष पर श्रोता ने अपनी अनभिज्ञता के कारण उस विषय को काट-छाँट डाला है और साथ ही व्यर्थ का तूल भी उसमें नहीं आजाना चाहिए। वक्ता को अपने वक्तव्य में हर बात कहनी होती है, परन्तु संक्षेप में। ज्ञान अधूरा भी न रह जाय और विस्तार इतना अधिक भी न हो उठे कि ऊबने की नौबत आजाय।

बार-बार दुहराना : वक्ता को चाहिए कि वह अपने प्रधान मंतव्य को भाषण के दौरान में प्रत्येक प्रमाण और उदाहरण के साथ दुहरा कर श्रोता के मस्तिष्क में पूरी तरह जमादे। बार-बार दुहराने का अर्थ यह नहीं है कि हर वाक्य के पश्चात् फिर वही वाक्य श्रोताओं के कानों में बज उठे, परन्तु हाँ जहाँ उसी का सोदाहरण प्रमाण प्रस्तुत किया गया हो वहाँ मूल बात का दोहराना बहुत आवश्यक हो जाता है। वक्ता अपनी मूलबात को यदि इस प्रकार हर समय सामने रखकर चलता है तो भाषण के अन्त तक वह बात श्रोताओं के दिल और दिमाग पर पूरी तरह से नक्श हो जाती है और उसका प्रभाव स्थिर होने लगता है,—यही वक्ता का वास्तविक मंतव्य होता है किसी भाषण को देते समय।

शब्दों का चुनाव

भाषण में प्रयुक्त शब्दों के चुनाव का भाषण के सौन्दर्य, उसकी सफाई और प्रभाव पर गहरा असर होता है। मोटे तरीके से यदि इन शब्दों के चुनाव को किसी स्त्री या पुरुष के वस्त्रों की संज्ञा देकर विचार करें और अर्थ तक दृष्टि न भी ले जायें तब भी उनका महत्त्व प्रभावात्मक ही रहता है। जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों वाली स्त्री को देखने पर उसकी आभा आँखों में अपना स्थान बना लेती है, ठीक उसी प्रकार चुस्त और चुने हुए शब्दों से गठित भाषण श्रोता के कानों में घर

कर जाता है। अच्छे-अच्छे शब्द श्रोता के मस्तिष्क में ठहर जाते हैं। शब्दों में उच्चारण का बल होता है, भावों की गम्भीरता होती है, अर्थ की स्पष्टता रहती है और वक्ता के आशय को श्रोताओं तक ले जाने की क्षमता। शब्द विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाली आवाज है और इस आवाज के पीछे भाषण करने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क की सचाई है, जो शब्दों द्वारा उभर कर सामने आती है। शब्दों का सही और उचित प्रयोग किसी भी भाषा के शब्द-ज्ञान पर मुनहसिर होता है। शब्द-भंडार भी संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न हैं। जिस भाषा के पास शब्द-भंड़ार जितना भी अधिक होगा उसमें बोलने वालों को श्रोता के पास तक अपने विचारों के सही आशय को सही माने में पहुँचाने के लिए उतनी ही सुगमता होगी। गलत शब्द का प्रयोग उसका सही अर्थ जानने वाले के कानों पर हथौड़े की चोट के मानिन्द पड़ता है, उसके कान की झिल्लियों को हिला देता है और उसे सही अर्थ तक पहुँचने में कठिनाई होने पर उसकी आस्था वक्ता से उठने लगती है।

शब्दों के सहायक शब्द, जैसे संज्ञा, विशेषण क्रिया-विशेषण इत्यादि, शब्दों की बढ़ती हुई संख्या पर एक वैज्ञानिक सुधार के रूप में सामने आये। भाव के सही माने तक पहुँचने के लिए मूल शब्दों के साथ उन्हें मिलाया गया और विशेष अर्थों का बोध कराया गया। संसार की प्रत्येक वैज्ञानिक भाषा में प्रत्येक विचार के लिए किसी शब्द का होना आवश्यक है। बहुत से गूढ़ से-गूढ़ विचार सिद्धहस्त लेखक और वक्ता इस सुन्दरता के साथ एक-एक शब्द में गूंथकर अपने पाठक या श्रोता के सम्मुख लाते हैं कि पाठक या श्रोता को लेखक या वक्ता की भावनाओं में पैठ करते देर नहीं होती। वह बड़ी सुगमता से उसके भावों को हृदयंगम कर लेता है।

कभी-कभी लेखक या वक्ता अपनी विशेष भावनाओं के स्पष्टीकरण के लिए कुछ नये शब्दों को गढ़ डालते हैं और उनके द्वारा अपने विचारों के सही अर्थ पाठकों या श्रोताओं तक ले जाने का प्रयास करते हैं। कविवर 'पंत' और 'निराला' ने इस प्रकार के शब्दों का नवीन प्रयोग अपनी भाषा में किया है। हिन्दी के प्राचीन कवियों ने भी शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है, परन्तु वह अधिकाँश में केवल तुकबन्दी के विचार से, भावों के विचार से बहुत कम। अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि स्पेन्सर (Spansor) के 'Rosy-fingured' तथा Heart-wounding' इत्यादि प्रयोग इसी प्रकार के हैं। इस प्रकार के प्रयासों से संसार की विभिन्न भाषाओं के शब्द-कोषों में वृद्धि हुई है, परन्तु इन शब्दों का प्रयोग उतनी सुगमता पूर्वक वक्ता नहीं कर सकता जितनी सुगमता से वह साधारण शब्दों का प्रयोग करता है। इनका प्रयोग करने के लिए उसे मूल प्रयोगों की तह तक जाना होगा और

अध्याय ४

भाषण का आरम्भ

भाषण प्रारम्भ करते समय सबसे पहला जो प्रश्न सामने आता है वह यह है कि भाषण की भूमिका कितनी लम्बी हो। कुछ अनुभवहीन वक्ता श्रोताओं का बहुत सा समय व्यर्थ की भूमिका बाँधने में ही समाप्त कर देते हैं और असल विषय तक पहुँचने में उन्हें काफी देर लग जाती है। हमारे विचार से वक्ता को मंच पर पहुँचते ही सर्वप्रथम श्रोताओं को अपने विषय का ज्ञान कराना आवश्यक है। इसके पश्चात् विषय की साधारण भूमिका आनी आवश्यक है और यही भूमिका धीरे-धीरे प्रधान विषय की विस्तृत व्याख्या में भी विलीन हो जानी चाहिए। भूमिका का विषय से बिलकुल पृथक दिखलाई देना भाषण का कलात्मक प्रारम्भ नहीं गिना जा सकता। विषय की प्रस्तावना को संक्षेप में यह बतलाना चाहिए कि आप उस विषय के सम्बन्ध में क्या विचार रखते हैं, उस विषय का कितना व्यापक क्षेत्र समझते हैं; उस विषय की क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं आपकी दृष्टि में और विषय क्यों महत्वपूर्ण है?

साधारणतया भाषण-कलाविदों का मत है कि भाषण की भूमिका भाषण की लम्बाई के दसवें भाग से अधिक नहीं बढ़नी चाहिए। इसके दसवाँ भाग कह देने का अर्थ बहुत रूढ़िवादी ढंग से ग्रहण करना भूल होगी; परन्तु साधारणतया यह नियम उपयोग में लाया जा सकता है। लम्बे भाषणों के विषय में विचार करते समय तो यह नियम सर्वदा मान्य होना ही चाहिए। हाँ छोटे भाषणों में कुछ फेर बदल अवश्य हो सकती है। छोटे भाषणों में १, ३, के अनुपात से भी काम लिया जाता है अर्थात् १ भाग भूमिका, ३ भाग मूल भाषण और १ भाग अंतिम परिणाम। हमारे विचार से अन्तिम परिणाम यदि एक भाग न होकर केवल ½ भी रहे तो को कोई हानि नहीं। अंतिम परिणाम जितना भी छोटा और नपा तुला सार्थकता लिए हुए होगा उतना ही अधिक प्रभावशाली बन सकेगा। भूमिका-भाग को भी जहाँ तक बन सके वक्ता को संक्षेप में ही रखने की आवश्यकता है।

कुछ वक्ता एक दिल्लगी के साथ मज़ाकिया तरीके से अपना भाषण प्रारम्भ करते हैं। यह तरीका बहुत प्रचलित है और प्रभावात्मक भी, परन्तु इसके लिए श्रोताओं की वृत्तियों से परिचय होना नितान्त आवश्यक है। हर जगह एक ही प्रकार का मज़ाकिया प्रारम्भ करने का तरीका नहीं अपनाया जा सकता।

दूसरे किस्म का तरीका कुछ मज़ाकिया और कुछ गम्भीरता लिए हुए होता है। यह आधुनिकतम तरीका है और बहुत प्रभावात्मक माना गया है। इसका मज़ाकिया भाग श्रोताओं में दिलचस्पी पैदा करता है और एक प्रकार से ऐसी गम्भीरता (Monotony) को तोड़ता है जो श्रोताओं को अधिक देर तक भाषण सुनते रहने से उबा देती है, तथा उसका गम्भीर भाग विषय के गम्भीर तत्वों का विवेचन करके उसकी उपादेयता और गहराई तक उन्हें खींच ले जाता है।

यहाँ तक तो हुई साधारण विषयों की बात, जिन पर अनेकों लोग बोलते और भाषण देते हैं। इन विषयों के अंतर्गत हम राजनीति और धर्म इत्यादि के नित्य होने वाले व्याख्यानों को ले सकते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत भाषण होते हैं। यह भाषण कुछ विशेष विषयों पर विशेषज्ञों द्वारा दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ मानों कोई डाक्टर साँप के इलाज का विशेषज्ञ है और वह सांपों की किस्मों और उनके इलाजों पर भाषण दे रहा है तो वह प्रारम्भ में ही अपने श्रोताओं को बतायेगा कि वह जिस विषय पर अपना ज्ञान उन लोगों के सामने रख रहा है, वह उसका अपना प्रिय विषय रहा है, और उस पर उसने एक लम्बी अवधि तक खोज की है, परिश्रम किया है। और इतनी खोज तथा परिश्रम के पश्चात वह जिन परिणामों पर पहुँचा है उन्हीं का ज्ञान आज वह अपने श्रोताओं को करायेगा। वक्ता की यही प्रारम्भिक सूचना या परिभाषा श्रोताओं के लिए आकर्षण का कारण बन जायगी और उनकी जिज्ञासा सर्प-विषयक जानाकरी प्राप्त करने के लिए इतनी प्रखर हो उठेगी कि वह ध्यान-मग्न होकर उसके भाषण को सुनने के लिए कान पसार देंगे। इस प्रकार की प्रस्तावनाएँ व्यक्तिगत टाइप की प्रस्तावना हैं। इसी प्रकार के अन्य अनेकों विषय हो सकते हैं जिन्हें कुछ विशेष प्रकार के वक्ता ही अपना सकते हैं, साधारणतया सभी वक्ता नहीं। इस प्रकार के वक्ता यदि भाषण-पटुता में कुछ कम आकर्षक भी होते हैं तो तब भी विषय की विशेषता के नीचे उनकी वह कमियाँ दब जाती हैं। उदाहरण के लिए यदि तेनसिंह अपनी 'एवरस्ट-यात्रा' पर भाषण देता है, तो आवश्यक नहीं कि वह भाषा-आचार्य की भाँति चुनीदा शब्दों का लच्छेदार प्रयोग करके भाषण को आकर्षक बना सके। इसी प्रकार कोई क्रिकेट का खिलाड़ी यदि अपने किसी मैच पर भाषण दे तो हो सकता है वह कला उसके भाषण में न आये जो उसने मैदान में बैट हाथ में लेकर खेलते समय अपने दर्शकों के सम्मुख प्रदर्शित की थी।

और उसके सिद्धान्तों में जनता के अधिकारों की रक्षा करना निहित है। जनता की सुख-समृद्धि और शांति के लिए उसका राजनैतिक दल संघर्ष कर रहा है और यदि जनमत से उसने सफलता प्राप्त की तो निश्चित् रूप से वह उनका प्रतिनिधि बन-कर उनके अधिकारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष करेगा। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी सिद्धान्त को लेकर भाषण की समाप्ति की जा सकती है।

९. श्रोताओं पर विश्वास : कभी-कभी वक्ता अपनी सम्पूर्ण बात कहकर अन्त में श्रोताओं पर विश्वास प्रकट करता है कि वह वक्ता के भाषण का आशय समझ गये होंगे और जो कुछ उसने कहा है वह सब उन वक्ताओं की ही अपनी बात है। उसे विश्वास है कि वक्ता अपनी ही उस बात को समझने और उस पर अमल करने में अग्रसर होकर वक्ता की भावनाओं को बल प्रदान करेंगे।

भावनात्मक अपील (Appeal to Emotion) : इस प्रकार की समाप्ति में बहुत अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, केवल श्रोताओं की भावना को छूना मात्र रहता है। वक्ता को चाहिए कि वह अपने भाषण के विषय का सम्बन्ध श्रोताओं की भावना से स्थापित करदे और उसी भावनात्मक प्रवाह में अपने श्रोताओं को बहता हुआ छोड़दे। धार्मिक भाषणों की समाप्ति में इस प्रकार का प्रयोग अधिक प्रभावात्मक साबित होता है।

कर्त्तव्य की अपील (Appeal to Action) : कभी-कभी वक्ता भाषण के अन्त में अपने श्रोताओं को कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता है। कर्त्तव्य की प्रेरणा भी भाषण के मूल सिद्धान्त से ही उभर कर आती है। यह वह जोशीली प्रेरणा होती है जिसके प्रभाव में आकर भावनात्मक व्यक्ति विविध प्रकार की भाव-नाओं से प्रेरित होते हुए कर्त्तव्य पथ की ओर अग्रसर होते हैं। राजनीति के क्षेत्र में इस प्रकार के भाषण बहुत महत्त्व पूर्ण होते हैं। देशभक्ति के नाम पर, मानव-कल्याण के नाम पर, समाज-सेवा के नाम पर और इस प्रकार की अन्य बहुत सी बातों के नाम पर कर्त्तव्य की प्रेरणा दी जाती है। यही प्रेरणा अपने प्रभाव से श्रोताओं को कर्त्तव्य रूढ़ करती है।

नाटकीय या वर्णनात्मक अन्त (Dramatic or Descriptive Climax) : इस प्रकार का अन्त साधारणतया सभी वक्ताओं के लिए करना कठिन है। इसमें श्रोताओं को वक्ता अपने भाषण के अन्त में अपने एक मूल विचार पर घसीट कर ले आता है और उसी मूल विचार पर उसके भाषण का सार तत्व निहित रहता है। इस प्रकार की समाप्ति में कभी भी भाषण की विविध धाराओं की अपूर्णता को पूर्ण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। भाषण के अन्त की पूर्ति समस्त भाषण के विचार-संतुलन को नष्ट कर देती है और वक्ता के लक्ष्य की पहुँच में बाधक सिद्ध होती है।

इस प्रकार हमने ऊपर भाषण की समाप्ति के विविध प्रकारों पर दृष्टि डाली और देखा कि किन-किन प्रकारों से उसे प्रभावशाली बनाया जा सकता है। किस प्रकार का वह अन्त हो जो श्रोताओं के दिल और दिमागों पर नक्श हो जाय और उनके अन्दर एक कुरेदना पैदा कर दे वक्ता के आशय तक पहुँचने के लिए, वक्ता के विचारों में सहानुभूति के साथ पैठ करने के लिए।

बिना तय्यारी के भाषण

भाषण की तय्यारी से भाषण-की वक्तव्य-कला-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम बिना तय्यारी के भाषण करने की विधि पर संक्षेप में विचार कर लें। वास्तव में यदि साधारण रूप से देखा जाय तो कोई नियम इस विषय में नहीं बनाया जा सकता और यह विशेष रूप से वक्ता की अपनी स्वेच्छा पर निर्भर करता है कि वह विषय को किस प्रकार उठाता है। इस दिशा में कोई नियम निर्धारित करना सरल काम नहीं, परन्तु फिर भी संकेतिक रूप से कुछ और विचार अवश्य आकर्षित किया जा सकता है। सम्पूर्ण भाषण को तय्यार करके लिखना और फिर उसे कंठस्थ करके मंच पर बोलना कोई साधरण कार्य नहीं। जहाँ तक प्रारम्भिक बच्चों का सम्बन्ध है, उनके लिए यह नियम भी बन सकता है और उनका साहस मंच पर बढ़ाने के लिए यह एक अच्छा साधन भी है; परन्तु इसका विचार और उसके स्पष्टीकरण से कम सम्बन्ध है। बिना तय्यारी के भाषण में कंठस्थ किया हुआ भाषण किस हद तक साथ दे सकता है, यह सोचने से सम्बन्ध रखता है। भाषण का सम्बन्ध श्रोता से है और इसी लिए वक्ता को अपने भाषण की तय्यारी के पश्चात् भी उसके बहुत से भाग में श्रोताओं के विचार से कमोबेशी करनी चाहिए। भाषण की सफलता वक्ता की समयोपयुक्त चतुर बुद्धि पर आधारित है जिसके लिए कोई निश्चित् नियम नहीं बन सकता।

वक्ता को बिना तय्यारी के भाषण में कंठस्थ और तात्कालित विचार का समन्वय स्थापित करके एक नया साँचा तय्यार करना होता है। वक्ता को इस साँचे में अपने विचारों को ढाल कर साथ-साथ भाषण तय्यार करते जाना होता है। और उसे साथ-ही-साथ श्रोताओं के सामने पेश किया जाता है।

जो लोग भाषण को लिख कर पढ़ने के पक्षपाती हैं उनका विचार है :

१. भाषण के लिखने से वक्ता का सुगठित विचार एक नियम और क्रम के साथ श्रोताओं के सम्मुख आता है। वह इधर-उधर बिखरता नहीं, बहता नहीं और अनियमित रूप से असंतुलित नहीं हो जाता। उसका हर विचार, हर भाव शब्दों और वाक्यों में बंध कर सध जाता है। लार्ड बेकन के कथनानुसार "पढ़ना व्यक्ति को पूर्ण और लिखना सही तथा संतुलित बनाता है" (Reading

maketh a full man, writing an exact man) । जो भाषण लिखा जाता है उसे मंच पर श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करने से पूर्व पूरी तरह से दुहराया और तिहराया जा सकता है; उसकी कमियों को दूर किया जा सकता है, उसकी अपूर्णताओं को पूर्ण किया जा सकता है और इस प्रकार जब उसे वास्तव में श्रोताओं के सम्मुख ले जाया जाय तो उसे इस दशा में ले जाया जाय कि वक्ता एक बार अपने मन और विचार से यह निश्चय कर चुके कि जो कुछ उसे कहना है वह अपने उस भाषण में कह चुका । विचार के अतिरिक्त भाषा और व्याकरण के विचार से भी पहले लिख लेने से भाषण का सुधार हो जाने पर वह श्रोताओं के लिए अधिक प्रभावात्मक बन जायगा ।

२. लिखित भाषण वक्ता और विशेष रूप से नये वक्ता को बहुत सी चिन्ताओं से मुक्त कर देता है । नये वक्ता को प्रारम्भिक अवस्थाओं में मंच पर जाते समय संकोच होता है । परन्तु इस संकोच की मात्रा लिखित वक्तव्य पास में होने पर कम हो जाती है । वह एक आत्म-विश्वास के साथ अपने श्रोताओं के सम्मुख जाता है और जो कुछ उसे कहना होता है उसे बहुत संतुलित भाषा में प्रस्तुत करता है ।

३. कुछ समय विशेषों पर दिये गये भाषण, जिन्हें लोग बाद में भी उद्धरण के रूप में पेश करते हैं, बहुत ही संतुलित और विषय तथा समय के अनुकूल होने आवश्यक हैं । किसी विशेष सभा के सभापति का भाषण इसी प्रकार का भाषण होता है । इस प्रकार के भाषण सर्वदा पहले से लिखकर तय्यार किये जाते हैं । उदाहरण के लिए हम अपने देश की सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस के वार्षिक उत्सवों को ही ले सकते हैं । कांग्रेस की ही भांति भारत के अन्य राजनैतिक दलों के वार्षिक उत्सवों पर उनके सभापतियों के भाषण विशेष रूप से लिखित ही होते हैं । इन भाषणों के शब्द चुन कर रखे जाते हैं और एक प्रकार का कार्य-क्रम उनके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है ।

४. लिखित वक्तव्य की सबसे बड़ी खूबी और अच्छाई उसका रियाज, उसकी मुहारनी (Rehearsal) है । यह बिना लिखे भाषण के साथ सम्भव नहीं । निश्चित् समय और स्थान पर वक्तव्य देने से पूर्व वक्ता उसे कई बार दुहरा कर याद कर लेता है और उसके शब्दों तथा वाक्यों के उतार चढ़ाव को संधान सकता है । वक्ता अपने भाषण का समय, उसके दौरान में आने वाले इशारे (Gestures) ध्वनि-संधान इत्यादि का अंदाज लगा सकता है । यह सब बिना लिखित भाषण से सम्भव नहीं । लिखे भाषण की भाषण देने की क्रिया और उसके विषय दोनों में मंच पर जाने से पूर्व संशोधन किया जा सकता है ।

उक्त सभी कारण बहुत वजनी और आवश्यक हैं, तथा इन पर ध्यान

दिए बिना भी नहीं रहा जा सकता। परन्तु साथ ही हम उन लोगों की राय को भी पूरी तरह नजरअन्दाज नहीं कर सकते जो भाषण बिना तय्यारी (Extempore) के ही देने के पक्षपाती हैं। बिना तय्यारी के भाषण देना वास्तव में एक कठिन कार्य है। यहाँ बिना तय्यारी के भाषण देने वालों का विचार भी जान लेना आवश्यक है :

१. लिखा और याद किया हुआ भाषण, कुछ बहुत तजुरबेकार वक्ताओं को छोड़कर शेष सभी के मन में निश्चित् रूप से यह भय पैदा कर देता है कि कहीं भाषण के दौरान में वह उसका कोई शब्द या वाक्य न भूल जाय। इस प्रकार शब्द या वाक्य की भूल से वक्ता को भाषण के दौरान में यदि पूरी तरह से नहीं तो कम-से-कम कुछ क्षण के लिए हिचकिचाना और ठहर जाना होता है। यह हिचकिचाना और ठहर जाना ही उनके भाषण में शिथिलता और बदमजगी पैदा कर देता है। कभी-कभी तो एक वाक्य के दिमाग से निकल जाने पर कोई पूरा-का-पूरा विचार ही गोल हो जाता है। इस शब्द या वाक्य को भूल जाने का भय वक्ता को पूर्ण रूप से खुलकर अपने श्रोताओं के सामने आने से रोकता रहता है। वक्ता के शब्दों, वाक्यों, विचारों और भावनाओं का मुक्त प्रवाह कुंठित हो जाता है और उसे एक नपी-तुली शब्दावली, शैली और विचारधारा के अंतर्गत चलना होता है। उसका याद किया हुआ भाषण उसके दिमाग को घेरे रहता है और उसके शब्द-शब्द को याद रखने के भार से उसकी विचारधारा दब जाती है। भाषण के दौरान में बहुत सी रुकावटें, अड़चनें, उलझनें और विचारों को अनिस्थिर करने वाली चीजें आती हैं, जिनका प्रभाव वक्ता की याददाश्त पर पड़ता है। श्रोताओं के हाव-भाव, तालियाँ बजाने, नारे लगाने, दाद देने, मुस्कराने और संकेत करने का भी प्रभाव वक्ता पर पड़ता है और यही प्रभाव वक्ता के नपे-तुले क्रम पर कुठाराघात करके उसे छिन्न-भिन्न कर डालता है। कभी तो यह रुकावटें साधारण और अन-स्थायी होती हैं, परन्तु कभी-कभी यही स्थायी रूप धारण करके भाषण को बिलकुल ही बदमजा बना देती हैं। बिना तय्यारी के भाषण देने वालों का मत है कि उनकी धारा के वक्ताओं को कभी भी इस प्रकार की बदमजगी का समाना नहीं करना होता।

२. याद किये हुए भाषण के वक्ता का ध्यान बहुत सख्ती के साथ उन विचारों, भावनाओं और शब्दों तथा वाक्यों पर रहता है जिन्हें उसने एक अभ्यास के पश्चात् तय्यार किया है। कभी-कभी वक्ता और श्रोता में, उनके दृष्टिकोण का अन्तर हो जाने पर, बड़ा मतभेद पैदा हो जाता है। वक्ता अपनी तय्यारी के आधार पर चलते हुए उसके प्रभाव को श्रोताओं पर देखकर भी अपने भाषण का रुख नहीं बदल सकता। यह तो किसी व्यक्ति के रिकार्ड किये भाषण को सुनने के

समान हो जाता है, जिसमें किसी भी प्रकार कोई परिवर्तन सम्भव नहीं। इसी लिए इस भाषण में वह मुक्त प्रवाह आना सम्भव नहीं जो बिना तय्यारी के भाषण में आता है।

३. बिना तय्यारी के दिये जाने वाले भाषण में वक्ता को भाषण के दौरान में भी अपनी बात को बदल देने या उसके रूख में उलट फेर करने की स्वतंत्रता रहती है। वक्ता अपनी मर्जी का मालिक होता है और वह आजादी के साथ अपने खयालातों का इजहार करता है। लिखे हुए भाषण की याद हर समय उसके मस्तिष्क को नहीं घेरे रहती। श्रोताओं में पैदा होने वाली बेचैनी, वक्ताओं के सामने आती हैं। चतुर वक्ता इन्हें भाँपकर अपने भाषण में कुछ ऐसी रोचक सामग्री प्रस्तुत करता है कि जनता शांत हो जाती है। इस प्रकार कोई भी किसी किस्म की परेशानी, जिस पर भाषण की पूर्वकालिक तय्यारी के समय वक्ता का ध्यान नहीं गया, इस समय सही की जा सकती है,—परन्तु लिखित भाषण में यह सम्भव नहीं। इस प्रकार की फेरबदल वाली चीजें बिना तय्यारी के ही दिये गये भाषण में सम्भव हैं। बिना तय्यारी के दिये जाने वाले भाषण में वक्ता पर समय की पाबन्दी उतनी अधिक नहीं रहती। वह आवश्यकतानुसार अपने भाषण की लम्बाई कम और अधिक कर सकता है।

४. कभी-कभी भाषण के दौरान में ही ऐसी घटनाएँ घटती हैं कि जिन्हें वक्ता बहुत ही प्रभावात्मक ढंग से अपने भाषण में जोड़ लेता है। समयानुकूल होने के कारण इनका प्रभाव कभी ऐसा भी होता है कि सम्पूर्ण भाषण से अधिक गहरा हो उठता है। यह घटनाएँ न तो पहले से ही सोची जा सकती हैं और न लिखी ही। कभी-कभी श्रोताओं की हरकतों, उनके हाव भावों, उन पर पड़ने वाले प्रभावों और आस-पास के वातावरण का भी उपयोग वक्ता अपने भाषण में करता है। चतुर वक्ता उसे इतना सजीव बना देता है कि साक्षात् अपने सामने देखकर श्रोता प्रभावित हो उठते हैं।

५. तात्कालिक वक्ता बिना किसी परेशानी के किसी भी विचार पर किसी भी समय अपना विचार केन्द्रित कर सकता है। विशेष रूप से वाद-विवादों में तो केवल तात्कालिक वक्ता ही एक सफल वक्ता बन सकता है; वहाँ पहले से सोच विचारने और लिखने का समय तो होता ही नहीं। वहाँ तो तुरत बुद्धि से ही काम लिया जाता है। वक्ताओं के पारस्परिक विचारों के जवाब या उनके समर्थन के लिए भी भाषण से पूर्व लिखने की व्यवस्था काम में नहीं लाई जा सकती।

वक्ता की आवाज़

तय्यारी और बिना तय्यारी भाषण देने और भाषण की तय्यारी पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। यहाँ हम मंच पर भाषण देते समय वक्ता की आवाज के विषय में कुछ आवश्यक जानकारी प्रस्तुत करेंगे। भाषण देते समय आवाज के उतार-चढ़ाव पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसी उतार-चढ़ाव के द्वारा वक्ता अपने भाषण को प्रभावात्मक बनाता है।

वक्ता की आवाज का सम्बन्ध उसके श्वांस लेने के तरीके, उसके गले की ध्वनि और छाती के बाहर श्वांस खींचने के बल पर आधारित है। जहाँ तक श्वाँस लेने के तरीके का सम्बन्ध है, वह बहुत कुछ हद तक अभ्यास से मन्द, तीव्र या स्थायी किया जा सकता है। इसका स्पष्ट प्रभाव ध्वनि के स्वाराघात पर पड़ता है। गले की शब्द-ध्वनि का सम्बन्ध कुछ उसके साधने, बनाने, अभ्यास करने से अवश्य है परन्तु मूलरूप से उसके स्वाभाविक रूप में कोई अन्तर नहीं आता। कुछ व्यक्तियों की आवाज स्वभाव से मधुर, बारीक और लचीली होती है; कुछ की जोरदार, प्रभावात्मक और एक गम्भीरता लिए हुए होती है; कुछ की कठोर, कर्कश और अरुचिपूर्ण होती है तथा इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों की आवाज विशेष स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न होती है। इन स्वाभाविक गुणों को भी अभ्यास से कुछ अदला-बदला जा सकता है परन्तु उनके रुख में कोई बहुत बड़ी तबदीली आना सम्भव नहीं। अन्दर से गले द्वारा छाती की शक्ति लगाकर बाहर श्वांस फेंकने पर आवाज विशेषरूप से आधारित होती है।

एक कुशल वक्ता को अपने श्वांस, गले और छाती तीनों का ध्यान रखना आवश्यक है। इन तीनों के अतिरिक्त अनुन्नासिक ध्वनियों के उच्चारण में नासिका का भी बहुत बड़ा सहयोग होता है। नाक के सही काम न करने पर अनुन्नासिक ध्वनियाँ खराब निकल कर भाषण के समस्त सौंदर्य को नष्ट कर सकती हैं।

भाषण के दौरान में कहाँ आवाज धीमी और कहाँ तीव्र हो, कहाँ हल्की और कहाँ भारी हो, कहाँ मधुर और कहाँ कठोर हो, कहाँ स्वर छोटा और कहाँ खिंचा हुआ हो,—यह सभी बातें वक्ता को ध्यान देने की होती हैं। भाषण का सही-सही सौंदर्य और प्रभाव स्वर पर आधारित होता है। जो वक्ता जिस हद तक स्वर के इस रहस्य को समझ सकेगा और अभ्यास द्वारा अपने कंठ को इसके प्रयोग में अभ्यस्थ कर सकेगा, उसका भाषण उतना ही रोचक और प्रभावात्मक बन सकता है।

वक्ता की भावभंगिमाएँ

कुछ वक्ता मंच पर उपस्थित होने के ढंग को महत्त्व देते हैं। इसके विपरीत कुछ प्रमुख वक्ता इस ओर किंचित मात्र भी ध्यान नहीं देते और श्रोताओं को अपनी योग्यता, विचार, व्यक्तित्व, चातुर्य और भाषा के ओज गाम्भीर्य तथा माधुर्य से वशीभूत कर लेते हैं। मंच पर उपस्थित होने के ढंग को वह कोई विशेष महत्त्व नहीं देते। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मंच पर उपस्थित होने के ढंग का श्रोताओं पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। यह प्रभाव निश्चित् रूप से पड़ता है। कभी-कभी कुछ वक्ता अपने श्रोताओं के सामने इस भद्दे और अस्त-व्यस्त ढंग से आते हैं कि श्रोताओं को उनकी शक्ल देखते ही हँसी आजाती है और यदि उसने कुछ संकेत भी इसी प्रकार उलटे सीधे हुए तो श्रोताओं का विचार उसकी योग्यता के विमुख चलने लगता है। कभी-कभी वक्ता इस प्रकार मंच पर खड़ा हो कर भाषण करता है कि उसका मुख केवल श्रोताओं के एक छोटे से भाग की ओर ही रुक जाता है और श्रोता-सभा का अधिकांश भाग यह अनुभव करने लगता है कि वक्ता मानो कोई काठ का पुतला है जिसे किसी ने मंच पर कीलों से जड़ कर उसका मुख एक दिशा में किसी चीज से बाँध दिया है; वह दूसरी दिशा में जुंबिश ही नहीं कर सकता, हिल ही नहीं सकता। इसके फलस्वरूप उस दिशा के श्रोता वक्ता की ओर से कुछ रूखापन सा अनुभव करके उसकी बातों से रस लेना बन्द कर देते हैं। इस प्रकार की कमियाँ भाषण की रोचकता में बाधक होती हैं, जिनके लिए कुछ साधारण से नियमों पर ध्यान देने से भाषण की कमियाँ दूर हो सकती हैं और भाषण की प्रभावात्मकता बढ़ सकती है।

मंच पर जाने से पूर्व वक्ता को सबसे पहले अपने वस्त्रों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। वक्ता के वस्त्र भी कुछ ऐसे विचित्र प्रकार के नहीं होने चाहिएँ कि दर्शकों को उसकी शक्ल में कुछ अजूबा सा दिखलाई देने लगे और उनका आकर्षण व्यक्ति से हट कर उसके वस्त्रों में उलझ जाय। वस्त्र सादे और स्वच्छ होने आवश्यक हैं। वस्त्रों के कीमती होने की जरूरत नहीं, परन्तु वह ऐसे अवश्य होने चाहिएँ कि आँखों को बुरे न लगें। यह साधारण सी बात है कि हर स्वाभिमानी व्यक्ति स्वच्छ वस्त्र पहनना पसंद करेगा। कायदे के साथ साफ सुथरे वस्त्रों वाले व्यक्ति से श्रोताओं को वक्ता की सफाई, नियात्मकता और शुद्धता का पता चलता है।

मंच पर कपड़ों के पश्चात् दूसरा नम्बर वक्ता के संकेतों का आता है। वक्ता को भाषण करते समय व्यर्थ इधर-उधर के संकेत नहीं करने चाहिएँ। उसकी मुखाकृति से कोई जल्दबाजी, कोई घबराहट, कोई परेशानी, कोई चलतापन इत्यादि

जाहिर नहीं होना चाहिए। श्रोताओं को महसूस होना चाहिए कि तुम उसी सुगमता और सरलता के साथ बोल रहे हो जिसके साथ तुम परस्पर लोगों में बैठ कर बातचीत करते हो। मंच पर खड़े होने का एक साधारण प्रभावात्मक तरीका होता है, जिसके अनुसार वक्ता को खड़े होकर भाषण देना चाहिए। कुछ वक्ता अपना भाषण देने का विशेष ढंग भी बना लेते हैं और फिर निरन्तर उसी का अनुसरण करने से वह उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। वक्ता के अभ्यस्त ढंग में भी उसकी अपनी एक रोचकता आ जाती है।

जिस समय वक्ता किसी भाव या विचार विशेष को जबान से शब्दों और गले की ध्वनि द्वारा बल देता है, उसी समय उसके हाथ भी अपना कार्य करते हैं। बहुत कम वक्ता ऐसे होते हैं जिनके हाथ भाषण देते समय किसी प्रकार की हरकत न करते हों। वक्ता की मनोभावनाओं के साथ-साथ हाथ भी फड़कते, उठते और संकेत करते हैं। परन्तु यहाँ वक्ता को ध्यान रहे कि उसके हाथों का संकेत जबान के शब्दों और भाषण के विचारों के अनुपात से आगे नहीं बढ़ जाने चाहिएँ। ऐसा करने से भाषण में अरोचकता और अस्वाभाविकता आने की सम्भावना हो जाती है। हाथों के एक दम न हिलाने और काठ के टुकड़ों के समान लटके रहने से न केवल श्रोताओं को ही अस्वभाविक महसूस होती है वरन् वक्ता को भी अपनी एक शक्ति का ह्रास-सा अनुभव होने लगता है। उसके हाथों की गति होने से उसके भाषण-प्रवाह को सहयोग और बल मिलता है। जहाँ हाथों का अधिक हिलना और अधिक संकेत करना अस्वाभाविक और निकम्मा है वहाँ उनका लटके रहना कमर के पीछे बंधे रहना भी सारहीन है।

हाथों के संकेतों के विषय में कुछ साधारण नियम नीचे दिये जाते हैं:

१. जब किसी विषय का समर्थन, स्पष्टीकरण या किसी बात के लिए प्रार्थना करनी हो तो वक्ता को चाहिए कि वह अपने एक या दोनों हाथों को आगे बढ़ाये। हाथ श्रोताओं की ओर आगे बढ़ाने चाहिएँ और हथेली ऊपर आकाश की ओर खुली हुई होनी चाहिएँ।

२. जब किसी विषय को नामंजूर करना हो तो हाथ उसी प्रकार श्रोताओं की ओर आगे बढ़ाने चाहिएँ परन्तु हथेलियों का रुख ऊपर की ओर न करके नीचे की ओर करना चाहिए।

३. जब किसी बात के विषय में सतर्क करना हो या उसे ध्यानपूर्वक समझने की आवश्यकता पर बल देना हो तो दोनों हाथों को श्रोताओं की ओर पूरा फैलाकर कलाई पर कलाई डालकर दबाना और हथेलियों को श्रोताओं की ओर रखना चाहिए।

४. जब किसी विशेष बात की ओर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना

हो तो हाथ की एक उँगली ऊपर को उठाकर संकेत करना चाहिए।

५. जब किसी बात का घोर विरोध जाहिर करना हो तो दोनों कंधों को ऊपर उठाकर एक हथेली को दूसरी हथेली पर रखते हुए जोर से दबाना चाहिए।

६. जब किसी बात से एक दम विरोध करना हो तो हथेली जनता की ओर करते हुए हाथ सिर से थोड़ा ऊपर उठाकर संकेत करने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार अन्य बहुत प्रकार के संकेत हाथों द्वारा हाँ, नाँ, सहमति, अनुमति, असहमति, विरोध इत्यादि के लिए दिये जाते हैं। ऐसे ही अन्य संकेत आँखों के चलाने, होठों के फड़काने, गर्दन के हिलाने, सिर के घुमाने, सीने के उभारने, बदन के जुम्बिश देने इत्यादि से होते हैं। यह सभी संकेत भाषण के दौरान में बहुत प्रभावशाली होते हैं और भाषा, शब्द, ध्वनि, भावना विचार इत्यादि को श्रोताओं के लिए हृदयांगम करने में सहायक होते हैं।

उक्त संकेतों के द्वारा भाषण की प्रभावात्मकता में बढ़ावा मिलता है और वक्ता अपने अभिप्रायः में अधिक सफल होता है। वह अपने विचारों को अपने श्रोताओं के सामने अधिक सफलता के साथ रख पाता है।

अध्याय ५

वाद-विवाद

वाद-विवाद-सभा का निर्माण

वाद-विवाद की तय्यारी के लिए या तो वाद-विवाद सभा बनाई जा सकती है या किसी सभा का यह एक भाग विशेष बन सकती है। इस प्रकार की सभाओं की कामयाबी बहुत सी बातों पर आधारित है। इसकी सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि इसमें भाग लेने वाले व्यक्ति वह हों जो वास्तव में वाद-विवाद-कला में सिद्धहस्तता हासिल करना चाहते हों और उनका पूर्ण सहयोग इस सभा को प्राप्त हो। वह लोग केवल खानापुरी करने के लिए इसमें भाग नहीं लेते, वरन् सभा में होने वाले वाद-विवादों के लिए समय देते हैं। और उनके विषयों पर विचार करके सभा में उपस्थित होते है। इन भाग लेने वालों में जिद का माद्दा अधिक न होकर विषय के पक्ष और विपक्ष में कहने और सुनने की क्षमता होनी आवश्यक है। विषय पर पक्ष और विपक्ष के प्रमाणों को कहने और सुनने की भी पूर्ण भावना इसके सभासदों में होनी आवश्यक है। यहाँ तक तो हुई सभा के वक्ताओं की बात। इनके पश्चात् हमारे सामने सभा के अन्य सभासद आते हैं जो वाद-विवाद को सुनने, दाद देने, उचित और अनुचित का निर्णय करने और अन्त में अपनी राय देने की क्षमता रखते हों। सभा को सदस्य बन कर चन्दे से सबल बनाने और सभासदों की संख्या बढ़ाकर इसे सजीव बनाने की क्षमता सभा के इसी भाग में होती है। सभा के प्रथम भाग को यदि हम सभा का मस्तिष्क कह सकते हैं तो यह दूसरा भाग निश्चित् रूप से सभा की रीढ़ की हड्डी के समान है, जिसके बिना न तो सभा का शरीर खड़ा ही हो सकता है और न मस्तिष्क को अपना कार्य करने का अवसर मिल सकता है। सभा का तीसरा भाग उसके कार्यकर्त्ताओं का है, जिसे सभा के हाथ और पैरों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इस भाग के सहारे पर रीढ़ की हड्डी समस्त शरीर को संभालती है और मस्तिष्क अपना कार्य करता है। यह लोग हैं सभा के मंत्री, प्रधान, इन्तजामिया कमेटी के सदस्य इत्यादि। इस प्रकार वाद-विवाद सभा का ढाँचा तय्यार होता है और इस

सभा के क्षेत्र में कुशल खिलाड़ी अभ्यास करके सफल वाद-विवाद विज्ञ बन सकते हैं।

कार्यकारिणी सभा (**Executive Committee**): वाद-विवाद सभा का एक प्रधान (President) एक मंत्री (Secretary), एक कोषाध्यक्ष (Treasurer) बनाया जाने की आवश्यकता है। इनके अतिरिक्त उप-प्रधान (Vice-president) और उप-मंत्री (Assistant Secretary) बनाने की तब आवश्यकता होती है। जब कार्य भार अधिक हो और सभा के सदस्यों की संख्या भी कम न हो। यदि सभा के तीन अधिकारी कार्यकर्त्ता हैं तो उनके साथ सुगमता पूर्वक तीन अन्य सदस्य सहायता के लिए चुने या निर्वाचित किये जा सकते हैं। इस प्रकार की सभा में प्रधान को निर्णायक-मत (Casting vote) देने का अधिकार होता है।

सभा का सभापति (**Chairman**): जहाँ वाद-विवाद सभा किसी बड़ी सभा का एक विभाग मात्र हो वहाँ सम्पूर्ण सभा का जो प्रधान (President) हो वही इस विभाग का भी प्रधान रहे, यह आवश्यक नहीं। ऐसी दशा में एक अन्य सभापति (Chairman) चुन लिया जाता है, जो सभा की दिन प्रति दिन की कार्यवाही में भाग लेता है और सभा की सभाओं में भाग लेकर उन्हें सफल बनाता है। जहाँ वाद-विवाद सभा एक प्रथक संस्था होती है वहाँ इस प्रकार के दो-दो सभापति बनाने की आवश्यकता नहीं। वहाँ एक ही प्रधान होता है और वही Chairman का पद ग्रहण करता है।

उप-प्रधान (**Vice-President**): उप-प्रधान का कार्य न केवल चन्दे इत्यादि के प्रबन्ध से सभा को सहायता कराना होता है, वरन् सभा के लिए अच्छे वक्ताओं की खोज कराना और अपने नगर में आये हुए प्रसिद्ध व्यक्तियों को निमंत्रण देना तथा बाहर के भी व्यक्तियों से अपने यहाँ आने की प्रार्थना करना उपप्रधान का ही कर्त्तव्य है।

मंत्री (**Secretary**): अंतरङ्ग सभा में मंत्री का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। सम्पूर्ण अंतरङ्ग सभा की लापरवाही से सभा एक वर्ष तक चल सकती है, परन्तु मंत्री की लापरवाही से एक महीना भी सभा का चलना असम्भव है, मंत्री के लिए केवल यही आवश्यक है कि वह सभासदों में मैत्री-भाव बनाये रख सके और उनकी अपनी प्रत्येक कार्यवाही में दिलचस्पी पैदा करने के लिए प्रेरित कर सके।

कार्यकारिणी सभा (**Managing Committee**): कार्य कारिणी सभा के सदस्यों में यह आवश्यक नहीं है कि वह अच्छे वाद-विवाद के ज्ञाता हों, वरन् उनके अन्दर सामाजिक मिलनसारी के गुण वर्तमान होने आवश्यक हैं। सभा

की ख्याति और भले नागरिकों में उसका सम्मान तथा उसकी ओर अन्य व्यक्तियों का खिंचाव इन्हीं व्यक्तियों के व्यवहार पर आधारित है। यही वह लोग होते हैं जो सभा को बना और बिगाड़ सकते हैं। एक प्रकार से सभा की बागडोर इन्हीं लोगों के हाथों में होती है। सभा को चाहिए कि इन व्यक्तियों का चुनाव बहुत सोच समझ कर करें।

सभा के नियम (Rules and Regulations of the Society) : यहाँ हम सभा को बनाने और चलाने के कुछ नियम प्रस्तुत करते हैं। इनके आधार पर किसी भी वाद-विवाद सभा को चलाया जा सकता है। परिस्थितियों के अनुसार कुछ फेर बदल भी इन नियमों में किया जा सकता है, परन्तु उससे मूल सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं आता। हमारा यह विचार है कि किसी भी सभा को बनाने से पूर्व उसके नियमों पर सही तरीके से विचार कर लेना आवश्यक होता है। नियम साधारणतया निम्न प्रकार के होने चाहिएँ।

१. इस संस्था का नाम "..............................साहित्य और वाद-विवाद सभा" होगा।

२. इस सभा की बैठक प्रत्येक शनिवार को सायंकाल सात बजे...... ....स्थान पर निश्चित् रूप से हुआ करेगी। कार्यक्रम के फेर-बदल की सूचना सभासदों के पास पहुँचा दी जायगी। सभा के कार्य-संचालन के लिए प्रधान तथा उप-प्रधान की अनुपस्थिति में सभा को अधिकार होगा कि वह उस दिन की कार्यवाही के लिए अपने में से ही किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को सभापति चुन कर सभा की कार्यवाही सम्पन्न कर लें।

३. कार्यकारिणी सभा में प्रधान, उप-प्रधान, मंत्री, उपमंत्री, कोषाध्यक्ष तथा अन्य कुछ चुने हुए सभासद रखे जाने चाहिएँ। सभा के वार्षिक चुनाव में पहले पदाधिकारी समाप्त हो जाते हैं और नये चुनाव में चुने हुए नये पदाधिकारी कार्य-भार संभालते हैं। कार्यकारिणी की उपस्थिति के लिये एक निश्चित् संख्या होती है। यह भी सभा के नियमों से आबद्ध रहती है।

४. साधारणतया सभा में प्रधान को चालीस मिनट, वाद-विवाद प्रारम्भ करने वाले वक्ता को बीस मिनट और अन्य वक्ताओं को दस मिनट का अवसर दिया जाना उपयुक्त होता है। समय विषयानुकूल घटाया और बढ़ाया भी जा सकता है। सभा में दिये गये सभी वक्तव्यों पर टीका-टिप्पणी की स्वतंत्रता प्रत्येक सभासद को होनी चाहिए।

५. सभासदों को स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह अपने मित्रों को सभा की साधारण बैठकों में ला सकें। सभापति की आज्ञा से यह नवागंतुक वाद-

विवाद में भी भाग ले सकते हैं।

६. सभा के कार्यक्रम से सम्बन्धित कोइ भी लिखित प्रस्ताव सभासदों की ओर से आने पर वह उस बैठक से पहली बैठक में पढ़ लिया जाना चाहिए कि जिसमें उस पर वाद-विवाद होना है। कभी-कभी आवश्यक प्रस्ताव को तुरन्त भी विचार के लिए सभा के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाता है। इसके लिए दो तिहाई उपस्थित सभासदों की राय का होना आवश्यक है।

७. नियमित रूप से प्रस्तुत और समर्थन किये गये प्रस्तावों पर सभापति सभा के अन्त में सभा का मत जानने के लिए राय लेता है।

८. कार्यकारिणी सभा का यदि कोई सदस्य वर्ष के बीच में ही अपना स्थान रिक्त करके चला जाता है तो सभा को उसका रिक्त स्थान पूरा करने का अधिकार होना चाहिए।

९. सभा का सालाना चन्दा······होगा। चन्दे की अदायगी इस प्रकार होगी·························।

१०. वर्ष की समाप्ति या सभा की एक साधारण बैठक (General meeting) होगी जिसमें पदाधिकारियों और कार्यकारिणी के सदस्यों का चुनाव होगा।

११. सभा की वर्ष भर की कार्यवाही की रिपोर्ट भी इसी सभा के समक्ष रखी जाती है। पिछले वर्ष का हिसाब इसी रिपोर्ट में होता है।

१२. उक्त नियमों में कोई भी किसी किस्म का फेर बदल करने का अधिकार केवल साधारण सभा को होता है। अन्यथा कोई तबदीली सभा के नियमों में नहीं हो सकती।

अध्याय ६

वाद-विवाद की तय्यारी

वाद-विवाद वह खेल है जिसमें दो से लेकर आगे जितने व्यक्ति भी चाहें भाग ले सकते हैं। जहाँ तक इसकी प्राचीनता का सम्बन्ध है, वह भी शायद इतना पुराना है जितना कि संसार पुराना है। वाद-विवाद के वर्तमान तरीके और साधनों में अन्तर हो सकता है। हो सकता है प्रारम्भ से ही वाद-विवाद की सभाएँ और संसदें खिलाड़ियों को उपलब्ध न हों, परन्तु यह सृष्टि के आदि काल से खेला जाता रहा है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। वर्त्तमान साधनों की तरक्की ने वाद-विवाद के मनोरंजन और दिमागी व्यायाम तथा इसकी उपयोगिता को बढ़ावा दिया है। आज के युग में रेडियो, सिनेमा तथा समाचार और विचार-पत्रों के प्रसार ने लोगों की विचार-धारा को दबाने का प्रयत्न किया है परन्तु फिर भी यह वाद-विवाद के स्वतन्त्र महत्त्व को कम नहीं कर पाये। स्वस्थ और स्वतन्त्र विचार-विनिमय के लिए वाद-विवाद सभाओं का होना आज पहले से भी कहीं अधिक आवश्यक प्रतीत होने लगा है।

लाभदायक वाद-विवाद तीन चीजों पर आधारित रहता है :

१. सही प्रधान का चुनाव।

२. सही विषय का चुनाव।

३. वाद-विवाद में भाग लेने वाले वक्ताओं की प्रवृत्ति।

प्रधान का कार्य

किसी भी सभा की कामयाबी बहुत कुछ उसके प्रधान या उपप्रधान, जो प्रधान की अनुपस्थिति में उसका कार्य-भार संभाले, पर मुनहसिर होता है। सभा के प्रधान में वे सभी गुण होने की आवश्यकता है जिनके आधार पर वह प्रभावात्मक ढंग से सभा की कार्यवाही को संचालित कर सके। सभा के सभी प्रकार के नियमों से उसका परिचय होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार की नियामकता कायम रख सकने वाले और सभा के नियमों से भिज्ञ बहुत कम व्यक्ति होते हैं। कर्त्तव्य के जानकार व्यक्ति साधारणतया सभी क्षेत्रों में मिलने कठिन हैं, परन्तु जहाँ तक

प्रधान का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो यह बहुत ही सोच समझ से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है।

सभा के जिन नियमों से सभापति का परिचय होना आवश्यक है वह संक्षेप में नीचे लिखे जाते हैं :

१. सभा का प्रारम्भ (Opening of the meeting) : सभा की कार्यवाही प्रारम्भ करने का सर्वसाधारण और सरल नियम यही है कि सबसे पहले वाद-विवाद का विषय घोषित करना चाहिए। विषय के सम्बन्ध में घोषणा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह सभा के श्रोताओं के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि समझने में कोई गलतफहमी रहने की गुंजाइश न रहे। विषय के साथ-ही-साथ जिस विशेष अभिप्राय से वह सभा हुई है और वह विषय वाद-विवाद के लिए या भाषण के लिए चुना गया है, वह भी स्पष्ट हो जाना आवश्यक है।

२. कार्यवाही का संक्षिप्त विवरण (Minutes) : इसके पश्चात् प्रधान को चाहिए कि वह मंत्री को सभा की गत बैठक की कार्यवाही पढ़ने का आदेश करे। सभा के सम्मुख सम्पूर्ण विवरण पढ़े जाने के पश्चात् सभापति को चाहिए कि वह सभासदों से उस कार्यवाही के सही या गलत होने के विषय में जानकारी प्राप्त करे। सभा में उपस्थित हर सभासद को अधिकार होता है कि वह स्पष्ट रूप से बतलाये कि क्या मंत्री महोदय ने वह विवरण सही-सही लिखा है या उसमें कुछ अन्तर कर दिया है। यदि कोई अन्तर कर दिया है तो सभापति उसे गलत या ठीक समझ कर सही करने या संशोधन करने की आज्ञा कर सकता है। यदि विवरण ठीक है और कोई सभासद उसकी कुछ आलोचना प्रस्तुत नहीं करता, तो प्रधान उस कार्यवाही के रजिस्टर पर हस्ताक्षर कर देता है और सभा की आगे की कार्यवाही प्रारम्भ हो जाती है।

३. स्थायी समितियों की रिपोर्ट (Reports of the Standing Committees) : प्रत्येक साहित्यिक या वाद-विवाद-सभा की एक स्थायी समिति के सदस्यों का चुनाव साधारण सभासदों की वार्षिक बैठक में होता है और इसी समिति के ऊपर सभा के कार्य-संचालन का भार रहता है। इस समिति पर सभा विश्वास करती है। इसलिए समय-समय पर सभासदों के सम्मुख सभा की कार्यवाही की रिपोर्ट इनके द्वारा प्रस्तुत किया जाना अधिक विश्वसनीय माना जाता है। इस स्थायी समिति को क्या ताकतें होती हैं, यह सभा की नियमावलि में निर्धारित कर दिया जाता है।

४. विशेष समितियों की रिपोर्ट (Reports of the Special Committees) ; यहाँ स्थायी समिति और विशेष समितियों का भेद स्पष्ट रूप से

समझ लेना आवश्यक है। स्थायी समिति का निर्वाचन सभासदों द्वारा सभा की सालाना बैठक में होता है और सभा की नियमावलि में इसके अधिकारों का सम्पूर्ण विवरण रहता है। परन्तु विशेष समितियों की दशा ऐसी नहीं होती। इस प्रकार की समितियों का निर्माण कार्यकाल में कुछ समस्याओं के उत्पन्न होने पर होता है। उन समस्याओं की छान-बीन करने और उन पर अपनी रिपोर्ट सभा के सामने पेश करने के लिए यह समितियाँ बनाई जाती हैं। आवश्यकतानुसार इन्हें कुछ अधिकार भी सौंपे जाते हैं। इन समितियों के बनते समय इन्हें कुछ हिदायतें दी जाती हैं और उन्हीं हिदायतों के अनुसार इन समितियों को अपनी खोज करके सभा के सामने सुझाव (Recommendatoins) देने होते हैं। सभा के सामने स्थायी समिति की रिपोर्ट पढ़ी जाती है।

५. दिन की आज्ञाएँ (**Orders of the day**) : कभी-कभी यह निश्चित् कर दिया जाता है कि किसी विशेष बैठक में विशेष दिन कोई विशेष विषय विचारार्थ प्रस्तुत करके उस पर वाद-विवाद होगा। यदि उस दिन सभापति अन्य कामों में फंसा रहे और निश्चित् कार्यक्रम को समय न दे सके, तो यह अनियामकता ही माना जायगा। कुशल सभापति कभी ऐसा नहीं होने देगा। यदि किसी कारण वश निश्चित् तिथि का कार्यक्रम वाद-विवाद के लिए प्रस्तुत नहीं होता है और उसकी तिथि निकल जाती है तो उसे समाप्त समझा जाता है और यदि उसे फिर सभा में लाना हो तो नये सिरे से उसे सभा के सामने लाना होता है।

६. अपूर्ण कार्यक्रम (**Business Unfinished**) : यदि किन्हीं प्रस्तावों पर पिछली सभाओं में नोटिस दिया जा चुका हो तो उन प्रस्तावों पर इसी शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जाता है।

७. नया कार्यक्रम (**New Business**) : जैसे कि सदस्यों का चुनाव प्रस्तावों के नोटिस इत्यादि। इस प्रकार प्रारम्भिक जिम्मेदारियों से निवृत होकर प्रधान सभा की कार्यवाही की ओर अग्रसर होता है।

८. बैठक का प्रधान लक्ष्य (**Main object of the meeting**) : सभा का प्रधान लक्ष्य हो सकता है : (अ) किसी विशेष विषय पर किसी विद्वान विचारक का लेख सुनना (ब) किसी विषय पर वाद-विवाद होना (स) किसी वक्ता का भाषण सुनना। इन तीनों प्रकार के कार्यक्रम में सभापति समयानुकूल व्यवहार करता है और सभा को समय के आवश्यक नियमों के आधार पर संचालित करता है।

(अ) यदि कोई लेख पढ़ा जाना है तो प्रधान को चाहिए कि विषय पर अपने मतानुसार संक्षेप में प्रकाश डाल कर लेखक को अपना लेख पढ़ने के लिए आमंत्रित करे। लेख पढ़े जाने के पश्चात् प्रधान का कर्तव्य है कि वह लेख पर श्रोताओं के विचार जानने का प्रयत्न करे। श्रोतागण लेखक की आज्ञा से उस लेख

के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न भी कर सकते हैं। फिर प्रधान को चाहिए कि वह लेखक को उन सवालों का जवाब देने के लिए समय दे। इसके पश्चात् सभापति को चाहिए कि वह लेखक को लेख पढ़ने और श्रोताओं को शांतिपूर्वक सुनने के लिए धन्यवाद दे और इस प्रकार सभा-विसर्जन हो।

(ब) यदि वाद-विवाद है तो प्रधान को चाहिए कि वह वाद-विवाद का विषय घोषित करे। साथ ही वाद-विवाद के नियमों को भी वक्ताओं तथा श्रोताओं के सम्मुख रखे और उसके पश्चात् विषय के पक्ष में बोलने वाले वाद-विवाद प्रारम्भ कर्ता को भाषण के लिए मंच पर आमंत्रित करे। जब वाद-विवाद समाप्त हो तो प्रधान का कर्तव्य है कि वह विषय पर अपनी ओर से निष्पक्ष राय प्रकट करे। इसके लिए बहुत स्पष्ट विचार-धारा की आवश्यकता है और यदि प्रधान यह अनुभव करता है कि विषय के सम्बन्ध में उसकी जानकारी उतनी स्पष्ट नहीं है तो उसे स्पष्टीकरण के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। इसके पश्चात् उसे विपक्ष और पक्ष के वक्ताओं को अपने अन्तिम विचार श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करने का अवसर देना चाहिए। अन्तिम समय विषय के प्रस्तुतकर्ता को मिलना चाहिए।

इसके पश्चात् विषय पर मत लिया जाना चाहिए, पहिले विषय के विपक्ष में और बाद में पक्ष में। मत, हाथ उठाकर, सदस्यों को दो ओर विभाजित करके या बेलट द्वारा तीन प्रकार लिया जाता है।

(स) भाषण का प्रारम्भ बिलकुल लेख की ही भाँति होता है और जब वह समाप्त हो तो प्रधान को चाहिए कि वह अपना मत भी प्रकट करे। इसके पश्चात् लेखक के लिए सभापति धन्यवाद का प्रस्ताव रखे और दूसरा उसका समर्थन करे। बस इस प्रकार बैठक की कार्यवाही समाप्त कर दी जाय।

सभा की बैठकें उक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से कारणों के लिए आयोजित की जाती हैं और उन अवसरों पर प्रधान समयानुकूल अपने कार्य-क्रम में परिवर्तन तथा परिवर्धन कर लेता है। प्रधान के उक्त साधारण कर्तव्यों के अतिरिक्त कुछ विशेष कर्तव्य भी होते हैं जिन पर विस्तार के साथ ध्यान देने और समझने की आवश्यकता है।

साधारण प्रस्तावों पर विचार

संशोधन-प्रस्ताव (Amendments etc) : इस प्रकार के प्रस्तावों के आने पर प्रधान को ध्यान रखना चाहिए कि सभा के सामने एक समय में केवल एक ही प्रस्ताव आना चाहिए। कई-कई प्रस्तावों के झमेले में फंसकर अपने को उलझा न लेना चाहिए। मान लीजिए एक सभा बुलाई गई है और उसके कार्य-क्रम का कोई एजेन्ड़ा (Agenda paper) नहीं है, परन्तु उसे नियमित रूप से

प्रधान संचालित कर सकता है, तो प्रधान को चाहिए कि वह कोई प्रस्ताव श्रोताओं के सम्मुख रखने के लिए माँगे। प्रस्ताव आने पर वह किसी अच्छे वक्ता को या प्रस्ताव कर्त्ता को ही उस विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए आमंत्रित करे। जब प्रस्ताव-कर्त्ता अपना भाषण समाप्त करले तो प्रधान उस प्रस्ताव के समर्थक को आमंत्रित करे। यदि इस समय कोई व्यक्ति, प्रस्ताव की आलोचना करने, विरोध करने, या कोई दूसरा प्रस्ताव करने, या प्रस्ताव का समर्थन करने के अतिरिक्त अन्य कुछ करने खड़ा हो, तो यह अनियमित है और प्रधान को चाहिए कि वह उसे तुरन्त रोक दे। प्रस्ताव नियमित रूप से सभा के सामने तभी आता है जब वह किसी अन्य सदस्य द्वारा समर्थन प्राप्त कर चुके। यदि इस प्रस्ताव का कोई सदस्य समर्थन न करे तो प्रस्ताव आप-से-आप समाप्त हो जाता है।

जब प्रस्ताव नियमित रूप से समर्थित होकर सामने आता है तभी प्रधान उसे सभा के सामने विचारार्थ रखता है। सभा में प्रस्ताव पर निम्नलिखित रूप से विचार किया जाता है :

१. इसके पश्चात् प्रस्ताव सभा के सम्मुख आता है। सभा के सभासदों को अब स्वतंत्रता होती है कि वह उसके विषय में अपना मत प्रकट कर सकें। यदि प्रस्ताव सर्वमान्य है और कोई उस पर कुछ एतराज़ नहीं करना चाहता तो प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास माना जाता है।

२. प्रस्ताव के बिलकुल विपरीत कटौती-प्रस्ताव भी किसी सभासद की ओर से रखा जा सकता है और यदि उसका किसी अन्य सदस्य ने समर्थन कर दिया तो उस पर वाद-विवाद होने के पश्चात् सभा में मत संग्रह किया जाता है।

३. संशोधन और सुधार-प्रस्ताव भी उसी समय वाद-विवाद के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं जब वह नियमित रूप से प्रस्तावित और समर्थित होते हैं। इस प्रकार के प्रस्ताव उस सदस्य द्वारा रखे जाते हैं जो प्रस्ताव के मूलतत्व से तो सहमत होता है परन्तु उसके किसी भाग विशेष पर उसका मतभेद रहता है। प्रधान को उसका संशोधन-प्रस्ताव नोट करना होता है। कभी-कभी यह संशोधन मूल प्रस्ताव की धारा को ही बदल डालता है।

४. इन सुधारों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। वाद-विवाद के पश्चात् इन संशोधनों पर मत-संग्रह की आवश्यकता है। इसी प्रकार सब संशोधनों पर मत-संग्रह के पश्चात् ही वह प्रस्ताव अपनी अंतिम स्थिति तक पहुँचता है। फिर उस पर दुबारा सम्पूर्ण रूप से वाद-विवाद के बाद मत-संग्रह किया जाता है। यह है संसद का नियम, जिसके आधार पर हर प्रस्ताव नियम के रूप तक पहुँचता है।

उक्त सुधारों के कुछ साधारण नियम नीचे दिये जाते हैं :

१. कोई भी संशोधन प्रस्तुत कर्त्ता एक बार सभा के सामने संशोधन पेश करने के पश्चात् बिना समर्थन कर्त्ता और सभा की अनुमति के अपने प्रस्ताव को वापिस नहीं ले सकता।

२. एक संशोधन सभा के सामने आने पर यदि कोई अन्य संशोधन उसी प्रकार का आता है तो प्रधान को चाहिए कि यदि उसमें पहले संशोधन से कुछ थोड़ा भेद है और उसका होना भी कुछ अर्थ रखता है तो उसे संशोधन का संशोधन (Amendment to the Amendment) मान लेना चाहिए और यदि उसका पूरा रहस्य पहिले संशोधन में आजाता है तो उसे निरर्थक मानकर अस्वीकार (Ruled out of Order) कर देना चाहिए।

३. यदि कोई सदस्य आन ए पाइन्ट आफ़ आर्डर या आन ए पाइन्ट आफ़ प्रिविलेज उठकर कुछ कहना चाहता है तो प्रधान को चाहिए वह उसे उसकी बात कहने का अधिकार दे। यहाँ यदि प्रधान यह समझता है कि सभा के सदस्य ने सभा की कार्यवाही को रोक कर कोई काम की बात कही है तो वह उसे सभा के सम्मुख विचारार्थ रख देता है और यदि वह यह समझता है कि वह बात निरर्थक है और सभा को अपना समय उस पर नष्ट नहीं करना चाहिए, तो वह उस संशोधन-प्रस्ताव को अस्वीकार (Rule out) कर देता है तथा सभा की कार्यवाही आगे बढ़ने लगती है। सभा के हर सदस्य को अपना मत प्रकट करने का अधिकार होता है परन्तु वह अपना मत प्रकट करने के लिए केवल उसी समय खड़ा हो सकता है जब कोई अन्य वक्ता न बोल रहा हो। किसी भी प्रस्ताव पर एक ही व्यक्ति बार-बार खड़ा होकर अपना मत प्रकट नहीं कर सकता।

४. जब कोई प्रस्ताव सभापति के सामने प्रस्तुत होता है तो वह प्रस्ताव होता है; जब वह सभा के सामने आता है तो 'प्रश्न' (Question) बन जाता है; और जब सभा इसे पास कर देती है तो कानून बन जाता है सभा का !

(अ) सभा का नियम (An order of the Assembly), या
(ब) सभा का प्रस्ताव(A Resolution of the Assembly), या
(स) सभा का मत (A vote of the Assembly)

५. सभा की एक निश्चित संख्या (Quorum) होती है। जब तक वह उपस्थित न हो सभा की कार्यवाही प्रारम्भ नहीं हो सकती। सभा के कोरम (Quorum) की संख्या सभा के नियमों में निश्चित् की हुई होती है।

६. सभापति को प्रत्येक प्रस्ताव के प्रस्तुत करते समय और उसका स्पष्टीकरण करते समय खड़ा होना चाहिए।

७. सभा के प्रधान के अधिकार में निम्नलिखित अधिकार उसकी वह

शक्ति है कि जिसके बल से वह सभा के प्रत्येक अनियंत्रित सदस्य को उसके अनि-यामकता दिखलाने से रोक सकता है!

(अ) भर्त्सना (Reprimand) : अनियामकता को रोकने में थोड़ी चतु-राई (Tact) और हँसोड़पन (Humour) बहुत लाभदायक सिद्ध होते हैं। यदि सभा के उपस्थित सज्जन समझते हैं कि सभापति जहाँ तक सम्भव होता है सचाई का पक्षपाती रहता है तो वह निश्चित् रूप से सभा में नियामकता कायम रखने में सहायता करते हैं। सभापति को अपने पद पर बैठकर यह समझना चाहिए कि वह अपनी व्यक्तिगत स्थिति में न होकर उच्चपदाधिकारी के रूप में बैठा है। इसलिए उसका बोलने और बात करने का तर्जअमल भी शांति, न्याय और निष्पक्षता को लिए हुए होना चाहिए। प्रधान पद पर आरूढ़ होने वाले व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को दबा कर कार्य करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत भावनाओं से मुक्त नहीं रह सकता, वह किसी सभा का प्रधान बनने का अधिकार नहीं।

(आ) सभा से निर्वासन (Exclusion from the meeting) : सभा में यदि कोई सभासद कोई बात कहना चाहे तो उसे प्रधान को सम्बोधित करके कहनी होती है। व्यक्तिगत बातों को लेकर होने वाली चीजों को सभा में सहन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की बातों को तुरंत रोक देने का अधिकार सभा के प्रधान को होता है। यह करने के लिए भी आपस में झगड़ने वाले दो मताव-लम्बियों में से एक को, जो कि प्रधान से प्रार्थना कर रहा है, प्रस्ताव पेश करने के लिए कहे। फिर उस प्रस्ताव का नियमित रूप से समर्थन हो और फिर उसे सभा के सम्मुख मत-संग्रह के लिए रख दिया जाय। यदि दोनों पक्ष अपने विचारों को सभा के सामने स्पष्ट करना चाहे और एक भी पीछे हटना पसंद न करे तो सभापति इस पर भी सभा का मत संग्रह कर सकता है कि सभा किसका विचार सुनना चाहती है। यदि कोई वक्ता अपना वक्तव्य लम्बा ही करता जाय तो प्रधान इस विषय में भी सभा की राय ले सकता है कि क्या वास्तव में सभासद उसका वक्तव्य सुनना चाहते हैं।

(इ) न बोलने और मत न देने का आदेश : प्रधान किसी सभासद को कुछ निश्चित समय के लिए न बोलने और मत न देने की आज्ञा दे सकता है।

(ई) पुलिस की सहायता : प्रधान किसी सभासद को सभा से बाहर निकाल सकता है। यदि सभासद प्रधान की बात न माने और सभा-गृह का त्याग न करे तो प्रधान पुलिस की सहायता से उसे बाहर निकलवा सकता है। सभा में किसी भी प्रकार की अनियामकता करने वाले व्यक्ति को प्रधान सहन नहीं कर सकता और न ही उसे करनी चाहिए। पुलिस द्वारा सभासद को सभा-भवन से बाहर निकल-

वाना अंतिम उपाय है।

(उ) क्षमा-याचना : क्षमा याचना करने पर सभा-भवन त्याग के आदेश से सभासद को प्रधान क्षमा भी कर सकता है।

८. कोई प्रस्ताव जो कि किसी सभा-नियम (Rule) को लागू करने के लिए रखा जाता है, या कोई प्रस्ताव जो कि सभा में नियामकता (Order) कायम करने के लिए किया जाता है, तो पहले प्रस्ताव को प्रश्न रूप में सभा के सम्मुख पेश करने के लिए, समर्थन की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि इनका सम्बन्ध उन बातों से है जिन्हें सभा पहले ही स्वीकार कर चुकी है।

९. जब कोई प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है तो उसके साथ निम्नलिखित किसी व्यवहार किया जा सकता है :

(अ) पहले प्रश्न से (जिसके द्वारा प्रस्ताव को तुरन्त मत-संग्रह के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है।)

(आ) स्थगित करना,—यह प्रस्ताव पर विचार के लिए स्थगित करता है।

(इ) आगे आने वाले किसी निश्चित् दिन के लिए स्थगित करना।

(ई) यह प्रस्ताव करके कि "(It lies on the table)" अर्थात् भविष्य में विचारार्थ उस प्रस्ताव को रख दिया गया।

(उ) किसी विशेष समिति को भी विचारार्थ प्रस्ताव सौंपा जाता है।

(ऊ) उसमें कुछ सुधार का प्रस्ताव भी किया जाता है।

(ए) उसके एकदम विपरीत प्रस्ताव भी उसके सामने रखा जा सकता है।

किसी वाद-विवाद को निम्नलिखित रूप से रोका जा सकता है :

(अ) यह प्रस्ताव पास करके कि अब प्रधान अपनी कुर्सी छोड़कर जाता है। इसके होते ही सभा समाप्त हो जाती है।

(आ) यह प्रस्ताव पास करके कि "अब हम दूसरे प्रस्ताव पर विचार करेंगे" इस प्रकार सभा को समाप्त किये बिना ही वाद-विवाद समाप्त कर दिया जाता है।

१०. यदि किसी प्रस्ताव में दो या दो से अधिक बातें हैं तो वाद-विवाद के लिए उसे कई प्रश्नों में बाँट दिया जाता है और फिर बारी-बारी से प्रधान उन प्रश्नों को सभा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह करने के लिए भी एक प्रस्ताव सभा के सामने आने की आवश्यकता है।

११. जब कोई प्रस्ताव रुपये या किसी समय के लिए आता है तो समय और रुपये के स्थानों को रिक्त छोड़कर पुराने उसी प्रकार के सभा के सम्मुख आये प्रस्तावों की ओर संकेत किया जाता है। उस प्रकार के प्रस्तावों में छोटी-से-छोटी राशि या लम्बे-से-लम्बा समय जो सभा के सम्मुख आया है वह उस समय प्रस्तुत किया

जाता है।

१२. सभा के प्रत्येक सभासद् को प्रस्ताव पर एक बार बोलने का अधिकार होता है। प्रधान का यह कर्त्तव्य होता है कि वह हर वक्ता के भाषण की सही तरीके से जाँच करता चले कि कहीं वक्ता विषय से बाहर की बातें तो नहीं छोंक रहा है। सभा में यह अच्छा रहता है कि स्थगित करने का प्रस्ताव उस सभासद् की ओर से आये जिसने वाद-विवाद में भाग नहीं लिया है और साधारण विचार यह है कि जो सभा के स्थगित करने का प्रस्ताव रखे, वही स्थगित की हुई सभा में विषय को भी प्रारम्भ करे। जो लोग प्रस्ताव पर एक बार बोल चुके हैं उन्हें स्थगित सभा में दुबारा बोलने का अधिकार नहीं होता और कोई सुधार भी वह प्रस्ताव में पेश नहीं कर सकते। परन्तु यदि किसी अन्य सभासद द्वारा प्रस्तावित प्रस्ताव मंजूर कर लिया जाय और वह वाद-विवाद के लिए प्रश्न बनकर सभा के सम्मुख आये, तो वह पहिले बोल चुके सदस्य फिर उस प्रस्ताव पर भाषण दे सकते हैं। प्रस्ताव के पेश करने वाले या संशोधन पेश करने वाले सभासद् को उत्तर देने का कोई अधिकार नहीं होता, परन्तु भद्रता के नाते कभी-कभी प्रस्ताव-कर्त्ता को भी उत्तर देने का समय दिया जाता है।

१३. यदि किसी प्रस्ताव पर सभापति अपनी व्यक्तिगत राय देना चाहे तो उसे यह स्पष्ट कह देना चाहिए। यदि दो पक्षों की राय बराबर हों तो सभापति की निर्णयात्मक राय (Casting vote) द्वारा प्रस्ताव का भाग्य निर्णय किया जाता है। सभापति अपनी व्यक्तिगत राय पहले देकर भी फिर निर्णयात्मक राय दे सकता है। प्रधान की यह दो राय उसके दो अधिकारों की प्रतीक हैं, एक व्यक्तिगत तथा दूसरी प्रधान के रूप में।

समस्त सभा का समिति बन जाना

किसी विशेष विषय पर विचार विनिमय करने के लिए कभी-कभी यह भी आवश्यक समझा जाता है कि समस्त सभा को ही समिति का रूप दे दिया जाय। यह तभी हो सकता है जब इस प्रकार का प्रस्ताव कायदे से सभा के सम्मुख आये और नियमित रूप से समर्थन पाकर पास हो जाय। ऐसी स्थिति में वर्तमान सभापति अपना आसन छोड़ देता है और किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर आरूढ़ किया जाता है। जब समस्त सभा को समिति का रूप दिया जाय तो निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं :

१. पिछले प्रश्नों को दुबारा समिति के सम्मुख नहीं लाया जा सकता। केवल यह प्रस्ताव आता है कि अब सभा समाप्त होती है।

२. समिति की बैठक को समाप्त होने से पूर्व यह पास कर लेना होगा

कि वह जब चाहे दुबारा अपनी बैठक बुला सकती है।

३. इस समिति में कोई भी सभासद जितनी भी बार चाहे, अवकाश पाकर बोल सकता है।

४. इस समिति को कोई अन्य छोटी समिति बनाने का अधिकार नहीं होगा।

५. अनियामकता के मामलों पर इस समिति को निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं होगा, वरन् इस प्रकार के मामलों को इसे सभा की बैठक में पेश करना होगा।

जब समिति की कार्यवाही समाप्त हो जाय तो समिति का सभापति आसन छोड़ देगा और सभा का पहला सभापति आसन ग्रहण कर लेगा।

इसके पश्चात् समिति का सभापति अपनी कमेटी की कार्यवाही सभा के सम्मुख पेश कर देगा। इस पर सभा विचार करेगी, संशोधन भी इसके ऊपर आ सकते हैं और उसे ज्यों का त्यों भी पास किया जा सकता है। कभी-कभी यह भी होता है कि समस्त कार्यवाही समिति को दुबारा विचारार्थ वापस कर दी जाती है।

कार्यवाही रजिस्टर (The minutes Book)

सभा का मंत्री मिनट-बुक रखता है और उसमें सभा की कार्यवाही तथा पास किये प्रस्तावों (Things done & passed) को दर्ज करता है। किसी साहित्यिक या विवाद सभा के कार्यवाही-रजिस्टर (Minutes Book) में क्या होना चाहिए इसके कुछ संकेत नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं :

१. सब प्रस्ताव, जैसे भी वह सभापति द्वारा पेश किये जायें।

२. हर प्रश्न जो प्रधान द्वारा पेश किया जाये,—चाहे पास हो या न हो।

३. हर प्रस्ताव पर मत संग्रह होते समय दोनों पक्षों की ओर कितने-कितने मत आये।

४. उन व्यक्तियों के नाम जो प्रस्तावों के पक्ष और विपक्ष में बोले।

५. नियामकता (Matter of Order) के मामलों पर सभापति के निर्णय।

६. किसी स्थगित प्रस्ताव पर कब विचार होगा—जो कि उस दिन का नियम (Order of the day) बन जायगा।

७. सब प्रस्तावों के नोटिस,—जो कि आने वाली सभा का अनिश्चित् कार्यक्रम होगा।

८. सब कागजात।

९. सावधानी के साथ सूचना-चिह्नों की सूची तय्यार होनी चाहिए जिससे कि रजिस्टर की परताल में कोई कठिनाई उपस्थित न हो। संकेत-सूची निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर तय्यार की जा सकती है :

(१) व्याख्यानों के विषय का खुलासा—पृष्ठ जिन पर वह दिये गये हैं।

(२) प्रधान के निर्णय या हुक्म—पृष्ठ जिन पर वह दिये गये हैं।

(३) वह प्रस्ताव जो सभा के नियमों में संशोधन पेश करते हैं : वह पृष्ठ जिनपर वह दिये हैं और वह नियम जिन पर उनका प्रभाव पड़ता है।

(४) वार्षिक रिपोर्ट, सभासदों की संख्या, लगभग हाज़री, सभा के कार्य-कर्ता इत्यादि।

(५) वार्षिक हिसाब-किताब की रिपोर्ट (Annual balance sheet)

(६) समितियों की बैठकें।

इस प्रकार हमने ऊपर सभा-संचालक के साधारण नियमों और उसकी नियामकता को कायम रखने के लिए प्रधान के उत्तरदायित्व पर प्रकाश डाला।

वाद-विवाद के विषय का चुनाव

एक अच्छे विषय के चुने जाने का यह अर्थ नहीं है कि वाद-विवाद अच्छा हो गया, परन्तु हाँ इतना अवश्य है कि वाद-विवाद की सफलता का आधा रास्ता साफ़ हो गया। इस लिए विषय का चुनाव करते समय बहुत सोच विचार से काम लेना चाहिए। विषय का चुनाव करते समय न केवल विषय के मूल तत्त्वों पर ही विचार करना आवश्यक है, वरन् यह समझ लेना भी आवश्यक है कि वह जिस सभा के लिए विषय चुना जा रहा है उसके अनुकूल भी है अथवा नहीं। बहुत से विषय देखने में बहुत सुन्दर और गम्भीर प्रतीत होते हैं, परन्तु वह वाद-विवाद के लिए अरोचक सिद्ध होते हैं। कारण यह कि उनके दोनों पक्षों के देखने पर उनमें ऐसा कुछ नहीं मिलता जिस पर वाद-विवाद के खिलाड़ियों को अपनी विचारधारा तथा तर्क शक्ति के प्रसार के लिए क्षेत्र मिल सके।

संक्षेप में वाद-विवाद के लिए वक्ताओं, श्रोताओं, तथा विषय की समता का ध्यान रखना चाहिए। तीनों को ध्यान में रख कर जिस विषय का चुनाव किया जायगा उसी विषय पर रोचक वाद-विवाद किया जा सकेगा।

वाद-विवाद का आशय

वाद-विवाद द्वारा किसी विषय के बारे में सीधा सोचने का माध्यम प्रस्तुत किया जाता है। अपने और दूसरों के विचारों का सामंजस्य स्थापित होता है तथा विषय के पक्ष और विपक्ष के पहलुओं का परिचय मिलता है। विषय की दोनों दिशाओं के सोचने वाले वक्ता जब अपने-अपने मतों का स्पष्टीकरण करते हैं और दूसरों के मतों का खंडन करते हैं तो विषय के दोनों पहलू श्रोताओं के सम्मुख उभर आते हैं। विषय की व्याख्या उस विषय पर बोलने वाले वक्ताओं की विचार-शक्ति, विषय सम्बन्धी ज्ञान और अपने विचारों के स्पष्टीकरण पर आधारित होती है। वक्ता को विषय का और विशेष रूप से अपने पहलू का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। विषय की गहराई तक उसकी पहुँच होनी चाहिए और उसकी वर्णन-शैली में प्रभावात्मकता। तभी वह अपने सही आशय को श्रोताओं के पास तक पहुँचाने में सफल हो सकेगा। विषय पर सरसरी दृष्टि डालने वाले वक्ताओं से वाद-विवाद सभा का कुछ भला होने वाला नहीं। उथले विचारों और चलते स्पष्टीकरण को न तो श्रोता पसंद ही करेंगे और न कुछ नई बात ही उनके हाथ पल्ले पड़ेगी।

किसी भी कामयाब वाद-विवाद सभा को मुक्त रूप से अपने विचार देने और दूसरों के विचार ग्रहण करने की प्रवृत्ति को अपनाना आवश्यक है। सभा या वाद-विवाद की असफलता का कारण यही होता है कि कुछ व्यक्ति विशेषों की असफलता के साथ ही वाद-विवाद और सभा के सम्पूर्ण कार्यक्रम को नत्थी कर दिया जाता है। ऐसा करने से वाद-विवाद के विचार तक 'स्वस्थ पहुँच' के मूल सिद्धान्त को ठेस लगती है। किसी सभा में कुछ व्यक्ति विशेषों के विचारों को ही सब कुछ मान कर चलना सभा को संकुचित और सीमित बना देना है। हो सकता है कि वह कुछ ही व्यक्ति सभा में बहुत चतुर व्यक्ति हों परन्तु साथ ही यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उनकी यह चतुराई सभा के उन अन्य सदस्यों की दृष्टि में खटकने वाली भी बन सकती है, जिनके ऊपर कि वास्तविक रूप से सभा आधारित है। वाद-विवाद सभा में प्रधान को ध्यान रखना चाहिए कि कहीं वक्ता वाद-विवाद पर छाकर सभा के मूल महत्त्व को ही अपने अन्दर न सोखले और इस प्रकार वाद-विवाद का मनोरंजक भाग बिलकुल ही नष्ट न हो जाय, क्योंकि सभा और वाद-विवाद का मूल अभिप्राय अपने अस्तित्व को कायम रखना है।

वाद-विवाद की तय्यारी

पिछले अध्यायों में भाषण की तय्यारी पर हम विस्तार के साथ विचार कर चुके हैं। वाद-विवाद में बोलने के लिए भी हमें कुछ-कुछ उसी प्रकार की तय्यारी की ओर संकेत करना है। भाषण और वाद-विवाद की तय्यारी में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि वाद-विवाद में वक्ता को विषय के बिलकुल निकट रहना होता है और वह लम्बी-चौड़ी न तो भूमिका ही बाँध सकता है और न व्यर्थ के दृष्टांतों की ओर ही लपकने का उसके पास अवसर रहता है।

भाषण में भी वक्ता को विषय का एक ही पक्ष लेना होता है परन्तु वह प्रकाश उसके दोनों ही पक्षों पर डाल सकता है, परन्तु वाद-विवाद में यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। इसमें तो पक्ष और विपक्ष का निर्णय करते समय अपनी निश्चित् नीति निर्धारित कर लेनी होती है। दो घोड़ों की रकाबों में एक साथ पैर रख कर वाद-विवाद का खिलाड़ी दौड़ नहीं लगा सकता।

वाद-विवाद प्रारम्भकर्त्ता का भाषण

वाद-विवाद प्रारम्भकर्त्ता (Leader of the debate)का वाद-विवाद के लिए सभा में विषय प्रस्तुत करते समय वह कर्त्तव्य नहीं होता कि वह विषय के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानकारी रखता है उस सबको पहले ही उगल डाले। उसका कर्त्तव्य तो विषय के पहलुओं को छू भर देकर खेल प्रारम्भ कर देना और फिर बैठ कर अन्य चतुर खिलाड़ियों के कार्य कौशल को निरखना और परखना होता है। विस्तृत व्याख्या के साथ प्रथक वक्तव्य का आना, वाद-विवाद के मजे को खराब कर देता है और विषय के साधारण विकास में इससे बाधा पड़ती है। वाद-विवाद के मूल तत्व ही इससे नष्ट हो जाते हैं। प्रारम्भ का जोरदार भाषण अन्य बोलने वालों के दिल में एक प्रकार का भय सा पैदा कर देता है और वह विचारने लगते हैं कि मानो अब विषय खोखला ही रह गया, क्योंकि उसके विषय में जो कुछ भी कहने योग्य बातें थीं उन सभी को प्रथम वक्ता ने इधर-इधर से छू दिया।

प्रथम वक्ता को चाहिए कि वह विषय का अपने श्रोताओं तथा अपने विपक्षी वाद-विवाद कर्त्ताओं में विचार से विश्लेषण करके देखे। इस प्रकार विषय का विश्लेषण करने से पक्ष और विपक्ष की सभी बातें वक्ता के मस्तिष्क में आ जायेंगी और किसी समय किसी भी बात का उत्तर देने में सुभीता होगा। विपक्षी के प्रमाणों का ज्ञान हुए बिना प्रथम वक्ता कभी भी उनका सही उत्तर नहीं दे सकता।

साधारण संकेत लिखना : वाद-विवाद के दौरान में जो बातें समर्थन या

विषय की हों उनके सांकेतिक नोट तय्यार कर लेने चाहिएँ। कुछ वाक्य जो बहुत ही महत्वपूर्ण हों उन्हें पूरा-का-पूरा भी लिख लेना चाहिए। केवल स्मरण शक्ति के सहारे वाद-विवाद का पूरा मसविदा सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। ऐसा करने से समय पर सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध न होने से झुंझलाहट होगी और विचारों के स्पष्टीकरण में कठिनाई पैदा हो जायगी। वाद-विवाद में भाग लेने वाले व्यक्ति को हर समय अपने साथ एक नोट-बुक रखनी चाहिए और विषय पर निरन्तर विचार करते रहना चाहिए। जब कभी भी कोई काम की बात उसके मस्तिष्क को छूजाय बस तभी उसे नोट-बुक में दर्ज कर लेना चाहिए। कभी-कभी कुछ साधारण बातें ऐसी दिमाग़ में आती हैं कि जो किसी विशेष विचार की शीर्षक सी प्रतीत होती हैं। उन्हें तुरन्त दूसरे पन्ने पर लिख लेना उपयुक्त होगा, जिससे कि फिर उस विचार की विभिन्न धाराएँ निर्धारित की जा सकें। उस विचार सम्बन्धी जो भी बातें फिर दिमाग़ में आवें वह सब उसी पृष्ठ पर जुटा देनी आवश्यक हैं।

यह संकेत प्रारम्भ में अव्यवस्थित और अपूर्ण से प्रतीत होंगे। इस धारा में शुरू से ही विचार करने से कठिनाई सामने आती है। पहले सब संकेत एकत्रित करके बाद में व्यवस्था की ओर ध्यान देना चाहिए।

जैसा हम पीछे भी संकेत कर चुके हैं, वाद-विवाद के क्षेत्र में भी उसी प्रकार उस विषय सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ने और उनमें से आवश्यक सामग्री छाँट निकालने की आवश्यकता है।

जब सब सामग्री जुट जाय तो फिर चतुराई के साथ उसे क्रमबद्ध कर लेना चाहिए और इस क्रम में सामग्री लगाते समय जो सामग्री क्रम में ठीक न बैठे उसे छोड़ देना चाहिए।

पूरे संकेत तय्यार हो जाने के पश्चात् फिर उन्हें एक भाषण का रूप देना चाहिए। भाषण का प्रारम्भ और उसका अन्त उसी प्रकार प्रभावात्मक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए जैसा कि हम पिछले अध्यायों में लिख चुके हैं। भाषण और वाद-विवाद के साधारण नियमों में, जहाँ तक वक्तव्य के तय्यार करने का सम्बन्ध है, कोई विशेष अन्तर नहीं है।

वाद-विवाद में समय से पूर्व तय्यार किया हुआ वक्तव्य ही सब कुछ नहीं होता। इसमें तो वक्ता की तुरत बुद्धि ही विशेष लाभदायक सिद्ध होती है। वाद-विवाद में वक्ता को केवल अपनी बात ही कहनी नहीं होती वरन् दूसरे की बात का सही उत्तर भी देना होता है। दूसरे के मत का खंडन करके अपने मत का प्रतिपालन करना उसका मुख्य लक्ष्य रहता है। यह कार्य पहले की तय्यारी पर पूर्ण रूप से निर्भर नहीं कर सकता। 'प्रारम्भिक तय्यारी' से विषय के विविध पहलुओं का सम्पूर्ण ज्ञान तो प्राप्त होता है परन्तु किस समय वक्ता को किन-किन अपने

विरोधी मतों का खंडन करके अपने मत का प्रतिपादन करना होगा, इसका सही पता पहले से नहीं चल सकता।

विरोधी वक्ता का भाषण

ऊपर हमने वाद-विवाद के प्रारम्भ कर्त्ता अर्थात् विषय के समर्थक के विषय में विचार किया। विषय के समर्थक से विरोधी वक्ता का कार्य कुछ कम महत्व-पूर्ण नहीं, वरन् कुछ हद तक अधिक महत्त्वपूर्ण और कठिन है। जहाँ तक विषय की जाँच पड़ताल और प्रारम्भिक तय्यारी का सम्बन्ध है, उसमें समर्थक और विरोधी वक्ता को विषय का विपक्ष मजबूत करना होता है। किसी भी अच्छे विषय के पक्ष को तय्यार करने में कम कठिनाई होती है और उसका विपक्ष तय्यार करना तनिक कठिन कार्य है। विरोधी वक्ता का कार्य केवल विषय के समर्थन की बातों का खंडन करना मात्र ही नहीं होता, उसे भी विषय के खिलाफ़ अपना सप्रमाण मत प्रस्तुत करना होता है। यह विषय की पूरी जानकारी के बिना कभी सम्भव नहीं हो सकता।

अध्याय ७

भाषण के प्रकार

गत अध्यायों में वक्ता, भाषण-तत्त्व, विषय, श्रोता, सभा, वाद-विवाद, इनकी आवश्यकता तथा भाषण सम्बन्धी ज्ञातव्य बातों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में हम भाषण के विविध प्रकारों का थोड़ा विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

भाषण और निबन्धः भाषण के विषय प्रायः वही होते हैं जो निबन्धों के भी विषय बनाये जा सकते हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि भाषण बोलने और सुनने की वस्तु है और निबन्ध लिखने तथा पढ़ने की। जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं भाषण भी लिखा, पढ़ा या कंठस्थ करके सभा के सम्मुख सुनाया जा सकता है। परन्तु इसमें एक प्रधान अन्तर यह है कि निबन्ध के ही समान भाषण में विचारात्मक तत्त्व को गूढ़ भावनाओं में भर कर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। भाषण की भाषा, कहने का ढंग और विचारों को उसमें बिठलाने का तरीका ऐसा होना आवश्यक है कि वह श्रोता की समझ में तुरन्त आजाय और वह वक्ता के साथ-साथ उसे समझता हुआ चल सके। निबन्ध में इस बात की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि निबन्ध के पाठक के पास निबन्ध को बार-बार पढ़ने और समझने के लिए अवकाश होता है। यह अवकाश भाषण के श्रोता के पास नहीं होता।

यहाँ हमें यह विचार करना है कि भाषण कितने प्रकार के हो सकते हैं या जितने प्रकार के भी भाषण सुनने में आते हैं उनका विश्लेषण करके यदि देखा जाय तो उन्हें कितने प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है? भाषण के कितने भेद किये जा सकते हैं। भाषण का विषय स्वच्छन्द है। भाषण हर विषय पर दिया जा सकता है। साधारण-से-साधारण बात से लेकर अहम-से अहम मसला भाषण का विषय बन सकता है। इस प्रकार इतनी निःसीम वस्तु को सीमा बद्ध करके उसके आकार बनाना कोई सरल कार्य नहीं। विषयों के आधार पर प्रकारों का निर्णय करना बहुत कठिन कार्य है।

यहाँ हम शैली के आधार पर ही भाषणों के प्रकार निर्धारित करते हैं:

१. वर्णनात्मक।

२. भावनात्मक।

३. विचारात्मक।

४. तर्क प्रधान।

वर्णनात्मक : वर्णनात्मक भाषण वह होते हैं जिनमें किसी विशेष वस्तु, प्रकृति, देश, नदी, पर्वत, समुद्र, विख्यात व्यक्ति, पशु, विख्यात इमारत इत्यादि का कलात्मक ढंग से वर्णन किया जाय। उसके सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों को बतलाते हुए उसकी स्थिति का वर्णन किया जाय। इस शैली के अन्तर्गत केवल रोचक वर्णन की ही विशेषता रहती है, कोई विचार या भावना उसमें मुखरित नहीं होती और यदि होती भी है तो गौण रूप से ; प्रधानता वर्णन को ही मिलती है। इस प्रकार के व्याख्यान कुछ यात्रियों द्वारा अपनी यात्रा के सम्बन्ध में या मार्ग में मिलने वाली विशेष वस्तुओं के विषय में दिये जाते हैं। उदाहरण स्वरूप हम तेनसिंह के दिये गये विभिन्न भाषणों को ले सकते हैं जो उसने अपनी एवरस्ट-यात्रा के विषय में विभिन्न समारोहों में दिये हैं।

वर्णनात्मक शैली का एक रूप हमने ऊपर देखा। इसके दूसरे रूप को हम कथात्मक शैली के नाम से पुकार सकते हैं। प्रधानता इसमें भी वर्णन की ही रहती है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसके अन्तर्गत प्राचीन काव्यों में कथित कथाओं का आधार लेकर भाषण तय्यार किया जाता है। इनमें केवल आंखों देखी बातों पर ही वक्ता का आधार आश्रित नहीं रहता। प्राचीन कथाओं के अतिरिक्त अर्वाचीन कथाओं को भी समान रूप से इन भाषणों में अपनाया जा सकता है। ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक जीवनियाँ इत्यादि भी इस प्रकार के भाषणों के विषय बन सकती हैं। स्कूलों में भाषण प्रारम्भ करने के लिए अधिकतर महापुरुषों की जीवनियों से ही भाषण-कला का प्रारम्भ किया जाता है। जीवनियों में ही विचार और भाव का समावेश धीरे-धीरे प्रबल रूप धारण करता चला जाता है और एक दशा वह आती है जब उन महापुरुषों के जीवन से अधिक उन समस्याओं का महत्त्व हो उठता है जिनके सुलझाने में उन्होंने अपना जीवन होम दिया।

वर्णनात्मक भाषण कथात्मक भाषण की अपेक्षा अधिक वास्तविकता के निकट होता है और उसमें कल्पना के लिए स्थान भी बहुत कम रहता है। जो वस्तु जैसी भी देखी या सुनी है उसका सही उसी रूप में चित्रण कर देना वर्णनात्मक चित्रण कहलायेगा और उसमें अपनी कल्पना के आधार पर एक कथा का रूप स्थापित कर देना कथात्मक भाषण होगा। उदाहरण के लिए यदि एक कुत्ते का वर्णन वर्णनात्मक ढंग से किया जा रहा है तो कहा जायगा कि उस कुत्ते के चार टाँग, एक पूंछ, दो कान, एक नाक, दो आँखें थीं; परन्तु यदि इसका कथा-

त्मक वर्णन करना हो तो यह भी कहा जा सकता है कि वह कुत्ता देवताओं का कुत्ता था, जिसके छै टाँग, दो पूंछ, चार कान, दो नाक और चार आँखें थीं। जब वह दौड़ता था तो हवा में उड़ने लगता था, शिकार पर झपटता था तो उसके दो मुँह चार मुँह बन जाते थे, इत्यादि। कथात्मक भाषण में कार्य और कारण का सम्बन्ध दिखला कर एक घटना के बाद दूसरी घटना का क्रम से वर्णन करना चाहिए। कथात्मक भाषण देते समय गाथा के हर भाग को स्पष्ट करके श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। इस वर्णन में कहीं पर भी कथा का तारतम्य नहीं टूटना चाहिए। कथा का तारतम्य टूट जाने से श्रोताओं के लिए भाषण अरुचिकर बन जायगा और उनका उत्साह भाषण सुनने से नष्ट हो जाने की हर मुमकिन सम्भावना है। जब वक्ता कथा कहता हुआ आगे बढ़े तो उसे पिछली कथा के विषय पर भी संकेत करते जाना चाहिए जिससे कि पिछली घटनाएँ श्रोता के मस्तिष्क में हर समय ताज़ा बनी रहें। पिछले विचारों की ताज़गी से आगे आने वाले विचारों की स्पष्टता बनी रहेगी और श्रोता का मन और मस्तिष्क कथा की तारतम्यता से आबद्ध रहेगा।

भाषण के कथा-भाग का वर्णन की हर प्रकार की शैली में समान रूप से तारतम्यता लिए हुए रहना आवश्यक है। तारतम्यता की आवश्यकता यथार्थ और कल्पना प्रधान, हर प्रकार के वर्णन की आवश्यकता है। यही वह जंजीर है जो वक्ता के कथन की लड़ी बनाकर श्रोताओं के विचारों में पिरोहती है और उनके स्थायी आकर्षण का कारण बनती है।

भावनात्मक भाषण : कथात्मक या वर्णनात्मक भाषणों के विषय में संक्षिप्त विचार कर लेने के पश्चात् अब हम भावनात्मक भाषणों पर आते हैं। इस प्रकार के भाषणों का सम्बन्ध न तो वर्णन मात्र से ही होता है और न इनका प्रवेश व्यक्ति के विचार-तत्त्व के अंतर्गत होता है। यह तो व्यक्ति की भावना को लेकर चलते हैं और इसी लिए इनमें कल्पना के लिए विशेष स्थान रहता है। माधुर्य-गुण-सम्पन्न प्रेम या विरह की भावना को लेकर इस प्रकार के भाषण भक्ति के क्षेत्र में अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। प्रेम और भक्ति के क्षेत्र में भावना का जो उदय होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ तक प्रेम का सम्बन्ध है वह व्यक्ति से लेकर देश, जाति, और प्राणी मात्र कहीं तक भी उसे असीमित किया जा सकता है। भक्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है वह गुरुजनों से लेकर भगवान तक अपना व्यापक क्षेत्र रखती है। भावनात्मक भाषणों के विषय भी इसी क्षेत्र के अंतर्गत चुने जा सकते हैं।

विचारात्मक भाषण : विचारात्मक भाषणों में उन समस्याओं तथा प्रश्नों पर विचारों का स्पष्टीकरण होता है जो न तो इतनी स्थूल ही हैं कि उन्हें

कथात्मक क्षेत्र में रखा जा सके या उनका वर्णन किया जा सके, और न ऐसी प्रेम और श्रद्धा के ही विषय है कि जिन पर कल्पना ही अपना चमत्कार प्रकट कर सके, बल्कि वहाँ तो दिमागी उधेड़-बुन तथा विचार की आवश्यकता है। उसके विविध तत्त्वों का परीक्षण करने की आवश्यकता है और फिर उसके सुप्रभाव तथा कुप्रभावों का स्पष्टीकरण भी होना चाहिए। अधिकांश में इस वर्ग के अंतर्गत, भावनात्मक प्रकार की ही भांति, आकार-विहीन समस्याओं पर विचार किया जाता हैं। उदाहरण के लिए क्रोध, लोभ, मोह, चिंता, दया, हिंसा, अहिंसा, जाग्रति, दीनता, दुर्बलता, बल, सौंदर्य, जिज्ञासा, अहंकार, शिक्षा, प्रलोभन, पूंजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, साम्राज्वाद, कविता, कला, परोपकार, इत्यादि विषय विचार से सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार के और अनेकों विषय हो सकते हैं। उक्त विषयों पर भाषण देते समय विषय के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण होना चाहिए। ऐसे विषयों पर विचार करते समय विवेचन द्वारा कुछ प्राकृतिक नियमों को खोज कर कुछ सिद्धान्त निश्चित करने होते हैं, फिर उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर भाषण की रूप रेखा तय्यार होती है। इस प्रकार के भाषण की तय्यारी में वक्ता को जो सब से बड़ी कठिनाई होती है, वह यह है कि उसे केवल विचार का ही आश्रय लेकर चलना होता है, उसे कोई स्थूल आश्रय नहीं मिलता। केवल बुद्धि के आधार पर ही उसे अपना मार्ग निर्धारित करना होता है। भाषण की रूपरेखा तय्यार करने बैठते समय पहले चाहिए कि विषय के मूल तत्त्वों को खोज ले क्योंकि इसके बिना उसकी गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती। ऐसा न करने पर तो अंधकार में भैंस पर लाठी फटकारने के ही समान होगा। कहीं का तीतर और कहीं की बटेर इकट्ठा करने से विचारात्मक भाषण की तय्यारी सम्भव नहीं। कथात्मक वक्ता विषय की कम जानकारी रहने पर भी कुछ-न-कुछ कह ही जायगा, परन्तु विचारात्मक वक्ता के लिए यह नितान्त असम्भव है।

तर्क प्रधान भाषण : भाषण-कला का वाद-विवाद सम्बन्धी विभाग इसी शैली के अन्तर्गत आता है। तर्क इस प्रकार उस तरह के विषयों की कसौटी है जिस पर कसकर विषय के तत्त्वों को निखारा जाता है। यों साधारण रूप से देखा जाय तो तार्किक शैली की प्रायः सभी बातें विचारात्मक शैली के अन्तर्गत आ जाती हैं; क्योंकि बिना तर्क के विचार की तह तक पहुँचना असम्भव है। इसी लिए कुछ विद्वान तार्किक शैली को नया प्रकार न मानकर विचारात्मक शैली के ही अंतर्गत रखते हैं। हम भी तार्किक शैली को विचारात्मक के ही अंतर्गत मानते हैं, परन्तु भाषण के क्षेत्र में वाद-विवाद एक प्रथक ढग की भाषण-कला है जिसका विकास संसदों के विकास के साथ-साथ आगे बढ़ा और पनपा है, और आज के युग में इसका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए इसे प्रथक करके ही हम चले हैं।

भाषण की शैलियाँ

शैली क्या है: कोई भी व्यक्ति जब अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने की प्रेरणा अपने अन्दर पाता है तो उसे भाषण देने की आवश्यकता महसूस होती है। इसी लिए वह उस विषय का गम्भीर अध्ययन करता है और फिर मंच पर जाकर अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने का माध्यम उसके पास उसकी वाणी होती है। वाणी का सम्बन्ध बहुत कुछ अंशों में भाषा से रहता है। वक्ता यदि पढ़ा लिखा व्यक्ति है और वह भाषण देने से पूर्व उसे लिखकर तय्यार करता है, तो वह उसके भाषण की भाषा ही है जो मंच पर जाकर श्रोताओं के सम्मुख उसकी वाणी के रूप में प्रस्फुटित होती है। यह भाषा या वाणी का माध्यम वक्ता को विषय के अनुसार बनाना होता है। विषय के अनुसार के अतिरिक्त कुछ वक्ताओं की अपनी-अपनी विशेष प्रकार की शैलियाँ भी बन जाती हैं और कुछ शब्द उनके अपने ऐसे इस्तेमाल की चीज बन जाते हैं कि जिनका प्रयोग वह बहुतायत के साथ करते हैं और उन शब्द-विशेषों की झलक से उनका भाषण ऐसा दमदमाता है कि वह एक विशेष प्रकार की शैली प्रतीत होने लगती है। यह हुई व्यक्तिगत शैली की बात, जिसका सम्बन्ध भाषण में बोली जाने वाली वाणी और उसमें प्रयोग किये जाने वाले शब्दों से है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं शैली का सम्बन्ध व्यक्तिगत शब्द-प्रयोगों के अतिरिक्त विषयों से भी रहता है। भाषा या वाणी का प्रयोग विषय के अनुसार किया जाना चाहिए। जो वक्ता भाषण में विषय के अनुसार वाणी का प्रयोग नहीं करेगा वह विषय के सही-सही आशय को श्रोताओं के पास तक नहीं पहुँचा सकता।

विषय और वाणी का पारस्परिक सम्बन्ध भाषण में स्थापित होता है। दोनों के सम्बन्ध का ढंग भाषण की शैली कहलाता है। भाषण के तय्यार करने में वक्ता की विषय छाँटने की रुचि और वक्तव्य देने का ढंग आता है। वक्तव्य की शैली की यही आधारशिला है। व्याख्यान भाषण की शैली के विचार से उसके विषय या भाषा के आधार पर बाँटा जाता है।

साहित्यकारों ने शैली का गूढ़ अर्थ भी बतलाया है। शैली का जो स्पष्टीकरण ऊपर दिया गया है वह साधारण वक्ताओं या श्रोताओं की दृष्टि से शैली का साधारण अर्थ स्पष्ट करने के लिए किया गया है। शैली का वास्तविक अर्थ है प्रणाली या ढंग (जिस प्रकार का भाषण बोला या लिखा गया है)। शैली-विचारों के उस स्पष्टीकरण को कहते हैं जिस अभिव्यक्ति में विषय के अन्दर रोचकता और आकर्षण पैदा हो जाय। रीति, ध्वनि, अलंकार, शब्द-शक्ति इत्यादि यह सब शैली के ही सहायक अंग हैं और इन्हीं के सहयोग और लोप पर शैली अपना

निखरा हुआ रूप श्रोताओं के सम्मुख रखने में सफल हो पाती है। यह सभी चीजें शैली में सजीवता लाती हैं, प्रभावात्मकता लाती हैं, रोचकता लाती हैं, गम्भीरता लाती हैं, और हर प्रकार के गुणों को भाषण में सन्निहित करती हैं। यह सभी शैली के सहायक अंग हैं।

नीचे हम संक्षेप में इनका उल्लेख करेंगे :

शैली के सहायक अंग

अलंकार : शैली की सौंदर्य-वृद्धि में, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, बहुत सी चीजें सहायक होती हैं। सभी का अपना-अपना महत्व है। अलंकार, ध्वनि-चमत्कार, अर्थ-चमत्कार तथा वाक्य-सौंदर्य, सभी अपने-अपने स्थान पर कुछ विशेषताओं को लेकर आते हैं। अलंकार का इन चमत्कारों में अपना विशेष और प्रमुख स्थान है। यों यदि कोई वक्ता अपने भाषण की भाषा में अलंकारों की ही झड़ी लगा डाले और यह विचार करने लगे कि उसका भाषण बहुत सुन्दर, कलात्मक तथा प्रभावशाली बन गया, तो यह निस्सन्देह ही उसका भ्रम होगा। सौंदर्य-वृद्धि के लिए किसी भी वस्तु का संतुलन के समान प्रयोग चाहिए और असंतुलित प्रयोगों से शैली में सौंदर्य की अपेक्षा असौंदर्य और अरोचकता को ही स्थान मिलता है। इसलिए कोई भी सफल शैलीकार कभी भी अपने भाषण में अलंकारों की ठूँस-ठाँस करके उसमें कृत्रिमता लाने का प्रयास नहीं करेगा। सफल शैलीकार सर्वदा उचित अलंकारों का प्रयोग ही अपने भाषण की भाषा में करेगा। इसी प्रकार उसकी शैली मंजती और रोचक बनती है। "जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भाषा में सौंदर्य की वृद्धि करते हैं, उसमें उत्कर्ष को बढ़ाते और भाव और आनंद को उत्तेजित करते हैं।" **बा० श्यामसुन्दर दास।**

इस प्रकार अलंकारों का प्रयोग भाषा या वाणी को कलात्मकता और रसात्मकता प्रदान करता है।

ध्वनि-चमत्कार : एक सफल वक्ता तथा शैलीकार, सर्वदा जिन शब्दों का प्रयोग करता है उन्हें पहले देखता और परखता है और फिर सोचता है कि उनके प्रयोग में कहीं कोई ध्वनि-दोष तो नहीं आ जाता। ध्वनि-दोष अपने में कटुता को लेकर चलता है और इसी लिए निबन्ध में इनका न होना जितना महत्त्वपूर्ण है उससे कहीं अधिक इनके न पाये जाने का महत्त्व भाषण में है। वाणी का प्रभाव जितना शब्द के अर्थ से सम्बन्धित है उससे किसी भी प्रकार कम उसकी ध्वनि से नहीं है।

संगीत का मानव-जीवन में एक विशेष स्थान है। माधुर्य भी अपना एक

विशेष प्रभाव रखता है। संगीत-विहीन जीवन नीरस और शुष्क माना जाता है। न उसमें किसी प्रकार की लोच के लिए ही कोई स्थान है और न सहृदयता के लिए। इस संगीत, माधुर्य, लोच और सहृदयता का ध्वनि से विशेष सम्बन्ध है। इस लिए एक सुन्दर भाषण में अच्छी ध्वनि वाले शब्दों का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। यही शब्दों का प्रयोग भाषण को शैली प्रदान करता है और यही वह शैली है जो अपने में प्रभावात्मकता भर कर श्रोताओं के हृदयों में पैठ पैदा करती है। भाषण के प्रभावात्मक होने में उसकी प्रभावात्मक शैली का विशेष स्थान रहता है। जिस प्रकार एक अच्छे खासे व्यक्ति को गन्दे लिबास में बदबूदार वस्त्रों के साथ सभ्य और साफ सुथरे व्यक्ति अपने बीच बिठलाना पसन्द नहीं करेंगे ठीक उसी प्रकार अच्छे विचारों वाले भाषण को भी बिना शैली के श्रोताओं में वह रोचकता प्राप्त नहीं हो सकती जो एक शैली सम्पन्न भाषण को होगी। शैली से भाषण के विचारों को चार चाँद लग जाते हैं और भाषण के सौंदर्य में वृद्धि होती है।

अर्थ-चमत्कार : अर्थ-चमत्कार का विशेष महत्त्व कविता में रहता है, नाटक में रहता है और निबन्ध में रहता है। क्रमशः इसका महत्त्व घटता जाता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भाषण में इसका महत्त्व होता ही नहीं। भाषण में इसका महत्त्व बहुत कम होने पर भी कभी-कभी किसी स्थान पर इतना आवश्यक और सारगर्भित हो उठता है कि उसके एक दो प्रयोगों का ही महत्त्व समस्त भाषण से बढ़ जाता है। और वह शब्द श्रोताओं को कंठस्थ हो जाते हैं। श्रोता समस्त भाषण भूल जाता है परन्तु वह प्रयोग उसके साथ जाते हैं और समय-बे-समय उसके मस्तिष्क में बज उठते हैं। अर्थ-चमत्कार के अंतर्गत वह शब्द आते हैं जिनका प्रयोग वक्ता इस प्रकार करता है कि उनके कई-कई अर्थ निकलते हैं। वक्ता कुछ शब्दों पर श्लेष रखकर उनके अर्थ को महत्त्वपूर्ण बना देता है और विद्वान् श्रोता के कानों पर उन शब्दों की टंकार लगते ही उसका मन-मयूर प्रशंसा से नाच उठता है। परन्तु इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग भी दाल में नमक के ही समान होना आवश्यक है। इस प्रकार के शब्दों का आधिक्य भी भाषण को इतना क्लिष्ट बना देगा कि श्रोताओं को वक्ता के आशय से सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो जायगा। वक्ता को चाहिए कि वह अपने भाषण में किसी भी चमत्कार का प्रयोग करते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखे कि कहीं श्रोताओं का सम्बन्ध उसके भाषण की विचार-धारा से टूटता तो नहीं जा रहा।

इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग साधारण वक्ताओं को नहीं करना चाहिए और साधारण योग्यता के श्रोताओं के बीच में भी ऐसे शब्दों का प्रयोग भ्रामक ही सिद्ध होगा, तथा भाषण भी कोई विशेष आनन्दवर्धक नहीं बन सकेगा। इस

प्रकार के शब्दों का प्रयोग श्रोताओं की योग्यता को देख कर तथा परख कर ही करना लाभदायक रहेगा। इन शब्दों का प्रयोग केवल भाषा का आचार्य ही कर सकता है, साधारण वक्ता नहीं। जो वक्ता भाषा पर पूर्ण अधिकार रखता है, शब्द-शक्तियों और उनके विभिन्न अर्थों का उसे ज्ञान है, तथा उनके प्रयोगों में वह सिद्धहस्त है, उसी को चाहिए कि वह इस प्रकार के चमत्कार को अपने भाषण में लाने का प्रयास करे। हिन्दी साहित्य के धुरंधर आचार्य केशव और बिहारी ने अलंकारों का विशेषरूप से प्रयोग किया है और जो सफलता इन्हें प्राप्त हुई है वह सम्भवतः अन्यत्र मिलनी दुर्लभ है।

वाक्य-सौंदर्य : वक्ता को चाहिए कि वह अपने भाषण के वाक्यों को जहाँ तक भी बन सके सुन्दर और गठा हुआ बनाने का प्रयास करे। उसके कंठ से निकलने वाले प्रत्येक वाक्य में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह वाक्य के आशय का चित्र श्रोता के सम्मुख उपस्थित कर दे। वक्ता को चाहिए कि उसके वाक्य उलझे हुए न हों और एक ही वाक्य में वह बहुत सी बातें कहने का प्रयास न करे। उसके एक वाक्य में एक विचार और एक ही भाव का होना आवश्यक है। एक वाक्य में कई विचार आ जाने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है और श्रोतागण वक्ता के आशय का सही अंदाज लगाने में असमर्थ रह जाते हैं। भाषण का सौंदर्य भी इससे नष्ट होता है और प्रभावात्मकता भी नहीं आने पाती। अधिक लम्बे-लम्बे वाक्य भी भाषण को अरोचक बना देते हैं।

शैली के गुण

ऊपर हम शैली के सौंदर्य को बढ़ाने वाले जितने भी साधनों का उल्लेख कर चुके हैं वह सभी शैली के गुण हैं। परन्तु इन सब का सम्बन्ध भाषण-शैली के ऊपरी भाग से है, अन्दरूनी भाग से नहीं। नीचे हम शैली की आत्मा को देखने का प्रयास करेंगे कि जिसके आधार पर वक्ता के भाषण में वास्तविक प्रभावात्मकता आती है। इस विचार से भारतीय शास्त्रों के आधार पर शैली के तीन प्रधान गुण माने गये हैं।

१. ओज।

२. प्रसाद।

३. माधुर्य।

१. ओज : ओज गुण-सम्पन्न शैली के अंतर्गत ओजस्विनी वाणी का प्रयोग किया जाता है। यह वह वाणी होती है जिसे सुन कर योद्धाओं के भुजदंड फड़कने लगते हैं, शरीर में कंपकपी आने लगती है और एक उत्साह के साथ प्राणों की ममता त्याग कर कुछ कर गुजरने की लालसा मन में उत्पन्न हो उठती है।

वीरगाथा-काल की अधिकांश कविता, भूषण के पद तथा इसी प्रकार आज के युग में सुभद्राकुमारी चौहान वाली 'झाँसी की रानी', कविता पढ़ने पर ओजपूर्ण भावना का श्रोता के अन्दर उदय होता है। आजाद हिन्द फौज के सम्मुख दिये गये नेताजी सुभाष के भाषणों में भी यही गुण वर्त्तमान है।

इस प्रकार की शैली में उग्रता की प्रधानता होती है। इसके द्वारा वीर, वीभत्स तथा रौद्ररस का संचार होता है। यह वह शैली है जो उत्साह और साहस का इतना प्रबल वेग अपने कलेजे में समेटकर चलती है कि जिसकी धारा में विवेक बह जाता है और कर्मठता अपना प्रचण्ड रूप साधा.ण कर लेती है। इस शैली के अंतर में रण-भेरी का नाद छुपा हुआ रहता है।

२. प्रसाद : प्रसाद शैली का दूसरा गुण है जो ओज के सर्वथा विपरीत है। इसमें प्रधान रूप से सरलता पाई जाती है और वाणी का वेग कुछ कम होकर अपने सरल प्रवाह के साथ आगे बढ़ता है। यह शैली सभी रसों के अंतर्गत प्रयोग में लाई जाती है, यह इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। यदि यहाँ पर कह दिया जाय कि भाषण की प्रधान गुण-धारा 'प्रसाद' ही होती है और अन्य गुण उसमें रहने वाली लहरों के समान होते हैं, तो कुछ अनुचित न होगा। सरलता, सरसता और सुगमता इसके लक्षण हैं, जिनके अन्तर्गत ही यह शैली बहती है।

३. माधुर्य : माधुर्य शैली का तीसरा गुण है। इस शैली में शांत, शृंगार और करुण रस से पूर्ण रचनाएं लिखी जाती हैं; मधुरता इस शैली में कूट-कूट कर भरी होती है; शब्दों तथा भावों, की इसमें कहीं पर भी कटुता का आभास नहीं मिलना चाहिए। इस शैली के अन्तर्गत दिया गया भाषण श्रोताओं के हृदयों में मीठे रस की धार बहा देने में समर्थ होता है। भक्ति-रस-पूर्ण व्याख्यान इसी शैली में विशेष सफलता प्राप्त करते हैं और विशेष रूप से यदि कहीं सूफी प्रेम-धारा पर व्याख्यान देना हो तो निश्चत् रूप से इसी शैली को अपना कर वक्ता, एक सफल वक्ता कहला सकता है।

शैली का विभाजन पाश्चात्य विद्वानों ने निम्न लिखित रूप में किया है :

(१) सरलता।
(२) स्वच्छता।
(३) स्पष्टता।
(४) प्रभावोत्पादकता।

(१) सरलता: सरलता भाषण-शैली का वह गुण है कि जिसके द्वारा वक्ता भाषण को अधिक-से-अधिक व्यापकता प्रदान कर सकता है। इसके लिए वक्ता को चाहिए कि वह भाषण देते समय सरल शब्द, सरल भाषा, सरल भाषा का गठन, सरल वाक्य-विन्यास और विचारों को भी सरल-से-सरल रूप में श्रोताओं के सम्मुख

रखने का प्रयास करे। सरल शैली का प्रयोग करने वाला वक्ता श्रोताओं पर अपने पांडित्य की छाप बिठलाने का इच्छुक नहीं होता, वरन् वह तो यही चाहता है कि उसके विचार अधिकाधिक लोगों के पास तक पहुँचें और वह उन्हें भली प्रकार समझ सकें। उसके आशय का पूरा लेखा-जोखा उनके पास तक पहुँच जाय और उसके मतलब को वह उसी प्रकार समझ सकें जिस प्रकार वह स्वयँ समझता है। इसी को वह अपनी सफलता मानता है। सादगी ही उसकी दृष्टि में प्रभावात्मकता की कुंजी है।

(२) **स्वच्छता :** इस शैली को अपनाने वाला वक्ता गूढ़ बातों का स्पष्टीकरण इस ढंग से करता है कि उन्हें नित्यप्रति की जीवन में घटने वाली घटनाओं में घटा देता है। इस प्रकार उसके विचारों की गूढ़ता श्रोताओं के इतनी निकट आ जाती है कि उनके समझने में उन्हें तनिक भी कठिनाई नहीं होती। जिस प्रकार स्वच्छ निर्मल जल में पड़ा हुआ मोती स्पष्ट दिखलाई दे जाता है उसी प्रकार वक्ता की वाणी में छुपा हुआ गूढ़ विचार श्रोताओं के सामने आजाता है।

(३) **स्पष्टता :** 'स्पष्ट' शैली के अंतर्गत बात कहने के ढंग में कोई लगाव-लिपटाव नहीं रहता। जो बात भी वह कहता है घुमाव-फिराव के साथ न कहकर स्पष्ट और सीधी चोट करने वाली कहता है। उसका प्रभाव भी तुरन्त होता है और श्रोता को वक्ता का आशय समझने में भी विलम्ब नहीं होता। जिस वक्ता की वाणी में 'स्वच्छता' और 'स्पष्टता' दोनों गुण आजाते हैं उसके मंतव्य श्रोताओं के अपने मंतव्य बन जाते हैं और उसके श्रोता वक्ता की समस्याओं पर उसी दृष्टि से विचार करने लगते हैं जिस दृष्टि से वह स्वयं विचार करता है। दोनों पक्षों में आत्मीयता का वह धरातल स्थापित हो जाता है जिस पर खड़े होकर दूसरे को देखने, परखने, समझने और गुनने की कठिनाई का लोप हो जाय।

(४) **प्रभावोत्पादन :** वक्ता के भाषण में प्रभावोत्पादन का गुण तब आता है जब श्रोता उससे इतना प्रभावित हो उठे कि उसके कथन के सार को अपने जीवन का लक्ष्य मान ले।

शैली के प्रधान दोष

वह सभी चीजें जो शैली के गुणों में बाधा उपस्थित करती हैं, शैली के दोष कहलाते हैं। शैली के दोषों के अंतर्गत साहित्य के विद्वानों ने निम्न लिखित दोष माने हैं।

१. कठिन शब्दों का प्रयोग।
२. उलझी वाणी का प्रयोग।
३. निरर्थक लम्बे-लम्बे वाक्यों द्वारा पांडित्य-प्रदर्शन।

४. अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग ।
५. शब्दों की कई-कई बार आवृत्ति ।
६. ग्रामीण शब्दों का प्रयोग ।
७. व्याकरण की भूलें ।
८. कर्णकटु शब्दों का प्रयोग ।
९. गलत वाक्यों का प्रयोग ।
१०. गलत शब्दों का प्रयोग ।
११. अनुच्छेद में कई भावों का अस्पष्ट रूप से आना ।
१२. एक वाक्य में दो भावों का आना ।
१३. स्थानोपयुक्त शब्दों का प्रयोग न होना ।
१४. स्थानोपयुक्त भाषा का उपयोग न होना ।
१५. भाषण का तारतम्य ठीक न बँधना ।
१६. विषय-क्रम का अस्त-व्यस्त होना ।
१७. भाषण के विभिन्न भागों का असंतुलित होना ।
१८. विचारों का पारस्परिक सम्बन्ध अक्रमबद्ध होना ।

शैलियों के प्रकार

'शैली' शब्द का स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके हैं । शैली के आधार हमने ऊपर दो माने हैं, एक भाषण का विषय या विचार और दूसरी भाषण की भाषा या उसकी वाणी । शैली से तीसरे विभाजन की ओर भी हमने ऊपर संकेत किया है और वह है व्यक्ति-प्रधान शैली, अर्थात् जिसका सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष की विशेष प्रकार के भाषा, शब्द तथा विचारों के प्रयोग से है। इस प्रकार की शैलियों में उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट रूप से निखर कर ऊपर आ जाती है और श्रोता सुनते ही या पाठक पढ़ते ही अनायास कह उठता है कि अमुक व्यक्ति बोल रहा है या अमुक व्यक्ति ने लिखा है। यह व्यक्तिगत शैली वाली विशेषता कम लेखकों में पाई जाती है, और कम ही वक्ता या लेखक इस प्रकार अपनी एक निश्चित बंधी-तुली शैली बना पाते हैं ।

वाणी या भाषा-प्रधान शैलियाँ

वाणी या भाषा-प्रधान शैलियाँ वह होती हैं जिनकी अन्य शैलियों से भिन्नता केवल बोली या भाषा के कारण होती है । भाषा का स्वरूप ही एक शैली विशेष को दूसरी शैली विशेष से प्रथक करता है । हर वक्ता को भाषा का ज्ञान समान नहीं होता । सभी अपनी-अपनी विशेषता और पार्थक्यता रखते हैं । प्रत्येक

लेखक का अपने शब्दों को प्रयोग करने का ढंग भी एकसा नहीं रहता। इस भेद के मूल में यही प्रधान तत्त्व है कि सब का भाषा-विषयक ज्ञान न्यूनाधिक है। भाषा-प्रधान शैली के आचार्यों ने कई उपभेद किये हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) सरल भाषा शैली : सरल भाषा शैली में, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, बहुत ही सरल शब्दों का प्रयोग किया जाता है और भाव को शब्दों की गुत्थी में बाँधकर रखने का प्रयास नहीं किया जाता।

इस शैली के अंतर्गत थोड़े में बहुत कुछ कह जाने की प्रथा का अनुसरण होता है। कठिन शब्दों का इसमें सर्वथा लोप ही दिखलाई देता है। पांडित्य-प्रदर्शन का घोर विरोध और सरल शब्दावली में सरल विचारों को सुगमता से कह जाने को ही चतुराई माना जाता है। स्पष्ट भावों को सरलता और स्वच्छता के साथ प्रदर्शित करना इस शैली का प्रधान गुण है। घुमाव-फिराव के लिए इस शैली में कोई स्थन नहीं और न ही किसी साधारण सी बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहने की ही आवश्यकता समझी जाती है। शब्दों के जाल से भाषण में महत्त्व और चमत्कार पैदा करने की प्रथा इस शैली में नहीं चलती। छोटे-छोटे सारपूर्ण शब्दों से छोटे-छोटे भावगर्भित वाक्य बनाना और फिर उनमें अपने आशय को स्पष्टता तथा स्वच्छता के साथ संजोदेना ही इस शैली की खूबी है। अनुच्छेदों के गुम्फन में भावों को फंसाने की अपेक्षा छोटे-छोटे अनुच्छेदों में स्पष्ट भावों को भर देना इस शैली का सौंदर्य है। एक-एक भाव को एक-एक अनुच्छेद में इस प्रकार पिरोया जाता है कि जिस तरह माली फूलों को माला के धागे में पिरोता है। इस शैली में हर भाव भक्त की माला का मूल्यवान मनका होता है।

(२) गुम्फित भाषा-शैली : इस शैली का वक्ता अपने भाषण में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग न करके लम्बे-लम्बे और उलझे हुए वाक्यों का प्रयोग करता है। एक ही वाक्य में कई-कई भावों को ठूँस कर यह प्रदर्शित करने का प्रयास करता है कि उसका शब्दों, वाक्यों और भावों तथा विचारों पर कितना अधिकार है कि वह जिसे भी जिधर चाहे तोड़-मरोड़ सकता है, और उन सभी से अपने अनुसार कार्य ले सकता है। साधारण बात को भी वह घुमा-फिरा कर गम्भीर रहस्यात्मक बनाने का असफल प्रयास करता है और हर बात के कहने में स्वर, शब्द, भाषा तथा आकृतियों से यह दर्शाने की कोशिश करता है कि श्रोताओं पर उसका रौब पड़े और वह उसके गम्भीर ज्ञान को मुक्त कंठ से बिना कुछ समझे ही सराहना कर उठें। साधारण भाषणों में साधारण वक्ताओं द्वारा इस शैली का प्रयोग करना मूर्खता है। भाषा का प्रकाण्ड पंडित और उस पर प्रभुत्व रखने वाला आचार्य ही इस शैली को अपना सकता है। साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस शैली का प्रयोग जनता के बीच दिये जाने वाले भाषणों में नहीं किया जा

सकता। इस शैली को केवल विद्वानों के बीच गूढ़ तत्त्वों के विवेचनों में ही अपनाया जा सकता है और वहीं पर इसका कुछ महत्त्व भी है; अन्यथा साधारण स्थानों पर इस शैली के प्रयोग से अर्थ का अनर्थ होगा और वक्ता के प्रति श्रोताओं की सहानुभूति होने की अपेक्षा और उल्टी उसके भाषण में अरोचकता और अगम्यता आ जायगी।

(३) मुहावरेदार शैली: मुहावरेदार शैली की भाषा चलती हुई होती है और इसमें पांडित्य प्रदर्शन की धुन वक्ता को नहीं रहती। वह तो अपनी बात को साधारण मुहाविरों में ढाल-ढाल कर रोचक बनाता हुआ चला जाता है और अपने हर वाक्य में वही बात कहता है जो लोगों की जबान पर होती है, परन्तु उसी में वह अपनी विचार-धारा को उँडेल देता है। मुहाविरों, उदाहरणों और सूक्तियों के प्रयोग से श्रोता गण यह समझने लगते हैं कि पाठक कोई नई बात नहीं कहने जा रहा है, वह परम्परागत चली आनेवाली उनकी अपनी ही पुरानी बातें हैं, जिनमें उनकी संस्कृति छिपी हुई है, जिनमें उनका अपना जीवन बसा हुआ है। इस शैली को समझने और अपने विचारों में घटाने में श्रोताओं को अधिक कठिनाई नहीं होती। साधारण सी बातें मुहाविरों और सूक्तियों के बल से ऐसी चमत्कृत हो उठती हैं कि उनमें नया उभार आजाता है और वह परिवर्तन दिखलाई देने लगता है कि श्रोता वाह-वाह करके करतल ध्वनि से वक्ता की वाणी को ऊपर उठा लेते हैं। हिन्द के विख्यात उपन्यासकार प्रेमचन्द ने इसी शैली को अपने उपन्यासों में अपनाया और उनके पात्रों के वाद-विवादों को हम भाषण कला के सुन्दर उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। अनेकों समस्याओं को सुलझाया है और उनकी साधारण मुहाविरेदार भाषा में भी चमत्कार ला दिया है।

मुहाविरेदार शैली के प्रयोग करने में भी वक्ता को बड़ी सावधानी से काम लेना होता है क्योंकि मुहाविरों का गलत प्रयोग होने से भाषा फिर कहीं की भी नहीं रहती और भाव बेचारा तो अपने लक्ष्य पर पहुँचने के स्थान पर न जाने किस अरण्य में भटकने वाला राहगीर बन जाता है। मुहाविरों इत्यादि का ठीक-ठीक उपयोग करना, उनकी भरमार न करना, उनका गलत प्रयोग न करना इत्यादि पर वक्ता को ध्यान देकर इस शैली को अपनाना चाहिए।

(४) अलंकार-प्रधान शैली : इस शैली के वक्ता अपने भाषण की भाषा में अलंकारों को विशेष स्थान-देते हैं। अलंकारों का जहाँ सम्बन्ध है वहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही आते हैं। इस शैली के तीन भेद भी किये जा सकते हैं (१) शब्दालंकार प्रधान (२) अर्थालंकार प्रधान (३) और जिसमें दोनों प्रकार के अलंकारों को प्रधानता दी जाय। ऊपर शैली के सहायक अंगों का उल्लेख करते हुए हम इस पर प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ केवल यह समझ लेना

चाहिए कि इस शैली में भी भाषण की दृष्टि से कोई विशेष स्थान नहीं है। इस शैली में न तो स्वाभाविकता ही रहती है और न विचारों का सरल प्रकाशन ही इसके अंतर्गत आ सकता है। इस बनावटी शैली में चमत्कार भले ही आ जाय लेकिन भाषण के प्राण कहाँ जाकर छुप जायेंगे यह कहा नहीं जा सकता। भाषण देते समय वक्ता का प्रधान उद्देश्य पाठकों के सम्मुख शब्दों और वाक्यों की कलाबाजी प्रदर्शित करना उतना नहीं रहता, जितना अपनी भावनाओं और अपने विचारों का स्पष्टीकरण होता है। शब्दों की कलाबाजी यदि विचारों के रोचक बनाने में सहायक सिद्ध होती है तो उसका प्रयोग सुन्दर है परन्तु केवल उसकी कलाबाजी के लिए भाषण देने की तुक समझ में आने वाली नहीं। इसलिए वक्ताओं को चाहिए कि वे इस शैली को सहायक अंग के रूप में ही ग्रहण करें, प्रथक रूप से न ले उड़ें।

(४) उक्ति प्रधान शैली : यह शैली भी मुहाविरेदार शैली की ही भाँति है। जिस प्रकार उसमें मुहाविरों इत्यादि की विशेषता रहती है उसी प्रकार इसमें उक्तियों का बाहुल्य के साथ प्रयोग मिलता है। वैसे यह ऊपर दी गई सभी शैलियों की अपेक्षा गूढ़ रहती है। इसे कुछ विद्वान गूढ़ शैली के नाम से भी पुकारते हैं। इस शैली का वक्ता शब्दों का लक्षण तथा व्यंजना शक्ति का दोनों आधार पर प्रयोग करता है। जो कुछ उसे कहना होता है उसे सीधा न कहकर किसी अन्य पर टालते हुए कहता है।

विषय-प्रधान शैलियाँ

ऊपर हमने भाषा के आधार पर निर्मित शैलियों पर संक्षेप में विचार किया। उक्त सभी शैलियों में किसी न किसी रूप में भाषा सम्बन्धी विशेषता पाई जाती है। अब हम विषय-सम्बन्धी प्राथक्य के आधार पर निर्मित शैलियों पर एक दृष्टि डालेंगे।

विचार प्रधान शैलियाँ : विचार-प्रधान शैलियों में विशेषता भाषा की न होकर भावों की रहती है। इस शैली में या तो विषय से सम्बंधित विचारों का स्पष्टीकरण रहता है, या व्यक्तिगत विचारों का। इसी आधार पर इस शैली के दो भेद बनाये गये हैं (१) विषय-प्रधान शैली और (२) व्यक्ति-प्रधान शैली।

१. विषय-प्रधान शैली : विषय-प्रधान शैली में व्यक्ति-पधानता न रह कर विषय की प्रधानता रहती है। वक्ता का अपना अस्तित्व विषय में विलीन हो जाता है और उसका अपना कोई महत्त्व नहीं रहता। जब लेखक अपने व्यक्ति से ऊपर उठकर विषय में इतना हिल मिल जाता है कि वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है तो इसके अन्दर से व्यक्ति की प्रधानता समाप्त हो जाती है और विषय की प्रधानता

ही उसमें मुखरित हो उठती है। वक्ता का विचार और उसकी भावना वह विषय ही बन जाता है, और वह उसमें तल्लीन होकर इस तरह उससे अप्राथक्य स्थापित करता है कि उनके परस्पर भेद को नहीं जाना जा सकता। प्रभावोत्पादकता की यही चरम स्थिति है जिसपर श्रोतागण किसी प्रकार का संदेह नहीं कर सकते। इस शैली में व्यक्ति छुप जाता है और विषय ऊपर निखर आता है। विज्ञान और आलोचना सम्बन्धी भाषणों में यह शैली देखने को मिलती है।

२. **व्यक्ति प्रधान शैली** : व्यक्ति-प्रधान शैली वह होती है जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के भावों का, उसकी क्रियाओं का और उसकी मनोवृत्तियों का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रकार के भाषणों में जीवन की वह छाप मिलती है कि पाठक के सम्मुख व्यक्ति का चित्र आकर खड़ा हो जाता है।

इस शैली का वक्ता अपनी मनोवृत्तियों को श्रोताओं के सम्मुख प्रथम पुरुष के रूप में प्रस्तुत करता है। कथा-साहित्य में यह शैली प्रधान रूप से अपनाई जाती है।

३. **आलोचनात्मक शैली** : इस शैली के अंतर्गत वाद-विवाद का पूरा कार्य-क्रम आजाता है जिसमें तर्क द्वारा पक्ष विपक्ष के विचारों का खंडन तथा मंडन चलता है। इसके अंतर्गत व्यक्ति तथा विषय सभी की आलोचनाएँ आ सकती हैं। संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिस पर विद्वान उसके दोनों पक्षों को लेकर आलोचना न कर सकें।

इस प्रकार हमने भाषण-शैली, उसके सहायक अंग, गुण दोष तथा प्रकारों का संक्षेप में अध्ययन किया। भाषण-सम्बन्धी साधारण जानकारी को हम यहीं पर समाप्त करके अब भाषण के साकार क्षेत्र में अवतरित होते हैं।

अध्याय ८

व्याख्यान माला १

प्रथम अभ्यास

विद्यार्थियों को भाषण-कला का अभ्यास कराने के लिए सर्वप्रथम ऐसे विषयों को चुनना चाहिए कि जिनमें विशेषरूप से वर्णनात्मकता और कथात्मकता का महत्त्व हो, विचारात्मकता और भावनात्मकता का नहीं। भावना और विचार का क्षेत्र वर्णन और कथा के पश्चात् आता है। अतः तर्क-प्रधान भाषण या वाद-विवाद को हम सब के पश्चात् लेंगे।

प्रथम अभ्यास के अंतर्गत केवल उन्हीं विषयों पर भाषण प्रस्तुत किये जायेंगे जिनमें विशेषता कथाओं की होगी। कथा के अंतर्गत देश-विदेश में पैदा हुए उन महान् व्यक्तियों की जीवनियों को ही हम भाषणों का विषय बनायेंगे जिन्होंने राजनीति, धर्म, समाज, कला कौशल, साहित्य, विज्ञान या अन्य किसी दिशा में अपना क्रांतिकारी स्थान बनाकर एक बड़े जन-समुदाय को प्रभावित किया है। भाषणों के विषय के रूप में इस प्रकार की जीवनियों को चुनने की प्रथा स्कूल और कालेजों में होने वाली भाषण-प्रतियोगिताओं में देखने को मिलती है। यह प्रथा उपदेशप्रद तथा सूचनाप्रद है। इसी प्रकार के भाषणों के कुछ उदाहरण नीचे देखिए।

: १ :

गौतम बुद्ध

[एक धर्माचार्य की जीवनी को लेकर भाषण तय्यार करना]

आदरणीय सभापति महोदय;

प्यारे भाइयो तथा अन्य उपस्थित सज्जनवृन्द !

आज की प्रतियोगिता का विषय आपको विदित है। मुझसे पूर्व भी मेरे साथीगण विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं। विषय भारत के विद्यार्थियों के लिए कोई नवीन नहीं, बहुत पुराना, शताब्दियों पुराना है, परन्तु किसी चीज के पुराना होने से कभी भी उसका महत्त्व नष्ट नहीं होता। बल्कि यदि उसमें सर्वयुगीन तत्त्व वर्तमान हैं तो वह सर्वदा नवीन ही होता जाता है।

आज के भाषण का विषय है भगवान बुद्ध का जीवन-चरित्र, वह चरित्र जो अपने युग की एक महान क्रांति के रूप में भारतीय राष्ट्र और समाज के सम्मुख आया। क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ समाज के जीवन में विविध तरंगों के रूप में आती और जाती रहती हैं। उन्हें पैदा करने वाले कुछ महान् व्यक्ति होते हैं, जो समय समय पर जन्म लेकर उनका सूत्रपात करते हैं। भगवान बुद्ध ने जिस काल में जन्म लिया, वह ब्राह्मणों का पतन-काल था। पतन से यहाँ मेरा तात्पर्य आर्थिक या राजनैतिक पतन से नहीं है, क्योंकि इन क्षेत्रों में तो उनका बोल बाला था, पतन से मेरा तात्पर्य नैतिक पतन से है, सामाजिक पतन से है, जिसे देख कर भगवान् बुद्ध का मन उसके प्रति विद्रोह कर उठा और उसके फल स्वरूप देश देशांतर व्यापी बुद्ध धर्म का सूत्रपात हुआ।

महात्मा बुद्ध का जन्म ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व शाक्य वंश के राजा शुद्धोदन के यहाँ हुआ था। गौतमबुद्ध की माता का नाम महामाया था। राज-परिवार में जन्म लेने वाले इस बालक का बाल-काल वैभव और सुख समृद्धता के बीच व्यतीत हुआ। बालक बाल-काल से ही प्रतिभासम्पन्न था और विद्यार्थी जीवन में ही उसने १२ क्षत्रियोचित कलाओं में दक्षता प्राप्त करली थी। क्षत्रिय कुल भूषण होने के नाते युद्ध-विद्या में वह अपना सानी नहीं रखता था। यशोधरा का वरण उसने अपने कितने ही प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त करके किया था, परन्तु फिर भी बाल-काल से ही उसके जीवन में वैराग्य के लक्षण वर्तमान थे, वैराग्य की भावना बलवती थी। चिन्तन उसे विशेष प्रिय था। बुद्ध का पहला नाम सिद्धार्थ था।

मानव के जीवन, मरण, वृद्धावस्था, रोग तथा जीवन-सम्बन्धी अनेकों व्यक्तियों के बारे में सिद्धार्थ काफ़ी व्यग्रता के साथ चिंतित रहता था और जीवन की इन परिस्थितियों पर विचार करता रहता था। इस प्रतिभासम्पन्न बालक के माता-पिता ने इसे सांसारिक जीवन के बंधनों में जकड़ने का भरसक प्रयास किया, परन्तु अन्त में सब निष्फल सिद्ध हुआ। आखिर एक दिन वह आ ही गया जब उसे राजमहल त्याग कर पर्यटन के लिए निकलना पड़ा।

राज महलों को त्याग कर सिद्धार्थ गुफाओं में पहुँचे जहाँ उन्होंने अलर्कल्म से शून्यवाद की दीक्षा ली। परन्तु इस दीक्षा से उनकी आत्मा को शांति न मिली और उसके जीवन की व्यथा ज्यों की त्यों बनी रही। उसके हृदय में जिस ज्ञान को प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा थी वह अभी तक उसे प्राप्त नहीं हो सका था। उसकी खोज के लिए फिर उन्होंने योग की दीक्षा ली परन्तु आत्मा की संतुष्टि योग से भी न हो सकी। इसके पश्चात् उन्हें पाँच ब्राह्मणों ने तप करने की अनुमति दी और तप-साधना भी उन्होंने की। इस तप के दौरान में सिद्धार्थ सूख कर काँटा हो गया और उनकी देह में अस्थियों का

पंजर मात्र ही रह गया। परन्तु यह सब कष्ट सहने पर भी जिस सत्य की खोज करने वह निकले थे वह उन्हें छू तक न गया। उनकी जिज्ञासा ज्यों-की-त्यों बनी रही और उनके मस्तिष्क के प्रश्नों का कोई हल न निकाल सका।

इसके पश्चात् उरुवेला के वन-खंड में गौतम ने संसार का अध्ययन किया तथा छः वर्ष तक घोर तप करते रहे। इस तप के दौरान में भी जब कठिन-से-कठिन यातनाएँ उनके मस्तिष्क की गुत्थियों को सुलझाने में असमर्थ रहीं तो उनका विश्वास तप और साधना से उठ चला और अन्त में तो उन्होंने इसे व्यर्थ ही घोषित कर दिया। उन्होंने फिर खाना पीना प्रारम्भ करके एक वृक्ष की जड़ों पर आसन जमाया।

इसी वट-वृक्ष के नीचे गौतम ने ज्ञान प्राप्ति के लिए अंतिम समाधि लगाई। इस समाधि के दौरान में प्रथम दिन ही उनके अंतर में प्रकाश-किरण ने प्रवेश किया। उन्हें बुद्ध नाम यहीं से प्राप्त हुआ : शाक्य मुनि तथागत नाम उन्हें इसके बाद मिला। इस समय उनकी आयु लगभग पैंतीस वर्ष की थी।

पैंतीस वर्ष की आयु से लेकर निर्वाण-दिवस पर्यन्त पैंतालीस वर्ष तक आपने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया। उनके समकालीन सम्राट बिम्बसार ने आपकी शरण ली और बौद्ध धर्म से दीक्षित हुए। इसके पश्चात् उन्होंने अपने पिता, पत्नी, पुत्र को भी दीक्षित किया और देशाटन करके अपने धर्म का प्रचार करने के लिए निकल पड़े। इस देशाटन के दौरान में आप नालंदा, पाटलीपुत्र, वैशाली, पावा, कुशीनारा, कपिलवस्तु, वाराणसी तथा कौशाम्बी इत्यादि गये। इस यात्रा के बीच जो कोई भी बुद्ध भगवान् के सम्पर्क में आये उन सभी को आपने प्रभावित किया और प्रायः सभी ने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया।

देश के वातावरण में क्रांति का अविर्भाव हुआ और एक लम्बे काल से ब्राह्मण-धर्म की रूढ़िवादी विचारधारा के प्रति देश की जनता विद्रोही हो उठी। जनता ने महसूस किया कि उनके घुटते हुए श्वाँस को कहीं से एक झरोखा मिला स्वच्छ वायु का झोखा मिला। भारतीय समाज के परतंत्र तथा अविचारणीय वातावरण में एक नयी ताजगी पैदा हुई, एक नया विकास हुआ। विचारकों और विद्वानों को भी सोचने विचारने की एक नई दिशा मिली और जनता के जीवन में जागरूकता ने स्थान पाया।

भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म का प्रचार किया, वह हिन्दू धर्म की प्रचलित बुराइयों की प्रतिक्रिया के रूप में जनता के सामने आया। जनता ने हृदय खोल कर उसका स्वागत किया। यह एक सामाजिक विद्रोह था जिसके लिए भारतीय जनता

पहले से व्याकुल थी। कोई पथ-प्रदर्शक नहीं था इसी लिए जनता विद्रोह की आग हृदय में छुपाये शांत बैठी थी। भगवान् बुद्ध ने जनता का मार्ग प्रदर्शन किया और आपने निर्वाण के आठ साधन निर्धारित किये।

१. सम्यक दृष्टि, २. सम्यक संकल्प, ३. सम्यक वाक्, ४. सम्यक कर्मान्ति (उचित कर्म), ५. सम्यक अजीव, ६. सम्यक व्यायाम (उचित प्रयत्न), ७. सम्यक स्मृति तथा ८. सम्यक समाधि। आपने बतलाया कि इन साधनों के द्वारा मनुष्य दुःख और कष्ट पर विजय प्राप्त कर सकता है। आचरण के क्षेत्र में भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयाइयों के लिए दस आचरण निर्धारित किये।

१. लालच का परित्याग, २. अहिंसा का पालन, ३. मद्य-पान विरोध, ४. सत्य बोलना, ५. व्यभिचार न करना, ६. नृत्य-गान से विरक्ति, ७. सुगन्धित द्रव्यों का त्याग, ८. असमय भोजन का त्याग, ९. सुखी जीवन व्यतीत न करना, १०. अपरिग्रह।

महात्मा बुद्ध के विचारों का भारत के लोगों ने स्वागत किया और उनके त्याग की भावना ने एक स्थायी प्रभाव जनता पर डाला। बौद्ध धर्म का मूल मंत्र 'अहिंसा' रहा। निर्वाण प्राप्ति के लिए अहिंसा का जीवन में घटना अनिवार्य आचरण माना। वेदों पर महात्मा बुद्ध का विश्वास नहीं था और ईश्वर के बखेड़े में उन्होंने पड़ने की आवश्यकपा नहीं मानी। उनका धर्म छोटे बड़े, स्त्री पुरुष सब के लिए समान् था,—वह संघ का धर्म था। हिन्दू धर्म का पुनर्जन्म सिद्धान्त गौतम बुद्ध को मान्य था।

गौतमबुद्ध के जीवन तथा उपदेशों के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान करा देने के पश्चात् अब हम आपकी दृष्टि उन कारणों की ओर आकृष्ट करेंगे कि जिनके कारण बौद्धधर्म को मान्यता प्राप्त हुई और यह धर्म देश के वातावरण में ख्याति तथा पैठ पा सका। बुद्ध भगवान् ने समय की आवश्यकता को समझा और परखा। विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों को धर्म के क्षेत्र में समानता प्रदान की। ब्राह्मणों के उस कर्मकाण्ड से, जिसने देश की जनता को दास बनाकर उनके चंगुल में फंसा दिया था, मुक्ति दिलाई और एक सरल मान्यताओं वाला सीधा साधा धर्म उन्हें पालन करने के लिए प्रदान किया। जीवन को कर्म के जटिल क्षेत्र से निकाल कर बाहर खड़ा कर दिया। उस महापुरुष ने जनता की भाषा में उनकी धार्मिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया। धर्म-ग्रन्थ संस्कृत में न लिखे जाकर पाली भाषा में लिखे गये। देश के विभिन्न स्थानों पर संघों की स्थापना की, जिनमें रहकर योग्य धर्म भिक्षुओं ने प्रचार कार्य किया। यह धर्म के केन्द्र बन गये।

इस प्रकार बुद्ध भगवान् के विचारों को देश व्यापी बनाने के इन केन्द्रों में विद्यार्थियों ने दीक्षा ग्रहण की और फिर देश-विदेशों में जाकर इसका प्रचार किया।

महात्मा बुद्ध ने भारतीय समाज के उस पतन काल में जन्म लिया जब कर्त्तव्य की अपेक्षा कर्मकाण्ड का महत्त्व अधिक था। बुद्ध भगवान ने धर्म की वास्तविक आवश्यकता को समझाया और जनता के अंधकारपूर्ण मार्ग को प्रकाशित किया। देश के सामाजिक जीवन में गौतमबुद्ध का जन्म लेना वह महान् क्रांति थी जिसने धर्म और धर्म की भावना का रुख ही बदल दिया। न केवल भारत वरन् अन्य देशों की जनता को भी एक नई दिशा में सोचने विचारने का अवसर दिया।

आज महात्मा बुद्ध हमारे बीच नहीं हैं परन्तु उनकी जीवन-गाथा, उनके उपदेश, उनके सिद्धान्त, उनकी मान्यताएँ, उनके आदर्श सब ज्यों-के-त्यों हमारे सामने इस प्रकार खड़े हैं कि मानो उनके बाद वह हमारा सहारा हैं। वह लौह महामूर्ति युगों से स्थिर खड़ी है। पत्थरों के दुर्ग और लोहे की कीलियों का आज पता नहीं, परन्तु महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों की शक्ति आज भी हमारी सभ्यता के बीच मुस्कुराती हुई स्पष्ट दिखलाई दे रही है। वह स्थिर है, अमर है और अमर रहेगी।

अन्त में मैं उस महान् आत्मा के सु-कृत्यों के सम्मुख नत मस्तक होकर उसे नमस्कार करता हूँ और साथ ही आप महानुभावों का भी कृतज्ञ हूँ कि आपने मेरे भाषणको इस दत्तचित्तता के साथ सुना।

: २ :

[एक राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्रांतिकारी के रूप में]

सादर सभापति महोदय,

उपस्थित सज्जनो तथा महिलाओ !

आज के व्याख्यान में मुझे आपके सम्मुख भारत की उस महान् विभूति के जीवन पर प्रकाश डालना है जिसने अपने क्रांति-संदेश से भारत के राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में एक नये युग का निर्माण किया। युग-युगान्तर की शृंखलाओं को छिन्न-भिन्न कर नये आदर्शों का सूत्रपात किया, नयी मान्यताओं को प्रसारित किया और प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करके न केवल स्वयं उनसे मुक्ति ली, वरन् देश की जनता को मुक्ति का मार्ग सुझाया, पथ-प्रदर्शन किया और जनता के संघर्षों का नेतृत्व किया। वह इस युग का महान् नेता था जिसने अपनी वाणी में विस्फोट लेकर जनता को जागरूक किया, उसे संगठन और विद्रोह की शक्ति प्रदान की और अन्त में उसी के बल पर भारत की परतंत्रता की बेड़ियाँ काट कर फेंक दीं।

उस महान शक्ति का नाम है गांधी, वही गांधी जिसे बापू, महात्मा इत्यादि

सम्बोधनों से भारत की जनता ने पुकारा और देश के अनेकों विद्वानों, विचारकों, त्यागियों तथा कुछ कर गुजरने की उमक मन में धारण करने वाले भारत के लालों ने उसके नेतृत्व में एक भारत व्यापी आंदोलन का सूत्रपात किया।

बापू का जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ ई० को काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। इनका नाम मोहनदास करमचन्द रखा गया। इनके पिता श्री कबा गांधी राजकोट राज्य के दीवान थे। इनकी माता का जीवन पवित्र धार्मिक जीवन था, जिसका प्रभाव गांधी जी पर बाल्य-काल से ही इनके पिता की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ा। गांधीजी के जीवन में धार्मिक प्रवृत्तियों का उदय इनकी माता की मान्यताओं के ही फल स्वरूप था। इनकी माता जी धर्माचरणों का पालन बहुत ही नियमित रूप से श्रद्धा के साथ करती थीं। सत्यनिष्ठा का महामंत्र भी गांधी जी ने अपनी माता के जीवन से ही ग्रहण किया था।

महात्मा गांधी अपने विद्यार्थी-जीवन में कोई विशेष प्रतिभाशाली विद्यार्थी नहीं थे और न ही मैट्रिक पास करने तक उन्होंने किसी विशेष योग्यता या चमत्कार का ही परिचय दिया। परन्तु यह सच है कि चरित्र-निर्माण की ओर उनका ध्यान बाल-काल से ही था और जो कुछ भी वह छोटा-मोटा कार्य करते थे उस पर कार्य करने से पूर्व और बाद में विचारना उनकी प्रकृति का एक अंग बनता जा रहा था। उनका ध्यान पुस्तकें रटने की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान की ओर सर्वदा अधिक रहता था। चरित्र-निर्माण और व्यवहारिक ज्ञान ही उनके जीवन की वह दो प्रारम्भिक सीढ़ियाँ बनीं कि जिनके ऊपर राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्रांति का एक नवीन और विशाल भवन निर्मित होने लगा।

गांधी जी प्रारम्भ से ही प्रत्येक बात को बुद्धि की कसौटी पर कसते, सोचते और व्यवहार में लाने से पूर्व व्यावहारिक कुशलता से उसका परीक्षण करते थे। मैट्रिक की परीक्षा देने के पश्चात् वे कानून का अध्ययन करने इङ्गलैंड गये। जितने दिन वह विलायत में रहे, उनकी माता का पवित्र जीवन उनके साथ रहा। माता की आज्ञाओं का पालन करना दूर देश में भी उनके लिए उतने ही महत्त्व की बात थी, जितनी माता की आंखों के सम्मुख। विलायत से बैरिस्ट्री पास करके १२ जून १८९१ ई० को वे भारत लौटे। भारत आने पर उन्हें अपनी माता की मृत्यु की सूचना मिली, जिसे चिरकाल से उनके भ्राता ने उनसे छिपाया हुआ था।

भारत आकर गांधी जी ने वकालत-कार्य प्रारम्भ किया परन्तु इसमें उन्हें विशेष सफलता न मिल सकी। १८९३ ई० में गाँधी जी एक मुकदमे के सम्बन्ध में अफ्रीका गये। अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों पर वहाँ की सरकार द्वारा किये जाने

वाले अत्याचारों ने उनके जीवन में एक क्रांति का समावेश किया। उनका हृदय द्रवित होकर उनके लिए कुछ करने को उद्वेलित हो उठा। स्वयं गांधी जी को भी वहां अनेकों प्रकार का अपमान सहन करना पड़ा। इस अपमान जनक वातावरण ने उसके खिलाफ विद्रोह करने की भावना को गांधी जी के जीवन में जगाया और उन्होंने भारतीयों का एक संगठन किया। इस संगठन का नेतृत्व आपने अपने हाथों में संभाला और आपने अहिंसा अस्त्र का प्रथम बार वहीं पर शत्रु के ऊपर प्रहार करके देखा। अहिंसात्मक प्रतिशोध लेने के लिए गांधी जी ने शांतिपूर्ण सत्याग्रह आंदोलन प्रारम्भ किया। अपने सत्याग्रह आश्रम की स्थापना फीनिक्स में की और 'इन्डियन ओपीनियन' पत्रिका प्रकाशित की। बस यहीं से 'नेटाल भारतीय कांग्रेस' स्थापित हुई, और इसी संस्था के हाथों में वहाँ के सत्याग्रह का कार्य सौंपा गया। यह आंदोलन अफ्रीका में अपने ढंग का एक अजीबोगरीब आंदोलन था जिसके सामने अफ्रीका की सरकार को घुटने टेकने पड़े।

गांधी जी का जन-आंदोलन-क्षेत्र में यह पहला साहसी क़दम था, जिसकी विजय ने उन्हें साहस प्रदान किया और जब वह भारत लौटे तो यहां अनेकों स्थानों पर उनका स्वागत हुआ। भारत आने पर आपने भारत की गम्भीर परिस्थिति का सूक्ष्म अध्ययन किया; भारत के नेता गोखले से भेंट की, उनके विचारों से परिचय प्राप्त किया और साबरमती में 'सत्याग्रह आश्रम' की स्थापना की। यहां आपने सर्व प्रथम हर क्षेत्र में स्वदेशी के आंदोलन को प्रधानता दी और स्वदेशी वातावरण भारत में पैदा करके यहां की जनता में उसका प्रचार प्रारम्भ किया तथा स्वदेशी के अपनेपन को भारत की जनता की अपनी वस्तु बना दिया।

यहां आते ही गांधी जी ने भारतीय राजनीति में पैठ की और देश की विविध परिस्थितियों से उनका निकटतम सम्पर्क स्थापित हो गया। अहिंसा का जो प्रयोग महात्मा गांधी ने अफ्रीका में किया उसी के बल पर उन्होंने यहां भी जन-व्यापी आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इसी समय प्रथम महायुद्ध की विश्व-व्यापी लपटें संसार पर छानी प्रारम्भ हो गईं और मानवता के नाते इस युद्ध का विरोध करना उन्होंने अपना कर्त्तव्य माना। साथ ही अंग्रेजी सरकार ने उन्हें आवश्वासन भी दिया कि युद्ध समाप्त होने पर भारत को गुलामी की जंजीरों से मुक्त कर दिया जायगा, परन्तु उनका यह आश्वासन सर्वथा धोखा ही सिद्ध हुआ। युद्ध समाप्त होने पर उनकी नीयत बदल गयी और उस समय महात्मा गांधी को अफ़सोस हुआ कि उन्होंने नाहक ही उन धोखेबाजों को युद्ध-काल में सहायता दी। अंग्रेजों की न्यायप्रियता का झूठा आवरण जो महात्मा गांधी के मस्तिष्क पर छाया हुआ था, वह सर्वदा के लिए हट गया और उन्होंने बहुत ही निराशा के साथ जलियाँ वाले बाग का पैशाचिक काण्ड होता भारत की

भूमि पर देखा। महात्मा गांधी की दी गई सहायता का यह प्रतिकार, उनके दिल और दिमाग में एक बेचैनी, एक खलबली, एक विद्रोह और क्रांति का रूप धारण कर सामने आया, परन्तु उनके शांत मस्तिष्क में बौखलाहट पैदा नहीं हुई। उन्होंने अपना शांति का मार्ग नहीं छोड़ा और न ही कोई ऐसा कार्य किया जिससे अंगरेजी सरकार उन्हें कानून की ज़द में लेकर हमेशा के लिए समाप्त कर देती।

महात्मा गांधी की सहयोगी आशाओं को अंग्रेजी सरकार ने अपनी दमन-नीति से कुचल डाला और उसके फल स्वरूप गांधी जी का विश्वास भी उन पर से उठ गया। उसके पश्चात् उन्होंने अंग्रेजों की हर बात को एक ही दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया। इसी समय टर्की को साथी देशों में बाँटने की बात चली, जिसके फल स्वरूप मुसलमानों में भी अंग्रेजों के प्रति अविश्वास की भावना ने जन्म लिया। फलस्वरूप भारत की हिन्दू और मुसलमान जनता अंग्रेजों के व्यवहार से क्षुब्ध हो उठी और इस क्षुब्ध जनता का नेतृत्व महात्मा गांधी ने अपने हाथों में संभाला।

महात्मा गांधी ने इस क्षुब्ध वातावरण में खिलाफत का सूत्रपात कर हिंदू तथा मुसलमान दोनों की ओर से तुर्की के विभाजन का विरोध किया। पंजाब में किये गये हत्याकाण्ड का जोरदार विरोध और अत्याचारी अपराधियों को दण्ड देने की मांग की। इन दो बातों के अतिरिक्त भारत की स्वतंत्रता का व्यापक आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस प्रकार तीन प्रधान बातों को लेकर महात्मा गांधी जनता के बीच घुस गये और उन्होंने जनता को जागरूक करके अपने अधिकारों की माँग के लिए उकसाया।

अहिंसा का असहयोग आंदोलन इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्वीकृति से सन् १६२० को प्रारम्भ किया गया। इस आंदोलन का प्रधान अस्त्र विदेशी माल का बहिष्कार था। इस आंदोलन ने व्यापक जन-क्रांति का रूप धारण किया; स्कूल कालिजों का विद्यार्थियों, कचहरियों का वकीलों और कौंसिलों का मेम्बरों ने परित्याग किया। राष्ट्र जाग उठा। गांधी जी ने आजादी का नारा बुलन्द किया और सत्याग्रह के लिए सर्व प्रथम बारडोली का क्षेत्र अपनाया। परन्तु चौरा-चौरी में जनता की ओर से की गई कुछ हिंसात्मक कार्यवाहियों के कारण उन्होंने सत्याग्रह वापस ले लिया। सरकार ने गांधी जी को अपराधी ठहराकर छः वर्ष के लिए दण्डित किया।

जेल में जाने के दो वर्ष पश्चात् गांधी जी सख्त बीमार हो गये और सरकार को उन्हें छोड़ देना पड़ा। जब वह जेल से बाहर आये तो देश का वातावरण साम्प्रदायिक दंगे फिसादों से आच्छादित था। गांधी जी ने इन दंगों को समाप्त

करने के लिए २१ दिन का उपवास किया। गांधी जी के उपवासों का भारत की जनता पर एक व्यापक प्रभाव पड़ता था और वह इस समय भी पड़ा। देश के पारस्परिक झगड़े बहुत हद तक दूर हो गये।

महात्मा गांधी जहां एक ओर इस प्रकार के राजनैतिक जन-आंदोलनों का संचालन कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर आपका रचनात्मक कार्य भी शिथिल नहीं था। खादी-प्रचार तथा हरिजनोद्धार आपके प्रमुख कार्य थे। सन् १९२९ के लाहौर-कांग्रेस अधिवेशन पर पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति का प्रस्ताव पास किया गया और देश दुबारा आन्दोलन के लिए सामने आया।

इस आंदोलन का नेतृत्व भी महात्मा गांधी ने ही किया। भारत के इतिहास में यह नमक-सत्याग्रह अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जनता की जागृति के विचार से इससे पूर्व कोई इतना बड़ा जन-आन्दोलन इस देश में नहीं हुआ था। साबरमती के संत ने डांडी के लिए पैदल-यात्रा की और स्वयं नमक बनाकर सरकारी कानून भंग कर दिया। सरकार का दमन-चक्र चला। कैदियों से जेलें पाट दी गईं।

इस आंदोलन की समाप्ति गांधी-इर्विन समझौते से हुई। राजनैतिक कैदी मुक्त कर दिये गए और इसी समय लंदन में द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस का आयोजन किया गया। गांधी जी उसमें भाग लेने लंदन गये। परन्तु यह कान्फ्रेंस पूर्ण रूप से असफल सिद्ध हुई और गांधी जी को भारत लौटने पर फिर गिरफ्तार कर लिया गया। देश का वातावरण फिर अशांत और भयग्रस्त हो गया।

इस बार गांधी जी ने जेल से छूटने पर कांग्रेस का सक्रिय नेतृत्व छोड़ दिया परन्तु छोड़ देने पर भी हर कठिन समस्या के पैदा होने पर कांग्रेसी नेता आप से ही परामर्श के लिए दौड़ते थे। इसी समय चुनाव लड़कर विधान-सभाओं में कांग्रेसी सरकारें भी आपके ही आदेशानुसार बनीं और विधान-सभाओं में कांग्रेसी सदस्य पहुँचे, परन्तु द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ ने परिस्थिति में महान् परिवर्तन ला दिया। सरकार की नीति के साथ कांग्रेसी सरकारों का सहयोग असम्भव हो गया और उन्हें विधान-सभाओं से त्याग-पत्र देकर बाहर निकल आना पड़ा।

सरकार ने गत महायुद्ध की भांति कांग्रेसी नेताओं से समझौते की बात चलाई। सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आये परन्तु इस बार गांधी जी धोखे की चालों में फुसलाये जाने वाले नहीं थे। समझौता न हो सका और गांधी जी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' का शंखनाद भारत के कोने-कोने में फूंक दिया गया। सत्याग्रह का कार्य-क्रम अभी बन ही रहा था कि सरकार ने कांग्रेस के सब नेताओं को पकड़ कर जेलों में ठूँस दिया।

देश विद्रोही हो उठा। जनता का मुक्त आंदोलन प्रारम्भ हुआ और

ने एक महान् मार्क्सवादी सिद्धान्त विद्‌मार्क्स और ऍंगेल्स के लक्ष्य तथा सीख का उत्तराधिकारी, क्रांति का एक उल्लेखनीय राजनीतिज्ञ पाया था।

लेनिन ने अपनी राजनीतिक गतिविधि के प्रारम्भ से ही मजदूर-वर्ग की पार्टी की रचना करने के लिए,—क्रांतिकारी सिद्धान्त और समाज के विकास तथा वर्ग-संघर्ष के नियमों की जानकारी से लैस इस वर्ग के आगे बढ़े हुए, सजग और सुसंगठित हरावल दस्ते की रचना करने के लिए,—संघर्ष किया था। जारशाही के क्रूर दमन, तथा मजदूर वर्ग के अन्य दुश्मनों के भीषण प्रतिरोध का सामना करते और अवसरवादियों से लोहा लेते हुए लेनिन ने एक ऐसी पार्टी की रचना की जिसने लेनिन के आदर्श को सफलता प्रदान की। सोवियत संघ की कम्यूनिस्ट पार्टी, लेनिन के नेतृत्व में, मजदूर-वर्ग के तमाम दुश्मनों के खिलाफ समझौता विहीन संघर्ष में, रूसी मजदूर आंदोलन के भीतर समझौता परस्त पार्टियों के खिलाफ संघर्ष में, इस्पाती और मजबूत बनी।"

सोवियत राज्य इस समय नवजात शिशु के समान था। भीतरी शत्रु और बाहरी दखलन्दाजों की कमी नहीं थी। लेनिन ने सभी का मुँह तोड़ उत्तर दिया। उसके कार्यक्रम में सिद्धान्तों का बल था, साहस का वह स्वयं पुतला था और राजनैतिक बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता उसमें कूट-कूट कर भरी थी। लेनिन सच्चे माने में एक महान् व्यक्ति था जिसने इतिहासों के रुख बदल दिये, संसार की विचार-धारा बदल दी, दृष्टिकोण परिवर्तित कर दिये।

जन समुदायों की सृजनात्मक प्रतिभा और क्रांतिकारी शक्ति का संगठन ही लेनिन के जीवन का प्रधान लक्ष्य रहा और इसी के आधार पर वह विश्व में पहले मजदूर राज्य के समाजवादी व्यवस्थापक बन सके। लेनिन का विश्वास था कि केवल समाजवाद में मजदूर अपनी वास्तविक योग्यता और शक्ति से संगठित होकर पूरी मेहनत का जौहर दिखला सकता है। पूंजीवाद से कुंठित तथा कुचली हुई मजदूरों की शक्ति को समाजवादी व्यवस्था ही राहत प्रदान कर सकती है। लेनिन ने सर्वदा मजदूरों की वीरता और जागरूकता को ही अपने देश की वास्तविक शक्ति का प्रतीक माना। इसने जनता को पाठ पढ़ाने का ही कार्य नहीं किया, वरन् उसके मत और दृष्टिकोणों को समझा और उसके विचारों तथा अनुभवों से लाभ उठाया। सोवियत जनता का लेनिन में अमर विश्वास था और इसी लिए वहां की जनता लेनिन को 'हमारा इलिच' कहकर पुकारती है। देश तथा विदेशों के कोने-कोने से मजदूर नेता लेनिन से मिलने के लिए आते थे। और वह उन्हें उचित परामर्श देता था। लेनिन को आदमियों की परख थी और अपनी इसी शक्ति के आधार पर वह योग्य व्यक्तियों को सर्वदा पकड़ लेता था।

सोवियत राज्य का अध्यक्ष बनते ही लेनिन ने घोषणा की, "अब इंजीनिय-

रिङ्ग के तमाम आश्चर्य, संस्कृति की तमाम उपलब्धियाँ, समूची जनता की सम्पत्ति बन जायेंगी और आज के बाद मानव-मस्तिष्क और प्रतिभा को उत्पीड़न के एक साधन के रूप में कभी भी परिवर्तित नहीं किया जा सकेगा। क्या हम नहीं जानते कि यह महान् ऐतिहासिक कार्य इस योग्य है कि उसके लिए काम किया जाय और उसके लिए अपनी तमाम शक्तियाँ लगा दी जायँ। मजदूर उस प्रचंड ऐतिहासिक कार्य को पूरा करेंगे, कारण कि क्रांतिकारी पुनः उत्थान और पुनः नवीन-करण की गुप्त ताकतें उनमें निहित हैं।"

"सोवियत राज्य की घोषणा के अगले दिन लेनिन ने सोवियतों की दूसरी कांग्रेस में, एक न्यायपूर्ण जनतंत्रिक शान्ति के बारे में डिग्री का ऐलान किया जिसके लिए कि तमाम युद्धरत देशों के मजदूर आकांक्षी थे। सोवियत सरकार शांति की किन्हीं भी शर्तों पर विचार करने के लिए राजी थी। केवल एक बात पर उसने कह दिया था,—युद्धरत देशों में से किसी की भी ओर से यथा-सम्भव शीघ्रतम शान्ति करने का प्रस्ताव आना चाहिए।

सोवियत सत्ता की दूसरी डिग्री जमीन के बारे में थी, जिसने कृषक-वर्ग की युगों-पुरानी आशा-आकांक्षाओं को पूरा किया। कृषक-वर्ग ने जो सदियों से जमीन के लिए लड़ता आ रहा था, जमीन प्राप्त की। विजय के साथ गृहयुद्ध के अन्त और विदेशी दखलन्दाजी की पराजय के बाद लेनिन के नेतृत्व में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने मजदूरों और ग़रीब किसानों की परिस्थतियों में सुधार करने पर अधिक ध्यान दिया, और तत्सम्बन्धित अनेक उपायों की रूप-रेखा तैयार की।

लेनिन ने राष्ट्रीय अर्थतन्त्र की कायापलट करने, समाजवाद की आर्थिक बुनियादों को डालने तथा पिछड़े हुए रूस को एक शक्तिशाली समाजवादी राज्य के रूप में परिवर्तित करने के लिए एक सुविस्तृत वैज्ञानिक योजना तैयार की। लेनिन ने सोवियत जनता के सामने आधुनिक मशीनों से उत्पादन के आर्थिक आधार पर उद्योग और कृषि का निर्माण करने का काम रखा। देश का बिजली-करण ही एक ऐसा आधार हो सकता था। लेनिन ने ऊँची टैकनीक के आधार पर कृषि की काया-पलट करने तथा छोटे-छोटे व्यक्तिगत खेतों से बड़े पैमाने की सामूहिक और यन्त्री-कृत खेती की दिशा में आगे बढ़ने का रास्ता दिखाया।

इक्कीस जनवरी १६२४ के दिन लेनिन के निधन के समाचार ने दुनिया को स्तब्ध कर दिया। वह आदमी जिसका नाम उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक बन गया था, मानवजाति की शुभ्रतम विशेषताओं का जो सूचक था, तमाम मेहनतकशों और उत्पीड़ितों का वह महान् नेता और मित्र, सदा के लिए विदा हो गया। सोवियत जनता अपने प्रिय नेता के निधन पर गहरे शोक में डूब गई। समूचे देश ने, पाँच मिनट तक काम बन्द कर, अपने शोक को व्यक्त किया।

लेनिन के निधन ने लाखों को उत्प्रेरित किया। जिस काम को पूरा करने में लेनिन ने आखिरी सांस तक अपना समूचा जीवन लगा दिया था, उसे आगे बढ़ाने के लिए सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी में नये सैनिक शामिल हो गये। सोवियत जनता और भी घनिष्ट रूप में कम्युनिस्ट पार्टी के चारों ओर एकजूट हो गई, और लेनिन के महान् उत्तराधिकारी जे० वी० स्तालिन के नेतृत्व में अपने महान् नेता द्वारा प्रस्तुत शानदार योजनाओं को उसने पूरा किया।''

अध्याय ६

व्याख्यानमाला २

गत तीन व्याख्यानों में तीन महान व्यक्तियों के जीवन चरित्रों तथा उनके आदर्शों पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार विश्व-इतिहास में अनेकों व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिनके जीवन-चरित्रों को लेकर एक विस्तृत व्याख्यान माला तय्यार की जा सकती है। यदि केवल भारतीय महान् आत्माओं को ही लें और आधुनिक युग पर ही दृष्टि डालें तो लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महाकवि रविन्द्रनाथ ठाकुर, महाकवि 'निराला' स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, योगिराज अरविन्द, प्रफुल्लचन्द्र राय इत्यादि बहुत से व्यक्ति हैं जिन्होंने भारतीय वातावरण को विभिन्न दिशाओं में प्रभावित किया है। इसी प्रकार के व्यक्तियों ने अन्य देशों में भी जन्म लिया है।

भाषण का उक्त रूप जो हमने प्रस्तुत किया वह या तो विद्यालयों की प्रतियोगिताओं में काम आता है या उक्त महान् आत्माओं के जन्म अथवा मृत्यु-दिवसों को मनाते समय प्रयोग किया जाता है। श्रद्धांजलियों के रूप में भी इस प्रकार के भाषण दिये जाते हैं और उनके जीवन तथा गुणों पर प्रकाश डाला जाता है।

इस अध्याय में हम कुछ विषयों पर जानकारी के लिए व्यापक रूप से विस्तार के साथ व्याख्यान माला प्रस्तुत न करके केवल संकेत रूप में विषय के पक्ष तथा विपक्ष में प्रकाश डालेंगे। यह सांकेतिक भाषण-माला भाषण कला के विद्यार्थियों को विविध विषयों पर विचार करने के लिए सहायक सिद्ध होगी। इसके अंतर्गत हम पक्ष और विपक्ष दोनों दिशाओं में प्रकाश डालेंगे जिससे कि भाषण के साथ-ही-साथ वाद-विवाद के विद्यार्थियों को भी यह लाभकर सिद्ध हो सके।

भाषण तथा वाद-विवाद सम्बन्धी कुछ विषयों का सांकेतिक विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जाता है :

नशा कानूनन बन्द होना चाहिए

पक्ष :

१. नशा मनुष्य की आत्मा को स्थायी सुख तथा शांति प्रदान नहीं कर सकता। इसका प्रभाव अस्थायी और अस्थिर होता है। नशे से जिस आनन्द की कल्पना की जाती है वही मनुष्य को बहुत भयानक स्थिति में भी डाल देती है। नशा गरीबी, पाशविक अपराध और फिजूलखर्ची तीनों को ही जन्म देता है। देखने में आया है कि अधिकांश अपराधी तथा उनके पुरखा नशा-प्रेमी रहते आये हैं। नशे में व्यक्ति अपने को भूल कर अपने उत्तरदायित्व को भूल जाता है और ऐसे काम करने पर उतारू हो जाता है कि जिनसे देश तथा मनुष्य-जाति की महान् हानि होती है। मनुष्य मनुष्यता से गिर जाता है।

२. नशे के प्रभाव में व्यक्ति की प्रवृत्ति अच्छे कामों की ओर न झुककर सर्वदा बुरे कामों की ओर ही झुकती हैं। बहुत से प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति नशे के कुप्रभाव में फंसकर अपना जीवन बर्बाद कर लेते हैं। वह अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं और ऐसे कामों में फंस जाते हैं जो उनकी योग्यता, उनके चरित्र और किसी भी प्रकार उनकी प्रतिभा के अनुकूल नहीं होते। नशे के प्रभाव में वह व्यक्ति अपनत्व को भूल कर उसी के प्रभाव में खो जाते हैं और भूल जाते हैं कि उनका कर्तव्य के प्रति भी कुछ उत्तरदायित्व है। यदि देश में नशा कानून बन्द कर दिया जाय तो इस प्रकार ऐसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति इस प्रकार के कुप्रभावों में पड़ कर अपना जीवन नष्ट न करें और देश तथा मानव-जाति की यह मूल्यवान निधियाँ नशे की तरंगों में न बह जायें।

३. शराब बनाने के कारखानों में जितनी पूंजी लगती है और जितने रुपये का कच्चा माल इस्तेमाल होता है उसके अनुपात में बहुत ही कम लोगों को उसमें काम मिलता है। उद्योग के विचार से यह कोई अच्छा उद्योग नहीं जो इतनी अधिक पूँजी के लगने पर भी इतने कम आदमियों को काम पर लगा पाता है।

४. इस उद्योग में जो कच्चा माल प्रयोग में लाया जाता है वह सब प्रायः भोजन की ही सामग्री होती है। इसे यदि खाद्य-पदार्थों के ही रूप में प्रयोग किया जाय तो यह मानव-कल्याण के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध हो। उस सामग्री का उपयोग शराब की अपेक्षा भोजन के रूप में मानव-मात्र के लिए अधिक कल्याणकारी है।

५. शराब न तो भोजन ही है और न ही मस्तिष्क को उत्तेजना प्रदान करने वाली कोई वस्तु है, बल्कि यह तो एक मूर्छनाकारी औषधि है। इसके प्रयोग से

शरीर की साधारण शक्ति का ह्रास होता है, मस्तिष्क की उत्तेजन शक्ति को यह कमजोर करती है और कुछ विशेष कार्यों (To Cocentrate on specified task) पर ध्यान लगाने की शक्ति को समाप्त कर देता है। बच्चे तथा जानवर बिना नशे के ही बढ़ते और पनपते हैं। ठीक उसी प्रकार दुनिया के गरीब इन्सानों का तबका भी बिना शराब के नशे की सहायता के ही अपनी मेहनत और मजदूरी के दम पर बढ़ता और पनपता है। कुछ लोगों का यह कहना है कि नशा करके मजदूर अधिक काम कर लेता है, परन्तु यह धारणा बिलकुल गलत है; क्योंकि अधिकांश उद्योगों के अधिकांश काम करने वाले नशा न करने वाले ही मजदूर होते हैं। बहुसंख्यक लोग हर जगह नशा न करने वाले ही मिलेंगे।

६. बीमारी, दुर्घटना और बेहोशी में अभ्यस्त नशेबाज सर्वदा असुविधा (Handicap) में रहता है, क्योंकि उसकी स्वस्थ होने (Recovery) की शक्ति प्रायः पहले ही कम हो जाती है। नशा करने वाला व्यक्ति उतना शीघ्र दुर्घटना, बीमारी या बेहोशी से स्वस्थ नहीं हो सकता जितना शराब न पीने वाला व्यक्ति हो सकता है।

७. नशे की आदत एक बार पड़ जाने पर फिर उसको छोड़ना बहुत कठिन हो जाता है। यह मनुष्य पर अपना ऐसा प्रभाव जमाती है कि मनुष्य इसे अपनी सर्वप्रिय बान समझने लगता है और इसके माया-जाल से मुक्त होना उसके लिए असम्भव बन जाता है। शौक के लिए एक दो बार नशा करने पर इसकी बान हो जाना बहुत सुगम है।

८. नशे की आदत पड़ने के पश्चात् साधारण प्रौढ़ व्यक्ति का मन अन्य दुराचरणों की ओर भी हो जाता है। शराब पीने के पश्चात् मांस की ओर शराबी की आसक्ति होती है और फिर उसके अन्दर काम-वासना का भी जागरण स्वाभाविक है। साथ-संग खराब होजाने पर इसके बाद मनुष्य का वेश्यागामी हो जाना बहुत सरल है। इस प्रकार शराब से वेश्या के पास तक पहुँचते-पहुँचते मनुष्य अपना सर्वस्व खोकर खाली हाथ हो जाता है फिर आदत उसका साथ नहीं छोड़ती। शराबी और ऐशपसंद व्यक्ति मेहनत मजदूरी नहीं कर सकता। फिर उसका ध्यान आसानी से रुपया हाथ आजाने की ओर जाता है और देखा गया है कि बहुत से चोर इसी रास्ते से होकर अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचे हैं। इस प्रकार उनकी जड़ में नशा ही है कि जिसने उनका जीवन खराब कर दिया।

यह दुर्गुण न केवल शराब में है, वरन् अन्य सभी प्रकार के नशे मनुष्य को कुमार्ग की ओर ले जाने मे सहायक होते हैं।

९. बड़ों की आदतों का प्रभाव उनके बच्चों पर पड़ता है। जिन बच्चों के पिता शराबी होते हैं उन्हें अपने बच्चों को शराब से रोकने में कठिनाई होती है।

यहाँ तक कि बड़ों के सिग्रेट तथा हुक्का पीने का असर भी छोटों पर पड़ता है। बीते युग में तम्बाकू का गांवों में प्रभाव इतना बढ़ा कि बाबा पोतों ने एक साथ बैठ कर हुक्का पीना अपनी खातिरदारी में शामिल कर लिया। इस प्रकार की आदतें अपना प्रभाव न केवल इस पीढ़ी पर डालती हैं वरन् आने वाली पीढ़ियों पर भी अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसका असर रहता है और नस्ल की-नस्ल खराब होती चली जाती हैं। चीन के लोगों में अफीम और भारत के लोगों में तम्बाकू का प्रभाव नस्लों पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बन्ध रखता है। आज चीन की सरकार ने अपनी जनता से इस दुर्गुण को दूर करने के लिए कानून का सहारा लिया है। भारत में भी बहुत से प्रदेश शराब-बन्दी की दिशा में अपने परीक्षण कर रहे हैं।

१०. नशा कभी-कभी व्यक्ति का मानसिक बैलेन्स (Balance) खराब करने में भी सफल होता है, जिसके कुप्रभाव से उसका मस्तिष्क भी बिगड़ सकता हैं और वह पागल भी हो सकता है। ऐसी अनेकों मिसालें हैं जहाँ देखा गया है कि नशेबाज अपने जीवन के अंतिम दिनों में पागल हो गया है।

११. नशा मनुष्य को सेक्स की ओर सब से अधिक रागिब करता है। सेक्स का आकर्षण नशे की दशा में ऐसा चमत्कारप्रधान बन जाता है निन्यानवे दशमलव निन्यानवे प्रतिशत व्यक्ति उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

१२. मनुष्य की सेक्स-सम्बन्धी कमजोरी कभी-कभी मैथुन (Venereal) सम्बन्धी बीमारियों में परिणित हो जाती है। इन बीमारियों का रोगी जीवित रहते हुए भी मृतक हो जाता है। मनुष्य के जीवन का सुख नष्ट हो जाता है और उसके किसी भी कार्य-क्रम में उत्साह नहीं रहता। उसके जीवन का उत्साह मर जाता है।

विपक्ष :

१. नशे के खुमार में मनुष्य की सद्भावना व्यापक बन जाती है। छोटी-छोटी खुदगर्जी की बातें आप से आप मनुष्य के मस्तिष्क से काफूर हो जाती हैं और ताजा किस्म से सोचने की प्रकृति उसमें जाग्रत हो उठती है।

२. बुराई को कभी भलाई से मिला-जुला नहीं देना चाहिए। दोनों को ही प्रथक-प्रथक करके देखने की आवश्यकता है। हम यदि अपने पूर्वजों के इतिहास पर दृष्टि डालें तो बड़े-बड़े उत्सवों पर मद-पान का वर्णन मिलता है। इस मद-पान के सुख और आनन्द का वर्णन बड़े-बड़े कवियों ने अपने-अपने अमर ग्रन्थों में किया है। सोम-रस का पान किया जाता था, परन्तु पात्र और कुपात्र का वर्णन भी मिलता है।

यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि विष विष तो रहता ही है परन्तु योग्य व्यक्ति उसका प्रयोग औषधि के रूप में भी सर्वदा से करते आये हैं। हाँ, कठिन अवश्य है विष का औषधि-रूप में प्रयोग करना।

३. संसार के बड़े-बड़े अपराधी क्या सर्वदा बड़े-बड़े नशाखोर ही रहे हैं, यह महज़ एक खामखयाली है। जिस मनुष्य की प्रवृत्ति जिस ओर राग़िब होती है वह उधर ही बढ़ता है। फिर उसके बढ़ने की सीमा उसे मिलने वाले साधनों पर आधारित रहती है। शराब इसमें बढ़ावा भी दे सकती है और रोक भी सकती है। यहाँ यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी अपराधी नशा करने वाले नहीं होते।

४. नशा पीना प्रारम्भ करना और अपराध करना एक ही कारण के फल हैं। इसी प्रकार ग़रीबी और चरित्र की गिरावट भी एक ही कारण के दो फल हैं। पारस्परिक प्रभाव भी पड़ता है परन्तु उस मात्रा में नहीं कि हम उन्हें एक से दूसरे का उत्पन्न होना मान बैठें। साधारण नशा व्यक्ति को उस वातावरण से ऊपर उठा देता है, जो कि यदि उसके मस्तिष्क में छाया रहे तो शायद वह कुछ विचार ही न सके, कुछ कह ही न सके।

५. साधारण नशा करने वाले व्यक्तियों ने ही विश्व में कुछ बहुत बड़े-बड़े कार्यों में सिद्धि प्राप्त की है। साहित्य, कला, सभ्यता, राजनीति, विज्ञान, टेकनिकल योग्यता तथा अन्य चमत्कारपूर्ण दिशाओं में विशेष सिद्धियाँ (Achievements) प्राप्त की हैं और इस कार्य में साधारण नशे का बहुत बड़ा सहयोग रहा है।

इस आधार पर नशे को बुरी वस्तु नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक रही अधिक सेवन की बात, सो तो घृत का अधिक सेवन भी हानिकारक होता है। यह दोष नशे का नहीं, बल्कि उसके प्रयोग का, प्रयोग करने वाले की योग्यता का है। साथ ही यह भी सच है कि जो वस्तु जितनी अधिक लाभदायक है उसका ग़लत प्रयोग उतना ही अधिक हानिकर भी हो सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दुरुपयोग के भय से किसी वस्तु के सदुपयोग पर भी कानूनन पाबन्दी लगा दी जाय। यह पाबन्दी मनुष्य की स्वतन्त्रता पर एक जबरदस्त आघात है।

६. मूलधन और काम करने वालों की तनखाहों को सामने रखकर अनुपात लगाने की क्रिया द्वारा कभी भी उद्योग की जाँच नहीं की जा सकती। बड़ी मशीनों के उत्पादन से यह अनुपात बराबर घटता ही गया है। ग्राम-उद्योगों की अपेक्षा, मिल-उद्योगों में यह अनुपात अधिक मिलेगा, यह स्वाभाविक ही है। शराब बनाने के उद्योग से शराब निकालने के पश्चात् जो चीजें बचती हैं वह खेती के लिए खाद इत्यादि के रूप में प्रयोग करने पर बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई हैं। इस दिशा में भारत जैसे देश के अन्दर, जहाँ 'अधिक अन्न उगाओ' आन्दोलन जोर पर हैं, शराब पीना लाभकर है।

७. साधारण शराब पीने के लाभ के विषय में दो मत होने का स्थान नहीं दिखलाई देता। दवा के तौर पर भी शराब का इस्तेमाल बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। सर्दियों के दिनों में बच्चों में इसका साधारण प्रयोग उन्हें ठंड की बीमारियों से बचा लेता है। प्रौढ़ों के प्रयोग की तुलना में बच्चों और जानवरों की मिसाल सामने रखना मूर्खता है। एक ही वस्तु जो प्रौढ़ों के लिए लाभकर है वही बच्चों और जानवरों के लिए भी लाभकर होगी, यह आवश्यक नहीं।

८. जिन्दगी को बीमारी स्तर पर रखकर सोचने की बात जबरदस्त मूर्खता है। नशा करने वाले व्यक्ति में बीमारी से लड़ने की शक्ति क्षीण हो जाती है, यह सच है; परन्तु यह सच उस व्यक्ति के लिए नहीं जो साधारण नशा करने वाला है और जिसका मस्तिष्क सर्वदा ही उस नशे से सहारा पाकर स्वस्थ तथा प्रसन्न रहता है। साधारण नशा करने वाले व्यक्ति का मस्तिष्क प्रतिदिन ताजा हो जाता है। वह अपने काम से काम रखता है और व्यर्थ की दिमाग-पच्चियों में न तो स्वयं परेशान होता है और न औरों को ही परेशान करता है।

९. अधिक नशा करने की बात साधारण नशा करने वालों में नहीं पाई जाती। जो लोग नशे में अपने को खो देते हैं यदि उन्हें नशे से रोक दिया जाय तो कोई कारण नहीं है कि वह किसी बड़े अपराधों में फंस जायें। क्योंकि इनकी प्रकृति उसी प्रकार की होती है। यह बात भी साधारण नशा करने वालों पर लागू नहीं होती।

१०. पैतृक आदतों के प्रभाव-स्वरूप नशेबन्दी को मानना वृत्तियों का वैज्ञानिक चित्रण नहीं माना जा सकता। पैतृक चलन के प्रभाव को आज का विज्ञान सिद्धांत स्वरूप ग्रहण नहीं करता।

११. मनुष्य में पागलपन आने के अनेकों कारणों में से एक नशा करना भी कहा जा सकता है, परन्तु यह पागलपन का एक लक्षण मात्र तो है कारण नहीं। कोई भी बुराई बहुत से बुरे कारणों के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। नशा इन कारणों का एक लक्षण होने से ही बुराई का कारण नहीं समझा जा सकता।

१२. मैथुन सम्बन्धी रोगों का सम्बन्ध घुमा-फिराकर नशे से स्थापित करना कोई तुक की बात नहीं। यह बेतुका तर्क है कि नशे में व्यक्ति सेक्स की ओर रागिब होता है और सेक्स से मैथुन सम्बन्धी बीमारियों में फँस जाता है।

आधुनिक सभ्यता ने मानव-जीवन को शान्ति और सुख प्रदान किया है

पक्ष :

१. सभ्यता का स्वाभाविक गुण मनुष्य को सभ्य बनाना है। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास और प्रसार होता है त्यों-त्यों मानव असभ्यता के दायरे से निकलकर सभ्यता के दायरे में घुसता है और अपने रहन-सहन के तरीकों में फेर-बदल करता हुआ एक ऐसे स्तर पर आ जाता है जिसे सभ्य रहन-सहन कहा जा सके। सभ्यता का प्रसार पहले संसार के धनवान तबके में होता है और फिर धीरे-धीरे यह ग़रीब तबकों में फैलना प्रारम्भ हो जाता है। सभ्यता मानव-जीवन का वह निखरा हुआ रूप है जिसमें वह पारस्परिक रूखेपन को छोड़ता हुआ मिठास की ओर अग्रसर होता है।

२. सभ्यता के अन्तर्गत व्यक्ति के दैनिक जीवन की समस्याओं से ऊपर उठ कर विचार किया जाता है। पारस्परिक भेद-भावों में ही उलझे रहना सभ्यता का कार्यक्षेत्र नहीं। सभ्यता जातीय समस्याओं पर विचार करती है और उन्हीं के हल में व्यक्ति की समस्याओं का उत्तर निकल आता है।

३. हमें देखना चाहिए कि आज के समाज की क्या दशा है और गत युगों में समाज कैसा रहा है। प्राचीन काल पर दृष्टि डालकर जब हम आज के युग पर नजर दौड़ाते हैं तो हमें मिलता है कि आज का युग गत युग से काफी आगे बढ़ गया है। समाज ने निश्चित रूप से उन्नति की है और सभ्यता के ताने-बाने ने इस उन्नति में सहयोग प्रदान किया है।

४. जब हम उन्नति की बात कहते हैं तो हम केवल कह भर देने से ही संतुष्ट नहीं हो सकते। हमें देखना होगा कि यह उन्नति किस-किस दिशा में है। जहाँ तक शिक्षा के माध्यमों का सम्बन्ध है वहाँ विकास मिलता है। शरीर-विज्ञान की उन्नति, विचार-क्षेत्र में अन्य विद्याओं की उन्नति और नैतिक क्षेत्र में सामाजिक सम्बन्धों की उन्नति देखने को मिलती है। इन तीनों ही दिशाओं में देखने से पता चलता है कि व्यक्ति का शरीर, विचार और उसका सामाजिक क्षेत्र समुन्नत हुआ है।

५. आधुनिक युग की वैज्ञानिक उन्नति ने मानव की मेहनत और मशक्कत में आराम पहुँचाया है। स्वतः चलने वाली मशीनों ने मनुष्य का रुख हाथ-पैर के काम की ओर से दिमाग़ी प्रयोगों की ओर झुका दिया है और इस प्रकार मनुष्य की शक्ति को भी बल तथा सहयोग प्रदान किया है। विज्ञान की इस उन्नति ने मनुष्य को जीवन में अधिक सुखी रहने का अवसर दिया है और जो मनोरंजन के साधन

उसके लिए उपलब्ध किये हैं उन्हें पाकर आज के व्यक्ति का जीवन अधिक सुख-मय हो गया है। आज के आविष्कार और आज की सभ्यता मनुष्य की उन्नति में जबरदस्त सहायक हैं।

६. सभ्यता के विकास के साथ-साथ जो सामाजिक समस्याएँ खड़ी होती हैं वह अस्थायी होती हैं और उनका हल सभ्यता के विकास से स्वयं निकल आता है। ज्ञान की वृद्धि से जो समस्याएँ जन्म लेती हैं उनके निवारण का हल खोजना सभ्यता का काम है न कि अज्ञान और अन्धकार की दुनियाँ में दुबारा लौट जाना।

७. सभ्यता मानव-जीवन के लिए वास्तविक स्वतन्त्रता की एक महान् खोज है। इसका प्रयास सर्वदा यही रहता है कि इससे प्रभावित होकर व्यक्ति अपने हितों को समाज के हितों पर न्यौछावर कर दे। सभ्यता सामाजिक उन्नति का एक मार्ग सुझाती है जिस पर चलकर व्यक्ति अपने जीवन को सुखी तथा समृद्धिशाली बना सके।

८. सभ्यता के विकास ने कला को प्रोत्सहान दिया है, विश्व में आनन्द और सुख तथा मनोरंजन के वातावरण के प्रसार में सहयोग दिया है। साहित्य, नृत्य, संगीत, चित्रकला इत्यादि क्षेत्रों तथा सिनेमा और रेडियो आदि आविष्कारों ने मानव-मनोरंजन के क्षेत्र में कितना क्रांतिकारी परिवर्तन किया है यह कहने की बात नहीं। जो चीजें साधारण जनता के लिए पहले दुष्प्राप्य समझी जाती थीं आज वह उनके लिए सुलभ हो चुकी हैं। यह आधुनिक आविष्कारों और सभ्यता का ही चमत्कार है।

९. आज के मानव-जीवन में जितनी भी आराम की वस्तुएँ उपलब्ध हैं वह सभी सभ्यता के विकास से जन्म लेकर आई हैं। मानव-समाज में ज्यों-ज्यों सभ्यता का प्रसार हुआ है त्यों-त्यों वह आनन्द, मनोरंजन इत्यादि की ओर अग्रसर हुआ है। यहाँ यह भी सच है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ है त्यों-त्यों उसमें कमजोरी आई है और उसका ध्वंस असभ्य जातियों ने अपने बल-प्रहार से किया है, परन्तु इस आधार पर सभ्यता को बुरा और असभ्यता को अच्छा नहीं कहा जा सकता। एक चीते, शेर या भेड़िये को इसीलिए अच्छा कहना, कि वह मनुष्य को मारकर खा जाने की शक्ति अपने में रखता है, उचित नहीं।

१०. आज के शहरों में सभ्यता के विकास ने प्रकृति की दानव शक्तियों को बाँध लिया है। केवल बाँध ही नहीं लिया वरन् हानिकारक शक्तियों से मानव-सुख और समृद्धि का काम लिया है। मनुष्य को चीर डालने वाले शेर को सर्कस में बन्द करके मनुष्य के मनोरंजन की सामग्री बनाया है।

यह ठीक है कि जिस सभ्यता ने इतने गुणों का प्रसार किया है और

मानव के जीवन में आनन्द की सृष्टि की है उसके कुछ अवगुण भी हो सकते हैं, परन्तु वह सभी अवगुण भी मिलकर किसी एक गुण की तुलना में नहीं रखे जा सकते। बड़े कामों की पूर्ति के लिए बड़ी-बड़ी इच्छाओं का जन्म होता है और इन बड़ी इच्छाओं के मूल में बहुत सी स्वार्थप्रिय वृत्तियाँ पलती चली जाती हैं। परन्तु वह स्वार्थप्रिय वृत्तियाँ उस महान् उद्देश्य के सम्मुख आकर फीकी पड़ जाती हैं जिससे नवीन सभ्यता और उसके नवीन सिद्धान्तों का निर्माण होता है। सभ्यता इसी निर्माण का क्रमिक विकास है। इस विकास ने मानव को उन्नति का वह मार्ग दिखलाया है जिस पर चलकर समाज आज के इस ऐश्वर्यशाली युग में प्रवेश कर सका है।

विपक्ष :

१. सभ्यता ने बेरहम खुदगर्जी और स्वार्थप्रिय छीना झपटी तथा आधुनिकतम लूट-खसोट को जन्म दिया है केवल अपनी सहायता (Self-help) ही इस सभ्यता का उद्देश्य है और इसी के आधार पर वह आज के समाज को ढालने का प्रयत्न करती है।

२. सभ्यता से हमारा तात्पर्य उस आधुनिक सभ्यता से है जो यूरोपीय देशों से जन्म लेकर आज समस्त संसार में फैल गई है। इस सभ्यता ने जीवन की बनावट को पाठ पढ़ाया है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने को वह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता है जो कुछ कि वह है नहीं।

३. पाश्चात्य सभ्यता ने जीवन के बनावटी पहलू को उभारने के साथ ही साथ समाज में पारस्परिक भेद-भाव बढ़ाने की भी सामग्री प्रस्तुत की है। ऊँच-नीच की भावना आर्थिक क्षेत्र में बहुत प्रखर रूप धारण का चुकी है। इसी के फलस्वरूप पारस्परिक सहयोग का ह्रास और आपसी वैमनस्य को बढ़ावा मिला हैं। इस असहयोग और वैमनस्य ने संसार में तबाही और दुखी जीवन का प्रसार किया है।

४. पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से मानव की नैतिकता का क्रमिक ह्रास हुआ है। चरित्र का वह सबल दृष्टिकोण जो प्राचीन काल में मिलता था आज उपलब्ध नहीं। आज का मानव अपने आत्मिक जीवन के प्रति उदासीन और बाहरी जीवन के प्रति व्यग्र दिखलाई देता है। उसके जीवन की चिन्ता आज उसके बाहरी जगत् की आराम-तलबी और ऐश की समस्या बन गई है और इसी के सुलझाने में वह हर समय परेशान रहता है। उसके मस्तिष्क की शांति एक प्रकार से खो-सी गई है। वास्तविकता को छोड़कर आज की सभ्यता बनावट-पसंदी की तरफ झुकती जा रही है और उसी में जीवन के सुख तथा शांति की खोज करना चाहती है।

५. आज के समाज में जो चमक-दमक और उन्नति दिखलाई देती है वह सब बाहरी है, धोखा है। जीवन के वास्तविक तथ्यों और उनके रहस्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। आज के समाज की आत्मा दूषित होती जा रही है और वह निरन्तर पतनोन्मुख है।

६. जो सभ्यता समाज को उसके असली रूप से खींचकर दूर ले जाय, वह सभ्यता कभी भी उस समाज का हित नहीं कर सकती। समाज का हित तभी सम्भव है जब वह अपने असली रूप को पहिचाने और बनावट की तरफ से रास्ता बदलकर वही मार्ग ग्रहण करे जिसमें पारस्परिक सहानुभूति और सद्भावना का दौर-दौरा हो।

७. सामाजिक समस्याओं का महत्व जीवन में स्थायी रूप से आता है। आधुनिक सभ्यता ने इन सामाजिक समस्याओं को घटाने की अपेक्षा बढ़ाने में सहयोग दिया है। सामाजिक समस्याएँ ही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की समस्याएँ होती हैं। इन्हीं के द्वारा जीवन की प्रगति और गिरावट सामने आती है। आज की पाश्चात्य सभ्यता में पला हुआ इन्सान समाज के इन दुर्गुणों और गिरावट के रास्तों से अनभिज्ञ नहीं परन्तु जान-बूझकर भी वह उनके जाल में कुछ ऐसा फँसा हुआ है, उनसे बच नहीं सकता और बराबर गिरावट की ओर ही चलता जाता है।

८. सभ्यता वास्तव में एक व्यवस्थित गुलामी है। जिस प्रकार गरीब लोग अपने को अमीरों की दासता से जकड़ा हुआ पाते हैं ठीक उसी प्रकार अमीर लोग अपने पैसे और अपनी आदतों के गुलाम हैं। सभ्यता के माया-जाल में आज का हर इन्सान दास की तरह फँसा हुआ है, ठीक उसी तरह जैसे अफ्रीका के दास थे। वे दास थे इन्सानों के और आज का समाज दास है पाश्चात्य सभ्यता का।

९. सभ्यता से प्राप्त आनन्द एक नशे के समान है जो मानव-जीवन में स्थायी बनकर नहीं आ सकता। उसमें कृत्रिमता रहती है और इसीलिए जीवन के सरल तत्त्वों को प्रभावित करने की क्षमता उसमें नहीं। इस सभ्यता में स्वास्थ्य की गर्मी नहीं बुखार की गर्मी होती है। आज के मानव का जीवन इतना व्यस्त है कि उसका सारा समय अपने जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने की सामग्री जुटाने में ही व्यतीत हो जाता है और तब भी उसे संतोष प्राप्त नहीं होता। जीवन को जीवन मानकर चलने की अपेक्षा उसे समस्या मानकर चलना होता है।

१०. जीवन का वास्तविक आनन्द अवकाश में है जिसमें कि मनुष्य अपने घर पर रह सके। अपने परिवार में घुल-मिल सके, अपने मित्रों से बात-चीत कर सके। अपने सामाजिक सम्पर्क स्थापित कर सके और इसी प्रकार कुछ फुर्सत का

कार्यक्रम बना सके। परन्तु आज की चमकीली सभ्यता ने हम से सब कुछ छीन लिया है। अवकाश आज हमारे पास है नहीं। सारा दिन मर-खप कर भी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। मन में हर समय चिन्ता और अशांति बनी रहती है। परेशानी का वातावरण समाज के हर कोने में दिखलाई देता है।

११. आधुनिक सभ्यता ने जो आराम और सहूलियतें हमें प्रदान की हैं उनका सम्बन्ध हमारे बाहरी जीवन तक ही सीमित है। आज के जीवन में शायद जितनी अशांति है उतनी पहिले किसी सभ्यता काल में नहीं रही। आज के मानव का जीवन दुनियादारी में इस कदर फँस गया है कि उससे बाहर निकलना उसकी मृत्यु है। सावन के अंधे के समान उसे चारों ओर हरा ही हरा दिखलाई देता है। कोई दूसरा रंग आज का मानव देख ही नहीं पाता। एक पर्दा-सा पड़ गया है अक्ल और दिल के ऊपर और उसे उठाकर दूसरी ओर झाँकना आज की सभ्यता ने असम्भव कर दिया है।

१२. आज के वातावरण में अविश्वास से मनुष्य को चलना होता है। जो मनुष्य प्रारम्भ से ही विश्वास के साथ चलता है वही धोखा खाता है। यह सभ्यता की सबसे बड़ी गिरावट है। सभ्यता विश्वास से अविश्वास की सीमा तक पहुँच चुकी है, जिसका अर्थ है विनाश। इसका अर्थ हुआ कि मानव जन्म से न चलकर विनाश से चलता है और अपने हर पहलू पर उसे संदिग्ध स्थिति में ही चलना होता है। इस संदिग्ध स्थिति में वह कहाँ तक प्रगति कर सकता है यह विचारणीय बात है। उसे हर कदम भयभीत होकर रखना होगा, उसका मार्ग ऊबड़-खाबड़ और अनिश्चित है, वह जिसकी ओर भी सहयोग के लिए देखता है वहीं शंका और भय है—इसका अर्थ हुआ वह अकेला है आज की सभ्यता ने मानव को अकेला बना दिया है। अकेला चना भला कैसे भाड़ फोड़ सकता है?

१३. आज की सभ्यता के प्रतीक हमारे बड़े-बड़े नगर हैं जिनमें एक मकान के रहने वाले भी सब व्यक्ति आपस में परिचित नहीं होते। ऊपर की मंजिल से शव उठता है और नीचे की मंजिल में शादी मनाई जाती है। जिसे दुनिया कहते हैं, माया कहते हैं, उसका सही रूप आज की सभ्यता ने मानव के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। स्वार्थ की पराकाष्ठा पर आज सभ्यता खड़ी है। इसका भविष्य अंधकारमय है, उज्ज्वल नहीं।

आज विज्ञापन की दिशा गलत है

पक्ष :

१. विज्ञापन करने में आज का युग इतना आगे बढ़ता जा रहा है कि बहुत से उद्योगों में मूल वस्तु के उत्पादन की अपेक्षा उसके विज्ञापन का मूल्य बढ़ जाता है। सिनेमा उद्योग में यह कथन विशेष रूप से सत्य ठहरता है। अन्य उद्योगों में भी जो रुपया विज्ञापन पर व्यय किया जाता है वह वस्तु के मूल्य की वृद्धि में सहायक होता है। इस प्रकार यह विज्ञापन ग्राहक के लिए हितकर न होकर अहितकर ही सिद्ध होता है।

२. विज्ञापन करने में मेहनत-मजदूरी, रुपया, दिमाग, और समय नष्ट होता है। इन सभी वस्तुओं का प्रयोग किसी अन्य अच्छे और उपयोगी कार्य के लिए भी किया जा सकता है।

३. बहुत सी प्रसिद्ध औद्योगिक संस्थाएँ कभी-कभी बहुत सा रुपया उन वस्तुओं के विज्ञापन पर खर्च करती हैं जिनका कि निर्माण-कार्य भी उन संस्थाओं ने रोका हुआ होता है। साथ ही कुछ ऐसी वस्तुओं का भी व्यर्थ विज्ञापन किया जाता है जो कि काफी से अधिक प्रसिद्ध हो चुकी हैं और जिनका विज्ञापन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। द्वितीय महायुद्ध के दौरान में जबकि जूते की प्रसिद्ध फर्म 'फ्लेक्स' ने पूर्ण रूप से युद्ध-कार्य में ही अपनी मशीनरी को जुटा दिया तो अपने पुराने जूतों के नम्बरों को विज्ञापित करने के लिए बराबर विज्ञापन के साधनों को अपनाये रखा। ऐसी वस्तुएँ तो अनेकों हैं जिनकी प्रसिद्धि जनता में बहुत अधिक होने पर भी हम नित्य उनका पत्रों में विज्ञापन पाते हैं। इस प्रकार के विज्ञापनों में शक्ति और धन का अपव्यय मात्र ही होता है।

४. आज के पत्रों के लिए विज्ञापन एक आवश्यकता बन चुके हैं। कोई भी पत्र लाभ के साथ नहीं चल सकता जब तक कि वह अच्छे खासे विज्ञापन न पाता हो। इसका दूसरे मायने में यह अर्थ हुआ कि पत्रों को हर समय विज्ञापन दाताओं की कृपा-कोर की ओर निहारना पड़ता है और उनकी नीति पर भी विज्ञापनदाताओं का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार के विज्ञापनों का प्रभाव पत्रकारिता के साधारण व्यापार पर पड़ता है। सरकारी विज्ञापन देने वाले दफ्तर पत्रों की नीति अपने नुक्ता निगाह से देखते हैं और बड़े-बड़े पूँजीपतियों के विज्ञापन उनकी नीतियों का समर्थन करने वाले प्राप्त कर जाते हैं। आज के युग में कुछ विदेशी राजदूतों के दफ्तरों ने भी अपनी नीति इसी प्रकार विज्ञापन के माध्यम खोज निकालने की बना ली है।

गर्ज यह कि आज पत्रकारिता व्यवसाय को विज्ञापन के नीचे दबकर अपने

विचार के क्षेत्र में बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी है। पत्रकारिता ने अपना स्वतंत्र विचार विज्ञापन द्वारा प्राप्त धन राशि पर न्यौछावर कर दिया है।

५. भारत में अभी विज्ञापन की स्थिति इतनी नाजुक नहीं हुई है जितनी अमरीका और इङ्गलैंड में हो चुकी है। वहाँ तो पत्रिकाओं का मूल विषय विज्ञापन के नीचे दब जाता है। विज्ञापन देने और लेने की मानो लत पड़ गई है समाज को। एक यह पृथक-सा व्यापार ही बन गया है। यह मानव की शक्तियों का अपव्यय है और साथ ही धन का भी दुरुपयोग है। इस प्रवृत्ति से विज्ञापन प्रधानता द्वारा रद्दी चीजों को भी जनता तक पहुँचाकर उसका अहित किया जाता है।

युद्धकाल में विज्ञापन का प्रयोग व्यापारियों ने बहुत ही गलत तरीके से किया। आवश्यकता की चीजों का उलटा-सीधा विज्ञापन देकर जनता को ठगा गया और कुछ न कुछ आज भी ठगी ही जाती है। इस प्रकार विज्ञापन किसी भी वस्तु का विषैला तथा प्रभावात्मक प्रचार है जिसके द्वारा ग्राहक कभी भी सही नतीजे तक नहीं पहुँच सकता।

६. द्वार-द्वार जाकर किसी वस्तु का विज्ञापन करने की प्रणाली तो बहुत ही निकृष्ट दर्जे की प्रणाली है। इसकी व्यवस्था तभी की जाती है जब जनता की खरीद करने की शक्ति का नितान्त ह्रास होता है। इस प्रणाली द्वारा मनुष्य की शक्ति का बहुत ही अपव्यय होता है और निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आया इसमें लगायी जाने वाली शक्ति तथा उससे प्राप्त फल में कोई तमन्ना हो सकती है।

७. आज का विज्ञापन प्रधानतया कस्बों और शहरों तक ही सीमित है। सड़कों के दोनों ओर दीवारें तथा चौरस्तों के मकान तो इतनी बुरी तरह विज्ञापनों से पुते रहते हैं कि जिसे कोई क्या कहे ! इस प्रकार के विज्ञापनों पर सरकारी प्रतिबन्ध की आवश्यकता है और सरकार को चाहिए कि अधिकारियों को इनकी रोक-थाम अधिक अधिकार-प्रदान के लिए करे। यह विज्ञापन इतने भद्दे और बेहूदा होते हैं कि समाज के जीवन को दूषित करने में इनका बहुत बड़ा हाथ है।

८. विज्ञापन पर सरकारी नियंत्रण होने की आवश्यकता है। बिना सरकारी नियंत्रण के विज्ञापन देशीय उद्योगों के गलत प्रसार के साधन बन सकते हैं। आज का व्यापारी वर्ग जनता और समाज के प्रति उत्तरदायी नहीं रहा है। यह सब पैसा महात्मा की कृपा है। विज्ञापन पर सही नियंत्रण होने से गलत उद्योगों को धक्का लगेगा और इस प्रकार यह देश तथा राष्ट्र की एक महान् सेवा होगी।

९. विज्ञापनों पर टैक्स लगाकर सरकार को चाहिए कि वह इस बढ़ती हुई बाढ़ पर प्रतिबन्ध लगाये।

विपक्ष :

१. विज्ञापन को गलत कहना एक जबरदस्त भूल है। विज्ञापन ही वास्तव में वह माध्यम है जिसके द्वारा ग्राहक और उत्पादित वस्तु का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है। किसी भी नई वस्तु को उसके इच्छुक तक पहुँचाने के लिए विज्ञापन का आश्रय लिया जाता है। बिना विज्ञापन के नई वस्तु का प्रचार होना असम्भव है, चाहे वह कितनी भी अच्छी और लाभकर क्यों न हो।

२. किसी भी वस्तु का विज्ञापन प्रारम्भ में महँगा पड़ता है, परन्तु ज्यों-ज्यों विज्ञापन द्वारा उस वस्तु की बिक्री बढ़ती जाती है त्यों-त्यों विज्ञापन का व्यय धीरे-धीरे कम होता जाता है।

३. यह विचार बिलकुल गलत है कि रद्दी वस्तु विज्ञापन करने पर कभी भी बाजार में अपना स्थान बना सकती है। विज्ञापन द्वारा किसी भी वस्तु को केवल एक बार ही बाजार में प्रसारित किया जा सकता है। उसकी आगामी निकासी उस वस्तु के गुणों पर ही आधारित है। यदि यह सच हो तो एक बार किसी वस्तु को ग्राहकों की नजरों तक ले जाने के लिए विज्ञापन करना कोई अनुचित बात नहीं। और फिर यदि उस वस्तु को पसंद किया जाय तो अधिकाधिक लोगों की भलाई के लिए उसे अधिकाधिक विज्ञापित करके उनके पास तक पहुँचाना उतना ही आवश्यक है। जनता की आवश्यकता की वस्तुओं को उनके पास तक पहुँचाने में विज्ञापन द्वारा दिया गया सहयोग इस प्रकार सराहनीय है।

४. जब किसी वस्तु का विज्ञापन बड़े पैमाने पर किया जाता है तो उद्योग-पति को इस बात का भरोसा रहता है कि जो वस्तु उसने बनाई है वह जनता के लिए लाभदायक है। यदि उसके मन में यह भरोसा न हो तो वह इतना लम्बा-चौड़ा विज्ञापन करने के लिए कभी भी तय्यार नहीं हो सकता। विज्ञापनदाता यह जानता है कि गलत वस्तु का विज्ञापन कभी भी किसी वस्तु की स्थायी बिक्री का साधन नहीं बन सकता।

५. विज्ञापन की सहूलियत और कामयाबी ने बहुत सी ऐसी तिजारतों और तिजारत के तरीकों को जन्म दिया है जिनका कार्यक्षेत्र में आना विज्ञापन के बिना असम्भव था। रद्दी वस्तुओं के उत्पादन को भी अच्छी वस्तुओं के उत्पादक विज्ञा-पन द्वारा ही रोक सकते हैं। यही वह माध्यम है जिसके द्वारा वह अपने ग्राहकों को गलत बनी हुई धोखे की वस्तुओं के जाल से बचा सकते हैं। इस माध्यम द्वारा वह खोलकर अपने गुणों और रद्दी चीजों के दुर्गुणों को सामने रख सकते हैं।

६. पत्रों में विज्ञापन यदि न छपें तो इससे पत्रों की दशा खराब हो जायगी और पत्र-व्यवसाय का चलना ही असम्भव हो जायगा। दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों का मूल्य बढ़ जायगा और उसके फलस्वरूप उनकी बिक्री भी

घटेगी। इसका नतीजा यह होगा कि इससे शिक्षा-प्रचार पर तो असर पड़ेगा ही साथ ही साथ एक उद्योग समाप्त होने से बहुत से पढ़े-लिखे सम्पादकों की बेरोजगारी का प्रश्न भी सामने आ खड़ा होगा। आज विज्ञापन एक प्रकार से भारत का ही नहीं वरन् समस्त संसार के पत्रों की रीढ़ की हड्डी के समान है। उससे सम्बन्ध-विच्छेद करके उनके लिए अपना अस्तित्व बनाये रखना नितान्त असम्भव है।

परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि गलत किस्म के विज्ञापनों को प्रोत्साहन दिया जाय। आज आवश्यकता इस बात की है कि सही किस्म के विज्ञापन की परख होनी चाहिए।

७. विज्ञापन के मुक्त प्रसार पर सरकारी प्रतिबन्ध लगाना जनता की स्वतंत्रता को छीन लेने के समान है। इस प्रवृत्ति से जनता की अपनी राय तक पहुँचना कठिन हो जाता है और हर वस्तु को वस्तु के दृष्टिकोण से परखने की अपेक्षा एक पहले से निर्धारित दृष्टिकोण से परखने की बात सामने आ जाती है। किसी वस्तु की उपादेयता को परखने का यह तरीका कुछ उचित नहीं जान पड़ता और न ही यह जनता की राय का शुद्ध द्योतक ही कहा जा सकता है। विज्ञापन पर सरकारी दबाव का होना बहुत से उद्योगों के मुक्त प्रसार में बाधक सिद्ध होगा और इससे देश के उद्योगों तथा व्यापारों को बहुत बड़ी हानि होने की सम्भावना है।

८. उक्त आशंका उस समय और भी घातक हो उठती है जब सरकारी विभाग जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को महसूस न करे, घूसखोर हो या उन वस्तुओं के गुण और अवगुण परखने की पैनी बुद्धि उसके पास न हो।

९. विज्ञापनों पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लग जाने पर उद्योग और व्यापार के फैलाने में बाधा पड़ेगी। उद्योगपतियों को व्यापार या उद्योग प्रारम्भ करने से पूर्व सरकारी दरवाजों को खटखटाना होगा और फिर उनकी अनुमति द्वारा फूँक फूँक कर कदम रखना होगा। एक उद्योगपति का जोश (Dashing-spirit) उसमें से समाप्त हो जायगा।

१०. पत्रों के विषय में यह कहना कि वह विज्ञापनदाताओं और उनके विज्ञापनों से प्रभावित हो जाते हैं बिलकुल गलत है। पत्रकारों को पूर्ण अधिकार होता है कि चाहे जिस विज्ञापन को अपने पत्रों में छापें या न छापें। और यह होता भी है। विज्ञापनों के छापने के विषय में सब पत्रों की अपनी निर्दिष्ट नीति होती है। उसी के अनुसार वह विज्ञापन स्वीकार करते हैं। बहुत पत्रकार तो इतने शक्तिशाली और स्वाभिमानी होते हैं कि सरकारी विज्ञापनों का प्रलोभन भी उन्हें सच्चाई को प्रकट करने से नहीं रोक पाता।

११. यह विज्ञापनदाता की अपनी योग्यता पर मुनहसिर होता है कि

वह जिन पत्रों में विज्ञापन देता है उनके प्रसार-क्षेत्र और उस क्षेत्र में अपनी विज्ञापित वस्तु की खपत का सही अन्दाजा लगा सके।

१२. घर-घर जाकर किसी वस्तु की प्रचार की क्रिया को गलत नहीं कहा जा सकता। जनता की आवश्यकता की वस्तु को उनके घर तक पहुँचाने में क्या हानि है, यह समझ में नहीं आता। साथ ही इस विज्ञापन के तरीके से बहुत से बेरोज़गार लोगों को काम मिलता है। लोगों की आवश्यकता तक पहुँचने का यह सबसे अच्छा माध्यम है।

१३. सड़क की दोनों ओर की दीवारों तथा चौरस्ते के बोर्डों और खम्भों पर जो विज्ञापन दिये जाते हैं उन तक आम जनता की निगाह पहुँचती है। वह बहुत ही कलात्मक ढंग से बनाये जाते हैं। वास्तव में गलत चीज तो हर स्थान पर गलत है परन्तु सही चीज के ऐसे स्थानों पर विज्ञापन करने में हम कोई हानि नहीं समझते। पिछले दिनों हमने बहुत से नगरों की दीवारों पर 'किंडर गार्टन' का विज्ञापन देखा और देखकर प्रसन्नता हुई कि शिक्षा की वस्तुओं का विज्ञापन भी इतना जनता के बीच तक पहुँचने लगा।

१४. सरकार का विज्ञापनों पर कर लगाना एक हिमाकत होगी क्योंकि ऐसा करके वह उन वस्तुओं के प्रसार में बाधा उपस्थित करेगी जिन पर टैक्स लगाकर उसे बहुत बड़ा लाभ होता है और जो उसकी आय का एक ज़बरदस्त साधन है। इसके अतिरिक्त इस कर का प्रभाव वस्तुओं के मूल्य पर भी पड़ेगा और उद्योग को हानि होने की सम्भावना है। सरकार द्वारा इस प्रकार का कोई भी कदम उठाना उसकी बुद्धिमत्ता का द्योतक नहीं कहा जा सकता।

१५. सरकार को चाहिए कि वह विज्ञापन के साधन प्रस्तुत करे और उनके द्वारा जनता के लिए लाभदायक वस्तुओं के प्रचार में सहयोग प्रदान करे।

१६. विज्ञापन ही वास्तव में जनता की आवश्यकता की वस्तु का परिचय देता है। विज्ञापन-कला ने जनता, उद्योग और व्यापार का महान् हित किया है।

क्या हमें प्राचीन रूढ़ियों का आँख मीच कर अनुकरण करना चाहिए ?

पक्ष :

१. रूढ़ियों का निर्माण समाज ने सर्वदा ही एक लम्बे-चौड़े परीक्षण के पश्चात् किया है। जो आज रूढ़ियाँ प्रतीत होती हैं वह किसी समय की आवश्यकताएँ रही हैं और उन्हें हल करने का समाज के विचारकों ने उपाय किया है। वही

उपाय जो उस काल में उन समस्याओं के हलस्वरूप सामने आये धीरे-धीरे रूढ़ियों का रूप पकड़ते गये।

इससे यह सिद्ध हुआ कि यह रूढ़ियाँ जो आज किसी रूप में हो सकता है कि कुछ विकास-क्षेत्रों में प्रतिबन्ध-सी प्रतीत होती हों, परन्तु इनका प्राचीन काल में एक सक्रिय और प्रगतिशील सहयोग रहा है समाज की उन्नति में और इन नतीजों पर पहुँचने के लिए समाज ने बलिदान दिया है। यह रूढ़ियाँ समाज की अमूल्य निधियाँ हैं और इन्हें यूँ ही भुलाया और ठुकराया नहीं जा सकता।

२. रूढ़ियाँ समाज की उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर एक बाँध स्वरूप सामने आती हैं। समाज के गलत प्रवाह को रोकना रूढ़ियों का काम है। रूढ़ियाँ वास्तव में समाज की प्रगति के रास्ते हैं जिन पर चलकर समाज को ऊबड़-खाबड़ रास्तों की कठिनाइयों से मुक्ति मिल जाती है। रूढ़ियाँ गत युग के विद्वानों द्वारा बनाई गई वह साफ़ और सुथरी सड़कें हैं जिन पर आज का मानव बिना कठिनाई के आगे बढ़ता हुआ चला जा सकता है। यह रूढ़ियाँ इस यात्री को स्वयं मार्ग दिखलाती हैं। सहारा देती हैं और बलवान बनाती हैं। गत युग के परीक्षणों का निचोड़ उसके सामने लाकर रख देती हैं। पुराने विचारकों की थातियों के समान वह आज के विचारकों के सम्मुख आती हैं।

३. तबदीली प्रकृति का नियम है और समाज के परीक्षण भी चलते ही रहते हैं। वह तबदीली और परीक्षण भी प्राचीन रूढ़ियों की ही आधार-शिलाओं पर किये जाते हैं। पुराने तजुर्बों पर नये नतीजे निकालना भी एक रूढ़िवादी प्रथा है और यही तरीका सही भी है क्योंकि पुराने नतीजों तक पहुँचने में समाज को एक समय लगा है और जिन निष्कर्षों तक समाज पहुँचा है उन्हें एकदम मुक्त करके नये सिरे से एक, दो, तीन गिनना मूर्खता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि समाज नये रीति-रिवाजों का निर्माण करे, परन्तु उनका आधार पुराने रीति-रिवाजों की उपेक्षा करके नहीं चल सकता। प्राचीन परम्परा की शृंखला को छोड़कर बियाबान जंगल में भटकना बुद्धिमानी नहीं।

४. समाज ने गत युगों के संघर्षों से कुछ ऐसे तत्वों को खोज निकाला है जिनका महत्व मानव-समाज के इतिहास में किन्हीं भी राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय नियमों से कम नहीं। वे नियम समाज के वह अटल सिद्धान्त बन चुके हैं कि जिन्हें हटाकर समाज की नीवें डगमगा उठेंगी और उसे अपने अस्तित्व को संभालना कठिन हो जायगा। समाज के यह रूढ़िवादी तत्त्व उसकी नीवों में लगे हुए वह चट्टानी पत्थर हैं कि जो युग-युगान्तर से समाज की ऊपरी मंजिलों के गिरते बनते और सीमेन्ट होते देखते चले आ रहे हैं। यों साधारण दृष्टि से देखने पर यह पत्थर कठोर दिखलाई देते हैं, परन्तु इसकी कठोर मजबूती ही इस आलीशान समाज की

इमारत को अपने ऊपर थामे हुए हैं।

५. यदि कोई सुधारक प्राचीन रूढ़ियों का आँख मीचकर विरोध करता है तो निश्चित रूप से समाज उसे सनकी घोषित करता है और उसके विचारों का वजन कम हो जाता है। समाज की मान्यताओं को ठुकराने वाला व्यक्ति कभी भी सामाजिक मान का अधिकारी नहीं हो सकता। सामाजिक मान्यताओं का आपरेशन करने के लिए आँख मीच कर आगे बढ़ना कभी हितकर नहीं होता। साधारण सामाजिक प्राणियों को तो विशेष रूप से इस दिशा में सोच समझकर कदम उठाना चाहिए।

६. यदि कोई व्यक्ति एक रूढ़िवादी विचारधारा का विरोध करता है तो निश्चित रूप से यह माना जा सकता है कि वह समाज की सभी मान्यताओं का विरोध कर सकता है। इस दिशा में समाज उसे अपनी प्राचीन निधियों पर छीन-झपटी करने वाला प्राणी ही घोषित करेगा। इस घोषणा के पश्चात् उसका समाज से विरोध करके अपने हर पहलू पर नवीन मान्यता को आधारित करते हुए चलना कितना कठिन कार्य है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

विपक्ष :

१. प्राचीन रूढ़ियों की गुलामी और उनके प्रति आँखें बन्द करके मान्यता प्रदर्शित करना समाज की प्रगति के सामने एक दीवार खड़ी कर देना है। यदि आज तक समाज का विचारक और सुधारक विरोधों से डरता और भयभीत होता रहता तो कोई कारण नहीं था कि समाज में जितने भी आज तक सुधार हुए वह कभी अपनी आज की दशा को प्राप्त हो सकते।

२. संसार की सभ्यता का इतिहास बतलाता है कि आज तक जितने भी सुधारकों ने जन्म लिया है, उनका कट्टर विरोध किया गया है। मार्टिन्ल्यूथर ने जब रोमन कैथोलिक चर्च के विरुद्ध आवाज उठाई तो पोप ने उसे धर्म का शत्रु घोषित किया। महात्मा बुद्ध ने जब ब्राह्मण-धर्म पर आक्षेप किये तो उनका भी बड़ा विरोध हुआ। वर्तमान युग में स्वामी दयानन्द के सुधारों का भी स्वागत समाज ने मुक्त कंठ से नहीं किया। परन्तु हुए यह सब। प्रगति शील विचारों की शक्ति के सामने रूढ़िवादी शृंखलाएँ आप से आप छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, वह रुक नहीं सकतीं।

३. आज के युग में जो भी सामाजिक नियम दिखलाई देते हैं वह सब प्राचीन रूढ़ियों के खंडन मात्र हैं। इस प्रकार के खंडन की भी एक परम्परा है, शृंखला है। इस परम्परा का विरोध होना भी स्वयं एक स्वाभाविक परम्परा है। इस प्रकार नवीन परम्परा पुरानी परम्परा को हटा कर अपना स्थान बनाती चली जाती है। इन परम्पराओं की मान्यताओं में कुछ साम्य ही न थे ऐसी बात नहीं।

कभी-कभी मूल सिद्धान्त ज्यों के त्यों रहते हैं और उनके स्पष्टीकरण का अन्तर ही एक महान् अन्तर बन जाता है। बस यही रूढ़ि के प्रति अंधविश्वास को हटाने की भावना है जिसके मूल में समाज की प्रगति और उसका हित निहित है।

४. प्राचीन रूढ़ियों के विद्रोह में एक दिशा तो वह है जिसमें कुछ ऐसी बातों पर विचार किया जाता है कि जिनके अंतर्गत वह रीति-रिवाज आते हैं जिनके बदल देने में समाज को अधिक कठिनाई नहीं होती बल्कि उल्टा आराम ही मिलता है। जिन तबदीलियों में साधारण व्यक्ति को भी अपना लाभ दृष्टिगोचर होता है उन्हें छोड़ देने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती। समाज इस प्रकार के सुधारों को मानता और अपनाता चला जाता है। परन्तु कुछ ऐसी सामाजिक मान्यताएँ होती हैं कि जिन पर सुधारक का नश्तर पड़ते ही समाज के मुख से एक चीख निकल जाती है, टीस होती है और कराह की पुकार आने लगती है। भारत में छूआछूत की कुप्रथा, शादी-विवाहों की आस्थाएँ इत्यादि ऐसी ही मान्यताएं हैं कि जिनपर कुठाराघात होने पर समाज को दर्द होता है। आसमान पर बैठे हुए व्यक्ति को पाताल की ओर देखना पड़े और देखना ही न पड़े वरन् नीचे उतर आना पड़े तो फिर समझिये उसके दिल की पीड़ा।

५. रूढ़िवादी लोग रूढ़ियों का निर्माण करके न केवल अपने को ही उन रूढ़िनों की चहारदीवारी में बन्द कर लेते हैं वरन् समाज के लिए भी वह किला तय्यार करते हैं कि जिसकी ऊँची-ऊँची दीवारों पर दृष्टि फैलाकर समाज बाहर की चीजों को देख सके। रूढ़ियाँ समाज के लिए वह तंग दायरा बनाती हैं कि जिस में समाज का दम घुटने लगता है। ताजी हवा तक पहुँचने का उसका रास्ता बंद हो जाता है और उसकी विचारधारा के लिए भी एक सीमित क्षेत्र और सीमित दृष्टिकोण तय्यार हो जाता है।

रूढ़ि का यह सीमित दृष्टिकोण समाज की प्रगति में बाधक ही नहीं उसके प्राचीन विचारों में भी एक प्रकार की सड़ांध पैदा कर देता है और वह मुक्त प्रवाह रुक जाता है जिसके कदम पर एक नई जिन्दगी का आगाज होता है, जिसके हर पहलू पर एक नई ताजगी का अनुभव किया जा सकता है, जिसके हर विचार में प्राचीन का निचोड़ और नवीन की कल्पना का आलीशान दुर्ग होता, वह दुर्ग जिसमें नई और ताजी हवा के आने के लिए रोशनदान हैं, जिस पर नई मंजिल में बनाने के लिए स्थान छोड़े गये हैं।

६. रूढ़ियाँ नये विचारों के मार्ग में आने वाली वह दीवारें हैं कि जिन्हें तोड़े बिना आज का समाज आगे बढ़ ही नहीं सकता। रूढ़ियों का मोह समाज को रूढ़ियों का गुलाम बना देता है। यह गुलामी समाज की आँखों पर वह रंगीन चश्मा चढ़ा देती है जिसके शीशों में से सही चीज को देखना और परखना

असम्भव हो जाता है। इन शीशों के रंग से वस्तु के रंग को समझाना कठिन है। वस्तु से पहले शीशों का प्रभाव पारखी पर पड़ता है।

७. रूढ़ियाँ सामाजिक जिन्दगी का एक ऐसा ढाँचा तय्यार करती हैं जिसके अन्दर मानव की जिन्दगी चाल ढाल, वेशभूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, धार्मिक तथा सामाजिक आस्थाएँ इत्यादि के क्षेत्र में संतुलित हो जाती हैं। नियमों को काट-छाँटकर कुछ ऐसा बना दिया गया है कि मानो रैडी-मेड कपड़ों की दूकान है और उस पर जाकर अपने शरीर के अनुसार वर्दी पहन ली जाय। रूढ़ियाँ समाज में रहने वाले व्यक्ति को अपने शरीर के अनुसार दर्जी से नया सूट सिलाने का अधिकार नहीं देतीं; वह कहती हैं कि जो कुछ सिली-सिलाई वर्दियाँ उनके पास हैं, उन्हीं से काम चलाया जाना चाहिए। जो मनचले सुधारक रूढ़ियों की इस परम्परा का विद्रोह करते हैं उन्हें अधार्मिक, असामाजिक, अनैतिक इत्यादि उपाधियों से आभूषित किया जाता है।

परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न सुधारकों ने कभी भी इन रूढ़ियों की चिन्ता नहीं की। वे लोग कभी भी अपने को इनमें बाँधकर नहीं चल सके। उन्होंने अपने नियम निर्धारित किये और एक समय आया जब लोगबाग पुरानी रूढ़ियों को भूल गये और इन सुधारकों की प्रणालियाँ नियम-स्वरूप ग्रहण की गईं। गौतम बुद्ध, जिसने अपने काल की रूढ़ियों के विरुद्ध एक बुलन्द आवाज उठाई और जो अपने समाज का सबसे बड़ा धार्मिक तथा सामाजिक रूढ़ियों का शत्रु रहा, उसे ही बाद में भगवान् बुद्ध की उपाधि मिली और अवतार स्वरूप समाज में उसे ग्रहण किया गया।

८. प्राचीन रूढ़ियों को बिना विचारे मान्यता देने का अर्थ है भविष्य में विचारकों की विचारधारा को रोक देना, उस पर प्रतिबन्ध लगा देना। यह प्रतिबन्ध मानव मात्र के लिए अकल्याणकारी है और विचार-शक्ति के मार्ग में एक रुकावट है। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति कभी भी इन मान्यताओं के सामने बिना समझे और उन पर बिना विचार किये सिर नहीं झुका सकते। रूढ़िवादी मान्यताओं को ज्यों का त्यों मान लेना विचार-शील समाज की प्रगति पर वह प्रतिबन्ध है कि जो जीवन की सुख तथा शांतिमूलक समस्याओं पर विचार करने के लिए कभी भी अग्रसर नहीं होने देगी।

क्या भारतीय खेती का उद्योगीकरण होजाना चाहिए

पक्ष :

१. खेती भारत का प्रधान व्यवसाय है। आज की बढ़ती हुई आबादी के लिए पर्याप्त अन्न उत्पादन के लिए प्राचीन हल-बैल तक ही खेती को सीमित रखना हानिकारक है। फिर आज के युग में जो नई भूमि तोड़ी गई है और आधुनिकतम खादों का प्रयोग करके उसे उपजाऊ बनाया गया है, यह सब बिना ट्रेक्टर्स की सहायता के असम्भव है। इसलिए अधिकाधिक उत्पादन के लिए खेती का उद्योगीकरण नितान्त आवश्यक है।

२. छोटे-छोटे खेतों की खेती और अपनी जरूरियात का सामान पैदा कर लेना एक बात है और बड़े-बड़े फार्मों में विशेष प्रकार की खेती का आयोजन दूसरी बात। बड़े फार्मों की खेती के लिए आधुनिकतम औजारों और तरीकों को काम में लाने की आवश्यकता है। वरना वह सफल हो ही नहीं सकता। यही सफलता इस व्यवसाय का उद्योगीकरण है। बंजड़ों की तुड़ाई, जमीन का हमवार करना, उसके अन्दर खुदरा पैदा होने वाले झाड़-झकाड़ों को समूल नष्ट करना और फिर उससे लहलहाती हुई गेहूँ, धान इत्यादि खाद्य-पदार्थों की फसलें लेना मामूली बात नहीं।

३. खेती के उद्योगीकरण से बहुत से बीच के आदमियों (middle men) की आवश्यकता समाप्त हो जायगी। अन्न की महँगाई कम होगी और उसकी पैदावार में असाधारण वृद्धि होगी। खेती में काम करने वाले मजदूरों की आय बढ़ेगी और उनका जीवन-स्तर ऊँचा होगा। साथ ही उनकी पिछड़ी हुई जानकारी को भी तरक्की का अवसर मिलेगा और वह आधुनिकतम खेती के तरीकों से भिज्ञ होकर इस दिशा में अधिकाधिक लाभदायक सिद्ध होंगे।

४. खेती में मशीनों के इस्तेमाल से जमीन का जितना लाभ उठाया जा सकता है उतना खेती को घरेलू उद्योग की भाँति समझते रहने से सम्भव नहीं। खरीद और फरोख्त में बीच का आदमी निकल जाने से अन्न इस्तेमाल करने वाली देश की जनता को लाभ होगा।

५. जहाँ तक खेती के प्रबन्ध का सम्बन्ध है वह भी इसके उद्योगीकरण के साथ-साथ व्यवस्थित होता जायगा। भारत में आज की खेती के समान खेतों को जंगली जानवरों से असुरक्षित नहीं रहने दिया जायगा। उनके चारों ओर कांटेदार तार या अन्य किसी प्रकार की बाड़ लगाकर उसे नष्ट करने वाली शक्तियों से सुरक्षा

प्रदान की जायगी। खेती कटने के पश्चात् भी लाँख (कटी हुई खेती) को यों ही मौसम की मार के सामने गलने, सड़ने, उड़ने और बर्बाद होने के लिए भाग्य के सहारे नीले आसमान के नीचे ढेर लगाकर नहीं छोड़ दिया जायगा। उसके लिए बाकायदा शेड होंगे जिनमें उसे सुरक्षा के साथ सुखाकर उसका अन्न और भूसा पृथक्-पृथक् किया जायगा, मौसम की मर्जी से नहीं अपने औद्योगिक यंत्रों की सहायता से। इससे खेती के उत्पादन में वृद्धि होने के साथ-ही-साथ जो पैदावार हुई है उसके भी सुरक्षित रखने का पूरा प्रबन्ध हो जायगा।

६. खेती के उद्योगीकरण से खेती की चीजों को सुरक्षित रखने, सही मंडी में माल लेजाने और उचित मूल्य प्राप्त करने की भी सही व्यवस्था बन सकेगी। किसान को अपनी मेहनत का पता होगा, उसका कुछ हिसाब होगा। यों ही जो पैदा हुआ साल में खा लिया वाली समस्या तक ही वह सीमित नहीं रहेगा। उससे आगे जीवन की व्यवस्था का भी उसे अवसर मिलेगा। खेती के वैज्ञानिक तरीकों से जानकारी प्राप्त करके वह उन्नति करेगा।

७. खेती के उद्योगीकरण से खेती का मजदूर अधिक धनोपार्जन कर सकेगा, यह हमने ऊपर कहा। इसके फलस्वरूप खेती छोड़कर खेती के मजदूर की अन्य व्यवसायों की ओर लपकने वाली प्रवृत्ति का अन्त हो जायगा, बल्कि जो मजदूर इसे छोड़कर चले भी गये हैं वे फिर इस ओर लौट आयेंगे।

८. आज खेती का व्यवसाय हमारे देश में बिना पढ़े-लिखे लोगों के हाथ में है। यह दुर्भाग्य की बात है। खेती के क्षेत्र में होने वाली नवीनतम वैज्ञानिक खोजों का वह लाभ ही नहीं उठा सकते। उन्हें अपने तरीके बदलते जोर पड़ता है, भय प्रतीत होता है, घबराहट होती है। खेती के उद्योगीकरण के साथ-साथ यह अनभिज्ञता के फलस्वरूप जो खेतीहर की घबराहट है वह दूर हो जायगी। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों को पकड़ने की पहुँच उनमें जागरूक हो उठेगी और इससे राष्ट्र का महान् हित होगा।

९. बिजली के प्रसार और सरकार के नये प्रयत्नों से खेती के उद्योगीकरण में बहुत सहयोग मिलेगा। बिजली के कुओं से उन जमीनों को भी उपजाऊ बनाया जा सकेगा जो पहले खाली (unproductiul) थीं और जहाँ पानी का कोई प्रबन्ध नहीं था। देश के आज बहुत से भागों में बिजली के कुओं का इस्तेमाल प्रारम्भ हो गया है और उसने अन्न की वृद्धि में बहुत बड़ा सहयोग प्रदान किया है। पानी के अतिरिक्त बिजली खेती के और भी बहुत से कामों में आती है और उससे खेती को बहुत लाभ हुआ है।

१०. खेती के पुराने तरीकों को अपनाने वाले किसान कभी भी राष्ट्रहित की बात बड़े पैमाने पर नहीं सोच सकते। क्योंकि वे लोग राष्ट्र के एक मुख्य अंग हैं

और उनकी उदर-पूर्ति उनकी खेती द्वारा होती है। बस, यही उनका बहुत बड़ा सहयोग है। ये लोग जो फ़सलें बोते हैं वह वही होती हैं जिनसे ये तुरन्त लाभ लेना चाहते हैं। लम्बी बातें ये बेचारे सोच ही नहीं सकते। राष्ट्र के विचार से लम्बी स्कीमों पर विचार करना उद्योगपतियों का ही काम है।

११. औद्योगिक खेती में पैदावार अधिक, फ़िजूल बर्बादी (wastage) कम, और सही सुरक्षा का प्रबन्ध हो सकेगा। खेती में पैदा होने वाली बीमारियों की भी देख-भाल का इन्तजाम किया जायगा जिससे वह फ़सलें उन्हें नष्ट करने वाले कीड़ों से हिफ़ाजत प्राप्त कर सकेंगी।

१२. भारत जैसे विशाल देश में जहाँ जमीन की कमी नहीं, वहाँ अन्न की कमी हो जाती है। इसका प्रधान कारण यही है कि यहाँ की जमीन पर जो खेती होती है उसके तरीके पुराने हैं और आधुनिकतम मशीनों तथा खाद इत्यादि का प्रयोग कम किया जा रहा है। बहुत सी भूमि जिससे बड़ी-बड़ी फ़सलें ली जा सकती हैं वह बेकार पड़ी हैं और बहुत सी ज़मीन जिससे फ़सलें ली भी जा रही हैं। वहाँ नये प्रकार की खेती, खाद और पानी की सुविधा न होने से जितनी उपज होनी चाहिए उतनी नहीं हो पाती। खेती भारत का प्रधान व्यवसाय होने पर भी इसके उद्योगीकरण की तरफ़ अधिक ध्यान नहीं दिया गया। खेती के उद्योगीकरण से खेती पेशा जनता की दशा सुधरेगी, पैदावार बढ़ेगी, देश अन्न की दिशा में स्वावलम्बी होगा और अपनी समस्याओं को तब सही रूप में समझने और परखने में कामयाब होगा।

विपक्ष :

१. किसी भी दिशा में उद्योगीकरण का अर्थ है आदमी की शक्ति को मशीनी शक्ति में बदल देना अथवा जिस कार्य को पाँच व्यक्ति करते हैं उसे मशीन की सहायता से एक आदमी का कर लेना। यह प्रवृत्ति उस देश में तो सही गिनी जा सकती है जहाँ जनसंख्या कम और अन्य साधनों का आधिक्य है। उदाहरणार्थ; इंगलैंड जैसे देश में उद्योगीकरण वहाँ की जनता को खुशहाल बनाने में लाभदायक सिद्ध होगा परन्तु भारत जैसे देश में इस प्रकार का उद्योगीकरण कभी भी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता।

२. हिन्दुस्तान की आबादी हिन्दुस्तान की पूँजी है। इस पूँजी का उपयोग न करके इसके स्थान पर बेजान—मशीनों का इस्तेमाल करके और इन्हें बेरोजगार बनाकर दर-दर का भिखारी बनने के लिए छोड़ देने वाली उद्योगीकरण की नीति भारतीय वातावरण में अशुभ, अजनहितकारी और अशांति फैलाने वाली होगी। यह नीति भारत के हित में नहीं जा सकती।

३. खेती भारत का प्रधान व्यवसाय है। यहाँ की अधिकांश जनता को इसी से रोटी और कपड़ा मिलता है। खेती का उद्योगीकरण इनमें से बहुत से लोगों को बेकार और बेरोजगार बना देगा। इसके फलस्वरूप देश का वातावरण विक्षुब्ध होगा और अशांति फैलेगी। जब तक देश में अन्य व्यवसाय इतने अधिक न हो जायँ कि खेती के उद्योगीकरण के फलस्वरूप बेरोजगार हो जाने वाले लोगों को उनमें खपाया जा सके तब तक खेती के उद्योगीकरण की बात सोचना मूर्खतापूर्ण विचार है।

४. खेती एक व्यक्तिगत धंधा है। नौकरों द्वारा कराई गई खेती बहुत कम कामयाब होती है। बड़े-बड़े रईसों और संस्थाओं ने इस दिशा में कदम बढ़ाया है तो रईस को तो अन्त में सूदखोर महाजन बन जाना पड़ा है और संस्थाओं ने काम बन्द कर दिया है।

५. जब व्यक्ति कोई कार्य अपने लिए करता है तो उसका काम करने का मन और होता है, उसकी शक्ति और होती है, उसकी साधना और होती है, उसका साहस और होता है और ईमानदारी तथा महत्वाकांक्षा और होती है, परन्तु यह सभी ताकतें अपने एक-से ही पैमाने पर नौकरी करते समय नहीं चल सकतीं। खेती का उद्योगीकरण होने पर खेती का काम अधिकांश में अपने लिए न किया जाकर नौकर के बतौर किया जायगा। इस दशा में यह सम्भव हो सकता है जब उद्योगीकरण द्वारा संचालित फार्म का हर नौकर अपने को उसका मालिक समझे। और यह आज की परिस्थिति में असम्भव है, इसके असम्भव होने का अर्थ वह हुआ कि भारत की वर्तमान स्थिति में खेती का उद्योगीकरण देश के लिए महान् हानिकारक साबित होगा।

६. व्यक्तिगत किसानों को खेती में सहायता देना खेती और अधिक अन्न उगाने के लिए लाभदायक होगा, न कि उनकी सब जमीनों को एक जगह जकड़ कर उनका उद्योगीकरण कर दिया जाय।

७. बिजली इत्यादि का लाभ, अच्छे खादों का लाभ, अच्छे खेती के तरीकों का लाभ समान रूप से आज भी उठाया जा सकता है और उठाया जा रहा है और हम नहीं समझ सकते कि इसका कोई कारण विशेष है कि उद्योगीकरण के पश्चात् उसका कोई खास लाभ उठाया जा सकेगा।

८. हमारे देश की अधिक जनता हमारी बहुत बड़ी पूँजी है, इस पूँजी का सही उपयोग हम उद्योगीकरण में नहीं कर सकते। इसका लाभ तो इसी में है कि यह काम पर जुटे और उसे काम करने के साधन मिल सकें। साधनों को कम कर देने में आज भारत का हित नहीं है। उनके बढ़ने में ही देश की जनता का हित है।

९. बड़े-बड़े फार्म वाले उद्योगपति फुटकर फसलें न बोकर कुछ विशेष चीजों की खेती करते हैं। यह कार्य वह अपनी सुविधा के अनुसार करते हैं। इससे यह

होता है कि बहुत-सी आवश्यक चीजों का लोप हो गया। छोटे स्केल (पैमाने) पर खेती करने वाले लोग सभी चीजों की फ़सलें विशेष रूप से अपनी आवश्यकता के अनुसार बोते हैं। जैसे किसान अपने इस्तेमाल की कपास, गन्ना, गेहूँ, जौ, मकी, बाजरा, सब्जी, सन, दालें इत्यादि सभी कुछ बो लेता है इससे हमारे देश का बहुत बड़ा समाज सर्वदा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सफल (Self sufficient) रहता है। इससे देश के आर्थिक जीवन में एक बड़ी भारी शांति है।

आज भारत में खेती का उद्योगीकरण करना इस शांति को भारी ठेस पहुँचाना है, गलत है।

१०. खेती के क्षेत्र में आया हुआ कोई भी उद्योगपति जल्द से जल्द ज़मीन से अधिकाधिक लाभ उठाने की कोशिश करता है। इससे जमीन की जान निकल जाती है। और वह जितना लाभ दे सकती थी उतना लाभ उठाने की इस प्रकार खेती के उद्योगीकरण से जमीन की स्थायी हानि होने का भी भय है। एक छोटा किसान अपनी ज़मीन की कद्र करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वह अपनी औरत की कद्र करता है; हल बैलों की कद्र करता है। ज़मीन का संवारना; खाद देना, पानी देना, यह सब वह स्वयं करता है और उसकी मिट्टी को गुदाली देकर उसे हर समय जानदार रखता है। एक माली जिसके पास किसान से भी कम ज़मीन होती है, और उसे अपने परिवार का पालन-पोषण उसी खेत से करना होता है तो वह उस खेत की और भी अधिक सेवा करता है।

११. जो किसान जनता के पास सीधा पैदावार का अपने गुज़ारे से बचा हुआ अनाज नहीं पहुँच पाता उसे कोआपरेटिव सोसाइटियों या सरकारी संस्थाओं का सहयोग अपने इस कार्य के लिए लेना चाहिए। माल पैदा करना और उसे सही ग्राहक तक पहुँचाना इसी में काम की सफलता है। अच्छे बीज तथा अन्य आवश्यक बातों के लिए खेती का उद्योगीकरण होना कोई ज़रूरी नहीं। हिन्दुस्तान में अच्छे किस्म की खेती इसी प्रकार हो सकती है।

बड़ी मशीनों ने मानव-हित की अपेक्षा अहित अधिक किया है

पक्ष :

१. बड़ी मशीनों के बनने से बहुत से काम, जिन्हें करने के लिए बहुत से काम करने वालों की आवश्यकता थी, आज थोड़े ही व्यक्तियों द्वारा संचालित होने लगे। इसके फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ी है और बहुत से लोगों को समय-समय पर बेरोजगारी का शिकार बनना पड़ा है। बड़ी-बड़ी कपड़े की मिलों के खुल जाने से

लाखों जुलाहे बेरोजगार हो गये, गन्ने की मिलों के खुल जाने से गुड़ और खाँड के व्यवसाय में लाखों काम करने वाले लोग बेरोजगार हो गये। सर्दी के मौसम में गुड़ बनाने के कोल्हुओं में भट्टी के सहारे बैठकर बहुत से गरीब लोग अपनी रात गुजार देते थे, वह सहारा उनके हाथ से छिन गया। भारत जैसे देश में मशीनों ने इन्सान को बेरोजगार बनाने और परेशानी में डालने के अन्दर बहुत बड़ा सहयोग दिया।

२. बड़ी-बड़ी मशीनों और कल-कारखानों के खुल जाने से पूँजी अपना विकराल रूप लेकर सामने आई। अमानवीय और शोषण की भावना से प्रेरित महत्त्वाकांक्षी और ऐश पसंद जमायतों ने इन मशीनी ताकतों को हस्तगत कर मजदूरों को पीसा और उनकी हड्डियों से फौलाद निकालकर अपने गढ़ तय्यार किये। आदमी आदमी के बीच खन्दक खुद गई। आपसी लिहाज और सहयोग की भावना का धीरे-धीरे लोप हो गया और मिलों के बड़े-बड़े प्रेत अमीर गरीब की भावना के बीच जमकर खड़े हो गये और उन्होंने देश के वातावरण को दूषित कर दिया। अनेकों प्रकार की सामाजिक बुराइयाँ समाज में पैदा होने लगीं।

३. प्रश्न सामने यह आता है कि आज इस मशीनों के युग ने क्या आदमी की मेहनत में कोई सहयोग दिया? ऐसा प्रतीत नहीं होता। आदमी आज भी चिंतित है और उतनी ही मेहनत करने पर भी जितनी कि वह पहले करता था। उसकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। जोहन स्टुआर्ट मिल लिखता है—
"Hitherto it is questionable is all the mechanical inventions yet made have lessened the day's toil of any human being"

४. मशीनों के बन जाने से वास्तविक कला का ह्रास हुआ है। हाथ की वह लाजवाब कारीगरी जिसकी शोहरत से आज हमारा कलेजा फूल उठता है आज लाबाब हो गई। ढाके की मलमल का नामोनिशान भी आज दिखलाई नहीं देता। इसी तरह और अनेकों प्रकार के कशीदे की चीजों का लोप हो गया। मशीनों ने सच पूछो तो पुरानी सभ्यता का काया-पलट कर डाला। मिलों में बनी चीजों के साथ-साथ लोगों की जिन्दगी भी एक साँचे में ढलनी प्रारम्भ हो गई। लोगों की जिन्दगी का वह स्वाभाविक विकास रुक गया जो मिलों की नामौजूदगी में होता था।

५. मिलों में काम करने वाला व्यक्ति आज मिल का एक पुर्जा बन गया है। जब वह पुर्जा अपनी जगह फिट हो जाता है तो काम देने लगता है अन्यथा वहाँ से हटा और बेकार हुआ। फिर उसका कोई मूल्य नहीं। वह मशीन है तो उसके जीवन का कोई मूल्य है और यदि वह मशीन नहीं तो उसके जीवन का

कोई मूल्य नहीं, कोई कीमत नहीं। मतलब यह हुआ कि आदमी मशीन का गुलाम बन गया।

६. मशीन पर काम करने वाले मजदूर की जिन्दगी का इन्सानी लुत्फ़ जाता रहा। सुबह से शाम तक एक खास तरीके पर उठने, बैठने, चलने, फिरने, पहनने, काम करने और सो जाने का उसका कार्यक्रम बन गया। इसे कार्यक्रम कहो या गुलामी का शिकंजा जिसके बन्धन से वह मुक्त नहीं हो सकता। उसके मस्तिष्क और हृदय का स्वाभाविक विकास रुक गया या यों कहो कि उसके पास मस्तिष्क और हृदय को इस्तेमाल करने के लिए समय ही नहीं रहा। वह फँसा जो रहता है हर समय अपने मशीनी कार्यक्रम के जंजाल में।

७. बड़ी-बड़ी मशीनों के लग जाने से शहरों का सौंदर्य नष्ट हो गया। उनकी चिमनियों से निकलने वाले धुँए ने शहरों के वातावरण को दूषित कर दिया। नगर के रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य को खराब कर दिया। बहुत सी मिलों ने तो बे-इन्तहा गन्दगी फैलाई है। उदाहरणार्थ, यदि आप गन्ने की मिलों को लें तो इनकी बदबू ने तो आस-पास के देहातों को भी खराब कर दिया है। उनके शीरे की बदबू से इर्द-गिर्द के रहने वाले नर्क लोक के वासी बन जाते हैं।

८. मशीनों के बन जाने से ही विश्व-युद्ध की सम्भावनाएँ विश्व के सामने आईं और वह हुए भी। आज के एटम बम और हाइड्रोजन बम मशीनी विकास के ही फल हैं जिनके आविष्कारों ने विश्व की सभ्यता के संरक्षकों को हिला दिया है। यदि मशीनों की ओर मनुष्य न झुकता तो उसकी दानव-शक्ति इतने प्रखर रूप से आज सामने न आती। जिन मशीनों का आविष्कार मनुष्य के सहयोग के लिए हुआ उनका योग विश्व के विनाश में देखकर आज मशीनों के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। मशीनों के योग ने हाइड्रोजन बम का निर्माण करके यह स्पष्ट कर दिया की मशीनी सहयोग से विश्व का वैज्ञानिक पागल बनकर विनाश की तरफ चला। एटम शक्ति की खोज तक यह भ्रम हो सकता था कि वह शायद निर्माण के लिए हो परन्तु हाइड्रोजन तुमने इस प्रश्न को स्पष्ट कर दिया। इस प्रकार मशीनों ने मानव की युद्ध-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है।

९. मशीनों के बन जाने से मनुष्य-जाति के जीवन में एक गति उत्पन्न हुई। यह गति भाग-दौड़ में बदल गई। इस दौड़ में कुछ छोटी ताकतें आगे निकलीं और उन्होंने अपने साथी मानव को दुनिया के हर तख्ते पर खोज-खोज कर गुलाम बनाया।

जब तक मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था तब तक जिन जातियों ने विदेशों पर आक्रमण भी किया तो वहीं पर फिर उन्हें बसेरा करना पड़ा। और कुछ दिन बाद वह उनमें घुल-मिलकर एक हो गये। उन पर मशीनों का प्रभाव

नहीं था। लेकिन मशीनी व्यापार की चालबाजियों से लैस होकर ज्यों ही मशीनों का पुजारी सामने आया तो विश्व पर साम्राज्यवादियों का आतंक छा गया। मानव मशीनी शक्ति के नीचे दब गया। परन्तु यह स्थिति अधिक काल तक नहीं चल सकती थी। जमाने ने फिर करवट ली, दबे हुए देशों में जनता की भलाई सोचने वाले शक्तिशाली नेताओं ने जन्म लिया। लैनिन ने रूस में और महात्मा गांधी ने भारत में। लैनिन ने विश्व के मजदूरों की उन्नति के लिए उन्हें सचेत किया। उनके अधिकारों की याद दिलाई और उन्हें प्राप्त करने की उनमें शक्ति भरी। महात्मा गांधी ने भी भारत को स्वतंत्र कराया और जन-आंदोलन द्वारा देश की जनता को जागया।

यह सब जो कुछ भी हुआ उसकी बुराई का सेहरा मशीनों के ही माथे बांधना उचित होगा।

विपक्ष :

१. मशीनों के आविष्कारों ने मनुष्य के जीवन को जंगली जानवरों से ऊपर उठाकर दैनिक शक्तियों के समकक्ष बिठला दिया है। मशीनें आज के मानव की वे लाजवाब सहेलियाँ हैं जिनके सहयोग और साथ से वह अनथक कार्य करता हुआ बिना श्रम अनेकों आदमियों जितना कार्य कर सकता है।

२. रेडियो के आविष्कार ने मनुष्य की आवाज को अपने सीने में छिपा समेटकर इस तरह सुरक्षित कर लिया है कि वह जब चाहे उस आवाज के प्रेमियों तक उसे पहुँचा सकता है। यह आज की मशीनों की ही देन है कि हम रिकार्डों द्वारा अपने देश के महान् नेता महात्मा गांधी को भी जब चाहें अपने बीच बोलताँ सुन सकते हैं। यदि प्राचीन काल में भी यह सुविधा रही होती तो हमारे ऋषि-मुनियों की अमूल्य वाणी और गीता जैसा उपदेश हमें सुनने को मिल जाता।

३. रेलों तथा याता-यात की आधुनिकतम मशीनों में विश्व को एक सूत्र के अन्दर बाँधने में सहयोग दिया है। रेडियो भी इस दिशा में बहुत सहयोगी यंत्र साबित हुआ है। हवाई जहाज़ से दुनिया भर में चन्द दिन के अन्दर घूम आना साधारण बात होगई है। आज समस्त संसार एक देश बन गया है और समस्त मानव-जाति एक बराबर है। यह कहना गलत है कि मशीनों ने मनुष्य को मनुष्य पर जुल्म करना सिखलाया। हमारा कहना यह है कि मशीनों के सहयोग से यह विषमता कम होती जा रही है। आज का जमाना रंग-भेद की दुनिया, साम्राज्यवाद की भावना इत्यादि पुरानी मान्यताओं का विरोध इन मशीनों की रोशनी में बैठकर और सुविधा पाकर ही सीखा है।

४. आज मशीनों में ही यह ताकत है कि वह राष्ट्र के किसी भी अभाव की

कम से कम समय में पूर्ति कर सकती हैं। खेत में ट्रेक्टरों की खेती से जल्द और घनी पैदावार हो सकती है। मिलों में उन पैदावारों से जल्द से जल्द सामान तय्यार हो सकता है और उस तय्यार सामान को जल्द से जल्द कमी वाली दिशाओं में भेजा जा सकता है। उत्पादन, तय्यारी और वितरण जितना शीघ्र मशीनों द्वारा करके किसी कमी का सामना किया जा सकता है उतना शीघ्र हाथ से काम करने पर पुराने तरीकों की डुगडुगी हाथ में लिये मदारी बनने से नहीं किया जा सकता।

५. युग की प्रवृत्तियों को समझकर चलने वाला कोई व्यक्ति यदि और पीछे लौट चलने की सलाह देता है तो वह मानवीय ओज और आगे बढ़ने की शक्ति से शून्य है। प्रगति प्रकृति का नियम है। आगे बढ़ने में बहुत सी उथल-पुथल होती है और उन उथल-पुथलों पर बलिदान चढ़ाना होता है। मानव आगे बढ़ने चला है। उसके इस बढ़ने में हो सकता है कुछ नष्ट भी हो परन्तु जब उसे नया महल बनाना है तो वह पीछे छूट जाने वाले झोपड़ों को किस तरह अपने साथ समेटकर चले, और क्यों? मशीनों के सहयोग ने निश्चित रूप से मानव के विकास में सहयोग प्रदान किया है।

६. बड़ी मशीनों के आविष्कार और प्रयोगों से बहुत छोटे हाथ के कामों का मार्ग खुल गया है। छोटे-छोटे बहुत से कारखाने बन गये जिनमें लोगों को रोजगार मिला और उनका अव्यवस्थित जीवन एक शृंखला में बँधकर अधिक शांति और पारिवारिक सुख के साथ चलने लगा। आदमी पर जिम्मेदारियाँ आईं और उसने उन्हें निभाकर एक परिवार का ढाँचा खड़ा किया। इस ढाँचे को आगे बढ़ाने में मशीनों का बहुत बड़ा सहयोग है।

७. मशीनों पर काम करने वाले और कराने वालों का जो झंझट है वह परिस्थिति-वश जैसे पैदा हुआ है वैसे ही समाप्त भी हो जायगा। पूँजीवादी और समाजवादी शक्तियाँ आज पारस्परिक संघर्ष पर हैं। मशीनों की शक्ति दोनों के पास है। एक ओर उसपर जनता का नियंत्रण है और दूसरी ओर उस पर कुछ पूँजीवादियों का। जनता की शक्ति अमिट है क्योंकि वह मानव के अधिक निकट है और मानव ने ही तो मशीनों को बनाया है। यदि प्रलय-काल नहीं आ गया है तो विजय जनता की ही होगी।

८. मशीनों के बनने से मनुष्य को निश्चित रूप से आराम मिला। खेती, उद्योग, व्यापार—कभी किसी दिशा में भी कोई मनुष्य कार्य करे उसके कार्य में मशीनें अपना स्थान रखती हैं। पानी के नल, बिजली की रोशनी, मोटर और रेलें वह ऐसी चीजें हैं जिनसे बहुत से लोगों को फायदा पहुँचता है। इनसे आगे बढ़कर फिर हर दिशा के कामों के लिए प्रथक्-प्रथक प्रकार की मशीनें हैं और उन सब में न जाने कितने आदमी काम करते हैं। मशीनों ने लोगों को काम से हटाया नहीं

बल्कि उन्हें काम पर लगाया है, उन्हें काम की नई दिशाएँ दी हैं।

९. मशीनों द्वारा बनाई हुई चीजें मज़बूत होती हैं, साफ़ होती हैं और साधारण लोगों के इस्तेमाल के लिए बहुत पसंद की जाती हैं। हाथ की बनी चीजें कला की दृष्टि से हो सकता है बहुत ऊँचे दर्जे की हों परन्तु उपयोग की दृष्टि से उनका महत्त्व मशीनों से बनी चीजों की अपेक्षा बहुत कम है। न उनमें उतनी सफाई ही आ सकती और न वह उतनी कम कीमत में ही तय्यार की जा सकती हैं जितनी में कि मशीनों पर तैयार की जा सकती हैं। मशीनों द्वारा कम कीमत पर बनी वस्तु अधिक आदमियों को लाभ पहुँचा सकती है।

१०. यह कहना बिलकुल असत्य है कि मशीनें युद्ध को लाती हैं मशीनों को मनुष्य बनाता है और वही आपस में लड़ने की बातें भी सोचता है। मशीनें स्वयं लड़ने के लिए नहीं कहतीं। वह सुरक्षा भी चाहती हैं। जहाँ एक ओर आक्रमण-कारी मशीनों का प्रयोग अपने युद्ध-कार्यक्रम के लिए करता है वहाँ रक्षा करने वाला भी उन्हीं मशीनों का सहारा लेता है और पराजय अधिकतर आक्रमणकारी की ही हुई है। नेपोलियन और हिटलर इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

११. सामाजिक जीवन में समानता स्थापित करने और एक सुन्दर व्यवस्थित जीवन बनाये रखने में हमें मशीनों का सहयोग प्राप्त है। स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखने में मशीनों का बहुत भारी सहयोग है। जीवन को व्यवस्थित बनाकर सुसंचा-लित करने की शक्ति मशीनों में है और इस व्यवस्था को देकर मानव को सुसंस्कृत बनाने में इन्होंने बहुत बड़ा योग दिया है।

देशों का अधिक शस्त्रीकरण विश्वशांति में बाधक है

पक्ष :

१. अधिक शस्त्रास्त्रों के बनने और अधिक फौजें इकट्ठा होने से देश और राष्ट्रों में अंधी ताकत का बोलबाला हो उठता है। देश की बागडोर देश के विचा-रकों के हाथों से निकलकर वहाँ की सेना के हाथों में चली जाती है। झूठा देश-प्रेम जिसमें व्यर्थ का अभिमान भरा रहता है देश में उभर उठता है और इस झूठे अभिमान में फँसकर देश निर्माण की दिशा में न सोचकर विनाश की दिशा में सोचना प्रारम्भ कर देता है।

२, किसी भी देश में अधिक शस्त्रास्त्रों की तैयारी को देखकर उसके आस-पास के देशों का वातावरण भी प्रभावित हो जाता है। उनके मन में उस देश के प्रति शंकाएँ उत्पन्न होने लगती हैं और आपस में विश्वास के स्थान पर अविश्वास

की भावना को प्रश्रय मिलता है। आपस में वैमनस्य अन्दर ही अन्दर उभरने और पनपने लगता है। पड़ौसी देश भी अपना ध्यान क्रियात्मक कार्यों से हटाकर इसी ओर झुक जाते हैं और इसके फलस्वरूप सभी देशों की वह प्रगति, जिसमें वह अपने विविध प्रकार की विकास-योजनाओं पर सोच रहे हैं, रुक जाती है। पागलों की भाँति देश, कुछ अपनी रक्षा तथा कुछ आक्रमणकारियों के साथ मिलकर कुछ लूट-खसोट करने के लिए, हथियारों की दौड़ में दौड़ पड़ते हैं। जिस का फल बुरा ही होता है।

३. हथियारों की दौड़ का कोई अन्त नहीं और अंत यदि कहीं है तो वह विनाश में है। हथियारों की उन्नति के साथ पारस्परिक वैमनस्य भी आगे बढ़ता जाता है। हथियारों के बनाने में कल-कारखाने, मजदूरी और कच्चे माल का इस्तेमाल होता है, यह सभी चीजें मनुष्य को अन्य आराम पहुँचाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में भी लगाई जा सकती हैं यदि आपस में एक दूसरे के आक्रमण या दबाव का भय न हो। हथियारों के लिए इनका इस्तेमाल करना मनुष्य की शक्तियों का अपव्यय करना है।

४. देशों के हथियारों की दिशा में बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जा सकता है। इसके लिए देशों के पंच फैसला का सहारा लेकर बड़ी-बड़ी शक्तियों को प्रयत्न करना चाहिए। यदि बड़ी शक्तियाँ इस दिशा में कदम न उठाकर उल्टी और अधिक हथियार बनाने में संलग्न रहीं तो निश्चित रूप से एक दिन वे विश्व के ध्वंस का कारण बनेंगी।

५. वाशिंगटन में जो मित्रराष्ट्रों का इकरारनामा लिखा गया था उसमें यह स्वीकार किया गया था कि संसार के देशों को सेना के भार से मुक्त किया जा सकता है। यह कार्य पंचों के सुपुर्द किया जा सकता है कि वह अपने फैसलों में बतलायें कि किस-किस देश को कितनी कितनी फौज की आवश्यकता है।

६. वाशिंगटन के इकरारनामे में बहुत से देशों ने एक साथ मिलकर इस समस्या पर विचार किया था। यह विचार काफी खुलकर किया गया, कुछ हद तक समय की गम्भीर परिस्थिति को समझते हुए सच्चाई के साथ किया गया। उद्देश्य की सफलता तक वह इकरारनामा न पहुँच सका परन्तु आज के युग में यूनाइटेड नेशन्स के सामने भी वही प्रश्न उसी गम्भीरता के साथ सुलझने के लिए खड़ा हुआ है।

७. आज विश्व के प्रायः सभी देशों पर हथियारों और फौजों का बोझा उनकी शक्ति की सीमा का उल्लंघन कर चुका है। कुछ देशों में तो वह गत महायुद्ध से पूर्व भी बहुत अधिक था। जो देश इसे कम करने की दिशा में विचार नहीं करेगा वह देश अपनी आर्थिक स्थिति खराब कर लेगा और उसकी जनता में

खुशहाली नहीं रह सकेगी। जो देश अपने को इससे मुक्त रख सकेंगे उनमें व्यापार, उद्योग-धंधे और खेती उन्नति करेगी। उसके पड़ौसी देश उससे प्रसन्न रहेंगे और उनकी उन्नति में सहयोग देकर हाथ बटायेंगे। पारस्परिक वैमनस्य, जो शक्ति के लिए स्वाभाविक है, जाता रहेगा।

८. हथियारों में कमी होने से यह निश्चित है कि विश्व में शांति की भावना को बल मिलेगा। पारस्परिक भय और आतंक समाप्त होने लगेगा और एक दूसरे के अन्दर विश्वास और सद्भावना जाग्रत हो उठेगी। युद्ध का वातावरण समाप्त हो जायगा और उसके साधनों की कमी के साथ-साथ उसकी सम्भावना भी नष्ट हो जायगी।

विपक्ष :

१. हथियारबन्दी युद्ध का कारण नहीं। यह ठीक है किसी देश को हथियारों की ओर बढ़ते देखकर एक सनसनी फैलती है, आतंक फैलता है, भय छाता है और इस प्रकार के विचारों का प्रसार होता है। परन्तु हथियारों और सेना बढ़ाने की योजना वहीं घबराहट की होती है जहाँ उस देश की नीति भी आक्रमण करने और साम्राज्य बनाने की हो।

२. हथियार और सेना की कमी का प्रस्ताव बहुत दिन से सामने है। मसला अहम है और इस पर विचार भी काफी गम्भीरता के साथ किया जा चुका है। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह विचार सब व्यर्थ है क्योंकि इन हथियारों तथा इनके प्रयोग करने वालों के तरीकों में आकाश-पाताल का अन्तर है। वास्तव में यदि गम्भीरतापूर्वक सोचा जाय तो इन हथियारों तथा सैनिकों की संख्या उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी कि महत्त्वपूर्ण उनकी शक्ति तथा ट्रेनिंग है।

३. नित्यप्रति नये-नये हथियार और नये लड़ने के तरीकों का आविष्कार हो रहा है। एक नये आविष्कार के सामने पुराने हजार तरीके व्यर्थ हो जाते हैं। ऐसी दशा में हथियारों या सैनिकों का कम कर देना क्या माने रखता है। इस दिशा में विश्व के विचारक कई बार विचार कर चुके और आज भी कर रहे हैं परन्तु अभी तक कोई ऐसा हल प्रस्तुत नहीं कर सके कि जो विश्व शांति के मार्ग में कोई सक्रिय सहयोग प्रदान कर सके।

४. वाशिंगटन-इकरारनामा कोई महत्त्वपूर्ण दस्तावेज साबित नहीं हो सकी। जिस उद्देश्य को लेकर वह चली उसकी पूर्ति उसके द्वारा नहीं हुई। पहले तो उसमें उस समय के ही बहुत से युद्ध सहायक मंत्री को अछूता छोड़ दिया गया था। फिर जो किया भी गया उस पर भी हस्ताक्षर करने वाले देशों ने अमल

नहीं किया । वह इकरारनामा केवल कागजों तक ही सीमित रह गया ।

५. आज के युग में प्रत्येक देश के पास एक सुसंगठित सेना और हथियारों का अच्छा-खासा कोष होना आवश्यक है । यदि कोई देश आक्रमणकारी बनकर विश्व को आतंकित करने की ठानता है तो निश्चित रूप से अन्य देशों की सेनाओं का प्रयोग उसके विरुद्ध किया जा सकता है और इस प्रकार सेना और हथियारों का हर समय रहना विश्व-शांति के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य है । आक्रमण-कारी का भी अन्य किसी देश की ओर आक्रमण के इरादे से बढ़ने का यही कारण होता है कि वह दूसरे से अपने को मजबूत मान बैठता है ।

६. सेना के सिपाही कभी भी लड़ाई पसंद नहीं होते । विशेष रूप से बड़े देशों के सिपाही काफी अमन पसंद होते हैं । लड़ाई का वातावरण सिपाहियों के कारण नहीं बनता वरन् वह तो देश की जनता या राजनीतिज्ञों के ही कारण बनता है ।

७. आज की दशा में किसी भी देश का निःशस्त्रीकरण नहीं किया जा सकता । शस्त्रीकरण देश और राष्ट्र की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मौसमों की सर्दी, गर्मी और बरसात से सुरक्षित रखने के लिए घर की आवश्यकता है, शरीर की रक्षा के लिए दो हाथों की जरूरत है । सेना और शस्त्रों को हटाकर वैदेशिक शांति की बातें तो दूर रहीं, अपने देश में भी शांति स्थापित करने में कठिनाई होगी ।

जन्म-मरण के सम्बन्ध में आवागमन का सिद्धान्त माननीय है

पक्ष :

१. जन्म-मरण सम्बन्धी समस्या के विषय में तीन प्रधान विचारधाराएँ प्रचलित हैं—

(अ) जीवन-मरण सम्बन्धी जड़वादी सिद्धान्त, जो किसी जमाने में विश्व भर में माना जाता था, आज उसे कोई नहीं मानता । आज का वैज्ञानिक भी इस सिद्धान्त का विरोध करता है ।

(ब) जीवन मरण सम्बन्धी दूसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक जीवधारी जन्म लेते समय एक नया प्राणी होता है । मरने के पश्चात् वह कब्र में कयामत तक लेटा रहता है और फिर खुदा के सामने उसे पेश होना होता है । वहाँ उसके कामों का लेखा-जोखा खुदा के सामने आता है और उसे उसके कामों के अनुसार बहिश्त या दोजख में भेजा जाता है ।

(स) तीसरा सिद्धान्त आवागमन का है जिसमें कर्म के अनुसार आत्मा शरीर धारण करती है और यह जन्म-मरण भी कर्म के आधार पर ही चलता है। तीसरा सिद्धान्त विकासवाद की थ्योरी से मेल खाता है और इसलिए वही अधिक मान्य है। पेड़, पौदे और जानवर एक समय पर पैदा होते तथा मरते हैं। फसलें एक निश्चित समय पर बोई और काटी जाती हैं। जीवन एक अवधि का नाम है जिसमें कि कार्य किया जाता है। कार्य करते-करते जब शरीर उसके अयोग्य हो जाता है तो आत्मा उस शरीर को उसी प्रकार छोड़ देती है जैसे फूटे घर को रहने वाला छोड़कर बाहर हो जाता है। मकान ढहने लगता है तो आत्मा किसी भी दरवाजे से निकलकर बाहर खड़ी हो जाती है।

२. पुनर्जन्म और कर्म की थ्योरी साथ-साथ चलती है, जिन्दगी का चर्खा इन्हीं दो सिद्धान्तों के आधार पर तीव्र और मन्द गति से चलता है और उसी के आधार पर इस विश्व में विभिन्न प्रगतियां दिखलाई देती हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर भाग्यवाद का भी निर्माण हुआ। संसार में आने वाला प्राणी अपने साथ परि-स्थितियों को भी लाता है। यह परिस्थितियाँ सब के लिए यकसां नहीं होतीं। परि-स्थितियाँ समय की होती हैं, स्थान की होती हैं, समाज की होती हैं, कर्म की होती हैं, राजनीति की होती हैं, गृहस्थ की होती हैं, घर की होती हैं और अन्त में व्यक्ति के स्वयं अपने हृदय, मन और मस्तिष्क की होती हैं, मनुष्य का जीवन इन सब परिस्थितियों में से होकर गुजरता है। वह इन परिस्थितियों को भी प्रभावित करता है और यह परिस्थितियाँ भी उस व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। कर्म-सिद्धान्त को मानने वाला आचार्य कहता है कि आत्मा को जन्म देते समय परमात्मा उसके पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार ही परिस्थितियाँ उसे प्रदान करता है। उन परिस्थितियों में वह कितना उछल-कूद कर सकता है यह उसकी अपनी क्षमता पर निर्भर करता है, और वह उसके लिए स्वतंत्र है।

३. ऊपर दी गई परिस्थितियों को यदि संसार-जन्य भी कह दिया जाय तब भी विशेष योग्यता और तीव्र बुद्धि की देने को हम किसी भी प्रकार संसार जन्य नहीं मान सकते। निरतर प्रयास से बुद्धि तीव्र होती है परन्तु इसमें भी बच्चों के अन्दर भेद पाया जाता है। यह भेद पूर्व-जन्मों के प्रयासों से सम्बन्ध रखता है। कुछ आत्म-तत्त्व के विद्वानों का मत है कि विचार-तत्त्व मृत्यु होने पर भी आत्मा के साथ ही जाता है और उसी का प्रभाव दूसरे जन्म में होता है।

४. पुनर्जन्म कोई नया सिद्धान्त नहीं है—पुराने जमाने के बहुत पहुँचे हुए विद्वानों ने इसे माना, अपनाया और प्रतिपादित किया है। भारत, ईजिप्ट, ग्रीस और रोम में मध्य युग से आज तक इस विचारधारा की पुष्टि मिलती है।

इस सिद्धान्त का प्रचार कुछ देशों में खुलासा करके किया गया और कुछ देशों में जनता को नासमझ समझते हुए केवल विचारकों तक ही इसे सीमित रखा गया। कुछ विद्वानों का मत है कि जेसस क्राइस्ट भी इस सिद्धान्त को अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं में मानते थे, और केवल यह समझते हुए कि साधारण लोग इसे समझ नहीं सकेंगे, उसे धर्म के आवश्यक सिद्धान्तों में स्थान नहीं दे पाये।

५. कुछ लोगों का यह मत कि उन्हें अपने पिछले जन्म की कुछ भी बातें याद नहीं, इस बात का प्रमाण नहीं बन सकता कि आवागमन का सिद्धान्त गलत है। हमें आज भी अपने बचपन की बहुत सी बातें याद नहीं। कालांतर में हम कुछ को भूल गये और कुछ उस समय की हैं जब हमारी विचार और स्मरण-शक्ति इतनी परिपक्व ही नहीं हुई थी कि हम किसी बात को याद रख सकें। हमें आज याद नहीं कि किस प्रकार हमने खाना खाना सीखा, सबसे पहले जब खाना सीखा तो क्या खाना खाया था, कब चलना और किस प्रकार चलना सीखा, कब और किस प्रकार बोलना सीखा इत्यादि। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह सब कुछ हुआ ही नहीं। हुआ यह अवश्य पर कालांतर में उनकी स्मृति ताजा न रह सकी।

६. इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त बिलकुल ठीक है। मृत्यु से केवल शरीर का नाश होता है। आत्मा के साथ उसका स्वभाव, वृत्तियाँ, बुद्धि इत्यादि सब चलती हैं। परिस्थितियों और सम्पर्क का उन पर प्रभाव पड़ता है। उनके आधीन आत्मा स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं और व्यक्ति की आदतों का निर्माण भी उन्हीं के आधार पर होता है। इसे ही हम कर्म-सिद्धान्त कहकर पुकारते हैं। कर्म का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है और इसी सांचे में मनुष्य का चरित्र ढलना प्रारम्भ हो जाता है।

विपक्ष :

१. पुनर्जन्म में विश्वास न रखने वाले लोग इस सिद्धान्त को कोरा सैद्धान्तिक (Speculative) मानते हैं। उनके विचार से इस सिद्धान्त की पुष्टि में काफी प्रमाण नहीं मिलते। उनका कहना है कि यह बिलकुल ही असम्भव-सा सिद्धान्त है जिसे कुछ विचारकों ने अपनी व्यर्थ की तर्क का सहारा देकर खड़ा कर दिया है।

२. यहाँ हमें इस सिद्धान्त के नैतिक रूप की पुष्टि पर विचार नहीं करना है। हमें तो केवल यही सोचना है कि आया यह ठीक भी है अथवा नहीं। विचारकों और इस सिद्धान्त के पुष्टिकर्ताओं ने इसका सम्बन्ध नैतिक सिद्धान्तों से जोड़कर इसकी प्रचारात्मक शक्ति को बल प्रदान किया है और लोगों की मान्यताओं में इसे

प्रविष्ट कराने का माध्यम खोज निकाला है। परन्तु सिद्धान्त की सचाई तक पहुँचने के लिए इसको नैतिकता से प्रथक् कर के विचार करना होगा अवतारवाद का सिद्धान्त पुनर्जन्म के मूल में आता है। इस सिद्धान्त को सभी धर्मावलम्बी मानते हैं। पुनर्जन्म का सिद्धान्त अवतारवाद का ही विकास कहा जा सकता है। अब सोचना यह है कि क्या बार-बार अवतारों के जन्म लेने पर मानवता उन्नति कर रही है ? हमें इस दिशा में काफी तरक्की, नैतिक उत्थान, उन्नत विचार दिखलाई देने चाहिएँ,—परन्तु सत्य इसके बिल्कुल विपरीत ही मार्ग दिखलाता है। नैतिकता के दृष्टिकोण से मानता महाभारत और रामायण युग से आगे नहीं बढ़ी। प्लेटू और अरस्तू तथा सोक्रेटीज के जमाने की सभ्यता भी आज ह्रास की ओर ही अग्रसर हुई है। यह क्यों ? क्या पुनर्जन्म बराबर ह्रास की ओर बढ़ रहा है। जब आत्मा की विचार-शक्ति उसके साथ जाती है तो उसे उन्नति की ओर अग्रसर होना चाहिए।

३. मनुष्य के मस्तिष्क और उसकी आत्मा की विशेषताएँ उसमें उसके माता-पिता से आती हैं। बच्चों में उनकी विशेषताएँ भी उनके संरक्षकों से ही आती हैं। माता-पिता का प्रभाव सबसे अधिक होता है, इसके पश्चात् बाबा, दादी, मामा, मामी, नाना, नानी और फिर पास-पड़ौसियों का भी प्रभाव चलता है। इनके पश्चात् साथ-संगत का प्रभाव पड़ता है। विद्यार्थियों पर उनके अध्यापकों, साथियों इत्यादि का प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार जीवन में व्यक्ति जिस-जिस के भी सम्पर्क में आता है, उसी का प्रभाव उस पर पड़ता है। उस पर भी प्रभाव पड़ता है और वह दूसरों को भी प्रभावित करता है। इस सब क्रम का पुनर्जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं। और यों खींचतान करने पर तो हर बात को पुनर्जन्म और कर्म की संज्ञा दी जा सकती हैं।

४. मनुष्य में विशेष योग्यता के होने का कोई सिद्धान्त विर्धारित नहीं किया जा सकता और न ही इसका कोई नियम ही बनाया जा सकता है किस-किस प्रकार का व्यक्ति बहुत काबिल होता है। परन्तु साधारणतया यह देखा गया है कि बहुत काबिल आदमी वही होते हैं जिन्हें काबिल बनने और अपनी काबलियत दिखलाने की सुविधा प्राप्त होती है। यह सुविधाएँ देना अधिकांश रूप में संरक्षकों पर ही निर्भर हैं।

५. सिद्धान्त की पुष्टि में यह प्रमाण प्रस्तुत करना कि अवतारवाद या पुनर्जन्म की मान्यता को सभी धर्मों द्वारा एक बहुत पुराने काल से माना जाता है, एक मूर्खतापूर्ण विचार है। कोई भी बात यदि एक बहुत लम्बे काल से मानी जा रही है तो यह उसके सही होने का प्रमाण नहीं बन सकती। आज तक विचारकों की कितनी ही इस प्रकार की मान्यताएँ नष्ट हो चुकी हैं कि जिन्हें एक

चार विश्व ने सत्य करके मान लिया है। पृथ्वी चपटी है, गोल थाली के समान, यह मान्यता एक लम्बे काल तक सिद्धान्त-रूप से ग्रहण की गई और इस विचार के खिलाफ आवाज उठाने वालों को काफिर घोषित किया गया। परन्तु आज उस मान्यता का कहीं भी अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार पुनर्जन्म के सिद्धान्त की भी लम्बे काल से मानी जाने वाली अवधि इसकी पुष्टि का प्रमाण नहीं बन सकती।

६. ईसामसीह ने कभी भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं माना। उनकी व्यक्तिगत मान्यताओं में इस विचार को रखकर इसकी पुष्टि की बात करना निराधार है। इस प्रकार की मान्यताओं को लेकर किसी भी सिद्धान्त को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

७. हमें अपने गत जन्म के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं। उस जन्म की एक भी बात हमें याद नहीं। हम यह नहीं कहते कि हमें उस जन्म की सभी बातें याद होनी चाहिएँ परन्तु कुछ तो उसके विषय में ज्ञान होना ही चाहिए। बचपन की सब बातें हमें याद नहीं, परन्तु कुछ तो याद रहता ही है। जीवन में घटने वाली विशेष बातें, ऐसी विशेष बातें जिन्होंने मन, विचार और हृदय को झंकृत कर दिया हो, वह तो याद रहनी आवश्यक हैं। परन्तु हमें उनका भी कोई स्मरण नहीं होता। स्मृति का यह पूर्ण विराम आवागमन के सिद्धान्त की कमर तोड़ देता है। हम अपने पुराने जन्म के तजुर्बों का कोई लाभ नहीं उठा सकते। जो कुछ इस जिन्दगी मे गुजरता है उसे व्यर्थ के लिए पुराने जन्म पर थोप कर भाग्य और कर्म-सिद्धान्त की पुष्टि कर डालते हैं। इस प्रकार की मान्यताएँ केवल खयाली हैं और इनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार पुनर्जन्म-सिद्धान्त की पुष्टि का कोई ऐसा प्रमाण हमारे सामने नहीं आता जिसके आधार पर विचारात्मक दृष्टिकोण से हमारी मान्यता उसमें स्थापित हो सके। केवल नैतिक भावना और पुराने माने जाने वाले सिद्धान्त की लकीर का फकीर बनकर उसे मानना कुछ युक्ति-संगत दिखलाई नहीं देता।

क्या जानवरों के भी कुछ जन्मसिद्ध अधिकार हैं ?

पक्ष :

१. जानवरों के भी कुछ जन्मसिद्ध अधिकार होते हैं। यह ठीक है कि उनकी संख्या और मात्रा मनुष्य के अधिकारों से कम है, परन्तु कुछ हैं अवश्य। यह अधिकार उस प्रकार के हैं कि जिनके रहने से जानवरों को दी गई स्वतंत्रता मानव

की स्वतंत्रता में बाधक न बन सके। इस स्वतंत्रता के फल स्वरूप जानवरों का जो विकास हो वह मनुष्य के विकास में सहायक सिद्ध हो। इसी लिए इस स्वतंत्रता को सीमित स्वतंत्रता (Restricted freedom) की संज्ञा दी गई है। जानवरों का विकास इसी सीमित स्वतंत्रता के अन्दर सम्भव है।

२. जानवरों के अधिकारों पर विचारकों की दृष्टि काफी पहले जा चुकी है और इस पर वह विचार भी प्रकट कर चुके हैं। गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी ने अपने अहिंसा-सिद्धान्त के अन्दर जानवरों की रक्षा को बहुत बड़ा महत्त्व दिया है और जानवर का मारना एक भारी पाप माना है। बेंथम (Bentham) जैसे विदेशी विचारकों ने भी जानवरों के जन्म-सिद्ध अधिकारों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। आपने भी जानवरों के अधिकारों की चर्चा करते हुए सीमित अधिकारों (Restricted rights) का निर्देश किया है।

३. कुछ लोगों का विचार है कि जानवरों की दो श्रेणी (१) पालतू (Domestic animals) और (२) जंगली (wild animals) बनानी चाहिए। दो श्रेणी बनाने का अर्थ यह हुआ कि पालतू जानवरों के साथ दया का वर्ताव और जंगली जानवरों के साथ निर्दयता का वर्ताव करना चाहिए। परन्तु यह कोई सिद्धांत की बात नहीं बन सकती। उपयोग की दृष्टि से मनुष्य अवश्य इन्हें दो भागों में विभाजित कर सकता है। मनुष्य जाति के शत्रु जानवरों से कभी भी उसका मित्रतापूर्ण व्यवहार सम्भव नहीं। जैसे शेर, चीते, सांप इत्यादि जानवरों से प्रेम करना कठिन है। फिर भी सिद्धांत रूप से जानवरों के दो विभाग बनाना मूर्खता है। जानवरों की एक ही श्रेणी है और उन्हें सीमित स्वतंत्रता (Restricted freedom) का अधिकार है।

४. जानवरों के जन्मसिद्ध अधिकारों की अवहेलना वैज्ञानिक अन्वीक्षण और खाद्य सामग्री की आवश्यकता इत्यादि के आधार पर की जाती है। यह बेरहमी का विचार है जिसमें मनुष्य अपना पेट भरने के लिए पशु को खाद्य सामग्री समझ बैठता है। इन्सानियत का बड़प्पन जानवरों का मांस भक्षण करके कायम नहीं रह सकता। यह गिरावट और खुदगर्जी की चीज है जिसे मनुष्य केवल इस लिए मानने का प्रयत्न करता है कि इससे उसके स्वार्थ की सिद्धि होती है।

५. मनुष्य की ही भांति जानवर भी विकासवाद की थियरी के अनुसार तरक्की कर रहे हैं। प्रकृति की इस देन का विकास रोक देना मनुष्य का प्रगतिशील काम नहीं समझा जा सकता। जानवरों को मनुष्य की ही भांति अपने विकास का अवसर मिलना आवश्यक है। बिना इस स्वतंत्रा के जानवरों-सम्बन्धी विकासवाद की थियरी का ठीक से किसी सही नतीजे पर पहुँचना सम्भव नहीं।

६. जानवरों को आदमी के संरक्षण की आवश्यकता है। आदमी उन्हें

संरक्षण प्रदान करता है और साथ ही अपने लाभ के लिए उनका उपयोग भी करता है। अन्य लाभों के साथ-साथ उनका मांस खाने के लिए भी उनका प्रयोग होता है। जानवरों की हत्या से पूर्व किसी भी हत्या करने वाले को उसका कारण बतलाना आवश्यक है और साथ ही यह भी सिद्ध होजाना चाहिए कि उसका मारा जाना आवश्यक है।

७. जानवरों के इस प्रकार के अधिकार विशेष रूप से उनके बच्चों के लिए बनने नितान्त आवश्यक हैं क्योंकि बड़ों की अपेक्षा बच्चों की हिफाजत ज्यादा आवश्यक है।

विपक्ष :

१. जानवरों के अधिकारों की बात करना व्यर्थ की बात है। हमें उनपर मेहरबान रहना चाहिए जिससे कि वे हमें नुकसान न पहुँचाएँ, हमारी इज्जत करें, इसलिए नहीं कि यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

२. जानवरों के अधिकारों की बातें व्यर्थ की जादूगिरी की बातें हैं जिनका सम्बन्ध मांसाहार न करने की थियरी से है। परन्तु विश्व बिना मांस के अपना जीवन नहीं चला सकता। बहुत से स्थान पृथ्वी पर ऐसे भी हैं जहाँ केवल मांस के और कुछ खाद्य उपलब्ध ही नहीं होता। टंडरा में सील मछली, रेंडीयर इत्यादि का मांस ही खाया जाता है। वहाँ शाकाहारी बने रहने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। फिर वहाँ किस प्रकार जानवरों के जन्मसिद्ध अधिकारों की रक्षा होगी?

३. घरेलू या पालतू जानवरों की रक्षा हम इसलिए करते हैं कि वह हमारे लिए अधिक उपयोगी हैं, कीमती हैं। उनकी रक्षा करने में ही हमारा लाभ है, हित है। पालतू जानवरों की रक्षा इस प्रकार दया-भाव से या उनके अधिकारों को ध्यान में रखकर नहीं होती वरन् इसलिए होती है कि उनकी हमारे जीवन में उपयोगिता है। जो जानवर अपने मांस की अपेक्षा अपनी मेहनत से हमारे लिए अधिक उपयोगी हैं, उनकी रक्षा करना, उनका जन्म सिद्ध अधिकार हो या न हो, हमारे लिए आवश्यक हो जाता है।

४. शिकार में जानवरों को मारना इसलिए खराब है कि कहीं मनुष्य जानवरों को मारते-मारते महसूस करने की शक्ति को जड़मूल से ही न खो बैठे। कहीं ऐसा न हो जाय कि वह किसी के भी प्राण ले लेने में होने वाली हिचक को महसूस करना ही बन्द न कर दे। मनुष्य को नैतिक पतन (Demoralisation) से बचाने के लिए हम शिकार की निंदा कर सकते हैं परन्तु साथ ही यह एक साहसपूर्ण कार्य भी है। वीरता और धीरता के साथ-साथ लगन और मेहनत की इसमें आवश्यकता है, चुस्ती और चालाकी भी दरकार है।

५. जानवरों को निश्चित रूप से हमें दो भागों में विभाजित कर देना चाहिए। एक वे जो मनुष्य के काम आते हैं और दूसरे वे जो मनुष्य के विकास में हानिकारक हैं। हानिकारक जानवरों के विनाश का मनुष्य को संगठित प्रयत्न करना चाहिए। उनके जन्मसिद्ध अधिकारों की खोज करना मूर्खता है। जो जानवर खाने के लिए पाले जाते हैं उनकी रक्षा उसी प्रकार करनी आवश्यक है जिस प्रकार मनुष्य अपनी खेती की रक्षा करता है।

६. जानवरों का उपयोग केवल वहीं तक है जब तक कि वे बच्चे पैदा नहीं कर देते। यह विचार जिन लोगों का है वह निर्दयता-पूर्ण कहा गया है और इसमें खुदगर्जी की बू बतलाई गई है परन्तु यदि प्रकृति के नियम पर दृष्टि डाली जाय तो हर बड़ी वस्तु अपने को कायम रखने के लिए अपने से छोटी वस्तु का भक्षण कर लेती है। बड़ी मछली छोटी मछली को खा लेती है; यह तो उदाहरण हुआ एक ही जाति का। इसके अतिरिक्त दो जातियों के जानवरों पर यदि दृष्टि डालें तो हर मांस-भक्षी जानवर का आहार दूसरा जानवर होता है और जो शक्तिशाली जानवर हैं वे अवसर पाने पर मनुष्य को भी बख्शने वाले नहीं।

७. मनुष्य जंगली जानवरों से अपनी हिफाज़त करने के लिए भी उन्हें मारता है। संसार के बड़े-बड़े जंगलों को काटकर उन्हें खेती के योग्य बनाया गया; बड़े-बड़े नगरों को बसाया गया और उनमें मनुष्य ने अपनी सुरक्षा के साधन जुटाये। इस कार्य के करने में भी मनुष्य को जंगली जानवरों के खिलाफ़ एक संघर्ष करना पड़ा और इस संघर्ष में मनुष्य-जाति ने अनेकों बलिदान दिये। इन बलिदानों की आधारशिला पर खड़े होकर आजका इन्सान उन जंगली जानवर से ऊपर उठ कर खड़ा है। परन्तु यहाँ यह तो मानना ही होगा कि इस स्थिति तक आने में मनुष्य का खाने या यों ही प्रवृत्ति के कारण जंगली जानवरों ने पर्याप्त मात्रा में संहार किया। हम ऊपर कह चुके हैं कि जानवर अन्य जानवरों के मारने में तनिक भी संकोच नहीं करते और मनुष्य के मारने में भी उन्हें कोई संकोच का करण नहीं। ऐसी दशा में क्या जानवर किसी भी प्रकार अपनी सुरक्षा का अधिकारी है? जहाँ तक जंगली और खूंखार जानवरों का प्रश्न है उनके साथ दया का बर्ताव करना मूर्खता की बात है क्योंकि अवसर पड़ने पर उनसे दया की आशा रखना स्वप्न-तुल्य है।

८. इस प्रकार जानवरों के अधिकारों की बात करना और कुछ नहीं है, केवल मनुष्य के अधिकारों पर कुठाराघात करना है। जानवरों को अधिकार देने का अर्थ है मनुष्य उनसे जो लाभ उठा रहा है, वह न उठा सके और उससे वंचित रह जाय।

क्या परमाणु-शक्ति मानव हितकारी सिद्ध होगी ?

पक्ष :

१. औद्योगिक क्रांति के पश्चात् होने वाले आविष्कारों में परमाणु-शक्ति का आविष्कार एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जिस प्रकार औद्योगिक क्रांति ने विश्व के जीवन में एक उथल पुथल पैदा करदी, ठीक उसी प्रकार परमाणु शक्ति की खोज ने आज के संसार में एक विचित्र परिस्थिति ला दी है। परमाणु-शक्ति के वास्तविक रहस्य तक अभी पूरी पहुँच नहीं हो पाई है। शताब्दियों से मनुष्य प्रकृति की विशिष्ट देनों को शक्ति के रूप में इस्तेमाल करता चला आ रहा है। परन्तु यह प्राकृतिक शक्तियाँ हमेशा चलने वाली नहीं। उदाहरणार्थ कोयला, तेल, पैट्रोलियम इत्यादि का इस्तेमाल जिस तेजी के साथ किया जा रहा है, यदि उसके आधार पर अनुमान लगाया जाय तो बहुत शताब्दियों तक चलने वाला नहीं। इन्हें एक-न-एक दिन समाप्त हो ही जाना होगा। परमाणु-शक्ति द्वारा मानव अपनी सभ्यता को अपनी जरूरतों के साथ एक कदम और आगे बढ़ा कर ले जा सकेगा। मानव मध्य-युग से नये युग में पदार्पण करेगा।

२. परमाणु-शक्ति के इस्तेमाल से उत्पादन में तेजी और वृद्धि होगी और उसके फल स्वरूप उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में में कमी आयेगी। तीव्र गति के साथ अधिक और सस्ते उत्पादन के साथ-ही-साथ उसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने और उसके वितरण करने में भी तीव्रता और सुविधा प्राप्त होगी। एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए कोयला, तेल, इत्यादि रेलों द्वारा लादने की असुविधा जाती रहेगी।

३. शक्ति संगठित करने तथा संचालित करने के नए तरीकों से बहुत से काम करने वालों की शक्ति तथा योग्यता का अपव्यय हो रहा है। यह अपव्यय ज्यों ही होना बन्द हो जायगा त्यों ही उसका उपयोग किसी ऐसे कार्य के लिए होगा जहाँ वह उसकी मेहनत को कम करते हुए भी उसके लिए अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकेगी। इस प्रकार हर काम वाले करने की आय में वृद्धि होगी; चीजों का मूल्य गिरने और आय की वृद्धि होने से मनुष्य का जीवन सुखी तथा समृद्धिशाली बन सकेगा।

४. आवागमन के साधनों में एक महान् क्रांतिकारी परिवर्तन होगा। इस दिशा में एक नये युग का निर्माण होगा। जिस प्रकार बैल, ताँगे, बहली, मझोली और रथ पर चलने के युग के सामने मोटर, रेल और हवाई जहाज एक नया युग लाकर उपस्थित कर देते हैं ठीक उसी प्रकार एक दिन रेल, मोटर और हवाई जहाज के सामने भी नया युग आकर खड़ा हो जायगा। कोयले और पैट्रोल की

शक्तियां परमाणु-शक्ति के सामने फीकी पड़ जायेंगी। तीव्र आवागमन की यह सुविधा संसार के मनुष्यों को एक दूसरे के निकट लाने में सहायक होगी और उसके फल-स्वरूप आपसी प्यार और मैत्री तथा भाई चारे को बढ़ावा मिलेगा। विश्व के लोगों में पारस्परिक मैत्री को बढ़ा देने की दिशा में यह एक सक्रिय कदम होगा। जिससे कल का मानव आज के मानव से आगे बढ़ सकेगा।

५. परमाणु-शक्ति द्वारा आपसी मेल मिलाप का यह साधन पारस्परिक रागद्वेश को कम करने में सहयोगी होगा और निश्चित रूप से विश्वव्यापी युद्धों तथा उनके दूषित वातावरण को फैलाने से रोक सकेगा। विश्व-प्रेम की भावना को एक दूसरे तक पहुँचाने का यह तीव्रतम माध्यम होगा।

६. परमाणु शस्त्रों द्वारा युद्ध की बात को जो आज बढ़ावा दिया गया है यह तो केवल चन्द दिन की बात है। प्रारम्भ में जिस नये शस्त्र की ईजाद होती है, वह ऐसा ही भयानक प्रतीत होता है और उस का आतंक इसी प्रकार विश्व पर छा जाता है। परन्तु ऐसे शस्त्रों का प्रयोग साधारणतया हमेशा लड़ाई फिसादों में किया जाना सम्भव नहीं। सन् १९१८ के महायुद्ध में गैस का प्रयोग हुआ और उसे खराब समझा गया। इसीलिए सन् १९३९—४५ के युद्ध में गैस का कोई प्रयोग नहीं किया गया। ठीक इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि आगामी युद्ध में परमाणु बम का प्रयोग नहीं किया जायगा।

७. परमाणु-शक्ति का उपयोग औषधि इत्यादि अन्य मानव-हितकारी विज्ञानों की उन्नति में भी कम होने वाला नहीं। अनेकों ऐसे रोगों के उपचार की दिशा में भी बहुत खोजपूर्ण कदम उठाया जा चुका है कि जिन्हें असाध्य कहा जा चुका था और बहुत आशाजनक फल प्राप्त करने की सम्भावना है।

विपक्ष :

१. परमाणु शक्ति के विषय में अभी यह धारणा बना लेना, कि इनका उपयोग औद्योगिक विकास के क्षेत्र में अन्य यंत्र-संचालक-शक्तियों से अधिक उपयोगी रूप में किया जा सकेगा, कठिन है। यह भी सम्भव है कि इस शक्ति के उत्पादन में उतना खर्च आ जाय कि इसका उपयोग औद्योगिक उन्नति के लिए करना सम्भव न हो सके। कहा नहीं जा सकता कि परमाणु-शक्ति विद्युत-शक्ति का स्थान ग्रहण कर सकेगी और इससे अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकेगी। इस दिशा में अभी केवल अनुमान मात्र ही लगाये जा रहे हैं, निश्चित रूप से कोई धारणा बना लेने की गुंजाइश नहीं।

२. पृथ्वी की कुदरती शक्तियों का कोष खतम होता जा रहा है और हो जायगा, यह कहना भी एक ख्वाब की सी ही बात है। जमीन में प्रकृति अपने ढंग से विकास कर रही है। कोयला इत्यादि के अतिरिक्त पानी के कम हो जाने का हमें कोई

कारण नहीं दिखलाई देता। पानी की शक्ति से ही विद्युत-प्रसार आज विश्व के कोने-कोने में होकर विश्व के उद्योगीकरण में सहायक बन रहा है। इस दिशा में अधिकाधिक उन्नति ही सम्भव है क्योंकि इस बिजली निकालने की रीति में पानी का विनाश नहीं होता। जहाँ पानी की एक झील बनी है उसी के पास दूसरी झील भी तैयार की जा सकती है और उसी मात्रा में फिर बिजली निकाली जा सकती है। इस प्रकार पानी की शक्ति के कभी समाप्त होजाने का प्रश्न ही सामने नहीं आता।

३. परमाणु-शक्ति के विकास से एक नई औद्योगिक क्रांति की सम्भावना है। इस क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि सम्भव है परन्तु यदि इस वृद्धि ने विश्व की सामाजिक स्थिति को तोड़-फोड़ कर एक नया समाज बनाने का प्रयास किया तो निश्चित् रूप से संसार के रहन-सहन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन होगा और उससे शांति की अपेक्षा अशांति के वातावरण को प्रश्रय मिलेगा। एक बार जो कुछ भी आज बना हुआ दिखलाई देता है वह सब बिगड़ा हुआ दिखलाई देगा और समाज को अपना नया ढांचा तय्यार करना होगा। वह ढांचा क्या होगा इसके विषय में निश्चयात्मक रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

४. परमाणु-शक्ति के निर्माण और संचालन में यह भी सम्भव है कि अधिक भयानक और खतरनाक कामों में मनुष्य को अपना जीवन फंसाना पड़े और ऐसे कार्य करने पर भी उसे बाध्य होना पड़े कि जिन्हें उसकी आत्मा स्वीकार न करे। इस दिशा में अभी निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि परमाणु-शक्ति के संचालित होने पर मनुष्य का उत्पादन-क्रम बढ़ ही जायेगा।

५. यह भी सम्भव है कि परमाणु-शक्ति के संचालित होने पर मनुष्य के काम की क़द्र इतनी कम हो जाय कि संसार में बेकारी का दौर बहुत तेजी से फैल जाय। संसार बहुत ग़रीब और बहुत अमीर, दो तबक़ों में विभाजित होकर हर समय संघर्षोन्मुख दिखलाई दे और विश्व की प्रगति आगे बढ़ने के स्थान पर एक ऐसे संघर्ष के दौर में पदार्पण करे कि जिससे बच निकलना फिर उसके लिए सम्भव ही न रहे।

६. परमाणु-शक्ति के नये केन्द्र स्थापित होने पर देशीय जीवन में एक हलचल मचेगी, कुछ भाग वीरान हो जायेंगे और कुछ इतने आबाद कि वहाँ साँस लेते भी दम घुटेगा। इस घुटन और वीरानगी का मानव के विकास पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसके विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भ में परमाणुशक्ति के उत्पादन में हो सकता है बहुत बड़ी मज़दूर-शक्ति का प्रयोग करना पड़े परन्तु उसके उत्पादन के पश्चात् भी क्या वह मज़दूर काम पर लगे रह सकेंगे? यह समस्याएँ हैं जो परमाणु-शक्ति पैदा कर देगी।

७. गति की तीव्रता हर दिशा में किसी हद तक ही सम्भव है। रेल, मोटर, हवाई जहाज इत्यादि जितने भी आवागमन के साधन हैं इनकी गति को भी किसी खास हद तक ही आगे बढ़ाया जा सकता है। इस दिशा में आँख मींच कर तेजी की ओर भागना खतरे से खाली नहीं। इस तेजी में अनेकों मनुष्यों की जानें जायेंगी और अधिक हानि के भी कम होने की सम्भावना नहीं। अधिकतेजी विनाश की दिशा में उठाया गया एक क़दम है। मानव-जाति को यह विनाश की ओर ही ले जायगा, निर्माण की ओर नहीं। फिर अभी निश्चित् रूप से यह कहा भी नहीं जा सकता कि परमाणु-शक्ति का जो रूप पाया है वह साधनों को संचालित करने में प्रयोग किया जायगा और वह आधुनिक शक्ति के साधनों से अधिक तीव्र गति प्रदान करने वाला भी हो सकेगा। अभी तो यह सब कुछ भविष्य के ही गर्भ में है।

८. परमाणु बम की विनाशकारी शक्ति की ओर से संसार कभी भी आँखें बन्द करके आराम की सांस नहीं ले सकेगा। इसका भय और आतंक सर्वदा मनुष्य के दिल पर बना रहेगा। हिरोशिमा की कहानी अभी संसार के इतिहास में पुरानी नहीं पड़ी है। यह कहानी कहीं पर भी दुहराई जा सकती है और उस दुहराने का क्या अर्थ होगा, यह आँक लेना एक बहुत ही सरल कार्य है। इस प्रकार के खतरनाक शस्त्रों का कोई बचाव उपस्थित नहीं किया जा सकता। कितनी महान् विनाशकारी शक्ति इसके अन्दर छुपी हुई है इसका अन्दाज लगाना आज कठिन नहीं। सन् १९३९-४५ के महायुद्ध में गैस का प्रयोग होना कोई इस बात का प्रमाण नहीं कि परमाणु बम का प्रयोग भी आगामी महायुद्धों में न किया जायगा। इस प्रकार की धारणा बना लेना एक मूर्खता की बात है। परमाणु बम का संसार में रहना ही खतरे से खाली नहीं। यह वह खतरा है कि जिससे मानव-संस्कृति खतरे में दिखलाई देती है। गैस और परमाणु-शक्ति का मुकाबला करना ठीक नहीं। गैस शायद वर्ष भर में भी मानव-समाज का उतना अहित न कर सके जितना परमाणु-शक्ति एक दिन में कर सकती है।

९. विज्ञान और औषधि के क्षेत्र में हो सकता है परमाणु-शक्ति कुछ उपयोगी सिद्ध हो सके परन्तु विश्व की संस्कृति को इससे जो भय पैदा हो चुका है उसके मुक़ाबिले में वह कुछ भी नहीं है। हमें पहले किसी भी वस्तु से होने वाली हानि की ओर नजर दौड़ानी है और बाद में लाभ की ओर, क्योंकि हानि की गति हमेशा लाभ से अधिक होती है। निर्माण से विनाश बहुत कम समय में संभव है।

शस्त्रीकरण विश्व शांति में बाधक है

पक्ष :

१. शस्त्र-शक्ति देशों में मिथ्या राष्ट्रीय भावना के अभिमान को प्रोत्साहन देती है। इससे पारस्परिक द्वेष और जलन को बढ़ावा मिलता है। एक व्यर्थ के घमंड की भावना इस प्रकार की शक्ति के संचालकों में जन्म लेती है और अन्त में यही पारस्परिक युद्ध और अशांति फैलाने में सहायक होती है।

२. कुछ विशिष्ट देशों में युद्ध-सामग्री की उन्नति की ओर विशेष रुख देखकर अन्य देशों की जनता में भय और आतंक का वातावरण छा जाता है। इसके फलस्वरूप अन्य देश भी हथियारों की दौड़ में हिस्सा लेने लगते हैं। यह स्थिति जन-कल्याण के मार्ग से देशों को हटाकर विनाशकारी प्रवृत्तियों का शिकार बना देती है। इस प्रवृत्ति के गर्भ में युद्ध की काली छाया छुपी रहती है। बचाव के नाम पर आक्रमण की तय्यारियाँ होने लगती हैं, और इस दशा में किसी भी समय समय आने पर ज्वालामुखी की भाँति युद्ध फूट पड़ता है। देश में शस्त्रों की नीति को बढ़ावा देना कभी भी शांति की नीति नहीं कहला सकता।

३. वाशिंगटन में हुई संधि के प्रस्तावों ने यह सिद्ध कर दिया कि निःशस्त्रीकरण सम्भव है। किस-किस देश को कितने-कितने शस्त्रों की आवश्यकता है वह आपसी पंचों की नियुक्ति करके निश्चित् किया जा सकता है। ऐसा करने से किसी भी देश को किसी अन्य देश से आक्रमण का भय समाप्त हो जाता है और फिर हर देश दूसरे देश की ओर विश्वास के साथ सहयोग का कदम उठा सकता है।

४. वाशिंगटन-संधि ने जो सब से महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह यह था कि इसमें विश्व के प्रायः सभी प्रमुख देशों ने अपने-अपने ताश एक सार्वजनिक मेज पर खोल दिये। इसके फलस्वरूप पारस्परिक सद्भावना और सहयोग का वातावरण पैदा हो गया। एक दूसरे के अन्दर से अविश्वास की भावना का ह्रास हुआ और सबके सामने एक दूसरे की स्पष्ट परिस्थिति आगई। इसके पश्चात् एक बार सबने विश्राम की सांस ली और अपनी-अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार किया। वाशिंगटन-संधि में भी कुछ कमियाँ रहीं और जिस शांति के लक्ष्य की पूर्ति की तरफ उसने कदम उठाया वह अधूरा रह गया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस संधि ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसे किसी प्रकार भुलाया जा सकता है या उस कार्य की उपेक्षा की जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) की स्थापना और इसके सिद्धान्तों में वाशिंगटन-संधि के मूल उद्देश्यों की छाप मिलती है। संयुक्तराष्ट्र संघ की स्थापना ही इस बात का प्रमाण है कि वाशिंगटन संधि का जो उद्देश्य था वह आवश्यक था और उसी की फिर आवश्यकता आज

महसूस हुई।

५. वाशिंगटन संधि के उद्देश्यों को सफलता न मिलने पर संसार के प्रायः सभी देशों पर एक बार फिर हथियारों का अधिक बोझा पड़ गया। १६३६-४५ के महायुद्ध से पूर्व यह बोझा देशों के लिए बर्दाश्त करना कठिन होता जा रहा था। इस बोझे के उठाने के लिए विभिन्न सरकारों को अपने देशों में करों की वृद्धि करनी पड़ी। इससे जनता में असंतोष की भावना जागरूक हो उठी और साधारण आदमी की जिन्दगी में एक परेशानी पैदा हो गई। साधारण आदमी के जीवन की परेशानी देश, राष्ट्र और संसार की परेशानी बनी और इसी के फलस्वरूप गत महायुद्ध का श्री गणेश हुआ।

६. यदि हथियारों पर खर्च किया जाने वाला धन देश की विकास-योजनाओं पर खर्च किया जाता तो अनेकों प्रकार की दस्तकारियों और उद्योगों को बढ़ावा मिलता, बहुत से आदमियों को रोजगार मिलता, और जनता को जो व्यर्थ का अधिक कर देना पड़ा उससे उसकी मुक्ति हो जाती। इसके फलस्वरूप विश्व के वातावरण को अशान्त होने में बढ़ावा न मिलता और युद्ध की परिस्थियाँ पैदा न होतीं। हथियारों के खर्च में दबकर ही यह सब होता है।

७. देशों में बड़ी-बड़ी फौजों, पानी की ताकतों, और हवाई सेनाओं को बढ़ावा देने से विश्व में एक ऐसी जमायत को वृद्धि देना है कि जिसका अर्थ ही हथियारों से खेलना है। यह एक इतना बड़ा और शक्तिशाली समुदाय बन जाता है कि कभी-कभी इसी की शक्ति के सामने विश्व-शांति को नष्ट हो जाना होता है। फ़ौजी अफ़सरों और सिपाहियों में अपना जौहर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा इस हद तक जागरुक हो उठती हैं कि यदि अवसर न मिले तो वे उसकी तालाश में लग जाते हैं। जिन देशों में अन्य शक्तियों की अपेक्षा सेनिक शक्ति इतनी प्रबल हो उठती है कि वह उसकी अवहेलना कर सके, वहाँ ऐसा भी होता है और देश की बागडोर सेनानियों के हाथों में चली जाती है। इन सब परिस्थितियों का इलाज केवल निःशस्त्रीकरण ही है।

८. बड़े पैमाने पर किया गया निःशस्त्रीकरण निश्चित् रूप से युद्ध की परिस्थितियों और सम्भावनाओं को समाप्त करने में सहायक होगा। इससे देशों का आपसी अविश्वास जाता रहेगा और सहयोग की भावना को बढ़ावा मिलेगा। इसके ठीक विपरीत शस्त्रों की उन्नति देश की शक्ति की उन्नति भी नहीं कही जा सकती। देश की उन्नति उसकी जनता में गरीबी न होना, बेरोजगारी न होना, अपनी सरकार में अविश्वास न होना, साहित्य और कला की उन्नति होना, मनुष्य के स्वतंत्र अधिकारों की रक्षा होना है। यह सभी चीजें ऐसी हैं कि जिनका

बहुत कुछ अंश में भारी शस्त्रीकरण की नीति से विरोध है। भारी शस्त्रीःकरण देश की खुशहाली पर वज्राघात है और उसकी सुख-समृद्धि को जड़ मूल से नष्ट कर देता है।

विपक्ष :

१. शस्त्रीकरण को युद्ध समीप आने का कारण बतलाना उचित नहीं क्यों कि यह युद्ध का कारण न होकर उसके लक्षणों की श्रेणी में रखा जा सकता है। वास्तव में लक्षण से कारण की उत्पत्ति न होकर कारणों से लक्षणों की उत्पत्ति होती है। जब युद्ध के कारण उत्पन्न हो जाते हैं तब हथियार उसमें सहायक हो सकते हैं परन्तु साथ ही दूसरी दिशा में उन कारणों को मिटा देने में भी हथियार सहायक होते हैं। युद्ध में हथियार केवल तभी सहायक होते हैं जब देश की नीति ही युद्ध-प्रोत्साहन की हो, अन्यथा नहीं।

२. निशस्त्रीकरण की कल्पना बिलकुल ख्याली दुनिया की बात है, जिसके विषय में कोई निश्चित् रूपरेखा नहीं बनाई जा सकती। वास्तव में शस्त्रों का महत्त्व उनकी शक्ति और प्रकार पर अधिक आधारित है, न कि उनकी संख्या पर। एक बढ़िया क़िस्म की बन्दूक पुराने ज़माने की दस बन्दूकों से अधिक कारगर हो सकती है। और शस्त्रों के इस बढ़िया या घटिया होने पर कोई रोक लगाना संभव नहीं। यदि यह सम्भव नहीं तो निःशस्त्रीकरण का मूल महत्त्व ही नष्ट हो जाता है।

३. नित्य नये आविष्कारों ने तो निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को बिलकुल ही निरर्थक और निर्मूल बना दिया है। परमाणु-बम और उद्‌जन-बम के निर्माण के पश्चात जब नाइट्रोजन बम के बन जाने की भी आवाजें कानों में आ रही हैं तो भला निःशस्त्रीकरण का क्या महत्व रह जाता है ?

४. वाशिंगटन-संधि कुछ देशों के बीच होने वाला वह समझौता था जो दिखावटी शक्तियों के खिलाफ एक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सके। इस दिशा में भी वह कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकी ; बल्कि उसके फलस्वरूप विभिन्न देशों के टैकनिकल काम करने वालों को उस दिशा में बढ़ावा ही मिला।

५. वाशिंगटन-समझौते में भी पनडुब्बी और हवाई जहाजों के प्रश्नों पर विचार किया ही नहीं गया और इस प्रकार युद्ध के बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंगों को छोड़ देना पड़ा। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जो बहुत महत्त्वपूर्ण शस्त्र हैं उन पर विचार ही नहीं किया जा सकता। आधुनिक शस्त्र परमाणुबम इत्यादि भी इसी श्रेणी में आते हैं। इस समझौते के मूल सिद्धान्तों का हस्ताक्षर करने वाले बहुत कम राष्ट्रों ने सम्मान किया और अन्त में वह समझौता आपसे आप ही रद्द हो गया

दिखलाई देने लगा। इसका मूल कारण यही है कि निःशस्त्रीकरण की भावना को कार्य-रूप में परिणित करना कठिन है।

५. गत महायुद्धों ने इस बात को साबित कर दिया है कि काफी तादाद में हथियार सुरक्षित रखकर संसार के विभिन्न राष्ट्रों का तय्यार न रहना सर्वथा आक्रमणकारी नीति रखने वाले के लिए लाभकर होता है। वह हो सकता है कि चाहे आक्रमणकर्ता अन्त तक अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल न हो, परन्तु कुछ हद तक वह निःशस्त्रीकरण की नीति के समर्थकों को नुकसान अवश्य पहुँचा सकता है। जब तक निःशस्त्रीकरण की नीति के समर्थक अपने को हमलावर देश का मुकाबिला करने के योग्य बनायेगा तब तक हमला किया जाने वाला देश काफी हद तक तबाह व बर्बाद हो जाता है। शस्त्रीकरण की नीति ही इस तबाही और बरबादी से राष्ट्रों को बचा सकती है।

६. शस्त्रीकरण का यह अर्थ नहीं कि शस्त्रों का संचय केवल आक्रमण करने के लिए ही किया जाता है। शस्त्रों का संचय शांति की रक्षा के लिए होता है, देश की मजबूती के लिए होता है, आंतरिक और बाहरी उपद्रवों की शांति के लिए होता है और आक्रमणकारियों की ध्वंसात्मक नीति का विरोध करने के लिए होता है। इन सभी दिशाओं में एक सुसंगठित शक्ति शांति के फैलाने में सहायक होती है।

७. शांति की रक्षा ही देश की रक्षा है, व्यापार की रक्षा है, विकास-योजनाओं की रक्षा है और इसीलिए इसपर किया गया खर्च भी भार स्वरूप ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी के संरक्षण में देश की शांति पलती है और खेती तथा उद्योगों को शांति के साथ तरक्की करने और पनपने का सुअवसर मिलता है। देश की सुसज्जित सेना देश के खेत के चारों ओर लगी हुई वह मजबूत बाड़ है जो हर किस्म की बाहरी आफत से उसे सुरक्षा प्रदान करती है।

८. संसार के विभिन्न देशों की सेनाओं में जो सैनिक कार्य करते हैं उनका जीवन एक साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है और शांति के सिद्धांतों का संरक्षक है। आज के युद्धों के जन्मदाता सैनिक न होकर शहरी लोग हैं। वह प्राचीन परिस्थितियाँ अब समाप्त हो चुकी हैं जब फौजों द्वारा ही राष्ट्रों का संचालन होता था। आज के राष्ट्रों का संचालन फौजों द्वारा नहीं होता। इसलिए फौजों पर युद्ध की संभावना लाने का दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है।

९. आज की दशा में किसी भी संसार के देश का निःशस्त्रीकरण सम्भव नहीं। हर देश को अपनी सुरक्षा की आवश्यकता है और किसी भी समय-बेसमय आने वाली विपत्ति का इसे सामना करने के लिए हर समय तैय्यार रहना चाहिए। यह तय्यारी बिना स्थायी रूप से अपने शस्त्रों का कोष बनाये और सजी हुई संगठित सेना रखे सम्भव नहीं।

क्या जानवरों में भी बुद्धि होती है ?

पक्ष :

१. साधारणतया कहा जाता है कि जानवर उत्तेजना (Impulse) से कार्य करते हैं। यह कथन पूर्ण रूप से यों ही मान ली गई बात है जिसके मूल में कोई प्रामाणिक आधार नहीं। बहुत से वाक़यात की जाँच पड़ताल से यह स्पष्ट हो जाता है कि जानवरों में अक्ल है और उस अक्ल का वह इस्तेमाल भी करते हैं। यह सच है कि उस अक्ल में वह पैनापन नहीं है जो मनुष्य की अक्ल में पाया जाता है, परन्तु फिर भी उन्हें बुद्धिहीन कहना ग़लत है।

२. सब जानवर भिन्न-भिन्न स्वभावों वाले होते हैं और उनका रहन-सहन का ढंग भी एक दूसरे के विपरीत ही रहता है। इनमें कुछ स्वभाव से ही बदले की भावना मन में रखते हैं। उनके अन्दर कीन्हा एक पैने प्रकार की होती है और अवसर पाने पर वह तंग करने वाले या उसे मारने वाले को नहीं बख्शते। उदाहरण स्वरूप यहाँ हम ऊँट और बिल्ली को ले सकते है। इनकी बुद्धि में पैना और तीखापन होता है।

३. कुछ जानवर गधे-किस्म के होते हैं जिनमें मूर्खता की मात्रा अधिक होती है। जब कोई उन्हें अधिक तंग करता है तो वे भी तंग आकर लात या सिर मार देते हैं परन्तु वैसे स्वभाव से सीधे ही होते हैं और अपने काम से काम रखते हैं। इनकी बुद्धि कम पैनी होती है। यादाश्त का माद्दा इनमें नहीं रहता और बीती बात को बात के साथ ही भूल जाते हैं।

४. कुछ जानवर बड़े चालाक किस्म के होते हैं। अपने मतलब का उन्हें पूरा-पूरा ध्यान रहता है और खुदगर्ज़ी की मात्रा उनमें पाई जाती है। लोमड़ी, कव्वा इसी प्रकार के जानवर हैं। स्यारस और बतखों को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

५. कुछ जानवर स्वभाव से ही मित्रता निभाने वाले तथा स्वामिभक्त होते हैं। अपनी जान पर खेल कर भी इस प्रकार के जानवर अपने मित्र-साथी का उपकार करते हैं। कुत्ता इसी किस्म का जानवर है जो अपने मालिक के लिए बड़ा वफ़ादार होता है। कुत्तों की वफ़ादारी के किस्से अनेकों हैं और आम जनता में इनकी चर्चा रहती है। यह जानवर पहरेदार का काम देता है।

६. कुछ खूँखार किस्म के जानवर होते हैं। चीर फाड़ उनका स्वभाव होता है और किसी को बख्शना वे कम जानते हैं। शेर, चीता, भेड़िया इत्यादि इसी किस्म के जानवर हैं। इसी प्रकार कुछ जानवर धोखेबाज, कुछ मेहरबान, कुछ सख्त मेहनती, कुछ मस्त और स्वतंत्र, कुछ डरपोक लेकिन दबने पर घातक, कुछ

बहादुर और अन्य प्रकार के स्वभाव रखते हैं।

७. जानवरों में बहुत प्रकार की बुराइयाँ भी पाई जाती हैं। कभी-कभी वे अपने स्वभाविक संतुलन को खो बैठते हैं और उनका सेक्स विकृत दिशा में चल पड़ता है। कभी-कभी उनका सेक्स (स्त्री पुरुष विषयक सम्बन्ध) बहुत ही प्रबल हो उठता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कभी-कभी मनुष्य में भी हो उठता है। इस सबके अन्दर बुद्धि का प्रयोग मिलता है। न्यूनाधिक रूप से बुद्धि का प्रयोग किये बिना इन प्रवृत्तियों का जागरूक होना कठिन है।

८. जानवरों की आश्चर्यजनक और पागलपन की बातें भी कभी-कभी इतनी विचित्र होती हैं कि उनकी तुलना में मनुष्य की बातों को रखा जा सकता है। इस सब से जानवर के मस्तिष्क की विशिष्ट प्रकृति का आभास मिलता है। इसका सम्बन्ध भी किसी-न-किसी मात्रा में बुद्धि से ही है।

९. जानवरों की अनेकों मिसालें हैं जहाँ वे बहुत से कार्य किसी विशेष कारण विशेष से करते हैं। कुछ मारपीट के भय से करते हैं। कुछ प्यार और पुचकारने से करते हैं और कुछ स्वभाव से ही करते हैं। इन काम करने के तरीकों से ही जानवर की सजीवता प्रतिलक्षित होती है और यह सजीवता कभी भी बुद्धि-तत्त्व के बिना सम्भव नहीं।

१०. श्री जे० हेनरी फेब्री (J. Henri Fabre) को कीड़ों के परीक्षण में कीड़ों के अन्दर भी बुद्धि जैसी ही चीज का आभास हुआ। कीड़ों की उस जागरूकता को बुद्धि के अतिरिक्त और कोई विशेष नाम नहीं दिया जा सकता।

११. जानवरों के अन्दर यह माना जा सकता है कि अलग-अलग मिकदार में बुद्धि मिलती है। इस ओर हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं। एक हाथी और एक भेड़ की यदि तुलना की जाय तो हाथी बुद्धिमान और हठी तथा शानदार जानवर है, तथा भेड़ सीधा, आगे पीछे चलने वाला, झगड़ा न करने वाली जानवर है। कुत्ते, बिल्ली और मुर्गी के आचरणों पर यदि आप ध्यान दें तो आपको जानवरों की बुद्धि का अन्तर बिलकुल स्पष्ट हो जायगा।

१२. विलहेम वी० ओस्टन (Wilhem V. Osten) का घोड़ों के सम्बन्ध में परीक्षण तो इस दिशा में अपना अन्तिम निर्णय दे ही देता है कि जानवरों में बुद्धि होती है। ओस्टन ने तीन घोड़े (१) जरीफ़ (Zarif), (२) मुहम्मद (Muhammed), (३) और हेन्स (Hans) पाले और उन्हें यहाँ तक सिखलाया कि वे अक्षरमाला तक को पहिचानने लगे, गिनती गिनने लगे और यहाँ तक कि गणित के सवालों को भी हल करने लगे।

विपक्ष:

१. इस बात में किसी को मतभेद नहीं हो सकता कि आदमी और जानवर के मस्तिष्क की बनावट में आकाश पाताल का अन्तर है। इस अन्तर को हम इस रूप से प्रकट करते हैं कि जानवर सहज ज्ञान (Instinct) से अपना कार्य संचालित करता है और मनुष्य बुद्धि से। सहज-ज्ञान क्या वस्तु है हम यहाँ इसका स्पष्टीकरण नहीं कर सकते, परन्तु इतना हम निश्चय पूर्वक जानते हैं कि यह सहज ज्ञान बुद्धि से प्रथक वस्तु है। बुनियादी तौर पर दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है।

२. सहज-ज्ञान और बुद्धि के इस पारस्परिक भेद को न जानकर बहुत सी ख्याली गलतियाँ अमल में आती हैं।

३. यही विचार, कि जानवरों के चरित्र भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, एक जबरदस्त ख्याली गलती है। हमारी गलती यह है कि हम अपनी आदतों को जानवरों में देखने लगते हैं। यह गलती हम इस लिए करते हैं क्योंकि कभी-कभी जानवरों के व्यवहार हमारे ही समान सुख तथा दुख को महसूस करने और काम (Sax) को उत्तेजित होते हुए देखते हैं।

४. जानवर बुराइयों की ओर उसी समय झुकता है जब मनुष्य उसके स्वाभाविक विकास में बाधा उपस्थित करता है। जानवर की प्रगति के सरल विकास में बाधा आजाने से उसके सहज स्वभाव को ठेस लगती है और वह झुंझला कर सीधा रास्ता छोड़ उल्टे रास्ते पर लग जाता है। जब जानवर को स्वतंत्र कर दिया जायगा तो वह अपने सहज भाव से चलेगा। सहज भाव का अर्थ यह है कि भूख लगी खा लिया, किसी ने मारा रो दिया, जी में आया चल पड़े, जी में आया सो गये।

५. यह सच है कि जानवरों के स्वभाव को लेकर अनेकों कहानियाँ मिलती हैं, परन्तु क्या कभी आज तक उन कहानियों की सच्चाई की किसी ने जाँच पड़ताल की है? यदि यह मान लिया जाय कि जानवर में महसूस करने की शक्ति है तो जानवर में आत्मा का होना भी मानना पड़ जाता है।

६. जानवर का सहज-ज्ञान अर्धजाग्रत अवस्था की प्रतिक्रिया मात्र है। उसे अपनत्व का ज्ञान नहीं है। मनुष्य की बुद्धि यही है कि उसे अपनत्व का ज्ञान रहता है। मनुष्य जो कुछ भी करता है वह जाग्रत अवस्था में करता है। वह जानवर की तरह अर्धजाग्रत अवस्था में कार्य नहीं करता।

७. जानवर की अर्धजाग्रत अवस्था का सहज-ज्ञान और मनुष्य की जाग्रत अवस्था के ज्ञान को मोटी बुद्धि से देखने पर एक दिशा में बहने वाला या एक ही बात के दो शिथिल और तीव्र रूप भी माना जा सकता है। यह नजरिया बहुत

ऊपरी है, बहुत बनावटी है और इसमें कोई तथ्य नहीं। एक गाय, कुत्ता या बिल्ली और आदमी सभी पानी पर तैर सकते हैं परन्तु गाय, कुत्ते और बिल्ली को मनुष्य की तरह पानी पर तैरना सीखना नहीं होता। यह कार्य प्रकृति उसे सहज भाव से सिखलाती है और सहज ज्ञान से वह सीखता है अपने अर्धजाग्रत रूप में क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में। जानवर जब पानी में डूबने लगता है तो अपने को बचाने की प्रतिक्रिया, उसके विपरीत क्रिया, करता है और उसे तैरना आ जाता है, परन्तु मनुष्य को तो लगातार काफी दिन तक परिश्रम करना होता है, तब कहीं जाकर वह तैरना सीख पाता है। इस प्रकार मनुष्य सहज-ज्ञान से तैरना न सीख कर अपनत्व के ज्ञान से प्रयास और बुद्धि के संयोग से तैरना सीखता है। यही जानवर का सहज ज्ञान (Impulse) और मनुष्य का ज्ञान (Intelligence) है।

८. जहाँ यह कहा जाता है कि जानवर स्वभाव के भिन्न-भिन्न होते हैं वहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि वह भिन्नता एक ही जाति के जानवर-जानवर की नहीं है बल्कि जाति विशेषों की है। विभिन्न गायों के स्वभाव में वह अन्तर नहीं जो गाय और गधे में है, हाथी और ऊँट में है। प्रत्येक गाय और गधे में तथा हाथी और ऊँट में लगभग एक सा ही अन्तर होगा।

९. मनुष्य-जाति ऐसी है जहाँ व्यक्ति और व्यक्ति के स्वभावों में अन्तर है। जानवरों में जिस सहज-ज्ञान (Instinct) का हमने ऊपर जिक्र किया है वह विभिन्न प्रकार की जानवरों की जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का पाया जाता है। परन्तु इस सहज-ज्ञान (Instinct) को स्वज्ञान नहीं कहा जा सकता। स्वज्ञान मनुष्य का वह ज्ञान है जो व्यक्ति को व्यक्ति से प्रथक रखता है।

१०. घोड़ों के विषय में एलबर फील्ड का परीक्षण काफी युक्तिसंगत तथा ठीक प्रतीत होता है परन्तु इसमें यह भी सम्भव है कि परीक्षणकर्ता ने कुछ सांकेतिक प्रयोगों द्वारा घोड़ों को सधाया हो। इस प्रकार का सधाया जाना बुद्धि या ज्ञान का विकास नहीं माना जा सकता। उन घोड़ों ने उस कार्य को सीखने में कितनी गलतियाँ कीं, यह बात भी इस विषय में नोट करने की है, क्योंकि उसी के द्वारा उनकी बुद्धि का सही अन्दाज लगाया जा सकता है। यदि गलतियाँ बहुत अधिक होने पर किसी तरह परीक्षणकर्त्ता ने अपने परीक्षण की सफलता के लिए सांकेतिक प्रयोगों द्वारा घोड़ों को कुछ पढ़ा लिया तो यह घोड़ों का ज्ञान नहीं परीक्षणकर्त्ता की बुद्धिमत्ता मात्र है।

रेस (घुड़दौड़) खेलने पर अधिकाधिक कर लगाना चाहिए

पक्ष :

१. रेस खेलना एक जुआ है और यह मनुष्य को दुश्चरित्रता (Immorality) की ओर लेजाता है। जुआ मनुष्य की काम करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा न देकर उल्टा असहयोग प्रदान करता है। यह मनुष्य को भाग्यवादी बनाता है। भाग्यवादी मनुष्य का विश्वास अपनी कर्मठता से उठ जाता है और उसके जीवन का कार्यक्रम आत्मविश्वासी न रहकर एक मशीन की तरह चलने वाला अर्धजाग्रत-सा बन जाता है। वह मनुष्य न रहकर जानवर की स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

२. जुआ एक बुरी आदत है, जिसमें फंसकर आदमी काम-काज करना बन्द कर देता है और जो कुछ भी उसके पास अपनी जमा-पूंजी होती है उसे वह उसकी भेंट चढ़ा देता है। रेस खेलने वालों की वही दशा होती है। उनका अपना सर्वस्व रेस की भट्टी में स्वाहा हो जाता है।

३. अपना सर्वस्व स्वाहा हो जाने पर जुआरी रुपये की तालाश में, जुआ खेलने की टरक में, इधर-उधर दृष्टि फैलाता है और फिर उसका जुआ ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। उसी की पूर्ति के लिए वह घृणित से घृणित कार्य तक करने पर उतारू हो जाता है। वह अपनी स्त्री के जेवर से शुरू करके, घर के बर्तन-भांडों तक पहुँचता है और फिर जेबकटी की तरफ नजर जाने लगती है। रेस दुराचार की दिशा में मनुष्य को बढ़ावा देती है, इसलिए इस पर अधिकाधिक कर लगाकर सरकार को चाहिए कि इसे रोके ; बढ़ावा न दे।

४. रेस आरामतलबी (Luxury) सिखलाती है। आज के युग में आराम तलबी पाप है, समाज के प्रति अपने कर्तव्य की अवहेलना है। रेस में मनुष्य के समय का बहुत अपव्यय होता है। यह ऐसा फ़िज़ूल खर्च होता है कि जिसका कोई उपयोग नहीं, बल्कि हानि ही है। इसमें समय के साथ रुपये और प्रयत्नों का भी अपव्यय होता है। इतना रुपया, इतना समय और इतना प्रय न यदि किसी अन्य कार्य में लगाया जाय तो निश्चित रूप से कुछ-न-कुछ समाज हितकारी कार्य की सिद्धि हो।

५. रेसों पर सरकार को अधिकाधिक कर लगाना चाहिए। इन पर अधिक कर लगाने से गरीब लोग रेस खेलने की हिम्मत नहीं करेंगे और उनका यह व्यसन छूट जायगा।

६. रेस खेलने वाले अधिकांश शौकिया फिज़ूलखर्ची करने वाले वे मनचले नौजवान होते हैं जिनके पास रुपया बहुत कम मेहनत से आजाता है। ऐसे लोगों

पर अच्छा खासा कराग कर न लगाना भी सरकार की मूर्खता है।

७. यदि रेस के हर दाव पर छोटा सा भी टैक्स लगा दिया जाय तो निश्चित रूप से बहुत बड़ी धनराशि एकत्रित हो सकती है। दाव लगाने वाले लोग जहाँ दाव के लिए इतना रुपया जुटाते हैं वहाँ टैक्स के लिए भी आना दो आना जुटाना उनके लिये कठिन न होगा। इस प्रकार यह एकत्रित किया हुआ रुपया राष्ट्र के भले कामों में लगाया जा सकता है।

८. सिनेमाओं पर जब सर्वप्रथम एन्टरटेनमेंट टैक्स लगाया गया तो लोगों का विचार था कि इसके लगने से सिनेमा देखने वालों की तादाद घट जायगी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। सिनेमा देखने वालों की तादाद में कोई किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। इसी प्रकार घुड़दौड़ों पर दाव लगाने वालों के लिए टैक्स देना कोई विशेष अरुचिकर न होगा और वह उस पर खयाल भी नहीं करेंगे।

९. रेस खेलने वाले यदि इस टैक्स के खिलाफ आवाज भी उठायेंगे तो उन्हें साफ-साफ खेलना बन्द कर देने का आदेश दे देना चाहिए क्योंकि इसका खेलना बन्द कर देने से राष्ट्र की कोई हानि नहीं होगी ; उल्टा लाभ ही होगा।

विपक्ष :

१. जब रेस खेलने को आचरण से गिरी हुई वस्तु माना जाता है तो उसे टैक्स करने का सरकार को कोई अधिकार नहीं। गलत आचरण की चीजों को सरकार यदि अपनी आमदनी का जरिया बनाती है तो इससे गलत चीज को अच्छी और सरकार की सहायक वस्तु कहलाने का सर्टिफिकेट (Certificate) मिल जाता है।

२. बुराइयों को टैक्स लगाकर रोकना कोई माने नहीं रखता। उस दिशा में टैक्स लगाना कोई विशेष लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता। यदि बुराइयों पर टैक्स लगाकर सरकार आमदनी करने की बात सोचती है तो इसका स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि सरकार बुराई को बढ़ावा दे रही है।

३. सरकार को चाहिए कि जिसे वह बुराई समझे या करार दे उसे तुरन्त कानूनन रोकने का प्रयत्न करे। यदि सरकार अपने लालच के कारण उसे कानूनन बन्द न करके उस पर टैक्स लगाती है तो यह निन्दनीय कार्य है। सभ्य समाज इसे कभी भी उचित नहीं ठहरा सकता।

४. रेसों को भी यदि सरकार गलत समझती है और समझती है कि यह समाज के लिए अहितकर है तो उसे इनके दावों पर अधिकाधिक कर लगाने की प्रथा को अपनाना गलत होगा। इस प्रकार यह हो सकता है कि सरकार कुछ आर्थिक लाभ उठाले, परन्तु समाज पर इसका प्रभाव गलत ही पड़ेगा।

५. यदि सरकार रेस खेलने को बुरा और आचरण से गिरा हुआ नहीं मानती तो उसे उसकी तफरीह में भाग लेने वालों पर आवश्यकता से अधिक भार नहीं डालना चाहिए। रेस के दावों पर टैक्स लगा देने से खेलने वालों का साहस टूट जायगा और उनके मनोरंजन का एक साधन उनके हाथों से जाता रहेगा।

६. आवश्यकता की चीजों को टैक्स करना ऐश की चीजों को टैक्स करने की अपेक्षा सर्वदा कठिन होता है। इस टैक्स का वसूल करना भी उतनी ही टेढ़ी खीर है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस प्रकार के टैक्सों के वसूल करने में उतना खर्च आजाता है कि जितना वह टैक्स भी नहीं होता। ऐसी दशा में टैक्स लगाना ही व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार के टैक्सों का वसूल करना जितना कठिन है उनसे भाग निकलना उतना ही सरल है। इस प्रकार ऐश की चीजों पर लगाये गये बहुत से टैक्स केवल खयाली पुलाव मात्र ही बन कर रह जाते हैं, किसी के हाथ-पल्ले कुछ नहीं पड़ता।

७. यदि सरकार ने रेसों पर टैक्स लगा दिया तो इन पर सरकारी मुहर लगकर यह साबित हो जायगा कि वहां पर हर सभ्य अच्छे चरित्र का व्यक्ति जा सकता है। कुछ लोग जो इसे आज जुआ समझ कर इससे बचे हुए हैं, वे भी इसमें फंस जायेंगे। बहुत से नौजवान जो सभ्य सोसाइटियों के भय से ही वहां नहीं जाते, फिर जाने लगेंगे।

८. अन्य किसी प्रकार के जुओं में जो दाव लगाये जाते हैं उनसे राष्ट्र का कोई हित नहीं होता। परन्तु घुड़-दौड़ों में ले जाने के लिए अच्छी नस्ल के घोड़ों का पालन-पोषण होता है, उनकी दाश्त होती है और उन्हें बड़ी सुरक्षा के साथ रखा जाता है। ये घोड़े देश की सम्पत्ति हैं, जिनसे समय-समय पर और भी बहुत से काम लिए जा सकते हैं। इसके दावों पर टैक्स लगा देने से जो लोग इनमें भाग लेंगे उनका साहस टूट जायगा और घोड़ों की नस्लों का बढ़ता हुआ काम रुक जायगा। यह राष्ट्र की बहुत बड़ी हानि होगी और अच्छे तेज घोड़ों की पैदावार बन्द हो जायगी।

९. बुक-मेकर्स (Book makers) लोग इन्कम टैक्स के रूप में सरकार को काफी रुपया देते हैं। यदि इस टैक्स से उनकी आय ही बन्द हो गई और उन्हें यह काम बन्द कर देना पड़ा तो निश्चित रूप से उन्हें हानि होगी वरन् उनके काम बन्द कर देने से सरकार की आय भी बन्द हो जायगी।

१०. सिनेमा पर एन्टरटेनमेन्ट टैक्स लगने से देखने वालों की कमी नहीं हुई, यह कहना कठिन है। यदि यह टैक्स हटा दिया जाय तो देखने वालों की संख्या निश्चित रूप से बढ़ जायगी। बिलकुल यही दशा रेस की भी है।

क्या टैलीविज़न पढ़ने की कला का स्थान ग्रहण कर सकता है ?

पक्ष :

१. ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होगा त्यों-त्यों व्यक्ति के पास व्यर्थ आराम-तलबी में नष्ट करने के लिए समय कम रहेगा। नाटक, सिनेमा, बेतार के तार के प्रोग्राम, हर किस्म के खेल इत्यादि आपस में एक-दो घंटे के लिए होड़ (compete) लगाते हैं, ताकि जिससे मनुष्य को उसके आराम के समय में अधिक से अधिक अपनी ओर आकर्षित कर सकें। पढ़ना भी मनुष्य के लिए अपने इसी आराम के समय में सम्भव है और यदि यह समय टैलीविजन ने ले लिया तो बहुत कुछ पढ़ने का काम सुनने और देखने से पूरा हो जायगा। ऐसी दशा में बहुत से लोग पढ़ने की तबालत से अपने को मुक्त करना पसंद करेंगे और पढ़ना तथा लिखना दोनों कार्य एक ही साथ सम्भव भी नहीं हो सकते।

२. टैलीविज़न के कार्यक्रम पर देखने में मनुष्य को पढ़ने की अपेक्षा कम परिश्रम करना होता है। इसलिए अपने श्रम की कमी के लिए भी मनुष्य पढ़ने पर टैलीविजन कार्यक्रम को तरजीह देगा। दिन भर के कठिन परिश्रम के पश्चात् हर व्यक्ति आराम और मनोरंजन चाहता है। यह आराम और मनोरंजन उतनी किताबें नहीं दे सकती जितना टैलीविजन प्रदान कर सकता है।

३. टैलीविजन के पर्दे पर भाव और वस्तु चित्रित हो उठेगी। उसे देखने वाला व्यक्ति अधिक प्रभावित होगा बनिस्बत उसके कि जो बेचारा पुस्तकों में सिर खपाता रहेगा। टैलीविजन दर्शक के लिए उतना ही चित्रमय साकार दृश्य उपस्थित करने में सफल होगा जितना सिनेमा और थियेटर। टैलीविजन पर बड़े-बड़े लोगों के तथा महत्त्वपूर्ण समारोहों के चित्र देखने को मिलेंगे। दर्शक महसूस करेगा कि मानो वह उनके पास ही खड़ा यह सब कुछ देख रहा है। विश्व के जीवन में नित्य-प्रति घटने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाएँ आँखों के सामने आकर नाच उठेंगी और उनका साकार रूप देखने को आकर्षित करने में पूर्ण रूप से सफल होगा।

४. टैलीविजन द्वारा दर्शक घटनाओं की अधिक गहराई तक पहुँच सकेंगे। टैलीविजन द्वारा अधिक विद्या का प्रसार सम्भव है। आज का अध्यापक-वर्ग भी यह महसूस कर चुका है कि आँखों से दिखला कर तालीम देना पाठ्य-पुस्तकों के पढ़ने से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

विपक्ष :

१. यह सच है कि आधुनिक सिनेमा, बेतार का तार तथा अन्य मनोरंजन के आविष्कारों ने पढ़ने की कला की उन्नति में बाधा डाली है, परन्तु आज यह सम्भव अवश्य है कि टैलीविजन को जो दर्शक मिलेगा वह सिनेमा या थियेटर इत्यादि के क्षेत्र का होगा, पढ़ने के क्षेत्र का नहीं।

२. पुस्तकों की एक सबसे बड़ी सहूलियत यह है कि इन्हें चाहे जब और जहाँ ले जाना हो, लेजाया जा सकता है। इन्हें पाठक चाहे जब और जहां पढ़ सकता है। अपना हर फुर्सत का समय वह पुस्तकों की दुनियां में बिता कर रंगीन और ज्ञानप्रद बना सकता है।

३. पुस्तकें आदमी को नहीं बांधतीं, टैलीविजन बाँधता है। एक निश्चित समय पर निश्चित स्थान पर ही पहुँच कर टैलीविजन का लाभ उठाया जा सकता है, पुस्तकें सहेली के रूप में अपना साथ निभा सकती हैं। पुस्तकें अपने में अपना ज्ञान और मनोरंजन समेट कर एक ऐसी डिबिया का रूप धारण कर लेती हैं कि जिसे पाठक हर समय अपनी जेब में रख कर घूम सकता है। मैंने बसों में, बागों में, नहरों के किनारे, एकान्त स्थान पर बालिकाओं और युवतियों को नाविल पढ़ते देखा है। यह टैलीविजन के लिए सम्भव नहीं।

४. टैलीविजन के पर्दे पर देखने की अपेक्षा किसी पुस्तक की दस पंक्तियां पढ़ने में आँखों को कम श्रम होता है। सभी लोग जो दिन भर के परिश्रम के पश्चात् थकान दूर करने का साधन खोजते हैं वे सब यह जरूरी नहीं कि पढ़े लिखे ही हों। जो पढ़ने के शौकीन हैं केवल वही पढ़ने की ओर झुकते हैं। बिना पढ़े लिखे लोगों के लिए सिनेमा मनोरंजन का अच्छा साधन है। परन्तु थकान दूर करने के लिए पढ़ने वाले को नाविल भी कुछ कम मनोरंजन की सामग्री अपने में नहीं रखता।

५. टैलीविजन द्वारा किसी घटना विशेष का चित्र मात्र सामने आ सकता है; उसका वह कलात्मक चित्रण और स्पष्टीकरण नहीं जो पुस्तक लिखने वाला करता है। चित्र में छोटी-छोटी भावनाएँ और कल्पनाएँ तो उठ ही नहीं सकतीं एक उपन्यासकार जब किसी घटना को लेता है तो उस घटना में भाग लेने वाले व्यक्तियों के चरित्रों को भी निखार कर सामने रख देता है। लेखक के रंगीन सपने घटना की सच्चाई को बल प्रदान करते हैं और दूसरी ओर टैलीविजन द्वारा रीता-थोता चित्र मात्र ही सामने आता है। इस दशा में टैलीविजन द्वारा चित्रित समाचार कभी भी उपन्यास के घटना-वर्णन से अधिक प्रभावशाली असर अपने में नहीं रख सकते। वहां यह अंतर अवश्य है कि टैलीविजन का उपयोग

बिना पढ़े और पढ़े दोनों समान रूप से कर सकते हैं। परन्तु जब हम पुस्तक की बात करते हैं तो हमें विश्व के बिना पढ़े लिखे समाज को उठा कर एक ओर रख देना होता है।

६. पुस्तक पढ़ने का आनंद एक ऐसा आनन्द है कि जो अपने में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कायम रखता है। टैलीविजन या सिनेमा इत्यादि में कोई भी एक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता से हंस बोल नहीं सकता, उसे दूसरों का ध्यान रखना होता है। टैलीविजन में जब किसी पूरे किस्से को देखना होगा तो एकटक ध्यान लगाकर बैठ जाना होगा; क्योंकि यदि बीच में कहीं पर भी कथा का तारतम्य टूट गया तो निश्चित रूप से कथा का आनन्द ही नहीं जाता रहेगा वरन् कथा समझ में भी नहीं आयेगी और सिलसिला बे-सिलसिला हो जायगा। पुस्तक पढ़ने में पाठक कहीं पर भी पढ़ना बन्द करके दूसरी ओर ध्यान लेजा सकता है, घंटा-दो-घंटा बाद पढ़ सकता है या दिन-दो-दिन का भी यदि उसमें समय गुजर जाय तो तब भी कथा का मजा और तारतम्य नहीं टूटता। इतने अटूट आनन्द के श्रोत को टैलीविजन कम करदे यह सम्भव नहीं दिखलाई देता।

७. समाचार आज रेडियो द्वारा भी प्रसारित किये जाते हैं और दैनिक पत्रों में भी आते हैं परन्तु दैनिक पत्रों का पढ़ने वाला कभी भी रेडियो से संतोष नहीं कर सकता। फिर रेडियो से सुनने के लिए सुनने वाले को समय का पाबन्द होना होता है और अखबार किसी भी फुर्सत के समय पढ़ा जा सकता है। टैली-विजन या सिनेमा व्यक्ति को अपने समय के अनुसार बाँधते हैं और पुस्तकों को पढ़ने वाला अपने पढ़ने के समय के अनुसार बांध सकता है। आज यदि किसी को सिनेमा जाना है तो वह सिनेमा के अपने मन चाहे समय नहीं बना सकता। उसे निश्चित समयों का उपयोग करना होगा, जब भी वह सिनेमा देखना चाहेगा। व्यक्ति के कार्यक्रम पर इस प्रकार टैलीविजन एक बन्दिश बन कर आता है।

८. टैलीविजन, कुछ भी सही, फिर भी एक मनोरंजन का ही साधन मात्र होगा। यों साधारणतया भूले-भटके उससे कुछ ज्ञान मिल जाये तो कोई बात नहीं परन्तु वह ज्ञान का साधन या माध्यम के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। आज के युग में सिनेमा शिक्षा का एक बहुत बड़ा माध्यम बन सकता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि जितनी फिल्में बनती हैं उनमें से अधिकांश ऐसी होती हैं जो विचारात्मक क्षेत्र में घुमने का प्रयास ही नहीं करतीं। मानव की छिछली भाव-नाओं को उकसाना-मात्र ही इस मनोरंजन के साधन का काम दिखलाई देता है। परन्तु पुस्तकों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। पुस्तकें ज्ञान की भण्डार हैं और इस ज्ञान के भण्डार की ओर से साधारण मनोरंजन के साधनों को पाकर मनुष्य उदासीन हो उठेगा ऐसा प्रतीत नहीं होता; यह सम्भव ही नहीं।

बर्थ-कंट्रोल क्यों आवश्यक है ?

पक्ष :

१. मनुष्य यदि मनुष्यों की उत्पत्ति को भी उसी प्रकार कुदरत के हाथ में सौंप दे जिस प्रकार पौधे, वृक्ष और जानवर रहते हैं, तो निश्चित रूप से मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ जायगी और उनकी आवश्यकता की जो सामग्री संसार में उपलब्ध हैं वह उनके लिए कम साबित होगी।

२. मनुष्य-जाति की इस बढ़ती हुई आबादी के सामने जब इसकी आवश्यकताओं का प्रश्न आकर खड़ा होगा तो बड़े और छोटे की शक्तियों की आजमायिश की जाने लगेगी और बड़ा छोटे पर हावी होकर उसका हक उससे छीन लेगा। परन्तु यह तरीका अमानुषिक होगा और यह भी सिद्ध करेगा कि मनुष्य ने जो कुछ भी उन्नति की है वह सब व्यर्थ हो गई। मनुष्य ने प्रकृति पर जो अधिकार प्राप्त किया है वह जाता रहा और इसीलिए उसने अपने सामने एक इस प्रकार की अमानुषिक समस्या खड़ी कर ली जिसमें मानव का संघर्ष लाजमी हो गया।

३. शताब्दियों से मनुष्य पौधों और जानवरों की पैदावार पर कंट्रोल करने का प्रयत्न कर रहा है। परन्तु पौधों और जानवरों के तजुर्बों को मनुष्य के लिए अभी तक पूरी तरह इस्तेमाल नहीं किया जा रहा। यह प्रयोग अभी अपनी प्रारम्भिक दशा में ही है। आज इसकी नितान्त आवश्यकता है क्योंकि विश्व के कोने-कोने में, हर देश में, आबादियाँ बढ़ती जा रही हैं और वहां की सरकारें उसकी रोक-थाम के लिए चिंतित हैं।

४. किसी भी देश में उसकी आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन अपरिमित नहीं हो सकते। फिर उनमें नित्य-प्रति कमी ही होती जाती है। ऐसी दशा में आबादी का बढ़ना शुभ लक्षणों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि सभी देशों में, और विशेष रूप से भारत में, जहाँ की आबादी बहुत तेजी के साथ बढ़ रही है, स्थान-स्थान पर बर्थ कंट्रोल क्लीनिक खुलें। इनकी सहायता से लोग अपने परिवारों की अंधा-धुंध बढ़ती हुई संख्या को रोक सकते हैं।

५. इस दिशा में उचित डाक्टरी परामर्श और सहायता उपलब्ध होने पर गैर कानूनी बच्चे गिराने की प्रथा एक दम धीमी पड़ जायगी। यों साधारण रूप से इस प्रकार की हत्याओं की संख्या खोज निकालना साधारण काम नहीं और निश्चयात्मक रूप से कोई संख्या नहीं बतलाई जा सकती। फिर भी इसकी संख्या काफी बड़ी है। इस प्रकार की घटनाएँ लाखों की संख्या में होती हैं और क्योंकि

उससे गलती कर बैठने के पश्चात मुक्ति का कोई साधन नहीं रहता इसलिए उसे गिरा देने का ही प्रयत्न किया जा सकता है। इस गिरा देने के प्रयास में कभी-कभी स्त्रियों को भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ जाता है, क्योंकि यह कार्य इतना सरल नहीं कि फोड़े को चीरा दिया और मवाद निकाल कर बाहर फेंक दिया। बहुत सी स्त्रियाँ यदि मर नहीं जाती हैं तो मरने के अनकरीब अवश्य पहुँच जाती हैं और जिन्दगी भर के लिए रोगी बन जाती हैं। एक क्षण की भावनात्मक गलती का मूल्य उन्हें जिन्दगी भर की स्वास्थ्य-बर्बादी से चुकाना होता है। यह सौदा काफी मँहगा है और इसमें काफी कमी आ सकती है यदि बर्थ-कंट्रोल के डाक्टरी केन्द्र स्थापित हो जायें।

६. बर्थ-कंट्रोल से स्त्री और पुरुष दोनों के स्वास्थ्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। उनका स्वास्थ्य बराबर अच्छा होता जाता है और उनके सेक्स-प्रयोगों में भी किसी प्रकार की उत्तेजनक्षीणता नहीं आती। यदि किसी व्यक्ति विशेष के सेक्स-प्रयोगों में कुछ क्षीणता का अनुभव होता है तो निश्चित रूप से उसका कारण बर्थ-कंट्रोल नहीं है। इस प्रकार की क्षीणता के अन्य भी अनेकों कारण हो सकते हैं।

७. पैदावार की बढ़ोतरी किसी हद तक ही प्रशंसनीय कहला सकती है। अधिक बच्चे पैदा करने को कहीं-कहीं अधिक पुरुषार्थ की संज्ञा दी जाती है। यदि बच्चे पैदा करना ही पुरुषार्थ है तो मछली मनुष्य से कहीं बेहतर है जो एक बार में हजारों अण्डे देती है और एक दिन वह आजायगा कि जब मछली अपने पुरुषार्थ के बल पर मनुष्यों पर छा जायगी।

८. बर्थ-कंट्रोल का प्रयोग वास्तव में सन्तान की कमी के लिए किया जाता है, संतान बन्द कर देने के लिए नहीं किया जाता। गरीब लोगों के जीवन-स्तर ऊँचे होते ही उन्हें अपने परिवारों में कमी करने की बात सोचनी पड़ती है। बच्चों को कोरे आर्थिक दृष्टिकोण से ही नहीं देखा जाता, कुछ और भी बड़े दृष्टिकोण हैं जो बच्चों के सम्बन्ध में सामने आते हैं। आज के युग में बड़े-बड़े परिवार केवल कुछ बिना पढ़े-लिखे और कम ज्ञान वाले लोगों के बीच ही पाये जाते हैं। आज संसार में कोई ऐसा सभ्य देश नहीं है जहाँ, बावजूद धार्मिक प्रचार की मुखालिफत के भी, किसी न-किसी अंश में किसी-न-किसी जाति में बर्थ-कट्रोल को न अपना लिया गया हो।

९. स्त्री अपना सारा जीवन सिर्फ बच्चों को पैदा करने और उन्हें पालने में ही लगा दे, यह वह आज पसन्द नहीं करती। स्त्री के भी अपने जीवन के दूसरे पहलू हैं और वह उन पहलुओं पर कोई क्रियात्मक कार्य उस समय तक नहीं कर सकती जब तक कि उसे इस बच्चे पैदा करने के काम से मुक्ति न मिल जाय।

वर्थ-कंट्रोल ही एक ऐसा साधन है कि जिसके द्वारा स्त्री को इस बच्चे जनते रहने और पालते रहने के कार्यक्रम से मुक्ति मिल सकती है।

१०. पुरुष अपने सेक्स की पूर्ति करता हुआ भी जीवन की सब दिशाओं में सफलता पूर्वक चलता चला जाता है, परन्तु स्त्री के लिए यह कठिन है। उसका सेक्स उसके मार्ग में बाधा उपस्थित करता है। सेक्स की कमजोरी का समाधान और जीवन की विभिन्न दिशाओं में प्रगति का मार्ग केवल वर्थ-कंट्रोल ही खोलता है। वर्थ-कंट्रोल इस दिशा में स्त्रियों के मार्ग की रुकावटों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाला प्रवाह है।

११. कुछ वर्थ-कंट्रोल के विरोधी विचार रखने वालों का मत है कि वर्थ-कंट्रोल छोटे परिवार या केवल स्त्री और पुरुष दो को ही रहने का बढ़ावा देता है। यह बात निर्मूल है। वर्थ-कंट्रोल में कहीं पर भी उत्पत्ति के निर्मूल नाश की भावना नहीं मिलती; केवल मात्र उसे किसी हद पर रोकने की धारणा रखता है और यह बहुत कुछ हद तक राष्ट्र के लिए तथा उस परिवार तथा परिवार संचालकों के लिए ठीक ही है। अनियंत्रित पैदावार की दशा बरसाती पैदावार की सी हो जाती है और उसका मूल्य भी गिर जाता है। परिवारों की आर्थिक दशा को देख कर भी बच्चों की पैदावार नियंत्रित करना बहुत आवश्यक है।

१२. कुछ लोग कहेंगे कि इससे चरित्रहीनता को बढ़ावा मिलेगा और जो थोड़ा बहुत बन्धन लड़के और लड़कियों के बीच बना है, वह समाप्त हो जायगा, तो यह सब व्यर्थ की बातें हैं। बहने वाले रुकते नहीं और वे रुकते हैं तो तभी रुकते हैं जब उनके दुष्परिणामों को अपनी आँखों से देख लेते हैं। यह परिस्थिति हर इन्सान की होती है। पुराने जमाने में भी इस तरह की मिसालें मिलती हैं। स्वतंत्रता वास्तव में स्त्री और पुरुष को उनके चरित्रों पर दृढ़ बनाती है, बिगाड़ती नहीं। उनमें अपने जीवन-संचालन की क्षमता पैदा करती है, उन्हें भेड़ और बकरियों के समान दूसरों के संकेतों पर चलने की प्रेरणा नहीं देती। जब व्यक्ति में स्वतंत्रता पूर्वक चलने की क्षमता आजाती है तो वह इस प्रकार साधारण रूप से गलत मार्ग नहीं अपना सकता। वर्थ-कंट्रोल व्यक्ति का अपना स्वतंत्र मार्ग निर्धारित करने में सहायक होता है तथा साथ ही उसे आर्थिक दबाव से भी बचाता है।

विपक्ष :

१. खाने और कपड़े की कमी का खतरा, जब तक कि वह किसी विशेष कारणवश नहीं पैदा हो गया है, साधारणतया स्थायी नहीं कहा जा सकता। गत महायुद्ध के कारण बहुत सा कपड़ा और खाने की सामग्री व्यर्थ नष्ट हो गई

और इस प्रकार विश्व को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यह परेशानी कुछ बनावटी रुकावटों तथा सट्टे के कारण भी जनता के सामने आई।

२. प्राचीन काल के इतिहास पर यदि दृष्टि डालें तो हमलावरों की कहानियाँ बतलाती हैं कि उन्होंने अपने अधिकांश हमले रोटी और कपड़े की कमी के कारण नहीं किये वरन् वह आक्रमण कीमती हीरे-जवाहरातों और लोभ-लालच के ही लिए किये।

३. भारत जैसे देश में खाने की कमी का कारण यह नहीं कहा जा सकता कि केवल यह कारण है कि यहाँ की आबादी बराबर बढ़ती जा रही है, वरन् यह इसलिए है कि यहाँ की न तो सारी जमीन से ही उपयोगी उत्पादन का काम लिया जा रहा है और जितनी जमीन से लिया भी जा रहा है उससे भी आधुनिकतम खेती के अधिक उत्पादन करने वाले तरीकों से नहीं लिया जा रहा। इसके कारण हैं पैसे का अभाव, टैक्नीकल विद्या की कमी, तालीम की कमी और कर्त्तव्य को ईमानदारी से निभाने का अभाव। भारतीय जनता का रूढ़िवादी दृष्टिकोण तथा प्रगतिशील तरीकों के प्रति अविश्वास भी इस तरक्की में बाधक है।

४. आदमी के अपने अन्दर और वैज्ञानिक अनुसंधानों के साधनों के अन्दर इतनी शक्ति और दौलत भरी पड़ी है कि कैसी भी बढ़ती हुई मनुष्यों की आबादी उसके मुकाबिले में आगे नहीं बढ़ सकती। मनुष्य की अपनी शक्तियों के सही इस्तेमाल यदि वैज्ञानिक तरीकों पर प्रकृति के साधनों द्वारा चलते रहते हैं तो बढ़ती हुई आबादी बिना किसी दिक्कत बहुत आराम से जिन्दगी बसर कर सकती है।

५. बनावटी तरीकों से पैदाइश पर रोक-थाम करना नैतिकता और सदाचारिता से गिरी हुई बात है। बच्चों की उत्पत्ति को रोकने वाले इस प्रकार के बनावटी तरीके निश्चित रूप से स्त्री और पुरुष के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

६. बर्थ-कंट्रोल के पश्चात यदि पहले बच्चे की मृत्यु हो जाय तो गृहस्थी का जीवन दुःखमय हो जाता है। जो व्यक्ति प्राकृतिक रूप से अपनी इन्द्रियों पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकते उन्हें इस प्रकार के तरीके अपनाने होते हैं परन्तु ये तरीके न तो स्वास्थ्य के ही विचार से लाभप्रद हैं और न नैतिकता के ही विचार से।

७. बर्थ-कंट्रोल की सुविधा दुराचारी व्यक्तियों को अपनी कामनापूर्ति के साधन खोजने में सुगमता प्रदान करेगी और इससे निश्चित रूप से दुराचार को प्रश्रय मिलेगा। आचरण का आधुनिक स्वरूप तो लोगों की नजरों के सामने से उठ ही जायगा। उनके आचरण के सिद्धांत ही नये बन जायेंगे। स्त्रियों के लिए यह ठीक है कि अनेकों दिशाओं में भाग दौड़ के मार्ग उतने खुले हुए नहीं जितने पुरुष के लिए हैं, परन्तु स्त्री उन सभी कार्यों को कर भी तो नहीं सकती जिन्हें आदमी करता है।

८. बच्चे पैदा करना स्त्री का सबसे बड़ा लक्षण और गुण है। जो पेड़ फल नहीं देता, वह व्यर्थ है। इसी प्रकार जो स्त्री बच्चा पैदा नहीं कर सकती वह नारी-धर्म के निभाने में अपूर्ण है। बच्चा पैदा करने के बनावटी प्रतिबन्ध लगाने से स्त्री का स्त्रीत्व नष्ट हो जाता है और उसके जीवन का जो प्रवाह उसकी सन्तानों में होता वह रुक जाता है। मनुष्य-जाति की प्रगति रुक जाती है। बर्थ-कंट्रोल मनुष्य जाति की प्रगति में एक महान् बाधा है, भय है।

९. बच्चों की कमी का प्रश्न वहाँ उठता है जहाँ उनके पालन-पोषण के साधनों की कमी होती है। हमारी सरकारें तो आज जब आम आदमी को रहने की अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले बैठी हैं तो आम आदमी को बच्चे अधिक पैदा करने से भयभीत नहीं होना चाहिए। रूस में इस दिशा में भयभीत होने का कोई कारण दिखलाई नहीं देता। आज के युग में मकानों की व्यवस्था भी बड़े मकानों की ही ओर झुकी हुई है। इसके आकार पर भी एक बड़े परिवार का दो एक स्थान पर रहना ही अधिक युक्ति संगत रहता है न कि बर्थ कंट्रोल द्वारा परिवारों की काट-छाँट कर डाली जाय और उसके स्वाभाविक विकास को स्वतंत्रता न दी जाय।

१०. यह कहना कठिन है कि आज के युग में मनुष्य के रहन-सहन का स्तर ऊपर उठ गया है या इस रहन-सहन को ऊपर उठाने में बर्थ-कंट्रोल ने कुछ सहयोग प्रदान किया है। आत्मिक गिरावट की पूर्ति भी किसी सांसारिक लाभ से होनी असम्भव है। धार्मिक दृष्टि से बर्थ-कंट्रोल को अपनाना पाप है, प्रकृति के विकास में बाधा है, अमानुषिक है।

११. सन्तानवृद्धि को रोक देने से स्त्रियों के पास जो समय बचता है वह अधिकांश व्यर्थ ही नष्ट होता है। शृंगार, सिनेमा, मटरगश्त, गप्पें इत्यादि में ही उनका समय निकल जाता है। इस प्रकार बर्थ-कंट्रोल की दी गई सुविधा, कि जिसके अन्दर नारी मानव-कल्याण के मार्ग पर सेवा-कार्य कर सके, व्यर्थ ही सिद्ध होती है।

१२. जो स्त्रियाँ कारखानों, स्कूलों या अन्य कहीं और कुछ धंधा कर बैठती हैं, उनका पारिवारिक जीवन नष्ट हो जाता है। पारिवारिक जीवन में गाड़ी के दो पहिये हैं, एक स्त्री तथा दूसरा पुरुष। स्त्री घर-गृहस्थी का काम-काज देखती है और पुरुष घर से बाहर का, अर्थात् रोजगार का, काम-काज का।

१३. बर्थ-कंट्रोल का आखरी परिणाम यह होता है कि परिवारों के सदस्यों की संख्या घट जाती है। इंगलैण्ड में अधिक-से-अधिक परिवारों के अन्दर एक, दो या तीन बच्चे हैं। इससे पारिवारिक शक्ति का ह्रास होता है।

१४. बर्थ-कंट्रोल की सुविधाओं ने चारित्रिक ढिलाई को यहाँ तक प्रश्रय

८. बड़े परिवार के बच्चे का नजरिया वसीह होगा, तजुर्बा वसीह होगा और साथ ही उस नजरिये और तजुर्बे के आधार पर आगे बढ़ने की हिम्मत भी भी वसीह होगी। जितना साहस बड़े परिवार के आदमी में होगा उतना साहस छोटे परिवार के आदमी में नहीं होगा। छोटे परिवार का आदमी खतरे का काम करते हुए डरेगा क्योंकि उसे सोचना होगा कि यदि वह किसी आपत्ति में फंस गया तो उसके परिवार को कौन संभालेगा। परन्तु जहाँ परिवार की चिंता आदमी के सिर पर न हो, वहाँ व्यक्ति असीम साहस के साथ काम कर सकता है। पीछे देखने की उसे आवश्यकता ही नहीं, उसकी सरकार पर उसका उत्तरदायित्व है। यह समस्या परिवार और राष्ट्र के सामने समान रूप से चलती है।

९. बड़े परिवार के बच्चे बहुत से लोगों से सभ्यता सीखते हैं। विश्व के सभी नाते उनके अपने परिवार में ही होते हैं। उन्हें उन सबका ज्ञान हो जाता है। छोटे परिवार का बच्चा कूप-मंडूक की दशा में ही चलता जाता है। अपने को सब कुछ मानकर, अपनी ही आवश्यकताओं में सीमित तथा संकुचित दृष्टिकोण वाला छोटे परिवार का व्यक्ति संसार के उतने नाते नहीं निभा सकता जितने नाते बड़े परिवार वाला निभा सकता है। उसमें मिलकर चलने और अपना दूसरे को छोड़ने की सामर्थ्य रहेगी। छोटे परिवार वाला इस प्रकार विचार कर ही नहीं सकता। अपने में सीमितता और अप्रतिशीलता तो उसके जीवन में जन्म से ही प्रवेश कर जायेगी। उस व्यक्ति का विकास सीमित बन जायगा। इस प्रकार परिवार का बड़ा होना असीमित दृष्टिकोण सुझाता है और परिवार का छोटा होना सीमित।

१०. बड़े परिवार में समाज की भावना उसके अन्दर जाग्रत होगी। दूसरों के दुख-दर्द, शादी-ब्याह में शामिल होने की उत्सुकता पैदा होगी, एक दूसरे के आचरण और व्यवहार का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ेगा। आचरण का क्रमिक विकास बड़े परिवार के हर व्यक्ति में देखने को मिलेगा। छोटे-बड़े की मान्यता के पूर्ण ताने-बाने से उसका परिचय होगा। एक दूसरे की दिक्कतों का उसे ज्ञान होगा। छोटे परिवार वाले व्यक्ति के लिए एक दूसरे की दिक्कतों को समझना भी कठिन है।

११. देश की सुरक्षा के विचार से देश के अन्दर अधिक से अधिक जन-संख्या का होना आवश्यक है। फ़ौज देश की वह आवश्यकता है कि उसके बिना देश का कोई भी कारोबार ठीक स्थिति में नहीं चल सकता। इस सुरक्षा को बनाये रखना ही संसार में शांति स्थापित रखना है। इस शांति की रक्षा करना मनुष्यमात्र का धर्म है। इसलिए बढ़ती हुई जन संख्या को रोकना आज की दशा में शांति के साधनों को रोकने के समान है। आज विश्व के प्रांगण में एक ओर जन समुदाय डटा हुआ है, अपनी संसार की अधिकाधिक दलित मानव-जाति के हितों को

लेकर, और दूसरी ओर चन्द सोने चांदी के गुलाम और चन्द दिमागी अय्याशों का गुट। वैज्ञानिक अनुसंधानों के मानव-अहितकारी दुरुपयोग पर यह गुट अपनी शक्ति को संधाना चाहता है। इस शक्ति का मुकाबिला मानव को अपनी जनसंख्या में अधिकाधिक बढ़कर करना चाहिए।

१२. युद्ध में सर्वदा देखा गया है कि फ़ौज की अधिक संख्या ही विजय प्राप्त करती है। मनुष्य को गाजर-मूली की तरह नहीं काटा जा सकता। जिस दिन मानव इतना बड़ा दानव बन जायगा उस दिन हो सकता है शांति का संरक्षक मानव उसमें निगला जाय परन्तु मानव को भी अपनी शक्ति गिरने नहीं देनी चाहिए और सशक्त होकर उस दानव को ललकारना चाहिए, पछाड़ना चाहिए। इस सबके लिए बढ़ती हुई जन-संख्या की आवश्यकता है।

१३. १८४० में फ्रांस को जर्मनी से केवल कम जन-संख्या के कारण ही हार माननी पड़ी थी। फिर जर्मनी के विरुद्ध यह रूस और अमरीका की बड़ी फौजें ही थीं कि जिन्होंने विजय हासिल की। गत महायुद्ध के यह दोनों ही ज्वलंत उदाहरण इस बात के हैं कि जन-संख्या का महत्त्व आज भी सबसे अधिक है।

१४. सिद्धान्त रूप से यदि आबादी बढ़ने पर रोक-थाम की जाय और वह सफल हो जाय तो देश की आर्थिक दशा सुधरनी चाहिए। परन्तु फ्रांस की आज आबादी की पूरी रोक-थाम के बावजूद, आर्थिक दशा उसके पड़ौसी देशों से अच्छी नहीं है। बेल्जियम और हालैण्ड फ्राँस से अधिक दिन के बसे देश हैं और फिर भी वहाँ के आदमी के रहन-सहन का स्तर (living-standard) फ्राँस के आदमी से बहुत ऊँचा है।

१५. आज फ्राँस और ब्रिटेन की आबादी इतनी कम होगई है कि वहाँ के आर्थिक ढांचे को चलाने के लिए उनके पास काफी लेबर नहीं है और उन्हें यह लेबर विदेशों से मंगानी पड़ रही है। इसका प्रभाव किसी दिन यह भी हो सकता है कि अपना व्यवसाय विदेशों की लेबर के हाथों में जाकर पूरी तरह जाम न हो जाय।

१६. यदि समाज का चारित्रिक ढाँचा सही है और पारिवारिक जीवन में आने वाली बनावटी दिक्कतों को दूर कर दिया जाय तो बहुत से सामाजिक नियमों के बनाने की आवश्यकता होगी, जिसमें कि बच्चों के संरक्षक उन कामों को करने के लिए बखुशी तैयार हो जायेंगे कि जिनमें उनकी दिलचस्पी है।

१७. रहने के घरों की समस्या ऐसी नहीं कि जो हमेशा बनी रहे। पुराने शहरों के सुधार, नये क़सबों के बनने और गांवों के बड़े होजाने से यह समस्या कुछ दिन में आप-से-आप हल हो जाती। जनसंख्या का विकास साधनों के बिना चल रहा था। इस साधारण विकास में गत महायुद्ध ने बाधा डाल कर

विश्व की सतह पर कुछ लहरें पैदा कर दीं। आज भी जब युद्ध की चर्चा कानों में आती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन लहरों में भी फिर से कहीं तूफ़ान न उठ खड़ा हो। विश्व का जीवन अशान्त होकर कहीं फिर न अपने विकास को रोक बैठे।

विपक्ष :

१. किसी भी देश की आबादी बिना उस पर रोक-थाम के साधनों के जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ सकती है। आबादी का जरूरत से ज्यादा बढ़ना कभी भी देश और राष्ट्र के लिए हितकर नहीं हो सकता। बढ़ती हुई आबादी की इच्छाएँ अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए साम्राज्यवाद की भावना से प्रेरित होने लगेंगी। जिन देशों को इस प्रकार की प्रवृत्ति में सरकार से बढ़ावा मिलेगा उस देश के लोग इस दिशा में प्रयत्नशील हो उठेंगे। गत युग और आज उनके ध्वंस-युग के खंडहरों को देखने से पता चलता है कि साम्राज्यवाद की इस इमारत की नींव में बढ़ती हुई आबादी को ऊँचे स्तर के साथ रहने की आवश्यकता-मात्र ही थी।

२. जिन देशों में सरकार ने बावजूद उनकी बढ़ती हुई आबादी के न तो उन्हें विदेशों में जाने का ही साधन दिया और न अपने देश की खेती और उद्योग तथा तिजारत में ही उन्नति की, उन देशों में बढ़ती हुई आबादी ने समाज का स्तर गिराया। लोगों के रहन-सहन नीचे की दिशा में आये। जनता में बेरोज़गारी फैली और अशांति का पलड़ा नीचे झुका। हिन्दुस्तान की दशा इसी प्रकार की रही है। यहाँ के रहन-सहन का स्तर गिरा है। यहाँ का काम करने वाला बेरोज़गार है, उसके काम का कोई ठिकाना नहीं। सरकार की ओर से कोई ऐसा काम नहीं कि जहाँ हर बेरोज़गार को काम मिल सके। यहाँ अधिक बच्चे पैदा होने पर सरकार कोई सहायता नहीं करती। बच्चे उसकी सम्पत्ति हैं, यह मानने से इंकार करती है। ऐसे देश में आबादी का बढ़ जाना मनुष्य पर आने वाली एक आफ़त के ही समान है।

३. इस प्रकार के देशों में अधिक आबादी होने के कारण बच्चों के रहन-सहन, शिक्षा, खाने-पीने और स्वास्थ्य इत्यादि का उचित प्रबन्ध नहीं हो सकता। इस लिए बच्चों का विकास रुक जायगा और राष्ट्र दिन पर दिन गरीब, भूखा, नंगा, मकान-विहीन, अशिक्षित और अस्वस्थ्य होता चला जायगा। इसलिए आबादी को बिना रोकथाम के आगे बढ़ते रहने देना ग़लत है और यह सोचना कि जितनी आबादी बढ़ेगी उतने ही उत्पादन के साधन बढ़ेंगे महज एक ख्वाब और जुआ है। राष्ट्र के साथ जुआ खेलने की प्रवृत्ति हानिकारक है। आबादी को बढ़ावा देना इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के समान है।

४. मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने रहने के स्तर को ऊँचा उठायेगा त्यों-त्यों वह स्वाभाविक रूप से फिजूलखर्ची और आबादी की बढ़ोतरी के खिलाफ विद्रोह करेगा। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, इसे रोकना असम्भव है, और यह यदि चारित्रिक कमजोरी अपने में न आने दे तो शांति की ओर अग्रसर होगी।

५. ब्रिटेन-जैसा देश प्राकृतिक रूप से अधिक आबादी के लिए उपयुक्त देश नहीं है। इस देश की वर्तमान आबादी भी इतनी अधिक है कि वहाँ के खेतों में उनका पेट भरने लायक अनाज पैदा नहीं हो सकता। ऐसे देश में आबादी पर सरकारी रोक-थाम न करना मनुष्य को गिरने से न रोकने के समान होगा। बर्थ-कंट्रोल का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार इन देशों के लिए आवश्यक है। यहाँ की जलवायु भी कम आबादी के ही उपयुक्त है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह देश उत्पादन की दिशा में उन्नति कर ही नहीं रहा। सन् १९३९ से ब्रिटेन की सरकार अधिक अन्न उगाने की ओर बहुत प्रयत्नशील है और खेती की पैदावार में तरक्की भी बहुत हुई है परन्तु अभी तक भी वहाँ की पूरी आबादी का पेट भर सके, इतना उत्पादन नहीं होता।

६. ब्रिटेन की आज वह दशा नहीं रही जो कि उद्योगों में प्रथम विकास करने के कारण हुई थी। उस विकास के फलस्वरूप लेबर की आवश्यकता हुई और देश की आबादी बढ़ी। परन्तु ज्यों-ज्यों उन उद्योगों का विकास अन्य देशों में भी हुआ और अंग्रेजी उद्योगपतियों ने लेबर को भुलाकर अधिकाधिक मशीनों पर विश्वास करना शुरू किया त्यों-त्यों वहाँ भी मजदूरों में बेकारी फैली। दशा आज वहाँ की भी अच्छी नहीं है। आबादी का बढ़ जाना आसान है और फिर उसके लिए काम पैदा करना और उनके जीवन की दिक्कतों का सामना करना कठिन है। सब देशों की सरकारों को चाहिए कि वे अपने देशों की आबादी पर पूरा-पूरा ध्यान रखें।

७. मनुष्य के जीवन में गत शताब्दी के निरीक्षण से आशा की जाती है कि उम्र में २० वर्ष की वृद्धि हो सकती है। मनुष्य जितनी भी कम जिस्मानी ताकत खर्च करेगा उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ेगी। इसका अर्थ काहिल बन जाना न समझ लेना चाहिए। मेरा मतलब यह है कि पैदावार की बढ़ोतरी की बात करके मनुष्य को अधिकाधिक जिस्मानी मजदूरी के पास ले जाने की बात करना एक हिमाकत है। इससे मनुष्य आबादी ही बढ़ा सकेगा, उन्नति न कर सकेगा। आबादी बढ़ाना-मात्र ही उन्नति नहीं। आज के वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य की जिस्मानी ताकत लगाने के तरीकों को बहुत सरल कर दिया है। भविष्य में उनके और भी सरल होने की आशा की जाती है। ऐसी दशा में आबादी को बढ़ावा देना युक्तिसंगत नहीं।

८. बच्चों को मजदूरी के औजारों के स्थान पर इस्तेमाल करने के लिए पैदा

करना कोई बुद्धिमानी नहीं।

९. वही समाज अधिक समुन्नत और सशक्त माना जाता है जो अपनी किसी भी आवश्यकता के लिए किसी पर भी आधारित न हो। ठीक इसी प्रकार गृहस्थी का चलाने वाला वही सफल कुलपति है जो स्वयँ अपनी शक्ति पर कार्य-संचालन कर सके। अधिक बच्चे पैदा करके उनकी आय पर बढ़ती आमदनी का ख्वाब देखना मूर्खता है।

१०. सरकार पर अधिक आधारित रहना भी मनुष्य का बल नहीं जाहिर करता। साथ ही उसकी अयोग्यता का भी यह सूचक है। राज्य-व्यवस्था कभी भी बिगड़ने पर एक साथ ही देश भर के परिवारों की दशा बिगड़ने का प्रश्न सामने आ जाता है। यदि सब परिवार स्वयं पूर्ण (self sufficient) हों तो कभी इस बात की नौबत ही न आये।

११. वास्तव में यह युद्ध की भावना ही है जो आबादी बढ़ाने को प्रोत्साहन देती है। गत महायुद्ध में खेती का ह्रास हुआ, उद्योगों का ह्रास हुआ और यदि ह्रास नहीं हुआ तो आबादी का। संसार के सभी देशों में आबादी बढ़ी। आबादी ज्यों-ज्यों बढ़ी त्यों-त्यों मरने वालों की संख्या में भी वृद्धि हुई और दुनिया में गरीबी फैली। वास्तव में यदि देखा जाय तो युद्ध के मूल में आबादी की वृद्धि है। सन् १९१४ और १९३९ के महायुद्धों की यादगार इस दिशा में अभी ताजा है, स्पष्ट है, और उसे भुलाया नहीं जा सकता। आबादी को सीमा बाँधकर बढ़ाना सभ्यता का एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है जो आपसी संघर्ष को कम करता है, शांति के वातावरण को प्रसारित करता है। हथियारों को घटाने और बढ़ाने के ही समान आबादी को घटाने और बढ़ाने की भी समस्या है।

१२. आज के युग में बहुत कम परिवार ऐसे हैं जो बड़ी संख्या में होने पर भी खुश हैं। अधिकांश में पारस्परिक कलह और खाने, पहनने तथा शिक्षा के साधनों की कमी मिलेगी। अधिक आबादी के फलस्वरूप अधिक मृत्यु और कमजोर स्वास्थ्य देखने को मिलते हैं, इस दिशा में हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं।

१३. किसी भी वस्तु के तादाद में अधिक होने से उसके गुणों में बढ़िया होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह कम योग्य आदमी अधिक मूर्खों से ज्यादा काम कर सकते हैं और अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। मनुष्य जब अपने को मनुष्य कहता है तो उसका सम्बन्ध तादाद की अपेक्षा अक्ल से अधिक जुड़ता है। आज आवश्यकता मनुष्य के अधिक सभ्य बनने, अपनी ताकत बढ़ाने और ऊपर उठने की है, न कि ऐसी तादाद बढ़ाने की कि जो स्वयं भार बनकर उस पर छा जाय और उसकी समस्याओं को सुलझाते-सुलझाते हर मनुष्य एक समस्या बन जाय।

१४. यह कहना कि बड़े परिवारों में बच्चों को आगे बढ़ने, बहुत कुछ सीखने

और मिलकर चलने की अधिक सुविधाएँ रहती हैं गलत है। मिलकर चलने की बात कुछ हद तक मानी जा सकती है परन्तु यह जरूरी नहीं कि परिवार की बढ़ती आबादी में और घटते साधनों में मिलकर चलने की प्रवृत्ति जाग्रत हो। पारस्परिक संघर्ष की भावना भी जाग्रत हो सकती है। जहाँ तक आगे बढ़ने और अधिक साधनों की उपलब्धि का सवाल है वह तो छोटे परिवार में ही अधिक पाई जाती है। जहाँ बच्चों की संगति और सहयोग की बात है वह उसे स्कूल में मिल जाता है। पारिवारिक संगति और सहयोग कोई ऐसा अभाव नहीं कि जिसकी पूर्ति हो ही न सके।

१५. युद्ध में हमेशा अधिक संख्या वाली सेना की ही विजय होती है, यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं। जिन दिनों मशीन और हथियारों का प्रयोग लड़ाइयों में नहीं होता था तब इस किस्म की बात यदि कही जाती तो ठीक था, परन्तु आज के युग ने तो युद्ध में मशीनों के प्रयोग पर कोई बंदिश नहीं लगा रखी। आज विजय हथियारों की बहुतायत, हथियारों का आधुनिकतम होना, उनके प्रयोग करने वालों का उनके संचालन में दक्ष होना, इत्यादि बातों पर आधारित है। यदि यहाँ हम युद्ध की निर्णायक शक्ति सैनिकों को भी मान लें तब भी शक्ति बढ़ाने के लिए आदमियों की आबादी बढ़ाना कुछ अच्छी बात मालूम नहीं होती।

१६. फ्रांस, जो कि आबादी के विचार से कम बसा हुआ है लोगों के रहने के स्तर की दृष्टि से सबसे खुशहाल देश रहा है।

जहाँ मानव-समाज को नियंत्रित करने का प्रश्न आता है वहाँ बढ़ती हुई आबादी काम करने वालों के सब अन्दाजे खाक में मिला देती है। निश्चित् रूप से किसी दिशा में काम ही नहीं किया जा सकता और समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है।

विचारों का स्थायित्व एक बड़ा गुण है

पक्ष :

१. विचारों की अनिस्थिरता कमजोर चरित्र वाले व्यक्तियों में पाई जाती है। विचारों को बदलने का कारण या तो यह होता है कि विषय को समझने में व्यक्ति असमर्थ रह जाता है या उसे आखिर तक निभाने की शक्ति ही उसमें नहीं होती। वास्तव में किसी बात के विषय में भी एक बार मत बनाने से पूर्व पहले अच्छी तरह उसे सोच-समझ लेना चाहिए। जो व्यक्ति यह सब सोचने-समझने के अयोग्य रहता है वह अपना एक स्थिर मत नहीं बना पता और उसी के विचारों के बदलने और फिसलने की गुंजाइश रहती है।

२. जिस व्यक्ति के विचारों में स्थायित्व नहीं होता उसके शब्दों का कोई महत्त्व नहीं। लुढ़कते पत्थर (Rolling stone) की भांति न तो वह अपना स्थान ही बना पाता है और न स्थान की मजबूती ही। अपना विचार बदल देने वाले व्यक्ति कभी किसी निश्चित् दिशा में तरक्की नहीं कर सकते। जीवन के जिस पहलू पर भी दृष्टि डालें वहाँ विचारों के स्थायित्व और उस ओर सावधानी से बढ़ने की आवश्यकता है। जो व्यक्ति अपने विचारों में स्थायित्व नहीं लासकता वह कभी भी सावधानी से आगे नहीं बढ़ सकता। जीवन में वह सर्वदा पिछड़ा हुआ ही रहेगा।

३. विचारों का स्थायित्व मनुष्य के आचरण की कसौटी है। दृढ़ विचार के साथ जो कार्य भी किया जायगा उसमें मनुष्य को सफलता मिलेगी। दृढ़ विचार न होने के कारण ही असफलता होती है। यही असफलता मनुष्य को ग़लत मार्ग की ओर ले जाती है। इस गलती के मूल में विचारों का अनस्थायित्व पनपता है।

४. जिस व्यक्ति के कामों में क्रमिक विकास देखने को न मिले, उसके विषय में समझ लेना चाहिए कि उसका जीवन किसी निश्चित विचार-धारा के मातहत नहीं चल रहा है वरन् एक जंगली वृक्ष के समान फल-फूल रहा है। उसका कोई भी भाग किसी भी दिशा में, किसी भी मात्रा में विकसित हो सकता है। यह अक्रमिक विकास स्वस्थ भी हो सकता है और अस्वस्थ भी। परन्तु यदि इसे क्रमिक बना दिया जाय तो उसमें एक सांस्कृतिक विकास की मर्यादा आ जायगी।

५. अक्रमिक गति से या तो कलाकार चल सकता है या कोई और विशेष प्रकार का अद्भुत (Abnormal) आदमी। साधारण व्यक्ति बिना किसी क्रम और नियामकता के उन्नति नहीं कर सकता। अनियमित होने से क्रम टूट जाता है और यह टूटा हुआ क्रम एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी और इसी प्रकार आगे आने वाली सभी बातों पर अपना प्रभाव डालता है। इस प्रभाव को बढ़ने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने जीवन-संचालन का एक क्रम बना कर चले।

६. सिलसिला एक बड़ी चीज है। सिलसिले से एक कड़ी को दूसरी कड़ी का सहयोग और सहायता मिलती है। एक कार्यक्रम की जंजीर बन जाती है जिसकी मजबूती साधारण मनुष्य की अपने जीवन के कार्यक्रम की मजबूती है। सिलसिले की इस व्यवस्था के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना वह अपना जीवन सुसंचालित नहीं कर सकता।

विपक्ष :

१. किसी क्रम में बंध कर चलना कोई बड़ी बात नहीं और न ही यह साधारण व्यक्ति से ऊपर उठकर किसी के सोचने-विचारने की ही बात है। संसार

के साधारण व्यक्ति के लिए क्रमबद्धता बहुत बड़ी चीज है परन्तु साधारण व्यक्ति के लिए नहीं।

२. असाधारण व्यक्ति किसी नियम या क्रम का पालन नहीं करता। वह अपने नियम और क्रम स्वयं बनाता है। अपने नियम और क्रम स्वयं बनाने के लिए असीम साहस और निस्सीम तेज तथा निर्भीकता की आवश्यकता है।

३. किसी भी सचाई पर पहुँचने से पूर्व मनुष्य बहुत बड़ी गलतियाँ करता है। वह गलतियाँ करने के पश्चात् ही उसे सही दिशा दिखलाई देती है। किसी भी चीज के विषय में पहले से ही कोई निश्चित धारणा बना लेना मूर्खतापूर्ण बात है। आदमी के विचार समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलते हैं। बदलने वाले विचार कभी अस्थायी नहीं कहला सकते।

४. स्थायी रूप से एक ही दिशा में सोचने वाला व्यक्ति यह भूल जाता है कि सच कोई और भी बात हो सकती है जिस तक अभी उसका विचार नहीं जा सका। इस प्रकार वह सचाई से सर्वदा अनभिज्ञ ही रहता है। यदि एक बार उसका विचार गलत हो गया तो वह लकीर का फकीर बनकर हमेशा गलती के ही पीछे चलता चला जाता है। विचारों का रूढ़िवादी स्थायित्व सर्वदा हानिकारक वस्तु है क्योंकि इसमें पड़कर आदमी स्वयं भूल-भुलावे में रहता है और यह नहीं समझ पाता कि उसे अपना रूढ़िवादी मत त्याग कर सचाई की ओर कदम बढ़ाना चाहिए। यह केवल दिल की तसल्ली और व्यर्थ गर्व और अभिमान का सौदा है।

५. तबदीली उन्नति है, तरक्की है और सही बात तक पहुँचने का तरीक़ा है। इसे फिसलना, घबराना, पीछे हट जाना, भाग खड़ा होना इत्यादि नाम देना मूर्खता है। मस्तिष्क में विचार आता है, फिर घटनाएँ आंखों के सामने आती हैं और परिस्थितियाँ बदलती हैं, वे सभी परिस्थितियाँ विचारधारा को और सही तरीके से देखने के साधन प्रस्तुत करती हैं और उनके फलस्वरूप हो सकता है कि पहले विचार में और आज के विचार में आकाश-पाताल का अन्तर है। यदि यह अंतर वास्तविक है और मनुष्य अपने पहले गलत विचार की ओर से शर्मिन्दा होकर नये विचार को ग्रहण कर लेता है तो यह उसकी योग्यता और विशालता का प्रमाण है, कमअक्ली या कमसमझी का नहीं।

६. विश्व के बड़े-बड़े आदमियों के जीवन चरित्रों पर यदि दृष्टि डाल कर देखा जाय तो पता चलता है कि जीवन में एक समय ऐसा अवश्य आया है जब वे अपने विचारों के प्रति स्थिर नहीं रह पाये और उन्हें अपने विचारों में तबदीली करनी पड़ी। बड़े-बड़े विचारकों, लेखकों तथा वैज्ञानिकों ने जब कभी भी जीवन में कोई मोड़ लिया है तभी उनके जीवन का सबसे मूल्यवान् विचार प्रस्फुटित हुआ है। इस प्रकार विचारों का बदलना कोई कमजोरी नहीं, कोई नासमझी नहीं, सम-

यान्तर से बात बदल जाती है, बात का मूल्य बदल जाता है और उसी के आधार पर विचारों में परिवर्तन होना भी आवश्यक है।

रेडियो सरकारी संचालन में प्रसारित नहीं होना चाहिए

पक्ष :

१. रेडियो अपना मत पैदा करने और बनाने का आज के युग में एक बहुत बड़ा साधन है। किसी बात का जितना शीघ्र और व्यापक प्रचार आज रेडियो द्वारा सम्भव है उतना अन्य किसी साधन द्वारा नहीं। इतनी बड़ी प्रचार की संस्था पर सरकारी अधिकार होना कम संख्या वाले देश के प्रतिनिधियों के ऊपर जबरदस्ती है।

२. इसकी सबसे बड़ी खराबी यह है कि सरकारी रेडियो-विभागों द्वारा ऐसा कार्यक्रम प्रसारित किया जायगा जो वर्तमान सरकार की नीति से मेल खाता हो या उसके विचारों के प्रचार में सहायक हो। ऐसे विषयों पर कार्यक्रम बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया जायगा कि जिन पर दोनों संसद के दोनों पक्षों में मतभेद हो। इस प्रकार सरकार रेडियो विभाग को बहुसंख्यक पार्टी के अपने प्रचार के लिए ही इस्तेमाल करती है।

३. सरकारी कंट्रोल को जनता का कंट्रोल भी कहा जाता है, जैसे ब्रि० ब्रॉ० कॉ० (B. B. C.) इंगलेन्ड। वहाँ तो सरकारी विभाग से भी अधिक तानाशाही का साम्राज्य है और जनता की आवाज वहाँ तक पैठ पाये यह सम्भव ही नहीं।

४. इस प्रकार की संस्था का संचालन भी एक अफसरी ढंग से होता है जो न तो कलाकार के रूप में ही सामने आ सकता है और न व्यापारी के रूप में ही। इसीलिए यह संस्था और इसका कार्यक्रम देश के किसी भी समाज को न खुश ही कर सकता है और न उनकी तसल्ली ही कर सकता है। अमरीका में रेडियो व्यापारियों के हाथों में छोड़ दिया गया है। वहाँ इसने काफी तरक्की की है और विभिन्न प्रकार की जनता का मनोरंजन करने वाले कार्यक्रम उन्होंने तैयार किये हैं।

५. सरकारी संचालन में चलने वाली रेडियो-संस्थाएँ अपने विषयों के अनुशीलन में कभी भी अपनी सरकार चलाने वाली पार्टी की प्रतिद्वन्द्वी पार्टी के विचारवान व्यक्तियों के मत को सही दृष्टिकोण के साथ निरख-परख नहीं सकतीं। उन पर फब्तियाँ कसना तो साधारण-सी बात है। इस प्रकार की संचालन-व्यवस्था

प्रजातंत्रीय देशों में और भी हानिकर है। प्रजातंत्रीय देशों में देश की शक्ति का संचालन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होता है। इन प्रतिनिधियों की बात जनता तक पहुँचाने में रेडियो एक बहुत बड़ा साधन है। इस साधन का उपयोग यदि संसद् की बहुसंख्यक पार्टी ने किया तो यह स्वयं जनता के हित में भी एक दिन घातक बन सकता है।

६. सरकारी अथवा जन-संचालन द्वारा रेडियो-संस्थाओं को न चलाया जाकर कुछ बड़ी संस्थाओं द्वारा चलाया जाना चाहिए। उन पर सरकार को नियंत्रण रखना चाहिए, उनकी नीति में फेर-बदल करने की आज्ञाएँ देनी चाहिएँ और यदि उनके कार्यक्रम में कुछ कमियाँ हों तो उन्हें ठीक करने के सुझाव पेश करने चाहिएँ। इस शक्ति को सरकारी हाथों में दबोच लेने से जनता का यह सही भला नहीं कर सकती, उसके मनोरंजन का साधन नहीं बन सकती, उसके जीवन में रस संचारित नहीं कर सकती, उसके विचारों को जागरूक नहीं बना सकती और जनता को उसके हित की सही-सही सूचना नहीं दे सकती।

सरकारी संचालन में रेडियो जनता की रुचि के प्रोग्राम न बनाकर अपने मन-माने प्रोग्राम उस पर लादता है। भारत सरकार के रेडियो-विभाग ने इनका कार्य-क्रम ऐसा बना दिया है कि चाहे जब खोलिए पक्के राग-रागनियों के अलावा और कुछ मिलेगा ही नहीं। यह जनता की रुचि के विरुद्ध है।

विपक्ष :

१. आज के युग में रेडियो-प्रचार और शिक्षा का बहुत बड़ा साधन बन चुका है। यह सच है कि आज इससे बड़ा और व्यापक अन्य कोई साधन नहीं। इस प्रचार-संस्था का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ता है और बहुत कम समय में ऐसी सनसनी सारे वायुमंडल में फैल जाती है कि इसे व्यक्तिगत हाथों में नहीं सौंपा जा सकता। व्यक्तिगत तिजारती संस्थाएँ इतना उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य संभालने में असमर्थ रहेंगी। इतनी महत्त्वपूर्ण संस्था का संचालन सरकार को ही करना उचित है क्योंकि वही उसकी सबसे बड़ी और ईमानदार संरक्षक बन सकती है।

२. प्रजातंत्रीय देशों में तो सरकार को और भी अधिकार है ऐसी संस्था को अपने हाथों में ले लेने का, क्योंकि वही उस समय देश की अधिक से अधिक जनता का प्रतिनिधित्व करती है।

३. जिम्मेदारी के साथ ही साथ इस संस्था के कार्यक्रम का भी एक स्तर होना चाहिए। जब राज्य-सरकार के संचालन में यह संस्था चलेगी तो राज्य सरकार की नियत इसमें से पैसा ही कमा लेने की नहीं होगी। यदि इस संस्था

का संचालन किसी व्यापारिक संस्था द्वारा किया जायगा तो उसका प्रधान लक्ष्य पैसा बनाना होगा। और वह उसी के अनुसार अपने कार्यक्रम भी बनायेगी।

३. इस प्रकार व्यक्तिगत हाथों में जाकर रेडियो के कार्यक्रम का स्तर नीचे को गिरेगा, ऊपर नहीं उठ सकता। वह हर बात को व्यापारी तरीके से पैसे के गज पर नापेगा। वहाँ कलापूर्ण चीजों का स्थान वे भद्दी चीजें भी पा सकती हैं जिनसे समाज की महान् हानि हो, जनता का चरित्र गिरे और जब तक उनकी रोक थाम हो तब तक उनका बुरा प्रभाव जनता में फैल जाय। बुरी बातें आमतौर पर अच्छी बातों की अपेक्षा अधिक और शीघ्र फैल जाती हैं।

यदि सरकार इन संस्थाओं पर निरीक्षण रखने के लिए नये दफ्तर खोले तो निश्चित रूप से सरकार पर व्यर्थ का बोझ पड़ जायगा और आय कुछ हो न सकेगी।

४. फिर सरकार को अपने कार्यक्रम को प्रसारित करने के लिए अपना प्रबन्ध करना ही होगा, नहीं तो उसके मार्ग में कभी भी इस दिशा में कठिनाई आ सकती है और उसकी शासन-व्यवस्था को कभी भी धक्का लग सकता है। गलत बातों का खंडन करने के लिए भी अपने हाथ में साधन रखने की आवश्यकता है।

५. यह स्पष्ट ही है कि रेडियो के व्यापारीकरण से उसके कार्यक्रमों का स्तर नीचे आयेगा। सरकारी विभाग द्वारा संचालित रेडियो को हर प्रकार के लोगों के लिए न्यूनाधिक कार्यक्रम निश्चित करने होंगे परन्तु व्यापारिक संचालक के लिए यह जरूरी नहीं। वह, वह कार्यक्रम अधिक चुनेगा जो उसे अधिक रुपया देंगे।

६. आज भारत के रेडियो-विभाग ने हल्के किस्म के फिल्मी गानों के स्थान पर क्लासिकल गानों, साजो-संगीत और गम्भीर किस्म के वार्तालापों को अपने कार्यक्रम में रखा है। यह तब्दीली कोई व्यापारिक संस्था कभी नहीं कर सकती। परन्तु इसके द्वारा सरकार ने देश के कलाकारों का कितना बड़ा हित किया। वे कलाकार जो कला कला के लिए सीखते हैं, सम्मान पाने लगे। कलाकारों की कद्र बढ़ी।

७. सरकार द्वारा संचालित रेडियो-केन्द्रों का मकसद जनता के मनोरंजन के साथ-ही-साथ उसके शिक्षण का भी रहता है। एक व्यापारिक संस्था का शिक्षण से भला क्या काम। सरकार के पास अपना स्वास्थ्य-विभाग है जिसके द्वारा वह देश को स्वास्थ्य बढ़ाने वाला कार्यक्रम दे सकता है, इसी प्रकार सुरक्षा, सदाचार सुशिक्षा, अधिक उत्पादन इत्यादि की भी शिक्षा दे सकती है। रेडियो आज के युग में शिक्षा का बहुत बड़ा साधन है। सूचना और साधरण शिक्षा रेडियो द्वारा बहुत शीघ्र बढ़ाई जा सकती है।

८. रेडियो की मशीनों का खर्चा भी इतना अधिक है कि यदि आधुनिकतम

आविष्कारों से पूर्ण उन्हें बनाया जाय तो बहुत से देशों में तो केवल सरकार ही इन संस्थाओं को चला सकती हैं। बड़े-बड़े देशों में बड़े-बड़े पूंजीपति भी इस कार्य को चला सकते हैं परन्तु छोटे देशों में ऐसे पूंजीपति भी मिलने कठिन हैं।

व्यक्ति बिना बेईमानी के भी धनवान बन सकता है

पक्ष :

१. वे सभी सिद्धान्त, जिनकी आधार-शिला पर व्यापार आधारित है, स्थिर हैं। परन्तु यह अस्थिर तभी होते हैं जब इनके मूल में खुदगर्जी और लालच की भावना आजाती है। आज से सौ वर्ष पूर्व जिस प्रकार ईमानदारी से व्यापार करने वाला व्यापारी धनवान हो जाता था उसी प्रकार आज भी हो सकता है।

२. जो व्यक्ति अपने काम करने वालों के साथ प्रेम और ईमानदारी का व्यवहार करता है, वही अपने उद्योगों में अधिक कामयाब होते हैं और इस प्रकार वही अपने काम में सफल होते हैं। यही सफलता व्यक्ति को धनवान बनने की कुंजी है।

३. प्रतियोगिता प्रकृति का नियम है। इसी के आधार पर आदमी अपने साथी बदलता रहता है। इन साथियों को आगे पीछे छोड़ने का ही नाम ईमानदारी और बेईमानी है। परन्तु यह सब किया धनवान बनने के ही लिए ही जाता है। यह प्रतियोगिता कोई बेईमानी नहीं। व्यापार में जबान का पाबन्द होना चाहिए और इसी का कुछ महत्व है। जबान देकर लाभ और हानि दोनों सम्भव हैं। जो व्यापारी है वह अपनी जबान का पास रखेगा। जो व्यापारी जबान का पास नहीं रखेगा वह सफल व्यापारी नहीं हो सकता। इसमें कहीं पर भी बेईमानी दिखलाई नहीं देती।

४. प्रतियोगिता संसार का नियम है। परन्तु प्रतियोगिता में भी कुछ नियमों का पालन करके चलना होता है। किसी व्यक्ति की अमीर बनने की चाहे जितनी भी इच्छा क्यों न हो, परन्तु उसे चलना कुछ निर्धारित नियमों के ही अनुसार होता है। धनवान बनने के लिए वह काम में थोड़ा बहुत घुमाव-फिराव कर सकता है परन्तु स्पष्ट झूठ और बेईमानी का आधार लेकर नहीं चल सकता। झूठ और बेईमानी का आधार स्थिर नहीं हो सकता। जो व्यक्ति एक बार आपसे मार खा जायगा वह जीवन भर के लिए आपका शत्रु बन जायगा।

५. फिर यह सफल व्यापारी की रुपया कमाने की नीति भी नहीं होती। वह रुपया कमाने के लिए केवल उतना ही लाभ लेता है जितना आटे में नमक।

ऐसा करने से उसका वह साधन एक ही बार में समाप्त नहीं हो जाता जिससे उसने लाभ लिया है, और फिर कभी जब भी अवसर आता है तो उसे उसी व्यक्ति की खोज रहती है। व्यापार में ईमानदारी पहला लक्षण है और इसी के आधार पर व्यापारी पैसा कमाता है। इसी को बाजार में साख के नाम से पुकारा जाता है।

६. हमें जो बात जैसी हो उसे उसी प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि स्वप्न के पालने पर भूल की उड़ानें भरने से कोई लाभ नहीं होता। असलियत बतलाती है कि संसार में वही व्यक्ति धनवान हो पाता है जो अपने आस-पास की दुनिया के अनुसार अपने को बना लेता है। और इस प्रकार जीवन को कामयाब बनाने की दिशा में किया गया प्रयास किसी भी प्रकार बेईमानीपूर्ण नहीं कहा जा सकता। अपने आस-पास की परिस्थितियों से मिलकर चलनेवाले को कुछ लोग चापलूस, चालाक, और मक्कार तक कह जाते हैं परन्तु उसे बेईमानी कहना उसके साथ अन्याय करना है।

७. एक व्यक्ति जो किसी कारखाने, उद्योग या व्यापार को चलाता है, नया काम चालू करता है या पुराने के उत्पादन में वृद्धि करता है, मजदूरों को संगठित करता है, उस कार्य को करने के लिए धन जुटाता है, निश्चय ही उस उद्योग या व्यापार से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करेगा। एक साधारण मजदूर से उसका काम अधिक और अधिक महत्वपूर्ण है, इसलिए उसे धन भी अधिक ही मिलना चाहिए।

विपक्ष :

१. व्यापार में बहुत सी स्थितियाँ ऐसी आती हैं जब आदमी लालच में फँसकर ईमानदारी को खोदेता है। गत महायुद्ध और उसके पश्चात् जो काले बाजार के कारनामे सामने आये, उन्हें देखकर दिल दहलता है। उन्हें देखने से पता चलता है कि आदमी पैसे के लिए कितना अमानुषिक हो जाता है? एक ओर वस्त्रहीन व्यक्ति वस्त्र नहीं पाता और भूखा तड़प-तड़प कर दम तोड़ता है और दूसरी ओर दूकानों में अन्न और वस्त्र भरा पड़ा है। यह भी समाज की बेईमानी का एक रूप है। इस प्रकार के धन कमाने को भी ईमानदारी नहीं कहा जा सकता।

२. सरकारी कामों में जो लोग काम करते हैं वहाँ तो बेईमानी शुरू से ही चलती है। पी० डब्लू० डी० के ठेकेदार अपने इंजीनियरों को घूस देकर न केवल रेट ही अधिक लेते हैं वरन् सरकारी माल भी बेच खाते हैं और रुपया वास्तव में मिलता भी ऐसे ही लोगों के पास है। सीधा-सच्चा पकौड़ी बेचने का काम करने वाले पर रुपया नहीं मिलता? पकौड़ी बेचने वाले पर भी यदि धन एकत्रित

हो जायगा तो केवल उसी पर जो दही में अधिक पानी और घी के स्थान पर कोकोजम इस्तेमाल करता होगा।

३. आज के व्यापार में ईमानदारी खोजना कठिन है। बाजार में जाकर जो वस्तु भी देखो बनावटी और किसी भी चीज़ के असली रूप तक पहुँचने में काफी कठिनाई होती है। तेल, साबुन, मसाला, घी इत्यादि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसमें ऊँची-नीची मिलावटें न हों। बिना मिलावट और बेईमानी के व्यापार चलता ही नहीं। नियत में पहले दिन से लखपति होने के कारण बेईमानी करते हिचक नहीं होती। यही मनोकांक्षा सब बेईमानी का गला दबोच कर उस पर सवार हो जाती है। आज भारत में व्यापार के अन्दर यहाँ तक गिरावट आगई है कि डाक्टरों ने दवाइयों की शीशियों में रंगीन पानी भर कर बेच लिया। मनुष्य की गिरावट क्या इस सीमा का भी उल्लंघन कर सकती है कि जहाँ वह अपने जीवन से भी चन्द टकों के लिए खिलवाड़ करने लगे? यह मनुष्य की गिरावट की पराकाष्ठा है।

४. व्यापारी आज अपने को सबसे ज्यादा ईमानदार समझता है। और वायदे का पैसा देने में भी सच्चे व्यापारी को कोई आँट नहीं। परन्तु उसने जो खुले खजाने व्यापार के नाम पर बेईमानी के अड्डे खोल रखे हैं उनसे भला कैसे बचा जा सकता है। बड़े-बड़े सट्टे बाजार बेईमानी के अड्डे नहीं तो और क्या रह गये हैं आज के जमाने में। सटोरिया चाहे कितना भी अपने मन में अपने को ईमानदार समझे, परन्तु वह ईमानदार रह नहीं सकता। उसकी नियत में माल को दबा कर उससे पैसा कमाने की रहती है और उसका इस पैसा कमाने का असर अनेकों गरीब उस माल के इस्तेमाल करने वालों पर पड़ता है।

५. पैसा कमाने का सबसे पहला सिद्धान्त यह रहता है कि काम करने वाले को उस काम के करने का कम-से-कम पारिश्रमिक दिया जाय और उसका अधिक-से-अधिक पैसा वसूल किया जाय तथा मजदूर से अधिक काम लिया जाय। यह काम लेने वाला व्यक्ति जितना भी कम दयावान होगा, उतना ही शीघ्र वह धनवान बन जायगा। धन का दया से वैर है।

६. प्रतियोगिता का नियम भी आदमी को धन के लिए पागल ही बना देता है। आदमी अधिक और अधिक के लिए प्रयास करता है। उसकी इसी हविस के फलस्वरूप बेईमानी मुखरित होती है। प्रतिद्वन्दिता में आदमी निर्दय हो जाता है और सब की दौलत अपने पेट में रख लेने की पैशाचिक वृत्ति उसके अन्दर पैदा हो जाती है।

७. संसार में सर्वदा यही नहीं देखा गया कि सबसे योग्य ही सम्मानित होता है तथा अपने ठीक कार्य का ईमानदारी से फल प्राप्त कर लेता है। ऐसा बहुत

कम दशाओं में होता है। फल-प्राप्ति के लिए अच्छे मौके और फिर उन पर निर्दयतापूर्वक टूट पड़ने की हिम्मत (dashing spirit) होनी आवश्यक है। उसके बिना धन-प्राप्ति असम्भव है। यदि बात यहीं तक रहे तो कोई विशेष हानि नहीं, परन्तु धन ने आज यह परिस्थिति पैदा कर दी है कि कोई अवसर भी किसी धन कमाने के काम का बेईमानी से ही मिल पाता है। यहाँ भी हिस्साकशी चलती है और चतुर व्यापारियों ने तो सबके हक़ स्थापित किये हुए हैं।

८. यदि किसी व्यक्ति के पास आज अधिक धन है तो निश्चित् रूप से यह धन उसने या तो उन लोगों से प्राप्त किया है जिनका कि सम्पर्क रखकर उसने छोड़ दिया, या उन लोगों से लिया है जो दबे-मिले उसके आज भी सम्पर्क में आते हैं। यह धन उसने उन्हीं लोगों से किसी न किसी प्रकार छल, बल या अवसर से प्राप्त किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह उसका अपना हिस्सा नहीं है दूसरों का हिस्सा है। दूसरों का हिस्सा दबा बैठना भी बेईमानी है।

९. आज के समाज का जीवन पारस्परिक द्वेष, वैमनस्य, घृणा, भूख, अतृप्तता, शुबहा और बेईमानी से भरा पड़ा है। इन सभी मनोवृत्तियों को उकसाने वाली या पैदा करने वाली शक्ति पैसा है। इस पैसे के वितरण का अनुपात ही यह सब खलबली पैदा करता है। यह खलबली एक दिशा में धन आजाने और अधिक दिशाओं से छिन्न जाने के कारण ही होती है।

१०. इस प्रकार किसी पर कम धन रहना और किसी पर अधिक रहना ही इस बात का प्रमाण है कि अधिक वाले ने कम का भाग बेईमानी से अपने क़ाबू में कर लिया है।

फाँसी की सज़ा समाप्त हो जानी चाहिए

पक्ष :

१. फांसी की सज़ा देना एक निर्दयतापूर्ण कार्य है और आमतौर पर बदअमनी का सूचक है; आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व एक समय वह था जब साधारण-से चोरी जैसे अपराधों पर भी फाँसी की सज़ा दे दी जाती थीं। वे सज़ाएँ आज के युग में अमानुषिक समझी जाती हैं। आज प्रधान रूप से हत्या के अपराधी को ही फाँसी की सज़ा होती है। साधारण अपराधों पर इतनी सख्त सज़ा नहीं दी जाती। यदि यह सज़ा भी समाप्त कर दी जाय तो यह मनुष्यता की ओर एक बहुत बड़ा क़दम होगा।

२. आज यदि यह देखने को मिले कि बावजूद फाँसी की सज़ा के हत्याएँ

बढ़ती जा रही हैं तो समझना होगा कि फाँसी की सज़ा उन हत्याओं को रोकने में कम सफल और प्रभावात्मक है। सभी देशों में इस प्रकार के अपराधों की संख्या आज बढ़ रही है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि कातिल किस्म की इन सज़ाओं से अपराधों की प्रवृत्ति बढ़ती है, घटती नहीं। संसार का दण्ड-विधान ज्यों-ज्यों मानुषिकता की ओर बढ़ा है त्यों-त्यों देखा गया है कि अपराधों की संख्या घटी है। परन्तु जिस सज़ा के लिए फांसी की सज़ा निश्चित् है उस अपराध में कोई कमी नहीं हुई। वह आज भी उसी संख्या में है। इससे जाहिर है कि सख्त सज़ाएँ कभी भी जनता के अन्दर अपराधों की प्रवृत्ति को कम नहीं कर सकतीं।

३. मृत्यु-दण्ड पर सन् १६३० में बनायी गई सिलेक्ट कमेटी का मत है कि मृत्यु-दण्ड को यदि एकदम समाप्त कर दिया जाय तो अपराधों में कोई वृद्धि नहीं होगी। सन् १६३० में लगभग ३० देशों ने अपने यहाँ मृत्यु-दण्ड को समाप्त कर दिया। आज उन देशों का कहना है कि बावजूद मृत्यु-दण्ड समाप्त कर देने के उनके यहाँ उस प्रकार के अपराधों में कोई वृद्धि नहीं हुई। इससे बड़ा और सजीव प्रमाण इस दिशा में कोई दूसरा नहीं मिल सकता।

४. केवल वही दण्ड-विधान अपराधों में कमी ला सकता है जिसका दृष्टिकोण सुधारवादी और शिक्षाप्रद हो। एक को कत्ल करने वाले आदमी को यदि फाँसी दी जाती है तो यह विधान मिसाल कायम करने के ही समान है। इससे अपराध करने वाले का कोई सुधार होने जाने वाला नहीं है। जो सज़ाएँ शिक्षा के विचार से दी जाती हैं वे मनुष्य की प्रवृत्ति बदलने में सफल होती हैं। भय से समझने का प्रभाव अधिक हितकारी और स्थायी होता है। भय का सम्बन्ध बुद्धि से नहीं है। समझाने का सम्बन्ध बुद्धि से है। जो दण्ड-विधान बुद्धि पर प्रभाव डालता है वह अधिक स्थायी है, बनिस्बत उसके जो केवल शरीर पर प्रभाव डालता है।

५. मृत्यु-दण्ड का कोई प्रायश्चित् नहीं, वह अखंडनीय है। एक गलती जो एक बार, न जाने किस आवेश में आकर हो गई, उसका फिर कोई सुधार नहीं। मनुष्य का सुधार न करके उसे समाप्त कर देने वाला दण्ड-विधान कभी भी मानुषिक नहीं कहला सकता। मृत्यु का दण्ड उसके लिए होता है जिसका स्वभाव बदल ही न सके और जब वह ऐसा हो जाय जिससे कि वह समाज को फिर दूषित न कर सके, समाज की शांति को भंग न कर सके। दण्ड शांति भंग करने वाले को ही दिया जाता है। परन्तु वह दण्ड ऐसा हो जिससे कि वह सुधार होने वाला व्यक्ति ही समाप्त न हो जाय।

६. कभी-कभी ऐसा होता है कि खून करने वाले अपराधी कई-कई बार फाँसी से बच जाते हैं क्योंकि जज उन्हें फाँसी के लिए ठीक नहीं समझता। यह

रहम अपराधी को सजा से साफ बचा देता है। यदि फाँसी की सजा न हो तो जजों में ऐसी हमदर्दी जाग्रत होने की आवश्यकता ही नहीं। फिर कारण नहीं कि अपराधी को अपराध की सजा सुनाने में जज को किसी प्रकार की हिचक हो।

७. संसार में जितने भी कत्ल होते हैं, उनमें से बहुत कम प्रतिशत ऐसे होते हैं जो कातिल पहले से सोच-विचार कर करता है। जितने भी कत्ल होते हैं उनमें से अधिकांश सामयिक उत्तेजना के फलस्वरूप होते हैं। उनका कातिल प्रकृति से कातिल नहीं होता। ऐसी स्थिति में यदि कातिल को फाँसी न लगे और वह भाग निकले तो निश्चित रूप से वह एक बदमाश, चोर, डाकू इत्यादि बन जायगा और धीरे-धीरे उसका स्वभाव ही कातिल का बन जायगा। यदि कातिल का मृत्यु-दण्ड-विधान न हो तो निश्चित रूप से बहुत से बिगड़ते हुए चरित्र बिगड़ने से बच जायें और मानव-समाज का बहुत बड़ा हित हो जाय।

८. पाँच में से चार कातिल ऐसे होते हैं जो बिल्कुल ही सीधे-सादे आदमी होते हैं और व्यर्थ के छोटे-छोटे लालचों में फँसकर आपस में फौजदारी कर लेते हैं। यह दशा भारत के किसान-वर्ग की है कि जिनकी देश के कोने-कोने में फौजदारियाँ चलती हैं। ये कत्ल अधिकतः व्यक्ति तब करता है जब उसका बुद्धि से सम्बन्ध छूट जाता है। बुद्धि से सम्बन्ध छूट जाने पर आदमी पागल के समान होता है। पागल आदमी कानून की हद से बाहर निकल जाता है। कितना अच्छा हो कि यदि यह आज का मृत्यु-दण्ड कातिल को पागल मान कर ही मुक्त कर दे। यह मुक्ति मानवता की दिशा में एक साहसपूर्ण कदम होगा।

६. मृत्यु-दण्ड देना यदि सही माने में देखा जाय तो एक सभ्य मनुष्य की आत्मा के विरुद्ध बात है। यदि संसार के लोगों का मत लिया जाय तो अधिकांश व्यक्ति इस मत के होंगे कि बावजूद जुर्म साबित हो जाने के मृत्यु-दण्ड नहीं देना चाहिए क्योंकि जो व्यक्ति मर चुका उसका अब वापस आना असम्भव है। जो वस्तु लौट नहीं सकती उसके अपराध में उस वस्तु को खो देना जिससे उसे न आने वाली वस्तु का कोई अहित हुआ हो, कोई बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं कहा जायगा।

१०. मनुष्य की जिन्दगी को समाप्त कर देना एक अपराध है, पाप है, जुल्म है। मनुष्य के प्राण लेना, युद्ध तथा सुलह, हर दशा में निंदनीय है, चाहे वह कार्य व्यक्ति द्वारा किया जाय या सरकार द्वारा। व्यक्ति या सरकार के बीच में आ जाने से मृत्यु-दण्ड का महत्त्व कम नहीं होता।

विपक्ष :

१. अपराधों की बढ़ती हुई दुनिया में मृत्यु-दण्ड का विधान नितान्त आवश्यक है। यदि इसका विधान हटा दिया जाय और यह घोषित कर दिया

जाय कि कोई चाहे कुछ भी क्यों न कर गुजरे उसे फांसी की सजा नहीं दी जायगी त
इस घोषणा के फलस्वरूप एक अनियामकता और उच्छृंखलता पैदा हो जायगी
मनुष्य के सामने यदि दूसरे की जिन्दगी लेने का उतना ही भय नहीं रहेगा
उसके बदले उसकी अपनी जिन्दगी जा सकती है, तो वह कमजोरी की तरफ झु
जायगा। उसका यह झुक जाना जन-रक्षा के विरुद्ध अनियामकता और कत्ल कर
की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना है।

२. मृत्यु-दण्ड के भंग होने से देश के किसी व्यक्ति की जान और उस
माल सब खतरे में पड़ जायगा। कत्ल के मामले अधिक सामने आयेंगे औ
अपराधों की संख्या बढ़ेगी।

३. आज जैसी अस्थिर स्थिति में अपराधों की संख्या बढ़ रही है। बढ़
हुई अपराधों की स्थिति में सरकार को चाहिए कि उन अपराधों के मूल में क
कारण हैं उन्हें जानें और जो व्यक्ति अपराधी है उन्हें कड़ा दण्ड दिया जाय
जनता के सामने उदाहरण बनकर आये। (Examplary punishmen
अपराधों की संख्या इसी प्रकार घट सकती है। कत्ल के लिए मृत्यु-दण्ड का विध
समाप्त हो जाने पर तो अपराधी मनोवृत्ति वाले लोग अपराध करने के लिए मु
हो जायेंगे। यह अनियनामकता मानवता के प्रति मूर्खता होगी, अव्यवहार होग
अनर्थ होगा।

४. समाज को अधिकाधिक अपराधों से मुक्त करने के लिए दण्ड-विधान
को चाहिए कि वह अधिकाधिक अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड देना निश्चित क
ऐसा करने से समाज जल्दी दुराचरणों से मुक्ति पा सकेगा।

५. समाज में दुराचरण करनेवाले अपराधी समाज के शत्रु हैं। उ
जितने दिन भी समाज में रहने का अवसर मिलेगा वे समाज को भ्रष्ट ही करें
सुधार की बात नहीं सोच सकते। ऐसे व्यक्ति समाज में जीवित रहने के अधिक
नहीं। फिर इनके रहने से इनका भार भी समाज पर पड़ता है। यों तो समाज
जो लोग कुछ काम नहीं करते और खाते हैं, वे खाने के अधिकारी नहीं। लेकि
ऐसे आदमी जो कुछ करते भी नहीं और खाते भी हैं और समाज के रास्ते
अड़चनें भी पैदा करते हैं, उन्हें दुनिया में रहने का कोई अधिकार नहीं।
प्रकार के सब व्यक्तियों के लिए मृत्यु-दण्ड का विधान होना आवश्यक है।
होने से समाज के ऊपर व्यर्थ का पड़ने वाला बोझा भी कम होगा और उसके
मार्ग पर आगे बढ़ने में रुकावट भी नहीं आयेगी।

६. कुछ देशों ने जहाँ मृत्यु-दण्ड के नियम को समाप्त कर दिया,
विधान समाप्त होने पर मृत्यु-दण्ड की आवश्यकता महसूस हुई और उन्होंने कि
फ्रांस में यही सब कुछ हुआ है। डिक्टेटर देशों में, जहाँ घोर नियामकता का

दौरा था, वहाँ भी कभी-कभी फाँसी की सजा अवश्य दी जाती थी। नाजी समय के जर्मनी का इतिहास इस कथन का साक्षी है।

७. सुधार और तालीम केवल अपराधों पर ही लागू होती है। ऐसे हृदय-हीन व्यक्ति को तालीम नहीं दी जा सकती और न ही उसका सुधार हो सकता है कि जो पागल बनकर मनुष्य की जान जैसी कीमती चीज को समाप्त कर दे।

८. आजीवन कारावास के माने हैं पच्चीस वर्ष की कैद। जब एक क़ातिल पच्चीस वर्ष जेल में रह कर वापस समाज के अन्दर आता है तो वह एक भयानक वस्तु होता है समाज के लिए। उसके पीछे एक आदमी की जान लेने का इतिहास जुड़ा होता है। लोग उससे भय खाते हैं। उसे खतरनाक आदमी समझते हैं और उसे भी दुबारा अपना स्थान बनाने में समय लगता है। कोई भी सहयोग प्राप्त करना उसके लिए कठिन है। ऐसे आदमी को जिससे समाज डरे, उसे समाज में रहने देना बुद्धि का अनादर करना है।

९. अपराधी को पूरा-पूरा हक दिया जाता है अपने बचाव का और यदि ज्यूरी के दिमाग में तनिक-सा भी शुबहा रहता है तो अपराधी को फाँसी की सज़ा नहीं दी जाती।

१०. ज्यूरी के पश्चात् प्रीवीं कौंसिल की अपील ही अपराधी के बचाव का एक साधन है। उसमें जाकर भी बहुत से लोगों को मृत्यु-दण्ड से मुक्ति मिल जाती है। परन्तु जो निर्दयतापूर्ण कत्ल के मामले सामने आते हैं उनमें अपराधियों को भला किस प्रकार क्षमा किया जा सकता है। जहाँ अन्याय के साथ किसी का सर्वस्व छीन लेने में किसी व्यक्ति की जान ले ली गई हो वहां क्या राज्य सरकार का यह फर्ज है कि वह चुप बैठी रहे और अपने विधान तथा शासन के सामने ऐसी दुर्घटना होती देखे और चुप रहे। इससे देश की शांति को ठेस लगती है। इस ठेस से बचाव की आवश्यकता है। बचाव के लिए मृत्यु-दण्ड-विधान का होना नितान्त आवश्यक है। हत्या जैसे निरंकुश कार्य करने वाले को यदि थोड़ा-बहुत भय हो सकता है तो वह मृत्यु का ही हो सकता है।

११. साधारणतया देखा गया है कि जो डकैत एक आदमी को मौत के घाट उतार देते हैं उन्हें फिर उस दिशा में आगे बढ़ने में कठिनाई नहीं होती। मनुष्य की जान लेने का भय भी प्रथम बार तक ही रहता है, उसके पश्चात् वह भय भी समाप्त हो जाता है। यदि मृत्यु-दण्ड का भय ही जाता रहे तो बात-बात में आदमी आदमी की जान से खेलने लगे और भले नियामक आदमियों का रहना मुश्किल हो जाय।

१२. आजीवन कैद की सजा को मैं मृत्यु-दण्ड से अधिक खराब समझता हूँ और मैं ही नहीं बहुत से सजा पाने वालों का भी यही मत है। मृत्यु-दण्ड पाकर

व्यक्ति संहार से माया-जाल से मुक्त तो हो जाता है। जेल की जिन्दगी में रिगड़-रिगड़ कर जान देने से यह मर कर आजाद हो जाना कहीं बेहतर है।

१३. मृत्यु-दण्ड-विधान को समाप्त कर देना केवल अखबारों में एक समस्या को मानवता का रंग देकर छोड़ देने से हटकर और कुछ नहीं है। मानवता के हित और अहित को पीछे छोड़ कर केवल अखबारी पब्लिसिटी के विचार से ह इस विषय में चर्चा की जा सकती है।

१४. मृत्यु-दण्ड के भय ने आज संसार के मनुष्य का चरित्र उसके राष्ट्र के चरित्र से ऊपर उठा कर रखा है आज संसार के विभिन्न राष्ट्रों के चरित्र उन्हीं राष्ट्रों के व्यक्तियों के चरित्र से बहुत नीचे हैं। चरित्र के क्षेत्र में व्यक्ति के अन्दर पाया जाने वाला चरित्र विशेष रूप से मृत्यु-दण्ड के भय पर ही आधारित है।

जुआ खेलना एक राष्ट्रीय अपराध है

पक्ष :

१. रुपये या किसी अन्य कीमती चीज के बदले खेल खेलने को जुआ कहते हैं। जुआ अनेक प्रकार का होता है। ताश, चौपड़, रेस इत्यादि इसके अनेक प्रकार हैं। इसमें कुछ-न-कुछ सम्पत्ति को खतरे में डाल कर कुछ कमाया या खोया जाता है। अवसर की प्रतीक्षा में आदमी यह खतरा मोल लेता है यह आदान-प्रदान पूर्ण रूप से अविवेकपूर्ण है। इससे चरित्र और बुद्धि की गिरावट का आभास मिलता है। यह आदत आदमी को स्वप्निल आशावादिता और अवसरवादिता की ओर घसीट कर जीवन की वास्तविकता से दूर कर देती है।

२. जुआ कोई काम नहीं, एक लत है जो आदमी में पड़कर उसे अपनी ओर खींचती है। इस लत में पड़ कर व्यक्ति को रुपये की जरूरत होती है। जुए के दाव पर खेलने वाले यदि आठ-दस आदमी हैं तो उनमें से जीतने वालों की संख्या एक दो ही हो सकती है, शेष सभी को हानि होगी इस नुकसान के फलस्वरूप व्यक्ति में निराशा छा जायगी और इसका उसके जीवन के अन्य कार्यक्रम पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। व्यक्तियों का प्रभाव ही राष्ट्र पर अपना प्रभाव डालता है। राष्ट्र की जनता में राष्ट्र के रुपये को उद्योगों में लगाने के स्थान पर शौकों और लतों में नष्ट करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। इसे रोकना राष्ट्रहित की बात है।

३. जुए का प्रलोभन व्यक्ति के अन्दर अपना स्थान इसलिए बनाता है कि उसमें उसे बिना परिश्रम के रुपया आता दिखलाई देता है इससे जहां एक ओर काम न करने की आदत आदमी में पैदा होती है वहाँ दूसरी ओर जीवन को सुख-मय बनाने का झूठा ख्वाब भी उसके सामने आ जाता है और वह जीवन

वास्तविकता से कोसों पीछे हट कर जिन्दगी पर नजर डालने लगता है। मानव-जीवन की निकृष्ट प्रवृत्तियों को जुए से प्रोत्साहन मिलता है और यह राष्ट्र की बहुत बड़ी हानि है।

४. जुआ चरित्र की गिरावट का एक बड़ा साधन है इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि कोई बड़ा व्यापारी कभी किसी जुआरी को अपने रुपये पैसे का मामला सुपुर्द करने में संकोच करेगा। रेसकोर्स के बुकमैनों से व्यवहार करने वाले व्यक्ति भी उन्हें छोटा ही समझते है। जुआरी का समाज में कोई विश्वास नहीं करता और उसे घृणा की ही दृष्टि से देखा जाता है। एक जुआरी का स्थान समाज में वही है जो एक चोर बच्चे का उसके परिवार में रहता है। जिस प्रकार वह परिवार उस बच्चे को प्यार नहीं कर सकता ठीक उसी प्रकार जुआरी का भी समाज विश्वास नहीं कर सकता।

५. समाज के लिए जुआ खेलना कितना अहितकर हो सकता है इस कठोर सत्य को सामाजिक नियम-विधायकों ने महसूस किया है और यही कारण है कि संसार के सभ्य देशों में खुले तौर पर (Publicly) जुआ खेलना गैर कानूनी ठहरा दिया है। यों तो कुछ देशों में पुलिस चुपके-चोरी से जुआ खेलने वालों पर भी छापा मार कर उन्हें पकड़ने और रोकने का प्रयास करती है परन्तु सरेआम जुआ खेलना और न खेलने वालों को प्रलोभन देना तो अवैध ठहरा ही दिया गया है।

६. आज जिन देशों में जुआ देश के खिलाड़ियों पर इस तरह छा गया है कि वे किसी भी खेल में बिना दाव (bet) के भाग ले ही नहीं सकते, वहाँ खेल की आत्मा ही समाप्त हो चुकी है। इंगलैण्ड में यह खतरा आवश्यकता से अधिक बढ़ा और भारत पर, अंगरेजी राज्य गत-काल में होने के कारण भी उसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। न केवल घोड़ों और कुत्तों इत्यादि की दौड़ों को जुए का माध्यम बनाया गया, वरन् ताश, हाकी, फुटबाल, टेनिस इत्यादि में भी दाव (bet) रख कर खेलने की प्रथा चालू हुई।

७. आज सभ्य लोगों के क्लबों में ब्रिज (ताश का खेल) खेला जाता है और वह एक जुआ है। क्लबों के अतिरिक्त चार मित्र मिलकर अपने घरों पर बैठते हैं और ताश हाथ में ले लेते हैं तो बस ब्रिज या फ्लैश चालू हो जाता है। यह कोई तफरी का साधन नहीं। तफरी वह है कि जिसमें किसी भी भाग लेने वाले को उसके समाप्त होने पर पश्चाताप का मौका न मिले। जिस खेल में किसी भी प्रकार का कोई दाव चलने की बात खड़ी होती है वहाँ हारने वाले को सर्वदा अफसोस रहेगा।

८. भारत में दीवाली के त्यौहार पर जुआ खेलना शुभ माना जाता है।

एक ओर लक्ष्मी की पूजा होती है और दूसरी ओर जुआ खेला जाता है। त्यौहार मनाने के इस प्रकार के रीति रिवाजों पर सरकार पाबन्दी लगाती है, यह केवल इसीलिए कि यह राष्ट्रीय अपराध है।

६. आज व्यापार के क्षेत्र में जुआ वास्तविकता पर प्रधानता पाता चला जा रहा है। इसका नतीजा यह हो रहा है कि व्यापार की कमर मजबूत बनने के स्थान पर कमजोर पड़ती जा रही है। यह कमजोरी कभी-कभी बहुत ही घातक सिद्ध होती है। कभी-कभी तो एक जुआरी के दिवाला निकाल बैठने पर कई-कई फर्म फेल हो जाती हैं। जहाँ तक आगामी वादों पर व्यापार करना है वहाँ तक तो कुछ बहुत अनुचित-सी बात मालूम नहीं देती; लेकिन जहाँ बाजार के उतार चढ़ाव पर दिमागी मनसूबे और कुलाबे बाँधे जाते हैं वहां व्यापार की स्थिति डावांडोल होने में अधिक देर नहीं लगती। सट्टे का व्यापार करने वाला चाहे कितना भी बड़ा व्यापारी क्यों न हो परन्तु उसकी मजबूती की वह धाक बाजार में नहीं हो सकती जो सीधा-सच्चा व्यापार करने वाले की होती। सट्टेबाज व्यापारी की दशा बाजार के उतार चढ़ाव पर देखते ही बनती है। व्यापार में सट्टे की यह प्रवृत्ति बहुत खराब है।

विपक्ष :

१. बहुत से शाम के अखबार केवल सट्टे की सूचना पर ही आधारित होकर चलते हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो आज मनुष्य के जीवन के हर पहलू पर वास्तविकता की अपेक्षा जुए की मात्रा अधिक दिखलाई देती है। मनुष्य की प्रवृत्ति में जुए का इस प्रकार घुस जाना ही एक बड़ा राष्ट्रीय अपराध है।

२. तजुर्बा बतलाता है कि जुए की बान मनुष्य की प्रकृति में शराब की भांति प्रवेश करती है। एक बार मनुष्य इसका आदी हुआ नहीं कि बस, वह गया जुए का दास बना। मनुष्य की यह दासता उसे और उसके राष्ट्र को निकम्मा बना देती है। किसी भी बात के सही प्रभाव को आंकने की क्षमता फिर उसमें नहीं रह जाती।

३. जुए को रोजगार बनाकर चलने की प्रवृत्ति को एक दम समाप्त होने की आवश्यकता है। जुए में बिना मेहनत के मिला हुआ रुपया मनुष्य को काम न करके खाने की ओर खींचता है। उद्योगों, खेती और व्यापार में दिन-प्रति-दिन आदमियों की कमी हो रही है और इस प्रकार के जुए सम्बन्धी कुछ पैदा न कर वाले (unproductive) काम सामने आ रहे हैं। सरकार को चाहिए कि वह राष्ट्र-हित के लिए इन सब पर पाबन्दी लगाये।

४. यह बात सर्वथा गलत और निर्मूल है कि कोई भी बात जिसका

विवेक (Reasoning) से कोई सम्बन्ध न हो गिरावट की चीज होती है। दुनिया में बहुत से तफरी के सामान और खेल-कूद इत्यादि हैं जिनमें कोई दर्शन नहीं होता परन्तु फिर भी उनका मनुष्य पर स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। मनुष्य को वह गिरावट की ओर ले जायें इसका कोई कारण नहीं। चन्द साथियों के साथ केवल तफरी के लिए ब्रिज में दो चार आने हार जीत जाने को अपराध बना देने की प्रवृत्ति बहुत ही रूढ़िवादी है और यह मनुष्य में से उसकी मनोरंजन की प्रवृत्ति के लिये हानिकर होती है। इस प्रकार के खेल जुआ खेलने के लिए न खेले जाकर तफरी के ही लिए खेले जाते हैं। इस प्रकार के खेलों की ओर उदासीन होने से जीवन का मनोरंजक पहलू नष्ट हो जाता है।

५. यह एक फिजूल की बात है कि जब दो व्यक्ति आपस में एक साधारण सी बात पर शर्त लगाते हैं और उनमें से एक जीत जाता है तो दूसरे को मानसिक क्लेश होता है। वास्तव में इस शर्त से एक क्षण के लिए उत्साह और जीतने की आशा तथा मनोरंजन की भावना पैदा होती है। और उस उत्साह, आशा तथा भावना का मूल्य उस हारने या जीतने वाली शर्त से हजार गुना बड़ा होता है। इस प्रकार की शर्तों में एक आनन्द का अनुभव करता है और उस आनन्द की तुलना उस शर्त की रकम या वस्तु से करना व्यर्थ की बात है। जब दो खिलाड़ी आपस में खेल कर हर वर्ष लौट आने वाला चांदी या सोने का कटोरा जीतते या हारते हैं तो उसमें कोई लाभ की भावना नहीं होती। वहां खेल की ही प्रधानता रहती है और उत्साह भी खेल के ही प्रति होता है।

६. मनुष्य के जीवन की किसी भी प्रवृत्ति में दोष निकालना सरल-सी बात है। इसमें कोई कठिनाई नहीं। परन्तु बड़ी बुराइयों के सामने छोटे शौकों को समझने और आदर देने वाला दिल विरले ही व्यक्तियों के पास होता है।

७. आज का व्यापार इस स्थिति को प्राप्त हो चुका है कि जिस व्यापारी के पास थोड़ी-बहुत सट्टे की बुद्धि (Speculating nature) नहीं है वह कभी भी एक सफल व्यापारी नहीं बन सकता। यों कोई छोटी-मोटी दूकानदारी करना बात अलग है परन्तु यदि व्यापार को उसके सही माने में परखना, समझना और फैलाना है तो उसके लिए खतरा लेना ही होता है। इस खतरे को व्यापारी की परख न कह कर जुए की प्रवृत्ति कहना मूर्खता है। जो कुछ अपने पास है उसी पर चार पैसे कमा लेना कोई व्यापार नहीं है। यह कमाई तो सूदखोरी के समान है। आज जहाँ भी हम व्यापार की तरक्की देख रहे हैं वहां के व्यापारी ने प्रारम्भ में हर प्रकार का खतरा अपने ऊपर लिया है और तभी वह अपने इच्छित लक्ष्य पर पहुँच पाया है।

८. व्यापार के नियमों को अर्थशास्त्र में परिस्थियों का लेखा-जोखा

(Statement of tendencies) कहकर पुकारा जाता है। एक सफल व्यापारी इन परिस्थितियों (Tendencies) का सही अन्दाजा लगाकर आगे बढ़ता है। यह अन्दाज हमेशा ठीक ही हों, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता परन्तु फिर भी व्यापारी जितना तजुरबेकार और चतुर होगा उसके अन्दाजे उतने ही सही और समयानुकूल सफल होने वाले होंगे। इस प्रकार के व्यापारी अनुमानों को जुआ कहना अनुचित है।

९. अखबार जो सट्टे इत्यादि की सूचनाएँ छापते है वे जुआ नहीं खेलते। उनका व्यापार सीधा और सच्चा है। उनका तो काम ही किसी विषय की सूचना मांगने वाले को उसके आशय की सही सूचना पहुँचाना है। किसी खेल के मैदान तक पहुँचने वाली मोटर को भी इस प्रकार तो जुए की ही श्रेणी में रखा जायगा इस प्रकार का तर्क हास्यास्पद है।

१०. किसी भी देश में यदि कोई काम करने वाला मजदूर जुए में समय लगाता है तो इस का प्रधान कारण यही है कि वह अपने जीवन-स्तर को अधिक दिन बर्दाश्त नहीं कर सकता। उसकी सहन करने की शक्ति उसे जवाब देती जाती है। ऐसी दशा में सरकार का यह फर्ज हो जाता है कि वह उन जुआ खेलने वाले मजदूरों के जीवन-स्तर ऊपर उठाने की दिशा में प्रयास करें। इसके अतिरिक्त और कोई अन्य उपाय उनका जुआ खेलना बन्द करने का उनके पास नहीं है।

११. जहाँ तक दाव पर उस वस्तु या धन-राशि के लगाने की बात है कि जो वह देने में असमर्थ हो, वहाँ बेईमानी की बात सोची-समझी जा सकती है परन्तु छोटे छोटे दावों और शर्तों में केवल दिलचस्पी और मनोरंजन के आकर्षण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इस प्रकार के दाव लगाने और शर्तों को जुआ कहना हिमाकत है। यह दाव रुपया कमाने के लिए नहीं किया जाता इसका एकमात्र मकसद खेल के प्रति आकर्षण पैदा करने के अलावा और कुछ नहीं होता मनोरंजन का आकर्षण राष्ट्र के जीवन में एक उमंग पैदा करता है और जीवन की शिथिलता इससे नष्ट होती है।

१२. जुआ और इस प्रकार के दाव इत्यादि लगाने में केवल वे ही मनुष्य अपने को नुकसान पहुँचाते हैं जिन्हें अपने मन पर काबू नहीं होता। (Without self-control) इस प्रकार यदि इसे बुराई भी कहा जाय तो व्यक्तिगत बुराई ही कहा जायगा और अपराध भी माना जाय तो भी व्यक्तिगत अपराध की ही इसे सजा दे सकते हैं। राष्ट्रीय अपराध यह कभी नहीं कहला सकता। छोटे-मोटे जुए, रेस, ब्रिज इत्यादि को राष्ट्रीय अपराधों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

१३. जहां तक कानून का सम्बन्ध है वहां तक जो कानून भी इस दिशा में आज तक बने हैं वह कुछ कम नहीं हैं और उन कानूनों के बावजूद आज

दुनिया के सभी देशों में इस प्रकार के दाव लगाने, जुआ खेलने, रेस खेलने इत्यादि की प्रथाएँ बराबर चल रही हैं। कानून इन्हें रोकने में सर्वथा असमर्थ रहा है और कहीं-कहीं तो देखा गया है कि इस दिशा में अधिक कानूनबाजी का फल और उल्टा ही हुआ है। जिन देशों की पुलिस रिश्वत लेती है वहां तो सरकार चाहे जितने भी कानून क्यों न बनाये जुए को रोका नहीं जा सकता।

संस्कृत-साहित्य का अध्ययन आज के युग की आवश्यकता है।

पक्ष :

१. संस्कृत-साहित्य में हमारे प्राचीन साहित्य और समाज की वह निधि छुपी पड़ी है कि जिसे पाकर आज का समाज विचार और सभ्यता से माला-माल हो सकता है। संस्कृत-काल का सांस्कृतिक विकास और उसकी पद्धतियाँ उसी साहित्य के पन्नों में सुरक्षित हैं। उस काल का समाज, सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन, बर्ताव, आचरण, बोलचाल, चालढाल, आपसी तरीके, रस्मोरिवाज सभी कुछ उसमें भरे पड़े हैं।

२. आज हमें जो कुछ भी दिखलाई दे रहा है वह सब उस समय तक अधूरा है जब तक हमें हमारी प्राचीन संस्कृति का ज्ञान नहीं और प्राचीन संस्कृति का ज्ञान उस समय तक सम्भव नहीं जब तक कि हमने संस्कृत साहित्य का अध्ययन न किया हो। अतीत से आज को मिलाने वाली शृंखला यह साहित्य ही है और इसका ज्ञान हुए बिना अतीत तथा वर्तमान ऐसे प्रतीत होने लगते हैं कि मानो दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध ही नहीं।

३. यही वह साहित्य है जिसने आज तक इतिहास में दिखलाई देने वाली महान् विभूतियों को उत्साह और साहस प्रदान किया है, गौरव दिया है। अतीत का ज्ञान इसी साहित्य ने कराया है और इसी के मान और मर्यादा पर उन्होंने अपने भविष्य का निर्माण किया है, संस्कृति को नये मोड़ दिये हैं, नये पहलू दिखलाये हैं। देश और संस्कृति के उत्थान और पतन का इतिहास इसी साहित्य में छुपा पड़ा है। उसी साहित्य में बहुत से प्रकार के ज्ञान की रूप-रेखा निहित है और उसका अध्ययन करके विद्यार्थी को अपने अन्दर एक प्रकार की मूर्खता के दर्शन होने लगते हैं।

४. संस्कृत-साहित्य में मानव-जीवन के उन स्थायी तत्त्वों का विवेचन मिलता है जिनके आधार पर सभ्यताओं का निर्माण हुआ है और मानव-जाति के इतिहास

की परम्परा स्थापित हुई है। उस साहित्य में साहित्यकारों ने अस्थायी तत्त्वों को अपना आधार नहीं बनाया। इसलिए उस साहित्य का अध्ययन किये बिना आज का विद्यार्थी मानव-जीवन के स्थायी तत्त्वों तक नहीं पहुँच सकता और न ही उसका अध्ययन इतना गम्भीर हो सकता है कि वह जीवन के गहरे पहलुओं का निरीक्षण करके उन्हें परख सके और विचार की तराजू पर तौल सके।

५. संस्कृत-साहित्य ने मानव-समाज को एक क्रम दिया है, एक व्यवस्था दी है और जीवन चलाने की विधियाँ निर्धारित की हैं। मानव-जीवन का वह विकासमय इतिहास है कि जिसमें कला और सचाई का सुन्दर सामंजस्य साहित्य-कारों ने स्थापित किया है। यही व्यवस्था समाज की व्यवस्था है, नियमितता है जिसकी धुरी पर बिना राजनैतिक दबाव के भी समाज का पहिया बराबर आज तक चलता चला आ रहा है। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि इस नियमि-तता में जो कुछ भी दोष दिखलाई देते हैं वह बाद में आने वाले दोष हैं।

६. संस्कृत-साहित्य असंघर्षमय युग के शांत जीवन का वह प्रवाह है जिसमें आनन्द और मंगल, आमोद और प्रमोद के लिए आज की अपेक्षा अधिक स्थान था। उस समय का मानव-जीवन के अधिक निकट था, समस्याएँ उसकी अधिक नहीं थी और उसके जीवन के प्रवाह और विकास में सरलता थी, छल-छिद्र नहीं था। जीवन की उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए उस साहित्य का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

७. संस्कृत-साहित्य ने भाषा को जो रूप दिया उससे बाद में आने वाली बहुत सी भाषाएँ प्रभावित हुईं और उसके शब्दों के तत्सम और तद्भव रूपों ने उन्हें प्रभावित किया। भाषा और लिपि का विकास भी संस्कृत-साहित्य की देन है जिसके बिना आधुनिक देशज भाषाओं के साहित्य का निर्माण होना कठिन था।

८. वर्तमान युगीन व्यापारिक, औद्योगिक, कला-सम्बन्धी, वैज्ञानिक विकास की दुनिया में मनुष्य अनुभव कर सकता है कि वह कला के उस शांत प्रवाह को प्राप्त नहीं कर सकता जो संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध है। आज के युग की उधेड़-बुन में कलाकार रचना 'गढ़' सकता है 'जड़' नहीं सकता।

विपक्ष :

१. आज का युग संस्कृत-युग से बहुत आगे बढ़ चुका है। संस्कृत-साहित्य का अध्ययन बुरी चीज नहीं परन्तु यह कहना कि उसके बिना आज का साहित्य आगे बढ़ ही नहीं सकता, व्यर्थ की बात है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में अपने काल की सभ्यता के चित्र मिलते हैं ठीक उसी प्रकार और उससे भी कहीं अधिक व्यापक रूप में आज के साहित्य के अन्दर आज के युग के चरित्र मिलते हैं।

२. आज के युग में जिस साहित्य की रचना हो रही है उसमें अतीत और वर्तमान का जो सामंजस्य प्राप्त है वह प्राचीन संस्कृत साहित्य में पाया ही नहीं जा सकता। साथ ही साहित्य के विभिन्न रूपों का जो विकास आज के युग में हुआ है वह संस्कृत-साहित्य में नहीं था।

३. भाषा के विकास का भी जहां तक सम्बन्ध है वहां संस्कृत की एक बहुत बड़ी देन से इंकार नहीं किया जा सकता लेकिन आज जो भाषा का विकास हुआ है उसमें मिलने वाली शब्दावली की सीमा बहुत व्यापक होती जा रही है और इसी आधार पर उसके अन्दर जो भाव और विचार व्यक्त किये जा सकते हैं वे भी कहीं अधिक व्यापक हैं।

४. संस्कृत-साहित्य में हमें धार्मिक विकास और आत्मिक उत्थान का विशेष साहित्य मिलता है। संस्कृत-साहित्य की इस विशेष खूबी का बखान करना हमारे विपक्षी महोदय भूल ही गये परन्तु मानव जीवन का यहीं अंत नहीं हो जाता। यह ठीक है कि यह उसके जीवन का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है और इसके बिना मानव अधूरा ही है परन्तु संसार में रहते हुए मानव अपने जीवन के बहि-संघर्षों को भुला कर नहीं चल सकता। और इस बहिर्संघर्ष की दिशा में हम संस्कृत-साहित्य को बहुत पीछे पाते हैं।

५. संस्कृतसाहित्य-काल में मानव जिस दशा से गुजर रहा था वह उतनी संघर्षमय नहीं थी, यह हमारे विपक्षी भी मानते हैं। इसीलिए जीवन के उन रहस्यों का उद्घाटन उस साहित्य में मिलना कठिन है जो उस समय सामने ही नहीं आते थे और जिनसे लड़ने-झगड़ने की उस काल के व्यक्ति को आवश्यकता ही नहीं होती थी।

६. अब रही नियामकता और जीवनक्रम की बात,—सो यह तो कोरी रूढ़िवादी गाथा है, जिसमें मानव-जीवन के विकास के रुकने की बात तो दिखलाई देती है, बढ़ावे का कहीं पता नहीं चलता। इसी नियामकता ने मानव को जकड़ कर समाज का दास बना दिया और इसी दासता का इतिहास इस साहित्य में भरा पड़ा है। दासता के इस इतिहास से आज का साहित्य सबक सीख रहा है इसमें कोई संदेह नहीं और इस नाते आज के विद्यार्थी को मैं ठीक समझता हूँ कि उसका अध्ययन करना आवश्यक है परन्तु अनुकरण की प्रवृत्ति को लेकर नहीं।

७. संस्कृत-भाषा की आधुनिक भाषाओं को जो देन है वह भी अस्वीकार नहीं की जा सकती परन्तु यहाँ यह भी नहीं माना जा सकता कि आज की भाषाओं का मुक्त प्रवाह रोक कर फिर संस्कृत की दिशा में समाज का रुख बदल देना चाहिए। जहाँ ऐतिहासिक सम्बन्ध स्थापित करने की बात आती है वहां सब कुछ सही है परन्तु जहां पीछे लौटने की बात चलती है वहाँ सब कुछ गलत हो जाता है।

८. कला के क्षेत्र में 'गढ़िया' और 'जड़िया' वाली बात भी ठीक ही है क्योंकि आज का साहित्यक साहित्य की भी उपादेयता मानता है। वह साहित्य व्यर्थ है जिसका समाज और मानव के उत्थान और विकास में कोई योग ही न हो। जिसका निर्माण केवल कौतुहल या किसी कामना या लालसा या वासना की तृप्ति के लिए किया गया है उसे मैं साहित्य नहीं मानता। साथ ही जो साहित्य अपनी क्रमबद्धता में मानव को जकड़ने का प्रयास करता है वह भी कोई साहित्य नहीं है। संस्कृत-युग में संघर्ष आज जैसा नहीं था, परन्तु था ही नहीं यह मैं मानने को उद्यत नहीं। इसीलिए उस काल का भी समूचा साहित्य केवल 'जड़िया' श्रेणी के ही अंतर्गत् रखा जायगा यह कहना गलत है। केवल जड़-गढ़ कर बनाव शृंगार करना ही साहित्यकार का काम नहीं। आज के साहित्यकार को अपनी बात कह कर आगे बढ़ना है। वह एक ही बात से अटक कर व्यर्थ समय भी नष्ट नहीं करना चाहता।

९. रही समाज के चित्रांकन की बात, सो वह जैसा संस्कृत-साहित्य में मिलता है वैसा ही कुछ आज का साहित्यकार भी करने का प्रयत्न करता है। आज के लेखक के पास निश्चित रूप से अपनी बात कहने के माध्यम संस्कृत-साहित्यकार से अधिक हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संस्कृत-साहित्य का अध्ययन नहीं करना चाहिए। अध्ययन अवश्य करना चाहिए परन्तु फिर भी आज के साहित्य को अपने परीक्षणों का मूल्यांकन स्वतन्त्र दृष्टिकोण से करना चाहिए।

सहशिक्षा राष्ट्र की आवश्यकता है।

पक्ष :

१. शिक्षा के क्षेत्र में दोनों सेक्सों का पारस्परिक सम्बन्ध जुड़ना नितान्त आवश्यक है। यह स्वाभाविक भी है और वास्तविकता को लिए हुए है। पहिले स्काटलेन्ड में सहशिक्षा का प्रचलन था और आजकल यूनाइटेड स्टेटस ऑफ़ अमरीका में इसका नये ढंग से विकास हुआ है। संसार के विभिन्न देशों में, जहां सरकारी सभी स्कूलों और विद्यालयों में नियमित रूप से सहशिक्षा का प्रबन्ध नहीं है वहां भी आज आंशिक रूप में सहशिक्षा देखने को मिलती है।

२. आज दुनिया के कोने-कोने में सहशिक्षा का बढ़ता हुआ स्वाभाविक प्रवाह ही इस बात का प्रमाण है कि मानव समाज को अपने उचित विकास में इस प्रणाली को स्थान देना चाहिए। सहशिक्षा से सेक्स के दोनों पक्षों की जो जन्म से ही भूख प्रारम्भ होती है उसे भोजन मिलने लगता है और इससे उनके विकास में बहुत बड़ा सहयोग मिलता है।

३. लड़की के मस्तिष्क की कमी लड़के के सहयोग से पूर्ण होती जाती है और लड़के के मस्तिष्क की कमी लड़की के साथ रहने से दूर हो जाती है। एक दूसरे के अभाव की पूर्ति के रूप में दोनों वर्ग साथ-साथ विकसित होते हैं और इस सहयोग से विकास में बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

४. साथ-साथ रहने से लड़के और लड़की के चरित्रों का विकास तीव्र गति के साथ होता है। दोनों के जीवन में जो संकोच की भावना अलग-अलग रहने से पनपती है उसका विनाश हो जाता है और इस प्रकार दोनों की उन्नति में बाधा उपस्थित नहीं होती।

५. प्रतिद्वन्द्विता की भावना एक ही सेक्स के दो व्यक्तियों में उतनी अधिक नहीं होती जितनी विपरीत सेक्स के लोगों में रहती है। इस प्रकार दोनों सेक्स के विद्यार्थियों के साथ रहने से प्रतिद्वन्द्विता को प्रश्रय मिलता है जो कि दोनों के विकास का कारण बनती है। इस प्रकार दोनों के साथ-साथ रहने से विकास के लिए अधिक व्यापक क्षेत्र खुलता है और दोनों ही सेक्सों में उन्नति करने के लिए एक जोश तथा शक्ति का आविर्भाव होता है। यह दोनों की उन्नति में हितकर है।

६. स्त्री जाति के दासत्व की गाथा बहुत पुरानी है। स्त्री ज्यों-ज्यों ऊपर उठी तो उसके योरोप में भारी आंदोलन हुए और स्त्री जाति में एक पुरुपत्व की भावना का विकास हुआ। सहशिक्षा से हो सकता है नारी की इस पुरुपत्व की भावना को ठेस लगे परन्तु आज की सभ्य दुनिया में वह संघर्ष चलता नहीं दीख पड़ता। और न ही उस पुरुपत्व की ही कोई आवश्यकता रहती है। सहशिक्षा से एक-दूसरे को परखने की पूरी जिम्मेदारी दोनों पर आ पड़ती है और दोनों ही खुलकर एक दूसरे को समझ सकते हैं।

७. विद्यालयों में भी दोनों सेक्सों के विद्यार्थी साथ-साथ रहने से बहुत स्वाभाविक वातावरण का निर्माण होता है और बनावट आप से आप हटती चली जाती है। बहुत से देशों में जहाँ स्कूल, कालेज तथा अन्य शिक्षा-केन्द्र दोनों सेक्सों के लिए पृथक-पृथक बनाये जाते हैं वहां दोनों में ही खराबियाँ फैलती हैं और दोनों ही अस्वाभाविक क्रियाओं द्वारा अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए अपने स्वास्थ्य का बलिदान देते हैं। दोनों सेक्सों की स्वाभाविक इच्छाओं पर प्रतिबन्ध लगाना उन्हें अस्वाभाविक मार्ग पर छिपकर चलने का न्योता देता है जिसका परिणाम उनके और राष्ट्र के लिए कभी भी हितकर नहीं हो सकता। इससे इन शिक्षा-केन्द्रों का समस्त वातावरण दूषित हो जाता है। किसी भी विद्यालय में स्त्रियों के रहने से वहाँ के साधारण वातावरण का शिक्षा तथा नीति-सम्बन्धी स्तर ही बदल जाता है।

८. सहशिक्षा के पश्चात् जो शादी-विवाह होते हैं उनके फल सर्वदा उनसे अच्छे ही निकलेंगे जो अनमेल यों ही मा-बाप की मर्जी या रूप-रंग को

देखकर ही की जाती हैं। सहशिक्षा में एक दूसरे के स्वभाव का पता चलता है जो इस प्रकार केवल एक-दो बार देख-भर लेने से कभी सम्भव ही नहीं हो सकता। यदि एक स्त्री और पुरुष दोनों साथ-साथ पढ़े हैं; साथ साथ रहे हैं, साथ-साथ खेले-कूदे हैं, साथ-साथ जीवन व्यतीत किया है तो निश्चित रूप से वे एक दूसरे के जीवन में घुल गये हैं और एक-दूसरे की गहराइयों का एक दूसरे ने पता लगा लिया है। एक दूसरे की खूबियों से परिचित हो गया है और एक-दूसरे की बद-दिमागियों को बर्दाश्त करने का भी अभ्यस्त हो गया है। इस प्रकार विवाह होने से पूर्व ही वे दोनों एक-दूसरे के जीवन में फिट हो गये हैं, एक-दूसरे को समझ बूझ चुके हैं। यह सब सहशिक्षा के बिना नितान्त असम्भव है। सहशिक्षित जोड़ी के निश्चय हर दशा में आज की होने वाली शादियों की अपेक्षा अधिक दृढ़ और तर्क पर आधारित होंगे।

९. दस वर्ष से छोटे लड़के-लड़कियों का आपस में साथ-साथ पढ़ना बहुत ही लाभदायक है यदि उनके शिक्षक चतुर और योग्य हैं और वे अपने विद्यार्थियों पर पूरा कंट्रोल रख सकने में समर्थ हैं। बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा का कार्य स्त्रियाँ ही अधिक उत्तम ढंग से कर सकती हैं। ये अध्यापिकाएँ लड़के और लड़कियों, दोनों को समान रूप से योग्यता के साथ पढ़ा सकती हैं। इन बच्चों की पढ़ाई में किताबें पढ़ने की अपेक्षा उनके पालन-पोषण, खाने-पीने, रहन-सहन आदि पर ध्यान देना अधिक आवश्यक है और यह कार्य पुरुष की अपेक्षा स्त्री ही अधिक सहानुभूति के साथ कर सकती है।

१०. आज के युग में स्त्रियाँ लगभग सभी दिशाओं में मनुष्य की साथिन बनती जा रही हैं। किसी-किसी दिशा में तो उन्होंने प्रतिद्वन्द्विता भी ग्रहण करनी प्रारम्भ कर दी है। किसी संस्था की सदस्यता, अध्यापन, डाक्टरी, वकालत, इन्त-ज़ाम (Administration), खोज (Research) और दूसरी प्रकार के अन्य क्षेत्रों में स्त्री मनुष्य से पीछे नहीं रह गई हैं। जिन शिक्षा-केन्द्रों में सहशिक्षा है वहां स्त्रियाँ ही अच्छा अध्यापन-कार्य कर सकती हैं और उन्हीं के सुपुर्द इस कार्य को करना भी चाहिए। परन्तु किसी लड़कों के स्कूल की हेड मिस्ट्रेस किसी स्त्री को बनाना मूर्खता की बात है। आज के युग में स्त्री और पुरुष को एक से स्तर पर रखकर चलना ही मानव कल्याण में सहायक होगा।

११. सहशिक्षा से दोनों सेक्सों के चरित्रों का पता चलता है और आपसी सहयोग से उनके विकास का उन्हें पूर्ण अवसर मिलता है। दोनों के जीवन से सम्ब-न्धित समस्याएँ समय पड़ने पर आप-से-आप सामने आती हैं और उनके सुझाव भी साथ ही साथ निकलते चले जाते हैं। जिनके सुझाव निकलने में कठिनाई होती हैं उन्हें खोजने में सम्मिलित प्रयत्न बहुत शीघ्र सफल हो जाते हैं और इस प्रकार

मानव समस्याओं की गुत्थियां एक के बाद दूसरी खुलती चली जाती है। खोज के लिए सहशिक्षा द्वारा एक व्यापक क्षेत्र मानव-समाज के सामने आता है और फिर उनके परीक्षण के लिए भी दोनों के प्रयत्न कर्तव्यशील हो उठते हैं।

१२. लड़के और लड़कियों को पृथक-पृथक शिक्षा देने के लिए पृथक-पृथक केन्द्रों का प्रबन्ध करना होगा और यह प्रबन्ध न तो उतने साधनयुक्त ही हो सकते हैं और इनमें व्यय भी अधिक ही करना होगा। जिन केन्द्रों में विद्यार्थियों की संख्या कम होती है वहाँ तो इस प्रकार की संस्थाएँ स्थापित करना और भी हानि-कारक होगा।

विपक्ष :

१. यों कहने के लिए दो सेक्स के विद्यार्थियों का एक जगह पढ़ना बहुत लाभदायक हो सकता है परन्तु यदि इसकी गहराइयों में जाया जाय तो सिद्ध हो जायगा कि दोनों का एक जगह पढ़ना एक दिक्कततलब मामला है। पढ़ाई में बहुत से विषय ऐसे हैं जिनको लड़के और लड़कियों दोनों को साथ-साथ नहीं पढ़ाया जा सकता। साहित्य के क्षेत्र में भी बहुत सा ऐसा साहित्य है जिसे अध्या-पकों को लड़के और लड़कियों के क्लास में पढ़ाते हुए संकोच होगा। ऐसी दशा में साथ-साथ शिक्षा बहुत ही कठिन है।

२. सहशिक्षण से लड़के के पुरुषत्व को ठेस लगती है। लड़के में यह पुरुषत्व उसके बचपन के लड़की से अलग रहकर पढ़ने और पनपने की ही देन है। साथ-साथ रहने से वह पुरुषत्व समाप्त हो जाता है। जीवन का वह एकाकी विकास रुक जाता है और उसमें वह जोश तथा रौब-दाब नहीं आ पाता जो पुरुष में आना चाहिए। सहशिक्षा के स्कूलों से ऐसे वीर नहीं निकल सकते जिनके जीवन में नारी-विषयक कमजोरी के लिए स्थान ही न हो। इन केन्द्रों में पनपने वाले विद्यार्थी तो ऐसे होंगे कि जिनके जीवन को प्रारम्भ से ही घुन लग जाता है।

३. दोनों के साथ-साथ पढ़ने का प्रभाव यह होगा कि स्त्री-चरित्रों पर पुरुष का प्रभाव पड़ेगा और पुरुष-चरित्रों पर स्त्रियों का प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार दोनों ही मध्य मार्ग के चलने वाले विद्यार्थी बन सकेंगे। किसी एक दिशा में बहुत उन्नति करना उनके लिए सम्भव नहीं हो सकेगा और इस प्रकार दोनों के जीवन का विशेष विकास रुक जायगा। इस प्रकार स्त्री तथा पुरुष की विशेष प्रवृ-त्तियों को बढ़ावा न मिलकर वे कुंठित हो जायेंगी और दोनों के जीवन साधारण प्रवाह में पड़कर रह जायेंगे। दोनों में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने के स्थान पर घटेगी और उन्नति के स्थान पर उल्टी अवनति ही होगी।

४. शर्म और लज्जा एक आयु में आकर स्त्री तथा पुरुष के अन्दर एक

स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके विकास में मानव जीवन का इतिहास छिपा हुआ है। उसमें साहित्य की प्रेरणा है, जीवन की वह मुग्ध स्मृति है कि जिसके साथ समस्त जीवन को भी नहीं तोला जा सकता। उस प्रवृत्ति का सहशिक्षा से विनाश करके स्त्री तथा पुरुष के जीवन से कलात्मकता का नष्ट कर देना दोनों के जीवन को मशीन बना देने के समान होगा। शिक्षा की यह प्रवृत्ति साहित्य, संस्कृति और प्रकृति के विरुद्ध होगी और इसके पनपने में सहयोग देना एक अनर्थ होगा।

५. सहशिक्षा के नतीजों को यदि ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो पता चलता है कि इसके फलस्वरूप कभी भी विशेष योग्यता के व्यक्ति पैदा नहीं किये जा सकते। बीच की श्रेणी के लोगों की यह प्रणाली बन रुकती है।

६. सहशिक्षा में बच्चों के अन्दर प्रारम्भ से ही सेक्स की वे बीमारियां उभर आती हैं जिनसे उनके जीवन का विकास रुक जाता है। उनकी बुद्धि का झुकाव सही दिशा में न रहकर ग़लत दिशा में हो जाता है और सेक्स उनके जीवन की एक बीमारी बन जाता है। बच्चे बहुत-सी ऐसी ग़लत चीजों में फँस जाते हैं जिनका, यदि वे दोनों सेक्स के पृथक-पृथक विद्यालयों में पढ़ते, उन पर कभी प्रभाव ही नहीं पड़ सकता था।

७. रोमांसाश्रित विवाहों में जीवन के गम्भीर तत्त्वों का प्रभाव रहता है। सहशिक्षा के अंतर्गत जीवन की कठिन परिस्थितियों को समझने की क्षमता नहीं होती। जो शादी-विवाह माता पिता की सलाह से किये जाते हैं उनमें माता-पिता के जीवन भर के तजुर्बे छुपे रहते हैं। माता-पिता अपने बच्चों के जीवन की भलाई बुराई को निरखते परखते हैं। यह गहरे और पैनी दृष्टि सह शिक्षा में साथ-साथ रहे बच्चों में मिलनी दुर्लभ है। अमरीका में हुए सहशिक्षा के फलस्वरूप विवाहों का इतिहास भी अधिक उत्साहवर्धक रिकार्ड पेश नहीं करता।

८. स्त्री और पुरुष के मस्तिष्क, भावना और स्वास्थ्य के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का वातावरण चाहिए। यह भिन्नता सहशिक्षा में मिलनी दुर्लभ है और इसीलिए दोनों सेक्सों का यह विकास भी उस ढंग का नहीं हो सकता जिस ढंग का होना चाहिए। एक स्त्री और पुरुष के आपस में मिलन का एक समय होता है। इस तरह दोनों के सही विकास के लिए यह नितांत आवश्यक है कि दोनों के शिक्षण का प्रबन्ध पृथक-पृथक हो और जब तक वे दोनों मिलने की स्थिति और अवस्था तक न पहुँच जायें तब तक उन्हें आपस में न मिलने दिया जाय। हिन्दू धर्म के विख्यात सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए सहशिक्षा का कड़े शब्दों में विरोध किया है।

९. जहां तक बड़ी अवस्था के लड़के और लड़कियों के साथ-साथ पढ़ने की बात है और वह कुछ हद तक मानी भी जा सकती है क्योंकि उस स्थिति में

उनके मस्तिष्क विकसित हो जाते हैं और वे अपनी भलाई-बुराई परखने के योग्य हो जाते हैं परन्तु बच्चों को साथ-साथ पढ़ाने का तो किसी भी दशा में समर्थन नहीं किया जा सकता। उनमें अपनी भलाई-बुराई को समझने की क्षमता ही नहीं होती और वे नासमझी में इतना बड़ा अनर्थ कर सकते हैं कि जिसके कुपरिणाम-स्वरूप हो सकता है कि उनका सारा जीवन ही नष्ट हो जाय। छोटे बच्चे कच्चे फूलों के समान होते हैं जिन पर हवा के बदलने-बदलने का भी प्रभाव पड़ता है और इन कच्चे फूलों पर राष्ट्र का भविष्य आधारित है। इन्हें इस प्रकार मुक्त करके नष्ट होने के लिए सहशिक्षा की भट्टी में झोंक देना बहुत बड़ी मूर्खता होगी। यह बच्चों के हाथ में चाकू देने के समान ही होगा।

१०. यह कहना ग़लत है कि सहशिक्षा के स्कूलों की अपेक्षा पृथक-पृथक स्कूलों के बनाने में अधिक व्यय होगा। सहशिक्षा के स्कूलों में उन सभी साधनों को जुटाना होगा जिनकी स्त्री और पुरुष दोनों को आवश्यकता हो और इस प्रकार एक स्कूल में उतना खर्च करना पड़ जायगा जितना पृथक-पृथक प्रकार के दो स्कूलों में व्यय होगा। इस प्रकार हर दिशा से देखने पर राष्ट्रों के कल्याण के लिए सहशिक्षा हानिकारक है।

पूंजीवाद की अपेक्षा सहकारिता को अपनाना राष्ट्र-हित में है।

पक्ष :

१. स्वार्थ, चाहे वह एक व्यक्ति का हो या कुछ अधिक व्यक्तियों का, कभी भी काम करने वाले को वह प्रोत्साहन नहीं दे सकता जो सहयोग प्रदान करता है। जब सहयोग का प्रश्न आता है तो काम पर जुटने वाला हर व्यक्ति मालिक होता है, उसका स्वाभिमान जीवित रहता है और वह काम पर उसे अपना समझकर जुटता है। साथ ही वह यह भी समझता है कि जो कुछ वह मेहनत कर रहा है यह मेहनत वह अपने लिए कर रहा है और उसका जो फल निकलेगा वह भी स्वयं उसी को प्राप्त होगा, कोई अन्य उसकी मेहनत के फल को चट नहीं कर जायगा। पूंजीवादी ढांचे में पूंजी को मजदूरों की कमाई में से काट-छांट कर एकत्रित किया जाता है।

२. सहयोगी-कार्य की व्यापारिक नीति भी उन्हीं लोगों की सलाह से निर्धारित की जाती है जो लोग उस कार्य से सीधे सम्बद्ध होते हैं और जिन पर सीधे तरीके से उसका प्रभाव पड़ता है। इस कार्य में पूंजीवादी दृष्टिकोण सामने नहीं रहता और हर कार्य का बल इसी बात से प्रेरित होकर नहीं किया जाता कि

उसमें किस प्रकार काट-छांट कर मुनाफ़ा कमाया जा सकता है। सहयोगी कार्य में साथ जुटकर काम करने वाले को चालाकी से धन कमाने वाले की अपेक्षा अधिक पसंद किया जाता है और इज्जत की निगाह से देखा जाता है। पूंजीवादी दृष्टिकोणधारी तो पैसे पर ही दृष्टि रखता है, काम पर उतनी नहीं।

३. सहयोगी कार्यक्रम में बीच के आदमी (Middle-man) को हटा दिया जाता है और पैदा करने वाले तथा उसका इस्तेमाल करने वाले का सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। इस प्रकार यह बीच का व्यर्थ खर्च समाप्त कर दिया जाता है। पूंजीवादी कार्यक्रम में इस प्रकार के बीच के आदमी रहकर चीजों के मूल्य बढ़ा देते हैं।

४. जहां तक उत्साह के साथ काम करने की बात है वहां तक सहयोगी कार्यक्रम में काम करने वाला जी तोड़कर काम करता है। वह जो कुछ भी काम करता है, जानता है कि उसका फल उसी को मिलने वाला है, कोई अन्य उसे मूर्ख नहीं बना रहा है और न उसकी मेहनत की चोरी ही कर रहा है।

५. पूंजीवादी कार्यक्रम में कुछ लोगों को तो बहुत बड़ी तनखाहें दी जा रही हैं और बाकी सबको थोड़ी तनखाहें देकर रगड़ा जाता है। स्तर का इतना ऊंचा-नीचा करना ही पूंजीवादी मनोवृत्ति है। यह मनोवृत्ति सहयोगी कार्यक्रम में नहीं पाई जाती। वहां काम करने वालों की तनखाहों में इतना बड़ा अन्तर नहीं पाया जाता। अन्तर रहता है परन्तु बहुत कम।

सहकारिता आंदोलन की सफलता न केवल वितरण-(Distri bution) क्षेत्र में ही हमें देखने को मिलती है वरन् उत्पादन-(Production) क्षेत्र में भी उसका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। बैंकिंग, इंशोरेन्स, विदेशी व्यापार इत्यादि के क्षेत्र में असाधारण सफलता इस प्रणाली को मिली है। आज के युग में तो बड़े-बड़े देशों ने इस प्रणाली को अपना लिया है और चीन तथा रूस के सभी काम सहकारिता के ही तरीके पर किये जा रहे हैं। इस प्रणाली को लागू करके इन देशों ने हर क्षेत्र में जितनी तरक्की की है उतनी पूंजीवादी प्रणाली के मानने वाले नहीं कर पाये। आज के युग में यह कहना कि सहकारिता में वह व्यवस्था और क्रमबद्धता नहीं पाई जा सकती जो पूंजीवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत मिलती है, बेबुनियाद है।

विपक्ष :

१. काम करने की स्वतन्त्रता और ट्रेड यूनियनों के संघर्ष से आज मजदूर ने अपने काम करने के समय और उसके वेतन का अच्छा-खासा निश्चय कर लिया है। आज न तो मजदूर से अधिक काम ही लिया जा सकता और न उसे कम पैसे

ही दिये जा सकते हैं। ऐसी दशा में चाहे कोई काम सहकारी दृष्टिकोण से किया जाय या पूंजीवादी व्यक्तिगत दृष्टिकोण से, समस्याएँ सबके सामने समान ही रहती हैं। आज के युग की हड़ताल-सम्बन्धी समस्या का सामना करने के लिए सबको उद्यत रहना पड़ता है। ऐसी दशा में काम करने वालों को खुश करने के वे सब रास्ते जितने सहकारी कार्यकर्त्ताओं के लिए खुले हैं उतने ही पूंजीवादी दृष्टिकोण वालों के लिए खुले हैं। ऐसी दशा में सहकारी प्रणाली में अपने को बांधकर चलना कोई युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

२. पूंजीवाद के अंतर्गत व्यापारी नीति का निर्धारण एक संचालक अथवा उसके कुछ सलाहकारों द्वारा होता है। उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार बहुत कम लोगों को रहता है। इसीलिए उसके व्यापारिक निर्णय अधिक व्यवस्थित और नपे-तुले रहते हैं और उनमें ढिलाई आने की कम सम्भावना पाई जाती है। इस व्यवस्था के अंतर्गत जो पालीसी एक बार निर्धारित की जाती है उसके बदलने की कम सम्भावना रहती है और दृढ़ता के साथ उस पर अमल होता है। सहकारिता में बहुमत के साथ व्यापार-नीति कभी भी बदल सकती है जिससे व्यापार के स्थायित्व को ठेस लगती है।

३. पूंजीवादी दृष्टिकोण में जो विशेषज्ञ होते हैं उन्हीं की नीति होती है और जिम्मेदार भी वही रहते हैं परन्तु सहकारिता में इसके अन्दर अदल-बदल की अधिक गुंजाइश रहती है और कोई एक व्यक्ति चाहे वह किसी एक विषय पर एकाधिकार ही क्यों न रखता हो, पूरी तरह जिम्मेदारी के साथ कुछ नहीं कर सकता। यह व्यापार के लिए हानिकारक है। इस प्रकार की नीति से कभी-कभी व्यापार को बहुत बड़ी हानि भी हो सकती है।

४. बीच के मुनाफ़ाखोर (Middle-man) को निकालने की प्रणाली यह ठीक है कि उत्पादन और वितरण की कीमत को कम कर देता है परन्तु यहां यह भी मानना ही होगा कि वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। एक चीज को दूसरे तक पहुँचाने का काम उसी का रहता है और उत्पादित वस्तु को इस्तेमाल करने वाले तक पहुँचाना उत्पादन करने से कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है। पूंजीवादी व्यापार में भी ट्रस्ट इत्यादि को बनाकर बीच के मुनाफ़ाखोर को दूर करने की प्रणाली अपनाई जाती है परन्तु फिर भी बीच के आदमी का महत्त्व ठुकराया नहीं जा सकता।

५. सहकारिता के अंतर्गत मज़दूर की स्वतंत्रता और नष्ट हो जाती है और लाभ तो उसे जो मिलना होता है वही मिलता है, कभी-कभी और बहुत सी जिम्मेदारियाँ और उस पर आजाती हैं। भारत जैसे अव्यवस्थित देश में सहकारिता का कार्यक्रम कभी सफल नहीं हो सकता। सहकारी को सफल बनाने के

लिए उसमें भाग लेने वाले हर व्यक्ति को बहुत ही ईमानदार होने की आवश्यकता है। ऐसा न होने पर, उसमें कभी कोई लाभ नहीं हो सकता।

६. सहकारिता यदि देखा जाय तो सही माने में केवल वितरण (Distribution) के क्षेत्र में ही सफल हुई है। जहाँ उत्पादन की बात है वहाँ इसे तनिक भी सफलता नहीं मिली। थोक माल बेचने के क्षेत्र में जो सहकारी संस्थाएँ दिखलाई दे रही हैं वे तो सभी न्यूनाधिक रूप में पूंजीवादी संस्थाएँ हैं। वितरण के क्षेत्र में व्यक्तिगत तथा पूंजीवादी संस्थाएँ भी कुछ कम कामयाब नहीं रहीं।

इस प्रकार सहकारिता द्वारा उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण उन्नति की सम्भावना हमें नहीं दिखलाई देती। भारत जैसे राष्ट्र में व्यक्तिगत संस्थाएँ ही अधिक सफलतापूर्वक कार्य कर सकती हैं।

धर्म कहता है युद्ध अविवेकपूर्ण कार्य है

पक्ष :

१. विवेकशील व्यक्तियों का मत है कि युद्ध एक अविवेकपूर्ण कार्य है और मानवता के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत है। युद्ध प्रायः सभी धर्मों के आदेशों और उपदेशों के विरुद्ध है और इसका हर मुमकिन तरीके से रोकना संसार के कल्याण की बात है। बीते युगों में धर्म के प्रचारार्थ जितने भी जहाद हुए और युद्ध करने की नौबत आई वे सभी अधार्मिक कार्य थे। किसी देश अथवा राष्ट्र पर धर्म-प्रचार के लिए आक्रमण करना और जनता का रक्त बहाना अमानुषिक कार्य था।

२. एक ईसाई धर्म यदि दूसरे देश पर अपने धर्म के प्रचारार्थ आक्रमण करता है तो वह अन्याय करता है और ईसा के उपदेशों के विरुद्ध जाता है। ठीक इसी प्रकार मुहम्मद साहब ने भी युद्ध को बढ़ावा नहीं दिया। उनके मतावलम्बियों ने उनके सिद्धान्तों को ठीक से न समझकर ही युद्ध किये और निरअपराध मानव का रक्त बहाया। ईसा ने संसार को भाईचारे (Human Brotherhood) का उपदेश दिया। उसने प्यार, मुहब्बत और आपस में दिलों की सफ़ाई की बात कही। ठीक यही बात संसार के प्रायः सभी धर्माचार्यों ने कही। जहाँ तक सिद्धान्तों की बात है संसार के सभी धर्मों ने मेल और मुहब्बत का दामन संभाला है परन्तु जो कुछ इतिहास बतलाता है वह एक खून का दरिया है, जो लहरें मारता हुआ दिखलाई देता है। इसीलिए धर्म का पतन हुआ। जो आध्यात्मिक बल को लेकर चला उस पर सांसारिक शक्ति ने आधिपत्य स्थापित कर लिया और धर्म राजनीति के नीचे दबकर रह गया।

३. जितने भी धर्माचार्य इतिहास में मिलते हैं उन सभी का कथन है

कि उन्होंने मानवता को बचाने के लिए जन्म लिया। ईसा मसीह भी मनुष्य की आत्मा और उसकी देह को बचाने के लिए आये, परन्तु उनके विचारों का प्रचार करने वाले हथियारबन्द सामन्तों और धर्म के नाम पर आक्रमणकारियों ने मनुष्य को गाजर-मूली भाँति काट कर फेंक दिया।

४. युद्ध का कारण संकुचित मनोवृत्ति और स्वार्थ है। यह छोटे-मोटे राज्यों में एक दूसरे की सल्तनत को छीनने और हड़प कर जाने के लिए हो सकती है; परन्तु धर्म का राज्य इतना सीमित नहीं हो सकता। इस महान् रहस्य को धर्माचार्यों ने तो समझा; परन्तु उनके अनुयायी न समझ पाये और उन्होंने अपनी संकुचित मनोवृत्ति से ही काम लिया। मुसलमान धर्म को तलवार की धार से फैलाने का प्रयास किया गया। भय और आतंक धर्म की प्रेरणा-शक्ति बन गया। इससे एक तो उसका सम्बन्ध आत्मा से छूट गया और दूसरे दृष्टिकोण सीमित होने से उसका क्षेत्र असीमित न रह गया। असीमित विचार-धारा को लेकर चलने वाला धर्माचार्य कभी भी युद्ध की बात सोच ही नहीं सकता। वह तो यदि कहीं पर युद्ध हो भी रहा होगा तो उसे समाप्त कर दोनों पक्षों में प्रेम तथा सद्भावना को भरने का ही प्रयास करेगा।

५. इमर्सन ने कहा है "That the power of love as a basis of states has never been tried" अर्थात् राज्यों की स्थापना के मूल में प्यार और मुहब्बत के सिद्धान्त को अपनाकर कभी देखा ही नहीं गया। जहाँ-जहाँ भी साम्राज्य बनाने की बात सोची गई है गोले-बारूद का ही आश्रय लिया गया है। भारत अपनी एक लासानी मिसाल बुद्ध धर्म के प्रचार में रखता है, जिसके लिए शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया गया और उसका विकास केवल सत्य, प्रेम, न्याय और अहिंसा की शक्ति द्वारा ही विश्व के एक बड़े भू भाग में हुआ।

६. कुछ लोगों का कहना है कि ईसामसीह या मुहम्मद ने खुले रूप में कहीं पर भी जातीय विस्तार के लिए युद्ध का विरोध नहीं किया। परन्तु कुरान या बाइबिल में तो कहीं पर यह जिक्र भी नहीं आता कि जिनाकारी न किया करो, दूसरों को गुलाम न बनाओ, फांसी की सजाएँ न दो, इत्यादि। इसका अर्थ यह नहीं होता कि कुरान और बाइबिल इनकी समर्थक हैं। किसी चीज का किसी पुस्तक में विरोध न पाया जाना कभी उसका समर्थन प्रात नहीं कर सकता। इन विषयों पर मौन इसलिए भी रहा जा सकता है कि वे तो घृणित कार्य समझे ही जाते हैं, इसलिए इन धर्म-पुस्तकों में उनका उल्लेख करना कोई आवश्यक नहीं था। ईसामसीह यदि चाहता तो उसके एक शब्द पर रोमन-सल्तनत पलट सकती थी और वह सम्राट् बन सकते थे,

परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। गौतमबुद्ध भी भारत का राजा बन सकता था और यहाँ की बागडोर अपने हाथ में संभाल सकता था, परन्तु यह उसका न तो लक्ष्य ही था और न ध्येय ही। इसी लिए उसने इस दिशा में कभी कोई कार्य नहीं किया। इन लोगों की मृत्यु के बाद इन्हीं के सिद्धान्तों को प्रसार देने के लिए जो युद्ध हुए वह इनके लिए घातक सिद्ध हुए।

७. नीरो (Nero) के समय में ईसाईयत अपने सिद्धान्त की पराकाष्ठा को पहुँची जब शेर के सामने आदमी ने अपने को समर्पण कर दिया। इससे धर्म का बोल-बाला हुआ। धर्म के नाम पर निरअपराध मानवजाति का संहार करने और बलपूर्वक मत-परिवर्तित (Convesion) कराने से धर्म आज भी लज्जा की वस्तु बना हुआ है और आज का विचारक धर्म के इस इतिहास पर जब दृष्टि डालता है तो उसे धर्म से घृणा होने लगती है। उसका कदम नास्तिकता की ओर उठने लगता है। यह धर्म की आत्मिक पराजय है, विजय नहीं।

८. विवेकशील धर्म ने कभी युद्ध को बढ़ावा नहीं दिया। धर्म में जब अन्धविश्वास आया तभी धर्मांध लोगों ने उत्पात किया और झूठी तथा दिखावटी धार्मिक मनोवृत्ति का आश्रय लेकर शहीदों में नाम लिखाया। धर्म के नाम पर कुरबानी करने के लिए निकलने वाले वीरों में साहस की कमी थी, यह हमारा कहना नहीं, परन्तु उस साहस और बल का उपयोग ग़लत हुआ। मानवता कुचली गई, स्वतंत्र विचार-धारा रुकी और धोखेबाज धार्मिक ठेकेदारों के स्वार्थों की सिद्धि की वेदी पर यह बल और साहस बलि के बकरे के समान चढ़ा। स्वार्थ की दीप-शिखा जलती रही और अन्धे परवाने उस पर जल-जलकर अपने प्राणों को होमते रहे।

९. कुछ लोगों का कहना है कि कभी-कभी युद्ध से बहुत सी उलझी हुई खराबियाँ भी दूर हो जाती हैं और उनके नतीजे मानवता के हित में बहुत अच्छे ही निकलते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि युद्ध एक लाभदायक वस्तु है। विषय एक घातक पदार्थ है और इसे बहुत से रोगों में औषधि के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। और यह भी सम्भव है कि उसका नतीजा लाभप्रद हो; परन्तु इससे विष की घातकता नष्ट नहीं हो सकती। इसी प्रकार युद्ध का स्वाभाविक गुण किसी अवसर विशेष पर लाभदायक सिद्ध होने से समाप्त नहीं हो सकता। धर्माचार्यों ने युद्ध का कहीं भी अपने किसी ग्रन्थ में समर्थन नहीं किया, औषधि के रूप में उसका प्रयोग किया हो, यह दूसरी बात है। किसी व्यक्ति का कोई अंग-भाग काट डालना कोई अच्छी बात नहीं परन्तु यदि वह सड़ रहा हो तो अच्छा डाक्टर उस सड़े भाग को काटने की ही अनुमति देगा। यही स्थिति युद्ध-प्रयोग की भी है। जब परिस्थिति ऐसी हो जाय कि दशा सड़ने की प्रतीत होने लगे तो युद्ध भी किया जाता है; परन्तु यह युद्ध भी संहारात्मक औरआक्रमणात्मक न होकर

बचावात्मक ही होता है।

१०. जो लोग युद्ध को आवश्यकता मानते हैं वे इसी आधार पर संसार में पाये जाने वाले हर पाप, हर बुराई, हर बेईमानी, हर घृणास्पद कार्य को आवश्यकता की कोटि में रख सकते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में सुधार खयाली पुलाव के समान है और बेबुनियाद है; उसका कोई महत्त्व नहीं; असम्भव है। उनके विचार से जो चीजें बिगड़ चुकीं वे अब ठीक होने के काबिल नहीं, उनका काट डालना ही एक उपाय है और यह उपाय युद्ध से ही प्राप्त होता है। युद्ध वास्तव में निरंकुशता और खुले आम हत्याकारी प्रवृत्तियों का नंगा नाच है,—जिसे कोई भी धर्म प्रोत्साहित नहीं कर सकता। राजनीति प्रोत्साहन दे सकती है क्योंकि उसके मूल में कुचालों और कुमंत्रणाओं का जमाव रहता है परन्तु धर्म, जिसका प्रसार ही शांति और प्यार के लिए किया जाता है, वह उसे प्रोत्साहित नहीं कर सकता।

११. कुछ लोगों का कहना है कि संतोष का अर्थ बुजदिली है। परन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। मनुष्य एक विवेक-प्रधान प्राणी है। किसी भी घटना से केवल बुजदिली से डरकर प्रभावित हो जाना आँख मींच कर उससे भी घृणित कार्य कर बैठना, मनुष्य को शोभा नहीं देता। एक जानवर को यदि कहीं टक्कर लगती है तो वह बिना सोचे समझे अपनी वीरता की झोंक में उसे टक्कर दे सकता है, परन्तु मनुष्य का इस प्रकार टक्कर देने के लिए प्रेरित हो जाना उसकी मूर्खता कहलायगा। उसे अपने विवेक की कसौटी पर घटना को कसना चाहिए और तब उस पर कोई अमल करना चाहिए। इसमें कोई बुजदिली की बात नहीं है। खखामखाह किसी से लड़ बैठना और आपसी वैमनस्य को बिना सोचे समझे बढ़ावा देकर वीर कहलाना कोई समझदारी की बात नहीं।

विपक्ष :

१. व्यक्ति की अपेक्षा जब राष्ट्र का प्रश्न सामने आता है तो कोई भी कार्य करने में अधिक सावधानी बरतनी पड़ती है। व्यक्तिगत युद्धों में जहाँ दो व्यक्तियों के हानि-लाभ का ही प्रश्न सामने रहता है वहाँ राष्ट्र के प्रश्नों को सामने रख कर राष्ट्र की बात सोचनी पड़ती है। जहाँ राष्ट्र-हित के संरक्षण की बात सामने होती है वहाँ युद्ध में होने वाले साधारण हानि-लाभों पर दृष्टि डालकर नहीं सोचना होता। वहाँ बड़े जन-समूहों के हानि-लाभ पर दृष्टि डालनी होती है। धर्म का क्षेत्र तो राष्ट्र से भी अधिक व्यापक है और इसी व्यापक क्षेत्र के धार्मिक उत्थान और आत्मिक नव-निर्माण में जो युद्ध हुए तथा खून-खराब हुआ वह उन महान् कार्यों के समक्ष कुछ भी नहीं था।

२. विश्व में जितने भी धर्माचार्य हुए हैं उनके धार्मिक सिद्धान्तों के मूल में यह हो सकता है कि युद्ध को बढ़ावा न देने की बात रही हो परन्तु उस स्थिति तक पहुँचने के लिए साधन स्वरूप युद्ध को अपनाया ही जा सकता है और इसी लिए अपनाया भी गया है। धर्माचार्यों के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि चाहे उन्होंने कहीं खुले रूप में युद्ध का प्रतिपादन न किया हो परन्तु जो कुछ भी उन्होंने किया या कहा उसके फलस्वरूप युद्ध हुए और उनसे सिद्धान्तों का विकास हुआ। ईसाई धर्म और मुसलमान धर्म का विकास युद्ध की मनोवृत्ति को ही लेकर आगे बढ़ा। महाभारत में भगवान् कृष्ण ने स्वयं पांडवों को युद्ध के लिए प्रेरित किया और उन्हें गीता का अमर उपदेश देकर साहस प्रदान किया।

३. इमर्सन (Emerson) इत्यादि की कहावतें केवल खयाली पुलाव हैं। ये वे आदर्श हैं जो आज तक कभी पूरे नहीं किये जा सके, ये वे लक्ष्य हैं जो आज तक कभी प्राप्त नहीं हुए। जब इस प्रकार के आदर्श यथार्थ हो जायेंगे तो युद्ध आपसे-आप बन्द हो जायेंगे, उनकी फिर नौबत ही न आयेगी। परन्तु आज की दशा में जबकि उन आदर्शों तक अभी जमाना पहुँचा नहीं है और स्थिति अपने पर हमलों की अथवा अन्याय की पैदा हो चुकी है तो युद्ध से कायर बनकर मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। जब कौरवों ने पांडवों को सुंई की नोक के बराबर-भूमि देने से भी इन्कार कर दिया तो कृष्ण जैसे योगी को भी पाण्डवों को युद्ध की सलाह देनी पड़ी। यों सुख-चैन में बैठे बिठाये कोई भी युद्ध करना नहीं चाहता परन्तु जब सिर पर आ बने तो उससे पीठ दिखाना भी मर्दानगी नहीं, बुज़दिली है।

४. अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए संसार की हर सभ्य जाति को युद्ध करना चाहिए। युद्ध से भयभीत होकर अपने जान-माल की रक्षा न करना मानवता नहीं, बहादुरी नहीं। मनुष्य में स्वाभिमान का होना नितान्त आवश्यक है। बिना स्वाभिमान वाले आदमी और जानवर में कोई अन्तर नहीं। आज हमने जिस सभ्यता का निर्माण युग-युग तक बलिदान देकर किया है यदि उस पर कोई खतरा आये तो क्या हमें उसकी रक्षा के लिए अपना सर्वस्व होम देने को उद्यत नहीं हो जाना चाहिए? हमें अवश्य हो जाना चाहिए। हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति और अपने सम्पूर्ण साधनों से उस आपत्ति का सामना करना चाहिए और इस प्रकार अपनी संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए। युद्ध हमारे कर्तव्य से हमें पीछे नहीं हटा सकता। कर्तव्य से पीछे हटना मानव की हीनता है, कायरता है और यही हीनता तथा कायरता विनाश है।

५. धर्माचार्यों के आदर्शों और उपदेशों में कहीं पर भी युद्ध का सर्वो-

क्षीण खण्डन नहीं मिलता, युद्ध कुछ परिस्थितियों में गलत और कुछ में ठीक रहता है। धर्माचार्य उसका खण्डन केवल गलत परिस्थियों में ही कर सकते हैं। ठीक परिस्थितियों में युद्ध का खण्डन करना निर्माण कार्यों की रक्षा के लिए हानि-कारक है। ये सभी धर्माचार्य युद्ध के भयभीत नतीजों से परिचित थे, इसके साथ ही ये युद्ध की अनिवार्यता को भी भुला नहीं सकते थे। युद्ध विनाश का संदेश लेकर चलता है परन्तु जब परिस्थिति ऐसी आ जाय कि सुधार सम्भव ही न रहे तो नव-निर्माण ही होगा और इस नव-निर्माण के लिए एक क्रांति की आवश्यकता है, ध्वंस की जरूरत है, वर्तमान को एक बार मिट्टी में मिलाने की आवश्यकता है।

६. मुसलमान धर्म तलवार के आधार पर फैला और इसी प्रकार ईसाई धर्म का प्रचार हुआ। कुछ सभ्यताओं का निर्माण हुआ, संस्कृतियों का विकास हुआ और विश्व के बड़े भू-भागों में उनका प्रचार हुआ। इस सभ्यता के प्रसार में जहाँ हम सिद्धान्तों का बल देखते हैं वहाँ धर्म-वीरों की आहुतियों का प्रताप भी है। इस विकास और प्रसार का बहुत बड़ा श्रेय उन्हें ही पहुँचता है जिन्होंने सिद्धान्तों की स्थापना और प्रसार के लिए संसार में हलचलें पैदा कर दीं। इसके फलस्वरूप बड़े-बड़े संग्राम हुए, खून बहा, परन्तु संस्कृति बनी और सभ्यता का प्रसार हुआ। यह सब बिना युद्ध के सम्भव नहीं था। अनेकों जड़ताओं को उखाड़ फेंकने और सभ्यता को स्थापित करने के लिए युद्ध का सहारा लेना नितान्त आवश्यक था। यह सब मानव-जाति और उसकी सभ्यता के विकास के लिए हुआ, प्रसार के लिए हुआ और उसके द्वारा मानवता के उन व्यापक सिद्धान्तों की नींव पड़ी जो आज तक किसी-न-किसी प्रकार मानवता को घसीटते लिए चले आ रहे हैं।

७. यदि नीरो (Nero) के अपने को शेर के सामने चीर फाड़ डालने वाले सिद्धान्त को मानकर ईसाई मत बैठ जाता तो शायद आज इसाई धर्म का कहीं नामोनिशान भी न मिलता। ईसाई धर्म की यह उन्नति और विकास नीरो के सिद्धान्त से नहीं हुआ, यह हुआ है सभ्यता के विकास के लिए निरन्तर संघर्ष से। ईसाई धर्म-प्रचारकों और उनके समर्थकों ने प्राणों को हथेली पर रख कर उसके प्रचार के लिए देश-विदेशों में युद्ध किये और अपनी सभ्यता तथा मत को फैलाया। यह मानवता के गूढ़ सिद्धान्तों का प्रचार था जो उन्हें स्थायी बना सका। इस स्थायित्व के मूल में युद्ध की भावना निहित है, उस अटल सत्य को इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि धर्म की ज्योति का प्रभाव इतना प्रभावशाली न होता तो हैम्पडन और क्रामवेल (Hampden & Cromwell) ने घमासान युद्ध न किये होते, पोप इत्यादि की शक्तियों का ह्रास नहीं होता,

मुगलों के आक्रमण न होते और इसी प्रकार की बहुत सी घटनाएँ सामने न आतीं। यों ऊपर से देखने पर ये घटनाएँ विनाशपूर्ण हैं, परन्तु इन सभी के मूल में नव-विकास की ज्वाला सुलगती दिखलाई देती है। ये सभी संसार के विकास की सीढ़ियाँ हैं और विशेष रूप से हर संसार का बड़ा युद्ध किसी बड़े जन-समूह का उत्थानकर्ता रहा है। पुरानी शृंखलाएँ टूटती हैं, नई धाराएँ बनाई जाती हैं। गत महायुद्ध के पश्चात् कितने गुलाम देश आजाद हुए। साम्राज्यवाद का अन्त हुआ। भारत, बर्मा, लंका इत्यादि देश स्वतंत्र हुए और इसी प्रकार संसार के इतिहास पर इसका अच्छा ही प्रभाव पड़ा। इतिहास बतलाता है कि बहुत से समय ऐसे आते हैं कि जब परिस्थितियाँ ऐसी डाँवाँडोल हो जाती हैं कि युद्ध अनिवार्य हो उठता है।

८. युद्ध को यदि संकुचित दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह एक क़त्ल के समान है, परन्तु यदि इसी का व्यापक दृष्टिकोण से निरीक्षण किया जाय तो यह एक बलिदान है। युद्ध के प्रभाव से देखा गया है कि राष्ट्र पतन से बच जाते हैं। उदाहरणार्थ अमरीकी-स्वतन्त्र-संग्राम को ही यदि लिया जाय तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका कितना शीघ्र युद्ध के पश्चात् संसार के महान् राष्ट्रों में अपना स्थान बना सका। आज वह संसार की सबसे बड़ी दो शक्तियों में से एक है। यदि अमरीका का स्वतन्त्रता-संग्राम न लड़ा गया होता तो उसके लिए इतनी उन्नति करना नितान्त असम्भव था। जब कोई राष्ट्र आक्रमण, दबाव, अन्याय, अशांति और गुलामी के विरुद्ध करता है तो निश्चित् रूप से वह सत-पथ पर रहता है और ऐसा करने में यदि वह विजयी होता है तो उन्नति उसके सामने रहती है और यदि वह असफल होता है तो उसका नाम मानवता के लिए बलिदान करने वालों की श्रेणी में स्वर्ण-अक्षरों से लिखा जाता है। इस प्रकार के युद्ध को अधार्मिक युद्ध की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता और न ही कोई धर्माचार्य इस युद्ध का विरोध ही कर सकता है। महात्मा गाँधी का अंग्रेजों के खिलाफ़ आंदोलन इसी प्रकार का था। हिन्दचीन में आज होने वाला गृह-युद्ध भी इसी कोटि में आता है।

९. एक सिपाही के नैतिक सिद्धान्त, बलिदान और कर्तव्य-पालन हैं और इन्हीं से चरित्र की उच्चता प्रमाणित होती है। इस प्रकार के ऊँचे चरित्र रखने वाले सिपाहियों की गाथा जीवन में एक नया उबाल ला देती है और अन्य आदमियों को भी सच्चाई और स्वतन्त्रता के लिए बलिदान देने को बाध्य कर देती है और जब युद्ध की हुँकार इन अच्छी विशेषताओं का आवाहन करती है तो कौन सच्चा सिपाही होगा जो खम ठोंक कर आगे नहीं बढ़ जायगा। सिपाही का यह आगे बढ़ना स्वाभाविक है और उसमें उसके बलिदान की भावना है। इसे स्वार्थ

की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह सच्चाई के रास्ते पर चल कर युद्ध करना है, और इसीलिए इस युद्ध का विरोध धर्म नहीं कर सकता।

१०. आज का संसार आत्मिक ज्ञान से कोसों दूर केवल भौतिकता में फंसकर ही युद्ध से डरता और भयभीत होकर भागता है। गीता का पाठक धर्म के लिए युद्ध करने में भयभीत नहीं होता। वह तो शरीर को पहले ही नाशवान माने बैठा है, फिर उसे किसका भय। वह अधर्म और अन्याय के सामने झुकना नहीं जानता, उनसे युद्ध करना जानता है, संघर्ष करना जानता है।

जेलों को सुधार-गृह बना देना चाहिए

पक्ष :

१. आज अपराधियों के साथ जेलों में जो व्यवहार होता है और जिस प्रबन्ध तथा व्यवस्था के अन्दर उन्हें रखा जा रहा है उससे अपराधों की संख्या में कोई कमी होने की अपेक्षा और बढ़ोतरी ही पाई जाती है। आज के अपराधियों की दशा निम्नलिखित है :

(अ) ज्यों-ज्यों संसार के विभिन्न राष्ट्रों की आबादी बढ़ रही है त्यों-त्यों अपराधों की संख्या को भी बढ़ावा मिला है। नित्य नये प्रकार के अपराध देखने में आते हैं और उनके तरीके भी नये-नये किस्म के अपनाये जा रहे हैं।

(ब) आज दो दशा सामने हैं उनसे पता चलता है कि वर्तमान अपराधों की दण्ड-व्यवस्था के कारण या उसके प्रभाव से जो लोग इत्तिफ़ाकिया भी कोई अपराध कर गुजरते हैं वे अपराध की सजा भुगत लेने के पश्चात् पेशेवर अपराधी बन जाते हैं और फिर वह अपराध उनके चरित्र का एक भाग बन जाता है। उनके रक्त में उसका असर हो जाता है। वह उसका लहू बन जाता है, बान बन जाती है।

(स) आज के दण्ड-विधान से निकल कर जो पेशेवर अपराधी है वह यह महसूस करना ही बन्द कर देता है कि वह अपराधी है या उसने कोई अपराध किया भी है। वह फिर साधारण कामों की भांति ही अपराधों को भी कर डालता है और उसकी आत्मा को तनिक भी क्लेश, कष्ट या ग्लानि नहीं होती।

२. आज हमारी जेलों के बनाने का मकसद अपराधी को अपराध की सजा देना है, उसका सुधार करना नहीं और यह निहायत ही अमानुषिक और बेहूदा तथा गलत तरीका है। सजा का सच्चा भय सदा अपराधी को अपराध से मुक्त करना होना चाहिए, उसको उसकी बुरी बान और आदतों से आजादी दिलाना होना चाहिए और उसके जीवन की उन छोटी मनोवृत्तियों

को बदलना होना चाहिए कि जिनसे प्रभावित होकर उसने वह अपराध किया है। किसी अपराधी को एक बुरा नागरिक होने के लिए दण्डित करने की अपेक्षा उसे अच्छा नागरिक बनने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। यह अभिप्राय होना चाहिए इन जेलों का।

३. धीरे-धीरे हम महसूस कर रहे हैं कि अपराध एक बीमारी है जो एक दूसरे में फैलकर रोगी बना देती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि अपराध का इलाज बीमारी की ही तरह किया जाय और जेलों को दंड का स्थान घोषित न करके हस्पताल माना जाय। आज अपराधियों के मस्तिष्क बदलने के लिए और उन्हें स्वस्थ वातावरण प्रदान करने के लिए ऐसे हस्पताल खुलने की आवश्यकता है कि जिनमें रहकर वे अपने अपराधों के प्रति स्वयं लज्जित हों और भविष्य में उस ओर कदम रखने का कभी साहस भी न कर सकें। उनकी अपनी आत्माओं में अपने कुकृत्यों के प्रति ग्लानि उत्पन्न होने की आवश्यकता है। जब तक आज के जेलखाने यह वातावरण अपने अंदर पैदा नहीं कर सकते तब तक ये कभी भी अपराधों की संख्या में कमी नहीं कर सकते।

४. सहानुभूति शक्ति से अधिक शक्तिशाली है। किसी चीज को यदि बलपूर्वक रोकने का प्रयास किया जाता है तो रुकने वाले में एक जिद और हीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है और इसके फलस्वरूप यदि वह अधिक शक्ति के खिलाफ़ रुक भी जाता है तो तब भी विद्रोह की भावना उसमें बनी ही रहती है और वह किसी-न-किसी दिन और भी बुरी तथा कुपरिणामकारी स्वरूप में सामने आती है। जो काम सहानुभूति के साथ दूसरे को उसके लाभ और हानि पर संकेत करते हुए मना करने का प्रयास किया जाता है उसमें निश्चित रूप से सफलता मिल जाती है और वह उससे प्रभावित हो जाता है।

५. अपराधों की इस बीमारी को बढ़ने से पूर्व रोकने का प्रयास करना उचित है। इसे रोकने के लिए रोगी के पास अच्छे किस्म का साहित्य, अच्छे किस्म के आदमी, अच्छे किस्म के मनोरंजन के सामान इत्यादि पहुँचाने की आवश्यकता है। इस सबमें मन बहलाने से उसका मस्तिष्क अपराध की दिशा को आपसे आप छोड़ने लगेगा और उसे अपने कुकर्म पर पश्चाताप होगा। इस प्रकार अपराधियों का यदि इलाज होने लगेगा तो निश्चित रूप से कुछ ही दिनों में इन हस्पतालों की संख्या घटने लगेगी और अपराधों की संख्या में बहुत बड़ी कमी आ जायगी।

६. आज के अपराधों का दण्ड-विधान इतना गलत है कि उसमें दण्ड देते समय ग़रीब, अमीर, दिमाग़ी कमज़ोर या शारीरिक अवस्था; अकस्मात अपराधी और पेशेवर अपराधी पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इसके फलस्वरूप अपराधी

को दिया गया दंड उसे सुधारने की अपेक्षा बिगाड़ने में ही अधिक सहायक होता है। जज महोदय को यदि किसी पर १००) जुर्माना करना है तो वह नहीं सोचेंगे कि देने वाला ग़रीब एक दो रुपये का खोंमचा बेचने वाला है या चोरबाज़ारी करने वाला मोटे पेट का लाला, उनके दण्ड-विधान में लिखा है कि वह उस पर १००) जुर्माना कर सकते हैं, और अपराध सिद्ध हो गया तो वह उसे कर डालेंगे। अब ऐसी परिस्थिति में लाला मुस्कराते हुए १००) देकर बाहर चला आयेगा और छबड़ी वाला लाख प्रयास करने पर भी १००) नहीं जुटा पायेगा। उसे रुपया न देने पर सजा भुगतनी होगी और इस काल में उसके बाल बच्चे भी भूखे मरेंगे। यह दोष है दण्ड-विधान का।

७. आज जेल की जिन्दगी अपराधी की आत्मा को हीन बना देती है। उसकी आत्मा को कुचल देती है, उसे गिरा देती है और वह अपने को समझ बैठता है कि उसके जीवन का पिछला स्तर समाप्त हुआ और अब उसे नये सिरे से नया जीवन बनाना होगा। जीवन की अच्छी बातों के लिए जेल में कोई स्थान नहीं। वहाँ जाने के पश्चात् आदमी भी दूसरी ही दुनियाँ में पहुँच जाता है और कोई बहुत ही विवेकी व्यक्ति हो सकता है जो वहाँ जाकर वहाँ के वातावरण से प्रभावित न हो।

विपक्ष :

१. यह हो सकता है कि अपराध का उचित दण्ड देने में आज की जेलें सफल न हों परन्तु समाज की गुनाहों से रक्षा करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अपराधी को समाज से दूर कर दिया जाय। अपराधी को समाज में रहने देने की आज्ञा देना समाज को दूषित करना होगा और इससे अपराधों की संख्या में कमी न होकर और बढ़ोतरी ही होगी।

२. किसी भी अपराधी को दण्डित करके जेल में तभी डाला जाता है जब उसे समाज में रहने योग्य नहीं समझा जाता और वह समाज के लिए खतरनाक साबित हो जाता है। अपराधियों के सुधार की ओर विचारकों का ध्यान नहीं गया, ऐसी बात नहीं है; ध्यान गया है परन्तु उसका फल भी कोई विशेष आशाप्रद नहीं निकला। जो अपराधी स्वभाव से ही अपराध करने के अभ्यस्त होते हैं वे कभी भी सुधारकों द्वारा नहीं सुधारे जा सकते। लातों के भूतों पर बातों का असर नहीं होता।

३. अपराध व्यक्ति की प्रवृत्ति का एक जहरीला भाग है और यदि इसे एक बार भी सख्ती से रोकने का प्रयास न किया गया तो यह अपने आप आदत में परिवर्तित हो जाता है। अपराध के ज़हर को व्यक्ति के शरीर में फैलने का

अवसर देना भूल है। जिस प्रकार साँप के काटे अंग पर तुरन्त बाँध लगाने की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार अपराधी की अपराधों की ओर झुकती हुई मनोवृत्तियों को तुरन्त सख्ती के साथ रोकने की आवश्यकता है।

४. अपराधी दण्ड से भयभीत होता है और भविष्य में उसी प्रकार के अपराध से दूर रहने का प्रयास करता है। यदि उसे एक अपराध के लिए दण्ड न मिले और यों ही समझा-बुझाकर छोड़ दिया जाय तो वह इसे बहुत ही सरलता से ग्रहण करेगा और समझेगा कि इससे होता ही क्या है। साधारण समझाने बुझाने के पश्चात उसे फिर मुक्त कर दिया जायगा। इस प्रकार उसकी वृत्ति में सुधार होने की अपेक्षा और उलटी ढिलाई आजायगी और वह धीरे-धीरे एक पक्का अपराधी बनता चला जायगा। अपराध को पहली ही बार सख्ती से रोकना उचित है, बल्कि सज़ा इतनी सख्त होनी चाहिए कि अपराधी के अतिरिक्त अन्य देखने वालों के दिल भी दहलने उठें और वे समझें कि यदि उन्होंने भी कभी कोई उस किस्म का अपराध किया तो उन्हें भी इसी प्रकार दण्डित होना पड़ेगा।

५. जेल को सुधार-गृह बनाने की बात उपहासस्पद-सी ही है। सुधार की जगह सुधार होता है, शिक्षा की जगह शिक्षा दी जाती है और इलाज की जगह इलाज किये जाते हैं; परन्तु जो स्थान अपराधी को दण्ड देने का है उसे सुधार-गृह नहीं बनाया जा सकता। बदमाश वृत्ति वाले लोगों के दिलों से भय ही जाता रहे यदि जेलों का खयाल उनके दिल और दिमाग़ों से जाता रहे। जेल जाने का भय उन्हें बहुत से अपराधों के अंदर पड़ने से रोकता है और इस प्रकार अपराधों की संख्या अधिक नहीं बढ़ने पाती।

६. कानून की दृष्टि से जब देखा जाता है तो अपराधी की स्थिति पर विचार न करके दण्ड देने वाले को अपराध की दृष्टि से देखना होता है। यदि वह अपराध की दृष्टि से नहीं देखता और अपराधी की दृष्टि से देखता है तो वह न्याय नहीं कर सकता। न्याय-दण्ड हाथ में संभाल कर उसे उसी की मर्यादा का पालन करना होता है। वहाँ दया या बेरहमी का प्रश्न नहीं उठता।

७. आज के युग में दी जाने वाली दण्ड-व्यवस्था पहले जमाने से बराबर बदलती जा रही है। उसमें काफ़ी परिवर्तन हुए हैं। और आज जो दण्ड-व्यवस्था मिलती है उसे अमानुषिक या बेरहमी पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

८. आज हम अपराधी की ओर दया-भाव से इतने अधिक झुकते जा रहे हैं कि जिसके कारण अपराधी को बहुत स्वतंत्रता मिल गई है। इसके फल स्वरूप अपराधों की संख्या बढ़ी है। अपराधों की संख्या कम करने के लिए दण्ड-विधान को और सख्त करने की आवश्यकता है। दण्ड कम नहीं किया जा सकता।

आज जेलों को सुधार-गृह बनाकर अपराधी लोगों को इस बात का बढ़ावा

देना कि अपराध करने के पश्चात् भी वे सभ्य समाज के नागरिक कहला सकते हैं और उन्हें किसी प्रकार का अपमानजनक दण्ड भी नहीं भुगतना होगा, उन्हें और अपराध करने के लिए प्रोत्साहित करना है।

धर्म का प्रभाव कम होता जा रहा है

पक्ष :

१. एक समय था जब धर्म की आवाज़ राजनीति के सिर पर चढ़कर बोलती थी। राजे-महाराजे धर्माचार्यों के आगे सिर झुकाते थे और उनकी आज्ञा का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। योरोप में पोप का सिंहासन रोम के एम्परर से ऊंचा माना जाता था। परन्तु आज के युग में धर्म का स्थान नीचे गिरता जा रहा है।

२. इसका प्रधान कारण यही है कि धर्म से जनता की आस्था उठती जा रही है। आज से पचास वर्ष पूर्व मंदिर, मस्जिद और गिरजों में जाने वालों की संख्या आज के जाने वालों से प्रतिशत कहीं अधिक थी। आज भी हम देखते हैं कि मंदिरों गिरजों और मस्जिदों में जाने वालों की संख्या बहुत कम होगई है।

३. इस संख्या का सम्बन्ध धर्मान्धता से है। जिस धर्म के मानने वालों में धर्मान्धता जितनी अधिक है उसके मतावलम्बी उतनी ही अधिक संख्या में अपने पूजा के स्थानों में एकत्रित होते हैं।

४. आज जितने भी आदमी धर्म-स्थानों पर एकत्रित होते हैं उनमें धर्म के साथ-साथ मनोरंजन विशेष स्थान पाता जा रहा है। धर्म के जिन कामों में जाने वाले का मनोरंजन होता है वहाँ फिर भी अपेक्षाकृत अधिक संख्या में लोग एकत्रित हो जाते हैं? उदाहरण के लिए देखा जाय तो दशहरे की भीड़ और कुम्भ इत्यादि मेलों की भीड़ यही जाहिर करती है। यों साधारणतया नित्य मंदिरों में कम आदमी जाते हैं परन्तु यदि उन्हीं में रास इत्यादि का प्रबन्ध कर दिया जाय तो फिर भी खचाखच भीड़ हो सकती है।

५. धर्म की आस्था पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक है। इसका भी प्रधान कारण यही है कि अशिक्षा के कारण उनमें धर्मान्धता अधिक है। स्त्रियों में भी ज्यों-ज्यों विद्या का प्रसार होता जा रहा है त्यों-त्यों धर्म के प्रति उनकी मान्यता में कमी आ रही है। ईसाई धर्मावलम्बी तो अधिकांश फैशन के लिए ही गिरजे में जाते हैं। धर्म की वह प्रेरणा जो पहले लोगों में मिलती थी आज नहीं मिलती पहिले लोग अन्य किसी भी चीज़ से इतना भय नहीं खाते थे जितना धर्म की किसी प्रकार की भूल से खाते थे, परन्तु आज के मानव में धर्म से उतना भयभीत होने का कोई कारण नहीं रह गया। धर्म की सभी मान्यताएँ धार्मिक होने के नाते नहीं मानी जातीं बल्कि सामाजिक रीति-रिवाजों की पूर्ति के लिए मानी जाती हैं।

६. धर्म ने गत युगों में विभिन्न रूप धारण किये और अपने सभी रूपों से जनता को प्रभावित करने का प्रयास किया। जनता उनकी ओर प्रभावित भी हुई परन्तु उनकी यह प्रभावात्मकता तभी तक बनी रही जब तक कि उनके पुजारी, मठाधीशों के आचरण जनता के सामने आदर्श और मान्य रहे। ज्यों-ज्यों मंदिरों के इन पुजारियों और गिरजों के पादरियों तथा मस्जिदों के मुल्लाओं के जीवन से वास्तविकता का ह्रास हुआ और उनमें बनावट आने लगी त्यों-त्यों जनता का विश्वास उनसे उठना प्रारम्भ हो गया और आज यह दशा आगई है कि उन मंदिरों और मस्जिदों तथा गिरजों के प्रति तो जनता में फिर भी थोड़ी बहुत आस्था रह गई है, उन 'पंडितों', मुल्लों'; और पादरियों के प्रति तनिक भी मान्यता नहीं रही।

७. धर्म आज जिस स्वरूप में भी वर्तमान है और धर्म-स्थानों की जो दशा है उसे देखकर कोई भी मस्तिष्कधारी उस पर आस्था नहीं रख सकता। यह सच है कि धर्म में अन्धविश्वास प्राचीन काल से ही निहित है परन्तु आज के युग का मनुष्य गत युगों की अपेक्षा कम रूढ़िवादी रह गया है और किसी भी बहाने से अपने को मूर्ख बनाने वाले व्यक्ति अथवा समुदाय के प्रति सजगता से सोचने लगा है।

८. आज के युग में विद्या का प्रसार भी पहले की अपेक्षा बढ़ा है और इसके अंतर्गत मानव की दृष्टि धर्म से हटकर अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य पहलुओं पर भी गई है। आज मानव ने महसूस किया है कि आत्मा परमात्मा के नाम पर उसे समझाने-बुझाने और धोखे में रखकर अपना उल्लू सीधा करने वालों को उन्हें किस नज़र से देखना चाहिए। मनुष्य ज्यों-ज्यों नई सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ है त्यों-त्यों उसने प्राकृतिक आघातों को जानवरों की भांति सहन करने की अपेक्षा उन्हें रोकना और उनकी शक्ति से अपने जीवन-स्तर को ऊपर उठाने का प्रयास किया है। धर्म की चहारदीवारी में बन्द रहकर केवल राम-नाम की माला जपने का युग समाप्त हो चुका।

९. आज के युग में केवल सैद्धान्तिक धर्म की अपेक्षा मानव धर्म को अधिक महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता है। धर्म शब्द से आज के मानव को घृणा नहीं है और न ही वह उसकी अवहेलना करके जीवन में बर्बरता लाने को तैयार है, अन्तर केवल इतना ही है कि आज का मानव धर्म के ढकोसले को उन रूढ़ियों के साथ अपनाने को तैयार नहीं जिन्हें आंखें बन्द करके मानने का धर्म-ग्रन्थ आदेश करते हैं।

१०. एक जमाना वह भी रहा है जब धर्म के नाम पर अनेकों इन्सानों का रक्तपात हुआ और आज एक ज़माना वह भी आया जब हिन्दू ने हिन्दू का रक्त

बहाया, मुसलमान ने मुसलमान को काट डाला और ईसाई ने ईसाई पर गोली दाग दी। गत महायुद्धों का इतिहास अभी पुराना नहीं पड़ा है; उसके ज्वलंत उदाहरण सामने हैं।

११. आज संसार में उन लोगों की कमी नहीं है जिनका भगवान् पर कोई विश्वास नहीं, जो धर्म के प्राचीन रूप से घृणा करते हैं और मानव मात्र की भलाई के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करने को सर्वदा तत्पर रहते हैं। विश्व का एक बहुत बड़ा भू-भाग इस विचार-धारा के अनुयाइयों से आबाद है और उनका जीवन धर्म के ठेकेदारों की अपेक्षा अधिक सुखमय है, अधिक सरल है, अधिक सचाई और ईमानदारी को लिए हुए है।

विपक्ष :

१. धर्म मानव का आत्मिक बल है और इसी का सहारा लेकर वह कठिन-से-कठिन कार्य करने को तत्पर हो जाता है। धर्म के बाहरी आकार में रूपान्तर हो जाने के कारण धर्म के प्रति हो सकता है आज का मानव कुछ क्षुब्ध हो उठा हो परन्तु यह स्थायी नहीं हो सकता। धर्माचार्यों के आचरणों की गिरावट का प्रभाव जन-साधारण पर पड़ा है और यह प्रभाव किसी भी धार्मिक विभूति के आविर्भाव से मिट सकता है। धर्म क्योंकि आत्मा की आवाज है, इस लिए इसका मिट जाना असम्भव है।

२. आज मन्दिर-मस्जिदों और गिरजों में जाकर उपासना, नमाज या प्रेयर करने वालों की संख्या कम हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं ? परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि जिन लोगों ने वहाँ जाना बन्द कर दिया उनमें धार्मिक आस्था रही ही नहीं। मंदिर के दिखावे से दूर अपने घरों को ही मंदिर मानकर धार्मिकता को कायम रखने वालों की संख्या कम नहीं है। धर्म को वास्तव में देखा जाय तो यह लोग दिखावे की वस्तु नहीं मानते। जैसा ऊपर हमने कहा, इसका सम्बन्ध आत्मा से है और आत्मिक ज्ञान के क्रियाकलाप का प्रदर्शन करना कुछ अनुचित सा ही जान पड़ता है।

३. समय परिवर्तित होते हैं। विचारों के आधार बदलते हैं और मनुष्य नवीनतम खोजों और आविष्कारों के आधार पर आगे विचार करता है। इन विचारों में प्राचीन की अपेक्षा नवीन में विचारों का अधिक तत्त्व वर्तमान रहता है। इस तत्त्व के आधार पर बहुत सी मान्यताओं का लोप और नवीन मान्यताओं का प्रादु-र्भाव होता है। परन्तु इन नवीन मान्यताओं का मूल स्रोत भी वही आत्मिक प्रेरणा होती है जिसने प्राचीन धर्म को जन्म दिया, और उसकी आस्था को गत युगों में स्थायित्व प्रदान किया। इस प्रकार आज जिसे ऊपरी विचारक परिवर्तन या प्राचीन

का सर्वथा त्याग समझता है वह सर्वथा त्याग न होकर रूपान्तर मात्र ही है और उसके मूल में वही प्रेरणा कार्य करती है, वही जिज्ञासा वर्तमान रहती है।

४. प्राचीन के विध्वंस ने नवीन आस्थाओं को जन्म दिया है। मंदिर, मस्जिद और गिर्जे के भी रूप बदल रहे हैं और बदलेंगे। मूर्तिपूजा से लोगों ने हटकर आर्य समाज के मंदिरों की स्थापना की और प्राचीन गुरूडमवाद को चुनौती दी, परन्तु इससे धर्म के मूल सिद्धान्त को ठेस नहीं लगी। वह ज्यों-का-त्यों वर्तमान है और मानवता के अपने सिद्धान्तों में उसका विशिष्ट स्थान है।

५. यह कहना सच है कि आज के धर्माचार्यों में आचारण की गिरावट मिलती है परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि ऐसे धर्माचार्यों का नितान्त लोप ही हो गया है कि जिनके आचरणों पर जनता का बिलकुल विश्वास ही नहीं। जिन मंदिरों के पुजारी या मस्जिदों के मुल्ले आचरणों की गिरवट के शिकार नहीं हुए हैं उनके यहाँ आज भी उपासकों की तादाद गिरी नहीं है। हिन्दू मंदिरों में जाने वालों की संख्या में कुछ कमी अवश्य देखने को मिलती है परन्तु मुसलमान मस्जिदों में पहुँचने वालों की संख्या कम नहीं। गिर्जों में जाने वालों की संख्या चाहे फैशन से ही प्रेरित होकर हो परन्तु उसमें किसी प्रकार की कमी देखने में नहीं आती और ईसाई लोग अपनी प्रार्थना को इस कायदे और तमीज के साथ निभाते हैं कि वह देखते ही बनती है। पूजा के इन स्थानों पर जाने वालों की बहुत बड़ी तादाद में कुछ तमाशबीनों के पहुँच जाने से धर्म की मान्यता को ठेस नहीं लगती, बल्कि वह तो उन इने गिने मूर्ख लोगों की कुबुद्धि का ही प्रदर्शन मात्र है। इन चन्द लोगों की हरकतों पर धार्मिक आस्था की मान्यता को स्थापित नहीं किया जा सकता औ न ही इससे धर्म की मान्यता को कोई ठेस ही लगती है।

६. धार्मिक आस्थाओं को बदलना मजाक नहीं। समय के थपेड़ों ने इन्हें बल प्रदान किया है। पैदा होती, उभरती और मिटती हुई संस्कृतियों के मूल तत्त्वों को इन्होंने अपने अन्तर में समेटा है और उनके जौहर निकाल कर अपनी हड्डियों को फौलादी शक्ति प्रदान की है। इन आस्थाओं का प्रभाव मानव के रक्त में समाया हुआ है जिसे इतनी आसानी से निकाल कर नहीं फेंका जा सकता। ये धार्मिक आस्थाएँ और विश्वास अपनी निजी शक्ति के आधार पर आज तक आगे बढ़ते आये हैं। समय-समय पर राजनैतिक प्रोत्साहन और प्रचार भी इन्हें प्राप्त हुआ है परन्तु साथ ही इन्होंने साम्राज्यों से टक्कर भी ली है और उन्हें बदला भी है। इनका जनता से बहुत निकट का सम्पर्क है। यही कारण है कि जनता ने इनकी सुरक्षा में अपना योग दिया है और बावजूद राजनैतिक विरोधों के भी इनका स्रोत रुकने नहीं पाया, इनकी धारा अबाध गति से बही है। इनके

रुकने का प्रश्न वहीं पर खड़ा होता है और हुआ है जहाँ धर्माचार्यों ने जनता को मूर्ख बना कर अपने पाखण्डों का प्रपंच फैलाना आरम्भ किया। योरोप में पोप द्वारा इन्डलजेन्सेज का बेचा जाना और मार्टेन ल्यूथर का उनसे विरोध प्रकट करना इसी प्रकार के उदाहरण हैं। भारत में ब्राह्मण धर्म के विरोध में बुद्ध तथा जैन धर्म की स्थापना भी इसी प्रकार की चीजें हैं परन्तु इन स्थापनाओं का भी निरीक्षण यदि विचारशील दृष्टिकोण से किया जाय तो पता चलता है उनके मूल में भी वही सिद्धान्त और आस्थाएँ निहित हैं जो पहले कर्म में निहित थीं। जो चीज बदली या जिसके बदलने की सम्भावना रही, वह केवल बाहरी आकार मात्र था, उसकी आत्मा नहीं।

७. धर्म का सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से है। कोई भी व्यक्ति चाहे कितना भी भौतिकता प्रेमी क्यों न बन जाय, परन्तु वह आत्मा की अवहेलना नहीं कर सकता। भौतिक सुख और समृद्धि भी मनुष्य आत्मा की ही संतुष्टि के लिए चाहता है। धर्म इसी आत्मिक-संतुष्टि का मूल मंत्र है। किसी वस्तु के प्राप्त करने से आत्मा को जितना आनन्द प्राप्त होता है कभी कभी उसे देने से उससे भी अधिक आनन्द का अनुभव होता है। मनुष्य में दान की प्रवृत्ति बहुत कुछ हद तक नाम के लिए भी रहती है परन्तु यह कोरा नाम मात्र ही नहीं है कि जिसके लिए मनुष्य यह सब कुछ करता है। दान देकर मनुष्य की आत्मिकतुष्टि होती है। दान देने की यह प्रेरणा मूल रूप से धर्म ही मानव को प्रदान करता है। धर्म मानव के कर्त्तव्य की साधना है और उस साधना की पूर्ति का मार्ग कर्म-काण्ड है। इस कर्म-काण्ड में जब कोई खराबी आजाती है तो धर्म के मूल के प्रति भी जनता में भ्रम उत्पन्न हो जाता है और उसकी विचारधारा विचलित हो उठती है; वह इधर-उधर की बे तुकी बातें सोच कर धर्म को ही गालियाँ देने लगता है और पाखण्ड की संज्ञा दे डालता है। ऐसा करना अल्प बुद्धि का परिचायक है।

८. मानव-आचरण के उत्थानार्थ जितने भी प्रयास आज तक हुए हैं, चाहे उन पर धर्म की मुहर लगी हो अथवा नहीं, उनका जन्म धर्म के ही सिद्धान्तों से होता है। वही भावना उनमें कार्य करती है और लक्ष भी दोनों का करीब-करीब एक सा ही रहता है। ईसाई धर्म में Y. M. C. A. आन्दोलन की सफलता इन्हीं मूल सिद्धान्तों की स्थापना पर आधारित है।

९. धर्म के विरुद्ध आवाज उठाने वालों की न पहले कमी थी और न आज ही है। परन्तु आज तक धर्म के प्रसार में कोई कमी नहीं आई। यह बात अवश्य है कि धर्म का सम्बन्ध राजनीति से विच्छेद हो गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जनता से उसकी आस्था जाती रही। वाल्टेयर (voltaire) ने जिस मकान में बैठकर ईसाई मत के पाँच वर्ष में नेस्तोनाबूद होने की घोषणा की थी

वही मकान बाइबिल बेचने का केन्द्र बना। वाल्टेयर की वह घोषणा आज कहीं हवा में घूमती फिर रही है और ईसाई मत ज्यों-का-त्यों वर्तमान है, उसका प्रभाव घटा नहीं।

१०. आज भौतिकवाद के पुजारी भी उतने ही रूढ़िवादी दिखलाई पड़ते हैं जितने धार्मिक आत्मवादी किसी समय बन चुके थे। औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) के फल स्वरूप पूंजीवाद का जोर बढ़ा और पूंजीवाद ने भाग्यवाद का आश्रय लेकर धर्म की आड़ से अपना उल्लू सीधा करना प्रारम्भ कर दिया। इसके फल स्वरूप मानव-समाज में लोगों के स्तर काफी ऊंचे नीचे हुए और उनके उठने और गिरने को भाग्य के मत्थे मढ़ा गया। भाग्य के साथ-साथ धर्म की भी टाँग पकड़कर खींचना आवश्यम्भावी होगया। पूँजीपतियों की इस मनोवृत्ति का जनता ने विरोध किया और पूंजीवादी मनोवृत्ति के साथ-साथ धर्म को भी लपेट लिया गया। यह भी सच है कि इस युग का धार्मिक मार्ग-प्रदर्शन पूंजीपतियों का गुलाम बन गया था। भौतिकतावादी लोगों को धर्म के खिलाफ प्रचार करने का अच्छा अवसर मिला और जनता पर भी इसका प्रभाव कम नहीं हुआ। परन्तु यह प्रभाव तो पड़ते और मिटते ही रहते हैं। हिन्दू धर्म पर बौद्ध धर्म की नास्तिकता का प्रभाव कुछ कम नहीं था। एक समय रहा था जब ब्राह्मण-धर्म के पैर उखड़ चले, परन्तु फिर वह भी समय आया जब आस्तिकता का फिर से बोल बाला हुआ और जगत् गुरु शङ्कराचार्य ने बुद्ध-धर्म को भारत-भूमि से उखाड़कर फेंक दिया। आज जो कुछ भी भौतिकवाद का जोर दिखलाई दे रहा है यह भी टिकने वाला नहीं। धार्मिक विचार-धारा का सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्तियों से है, इसलिए इसका कभी भी सर्वमूल नाश सम्भव नहीं। धर्म स्वयं नाश होने वाली वस्तु नहीं, वरन् यह तो संसार को नाश-पथ से हटाकर सत-पथ पर लगाने वाली वस्तु है। धर्म का सम्बन्ध उसके सिद्धान्तों से है और वह सिद्धान्त सभी धर्मों के समान रूप से मानवहितकारी ही है, विनाशकारी नहीं।

स्त्रियाँ राजनीति में भाग लेने की अधिकारिणी नहीं

पक्ष :

१. स्त्री स्वभावतः राजनीति में भाग लेने योग्य प्राणी नहीं है। स्त्री का, मस्तिष्क के विचार और तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं, कोई नाता रिश्ता नहीं। स्त्रियों को इलहम (ईश्वरीय ज्ञान) होता है, ऐसी उनकी अपनी धारणा है, परन्तु इसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं। कोई भी चीज जिसे विचार और तर्क की

कसौटी पर नहीं कसा जा सकता राजनीति की विषय नहीं बन सकती। स्त्रियों की अधिकांश में भावना प्रधान होती हैं और वे तर्क तथा विचार पर भावना को प्रधानता देती हैं। ऐसी दशा में उन्हें राजनीति में स्थान देना खतरे से खाली नहीं है।

२. स्त्रियों में ऊँची शिक्षा का अभाव है और राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए ऊँची शिक्षा और व्यापक ज्ञान का होना नितान्त आवश्यक है। गत पचासों वर्षों से स्त्रियों को पुरुषों के ही समान शिक्षित करने का प्रयत्न जारी है, परन्तु अभी तक स्त्री-पुरुष के धरातल पर नहीं आपाई। ज्ञान-सम्बन्धी किसी भी दिशा में स्त्री जाति ने उतनी उन्नति नहीं की जितनी पुरुष ने की है। उद्योग, व्यापार, विज्ञान, कला सभी क्षेत्रों में स्त्री पुरुष से बहुत पीछे हैं। जब इन सब क्षेत्रों में स्त्रियों की प्रगति नगण्य है तो राजनीति में ही वह विशेष सफल हो पायेंगी इसकी भी कोई विशेष सम्भावना नहीं।

३. आज की अपेक्षा स्त्री जाति उस समय अधिक प्रसन्न थी जब उसे मतदान का अधिकार नहीं था। आज मतदान का अधिकार मिल जाने पर भी वह अपने उस अधिकार का बुद्धि-संगत प्रयोग नहीं करपा रही हैं। अधिकांश स्त्रियाँ तो मतदान में भाग ही नहीं लेतीं। फिर ऐसी दशा में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे राजनीति के महत्त्वपूर्ण मसलों को समझ सकें। राजनीति बच्चों का खेल नहीं, स्त्रियों की भावनात्मक क्रीड़ा की सामग्री नहीं, वह कांटों की राह है; उस पर स्त्री का चलना कठिन है। स्त्री स्वभाव से कोमल होती है। उसका कठोरता से कम सम्बन्ध रहता है और राजनीति तो चलती ही कठोरता से है, कठिन नियंत्रण से, दण्ड-विधान हर समय उसके सामने रहता है और उसकी जड़ में फँसने वाले को वह मुक्त करना नहीं जानती। वहाँ पिता, पुत्र और स्त्री का मोह नहीं रहता और यह मोह त्याग कर कठोरता का दामन थामना स्त्री के लिए एक टेढ़ी खीर है, समस्या है। पग-पग पर उसके विचलित होने की सम्भावना है।

४. आज मतदान के युग में अधिकांश स्त्रियाँ उन्हीं लोगों को अपना मत प्रदान करती हैं जिन्हें उनके पति अपना मत देते हैं। यह मतदान की विडम्बना है। इसे मतदान की स्वतंत्रता नहीं कहा जा सकता। इसका साधारण अर्थ यही हुआ कि स्त्री-जाति को मतदान की स्वतंत्रता देने से परिस्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ, अन्तर केवल यही रहा कि मत देने वालों की संख्या दुगुनी होगई।

५. राजनीति का सम्बन्ध यदि विचारशील दृष्टि से देखा जाय तो अधिकारियों से नहीं है, सिद्धान्तों से है। सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिए भावना की अपेक्षा विचार की आवश्यकता है। भावना के बहाव में आकर कभी-कभी ऐसे गलत कार्य भी होजाते हैं कि जिनका वास्तविकता और सिद्धान्त से नाता टूट जाता है।

राजनीति में यह स्थिति और भी खतरनाक साबित होती है। स्त्रियों को मतदान की स्वतंत्रता मिलजाने से इन खतरनाक स्थितियों के बढ़ने की सम्भावना घटने के स्थान पर उल्टी बढ़ी ही है। मानव-मात्र के हित के दृष्टिकोण से भी यह स्थिति स्वस्थ नहीं कही जासकती।

मतदान के नाते आज राजनीति में स्त्रियों को वही स्थान प्राप्त है जो पुरुषों को है, परन्तु फिर भी संसार के राजनीतिक ढांचे पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि उसका संचालन निन्यानवें प्रतिशत पुरुषों के ही हाथ में है। यों चाहे सहयोगियों के रूप में कहीं किसी प्रधान मंत्री के मंत्रिमंडल में उन्हें स्थान भले ही मिल गया हो परन्तु उन्होंने स्वतंत्र रूप से किसी भी देश की बागडोर को संभाला हो, ऐसा दिखलाई नहीं देता।

७. राजनीति के क्षेत्र में बहुत से ऐसे भी कार्य हैं जिनका संचालन स्त्रियों के लिए करना बहुत कठिन है। यों आपत्तिकाल में स्त्रियों ने सैन्य-संचालन भी किया है, और भारतीय इतिहास में पद्मावती, दुर्गाबाई और लक्ष्मीबाई के नाम अमर हैं परन्तु फिर भी यह कार्य है पुरुषों के ही करने का है। उन वीर देवियों ने भी जब यह कार्य संचालित किया था तो सेना उन्हें भी पुरुषों की ही बनानी पड़ी। आज भी सेना-विभाग का संचालन पुरुषों के ही हाथ में है और राजनीति के क्षेत्र में इसका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

८. राजनीति में भाग लेना, हो सकता है कि अविवाहित या विधवा स्त्री के लिए सम्भव हो सके, परन्तु विवाहित स्त्री के लिए कठिन अवश्य है। विवाहित स्त्री को अपने गृहस्थ को चलाना होता है और इसके लिए वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने पति से पृथक होकर राजनीति के क्षेत्रों में मटरगश्त के लिए नहीं निकल सकती। स्त्री का स्त्रीत्व ही उसके राजनीति के मार्ग में बाधक बन जाता है। हाँ कुछ कार्य ऐसे अवश्य हैं जिनमें स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक सफल हो सकती है, जैसे डाक्टरी, बच्चों की शिक्षा इत्यादि और इन दिशाओं में उसने प्रगति भी की है, परन्तु राजनीति उसका क्षेत्र नहीं।

९. स्त्री मानव-जाति का अपने घर के अन्दर रहकर ही अधिक हित कर सकती है। आगे आने वाली संतति को सुधार कर पालना और उसकी परवरिश करके उसे योग्य बना देना कोई साधारण कार्य नहीं है। मानव-जाति के उत्थान में यह बुनियादी काम है जिसे स्त्री ही अच्छा कर सकती है। अच्छा हो यदि स्त्री अपनी महत्त्वाकांक्षा को इस मानव-हितकारी ठोस कार्य तक ही सीमित रखें और समाज का अधिकाधिक हित करसके। आगे आनेवाली संतति को बनाना भी एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य है। इसे सफलतापूर्वक करने से मानव का अधिक कल्याण होगा। यही संतति आने वाले युग की कर्णधार होगी जिसका बनाना और बिगाड़ना

पूर्ण रूप से स्त्री-जाति के हाथ में है। स्त्रियों को चाहिए कि वह इस प्रकार सीधे रूप से राजनीति में न घुसकर उसकी बुनियादी शक्ति में ही अपना योगदान दें, सहयोग प्रदान करें। इसमें उनके जीवन की सार्थकता के साथ-ही-साथ मनुष्य मात्र का हित निहत है। बच्चों का सही पथ-प्रदर्शन माता के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता; और जिन बच्चों की माता अपने बच्चों का ध्यान छोड़कर राजनीति में फँस जायेंगी उनके भविष्य बिगड़ जायेंगे और उनका पालन-पोषण सही ढंग से नहीं होसकेगा। आज इस संघर्ष के युग में स्त्री राजनीति में फँसकर अपने न केवल स्वाभाविक गुणों को ही खो बैठेगी वरन् उसके भारी सुलभ गुणों का लोप हो जायगा।

विपक्ष :

१. आज का युग बतलाता है कि स्त्रियों को राजनीति से प्रथक नहीं रहना चाहिए और वह राजनीति में उतनी ही कामयाबी के साथ भाग लेसकती हैं जितनी कामयाबी के साथ पुरुष भाग लेते हैं। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं। भारतीय राजनीति में श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित का सहयोग कुछ कम नहीं। सरोजनी नायडू ने भी राजनीति में कुछ कम काम नहीं किया और यदि भारतीय इतिहास के ही पन्ने उलटने प्रारम्भ करें तो बहुत से ज्वलंत उदाहरण उपलब्ध हो सकेंगे।

२. कुछ लोगों का यह मत है कि स्त्री राजनीति के सर्वथा अयोग्य है और वह विचार (reason) से संचालित न होकर भावनाओं से प्रभावित होती है। यह बात पुरुष ने अपने हाथ में विचार की मोनोपोली रखने के लिए गढ़ीहुई प्रतीत होती है। इस बात का ही वास्तव में विचार (Reason) से कोई सम्बन्ध नहीं। यह व्यर्थ की मन-घड़न्त बात है और वास्तविकता से इसका कोई नाता नहीं। आज के युग में जब स्त्री ने शिक्षा-क्षेत्र में पुरुष के समान ही प्रगति कर ली है तो इस प्रकार की बातों का महत्व सर्वथा समाप्त होचुका। यह उस जमाने की बातें हैं जब स्त्रियों के लिए शिक्षा का द्वार बिलकुल बन्द था और यह निश्चित रूप से धारणा बनाली गई थी कि स्त्रियाँ शिक्षित होही नहीं सकतीं।

३. ज्यों-ज्यों शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री को पुरुष के समान स्वतंत्रता मिली, त्यों-त्यों उसने उन्नति की, और आज हम देखते हैं कि डॉक्ट्री इत्यादि की दिशा में स्त्रियों ने पुरुष को पीछे छोड़ दिया है। कुछ विषय विद्यालय ऐसे भी हैं जिसमें पुरुष ने आज भी स्त्रियों के लिए गिनेचुने स्थान ही रख छोड़े हैं। आक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज जैसे विश्वविद्यालयों में वकालत इत्यादि के क्षेत्रों में स्त्रियों को बहुत कम मौका दिया जाता है और उनका दाखला ही बहुत कम संख्या में

होता है। शिक्षा क्षेत्र के इस प्रकार के पक्षपात ने स्त्री को समाज में आगे बढ़ने से रोका है। परन्तु आज की स्त्री पहले जैसी मूर्ख नहीं रह गई है और वह सभी क्षेत्रों में प्रगतिशील है, आगे बढ़ रही है। डाक्टरी, वकालत, साइन्स इत्यादि के साथ-साथ राजनीति में वह बहुत सफलता के साथ कदम बढ़ारही है।

४. पारिवारिक संरक्षकों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे पहले लड़कों के पढ़ने का प्रबन्ध करते हैं और बाद में लड़कियों का। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्त्री-वर्ग काफी दिन पीछे पड़रहा और शिक्षा के क्षेत्र में वह स्थान प्राप्त न कर सका जो पुरुषों ने किया। यह पुरुषजाति का स्त्री-जाति पर अन्याय रहा, जिसके फलस्वरूप स्त्री-मस्तिष्क उतना विकसित नहीं होपाया जितना पुरुष-मस्तिष्क विकसित हुआ। स्त्री-जाति की इस कमी के लिए उसे ही दोषी ठहराकर आगे के लिए भी विकास की दिशा से उसे वंचित करदेना उचित नहीं। स्त्री राजनीति के क्षेत्र में कहीं-कहीं पुरुष की अपेक्षा अधिक सफलता से कार्य-संचालन करसकती है। दूसरों को प्रभावित करने का जो गुण स्वाभवतः स्त्री मे वर्तमान है वह पुरुष में नहीं पायाजाता।

५. मतदान के विषय मे यह कहना कि स्त्रियाँ मत देना नहीं जानतीं, यह मूर्खता की बात है। भारतवर्ष के गत भारत व्यापी मतदान ने यह सिद्ध कर दिया कि आज की नारी अपने मत के विषय में कितनी जागरूक है। अब रही भेड़चाल की बात, सो वह तो अभी स्त्रियों के साथ पुरुषों में भी नहीं है। जितनी भेड़ा चाल स्त्रियों में मिलती है, उतनी ही पुरुषों में भी पाईजाती है। यदि स्त्रीपुरुषों का अनुकरण करती है तो पुरुष मत देते समय या तो उस पार्टी को मत देते हैं जिसे वे पहले से मत देते चले आरहे हैं या उनके पिता इत्यादि देते चले आ रहे थे।

६. स्त्रियों ने आज अनेकों दिशाओं में असाधारण उन्नति की है। जैसा हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं डॉक्टरी, शिक्षा, सफाई इत्यादि के क्षेत्र में संसार काफी आगे बढ़ा है। आज से कुछ ही वर्ष पूर्व देश की स्वास्थ्य-सम्बन्धी उन्नति बहुत कम थी और उस दिशा में बहुत कम काम होता था। आज भारत की स्वा-स्थ्य-मन्त्री एक स्त्री महिला श्री राजकुमारी अमृतकौर हैं। उन्होंने सफलतापूर्वक राजनीति के क्षेत्र में कदम रखकर देश की स्वास्थ्य-सम्बन्धी उन्नति की है। इस कार्य का संचालन जितनी योग्यता से एक स्त्री कर सकती है उतनी योग्यता तथा अनुभव से पुरुष नहीं कर सकता। स्वास्थ्य और सफाई का ध्यान रखना स्त्री का स्वाभाविक गुण है। इस दिशा में स्त्रियों ने न केवल राजनीति के क्षेत्रों में घुसकर ही कुछ महत्व-पूर्ण कार्य किये हैं, वरन् अपनी सभा सोसायटियों द्वारा भी मानव-समाज को प्रभावित किया है।

परन्तु जन्म-सिद्ध अधिकार के रहते ये सभी गुण सभी आने वाले लोगों में होंगे यह कभी सम्भव नहीं। इसलिए जब भी कोई राजा अपने चाल-चलन में पतनोन्मुख होगा तभी सामाजिक क्रांति के लिए क्षेत्र तैयार होगा और राष्ट्र की शांति भङ्ग होगी। इसलिए राजा का रहना ही सामाजिक विद्रोह का ज़बरदस्त कारण है। आज का युग चाहता है कि इस कारण को ही जड़मूल से नष्ट करदिया जाय और जनता को राजा और उसके सिंहासन के नीचे कुचलने का प्रयास न किया जाय।

४. आज के युग में जनता जानती हैं कि उसका शासन उसी के हाथों में होनाचाहिए, उसीको उसका संचालन करनाचाहिए। उसे स्वयं अपना भला बुरा सोचने का अधिकार है और वह अपने को इस योग्य समझती है कि अपना भला-बुरा पहिचानसके। आज के प्रजातंत्रवादी शासन में राजा का कोई महत्त्व नहीं रहगया है। राजा का महत्त्व आज शव के समान है जिसमें दुबारा प्राणपन स्थापित करने का स्वप्न देखना मूर्खता है। आज का युग इस मूर्खता को प्रोत्साहन नहीं देगा और जिन देशों में यह सिंहासन अभी तक सजा हुआ दिखलाईदेता है, वह कोरा ढकोसला है, धोखा है, भ्रम है। दुनिया को उस धोखे में नहीं फंसना चाहिए क्योंकि उसका कोई वास्तविक महत्व नहीं है, उसकी कोई असलियत नहीं है।

५. आज रिपब्लिक सरकार में राजा का कोई स्थान नहीं। संयुक्तराष्ट्र अमरीका तथा फ्रांस में राजा नहीं है और इसीप्रकार संसार के अन्य बहुत से देशों ने राजा के महत्व को समाप्त करदिया है वहाँ का कार्य संचालन आज बहुत खूबी के साथ चल रहा है, उसमें कोई किसी किस्म की बाधा उपस्थित नहीं हुई बल्कि और उल्टा व्यर्थ होनेवाला खर्च ही कम हुआ है, जो जनता के लाभार्थ व्यय किया जारहा है।

विपक्ष :

१. राजाओं के जहाँ काले कारनामे इतिहास के पन्नों में अंकित हैं वहाँ देश और राष्ट्र की जनता के लिए विविध साहस और योग्यता तथा त्याग की मिसालें भी हमारे सामने कम नहीं हैं। यह सच है कि राजगद्दी पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करके राजा कभी कर्मठ नहीं हो सकता परन्तु फिर भी अच्छे सलाहकारों के साथ अच्छे राजा का होना नितान्त आवश्यक है। आज इंग्लेंड में राजा के पास तो साधारणतया कोई विशेष अधिकार नहीं, परन्तु फिर भी तीन अधिकार उसके पास हैं, उसका यह अधिकार है कि मंत्री लोग उससे सलाह मशविरा करें, उसका यह अधिकार है कि वह राष्ट्र को अच्छे कामों के लिए प्रेरित करे और

उन्हें प्रोत्साहन दे; उसका यह अधिकार है कि वह ग़लत कामों के विरुद्ध चेतावनी दे। मंत्रियों या संसद् को किसी भी काम से रोकने की शक्ति राजा में न होने पर भी उन्हें प्रभावित करने की शक्ति उसके पास है और यह वह शक्ति है कि जिसे साधारणतया ठुकराया नहीं जा सकता, भुलाया नहीं जासकता। राजा का ऊँचा आसन ही अपने बड़े प्रभाव का द्योतक है और उसके आदर-मान का सभी मंत्रियों को ध्यान रखनाहोता है।

२. राज्य-संचालन में एक सत्ता ऐसी होनी आवश्यक है जो बराबर उत्तर-दायित्व सम्भाले और यह सत्ता राजा की ही होसकती है। मंत्री लोग आते और चलेजाते हैं और विशेषरूप से प्रजातंत्री विधान में तो मंत्रियों को किसी भी दिन अपना स्थान रिक्त करना पड़सकता है। ऐसी स्थिति में राजा ही शासन-भार संभालता है। राजा आमतौर पर बहुत कम अपने स्थान का त्याग-पत्र देता है। हर समय राज्य-सँचालन का उत्तरदायित्व संभालने वाले राजा को राज्य-संचालन का इस प्रकार सबसे अधिक ज्ञान रहता है और इसीलिए हर मंत्रीमण्डल को कार्य-संचालन में उसकी राय मूल्यवान साबित होती है। कोई दबाव विशेष न होने पर भी उसकी राय का प्रभाव पड़ता है। इस तरह राजा का होना केवल नुमायशी सरदारी न होकर राष्ट्र-हित की चीज है, जिसका क़ायम रहना नितान्त आवश्यक है।

३. आज साम्राज्यवाद की भावना का लोप होने पर राजा का महत्त्व और भी कम हो गया है वरना इससे पूर्व तो विभिन्न देशों के संगठन का यही एक प्रतीक था। परन्तु आज भी देश के विभिन्न तबक़ों के संगठन का प्रतीक राजा ही है। पारस्परिक मैत्री का यह पद सुदृढ़ प्रतीक है जिसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसी दल विशेष से सम्बन्धित है। राजा स्वतंत्र है और उसका किसी दल से कोई सम्बन्ध नहीं। उसके लिए सभी दल समान हैं।

४. राजा जहाँ एक ओर राज्य-सरकार की सबसे बड़ी सत्ता है वहाँ दूसरी ओर समाज में भी उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व होता है और वह अपने आचरणों द्वारा समाज को प्रभावित करता है। जहाँ राजा प्रजा-पालक, वीर, धर्मात्मा और दयालु होता है तथा उसका आचरण समय के लिए आदर्श होता है, वहाँ समाज पर उसका बहुत बड़ा असर पड़ता है। जनता राजा की आवाज़ पर अपना सर्वस्व अर्पण करने को उद्यत हो जाती है।

५. राजा का कर्तव्य है कि वह देश के कला, कौशल साहित्य इत्यादि को बढ़ावा दे और उनकी उन्नति के लिए सक्रिय प्रयत्न करे। विज्ञान और दर्शन की उन्नति में सहयोग प्रदान करे। देश की जनता के स्वास्थ्य को ठीक रखने की दिशा में ध्यान रखे और अपनी सरकार के कार्य-संचालन पर नज़र लगाये। जनता के

उत्थान और उसकी सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति में उसका बहुत बड़ा योग है। आज राजा के पास ईश्वर प्रदत्त शक्तियों के रहने का तो कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। आज उसकी शक्तियाँ बहुत सीमित हैं और वे सब प्रजा की अनुमति से ही प्राप्त हैं, इसलिए मनमानी करने का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। आज राजा की जो स्थिति है उसमें रहकर वह राष्ट्र का कुछ हित ही कर सकता है, अहित नहीं। उसके अहित करने पर इतने प्रकार के प्रतिबन्ध हैं कि वह हिल ही नहीं सकता।

६. जिन देशों में स्थायी रूप से राज्य-सभा का कोई सरदार राजा नहीं है यह उनकी एक बहुत बड़ी कमी है और इसे वे देश आज स्वयं भी महसूस करने लगे हैं। कभी-कभी मंत्रीमंडल का जनता या विदेशों की नीति पर बुरा प्रभाव पड़ जाने पर ऐसा देखा गया है कि राजा उसे संभाललेता है, परन्तु जहाँ राजा की व्यवस्था नहीं है, जैसे संयुक्त-राज्य अमरीका और फ्राँस वहाँ इस सुधार के लिए कोई स्थान ही नहीं। वहाँ तो एक बार काम खराब होजाने के पश्चात् फिर पीछे लौटने या आग बढ़ने की गुंजाइश ही नहीं रहती। राजशक्तियों और उनके अधिकारों को सीमित करके चलने में देश का कोई अहित नहीं करसकता और अवसर आने पर बहुत बड़ा हित करसकता है। इस प्रकार के कामों के इंगलैंड में बहुत से उदाहरण मौजूद हैं।

कम्यूनिज्म एक प्रभावपूर्ण शासन-व्यवस्था है

पक्ष :

१. संसार के विभिन्न देशों में जिन शासन-प्रणालियों का विकास हुआ उसके फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष और अंतर्राष्ट्रीय मनो मालिन्य को बढ़ावा मिला। इसी बढ़ती हुई असंतोष की ज्वाला को शांत करने के लिए इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि संसार की शासन-व्यवस्था का रूप बदले और यह मनोलिन्य कम हो तथा बढ़ता हुआ आपसी वर्ग-संघर्ष दब जाय। यह नया विधान अपने अन्दर साम्राज्यवाद (Imperialism) और पूंजीवादी शासन (Plutocracy) को लेकर न चले बल्कि मानव सभ्यता के विकास में आपसी सहयोग से योग प्रदान करे।

२. पूंजीवाद ने उत्पादन की जिन शक्तियों का संचय किया था वे किसी देश अथवा राष्ट्र विशेष की सीमाओं का उलंघन कर मुक्त होचुकी थीं। उनपर किसी देश अथवा राष्ट्र का अधिकार नहीं रहगया था। जर्मनी का मिटल योरोपा

(Mittel Europa) प्लान इसका प्रमाण है कि उसने इस बात का सही अनुमान लगाया कि पूंजीवाद की शक्ति अन्य देशों में भी प्रवेश कर चुकी है। इस प्रकार यह आवश्यक होगया था कि सभी देशों की पूंजीवादी शक्तियाँ पारस्परिक सहयोग प्राप्त करें और एक दूसरे के हितों की रक्षा के लिए मिलकर काम करें। इस दशा में कोई भी एक प्रथक रहकर अपने पूंजीवादी विकास को कायम नहीं रखसकता था।

३. पूंजीवादी विकास की इस स्थिति ने संकुचित राष्ट्रीय भावना (Restricted Nationalism and Patriotism) की कमर तोड़ दी। यह भावना पुरानी पड़गई और इसका जो महत्व पहले आंका जाता था वह दकियानूसी समझा जानेलगा। विभिन्न देशों के श्रमजीवी (Proletariat) वर्ग ने इस संकुचित राष्ट्रीयता (Restricted Nationalism) का कड़ा विरोध किया और योरोप के विभिन्न देशों की सम्मिलित प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था की (The Republican United states of Europe) की आवाज बुलन्द की। इन लोगों का उस छिछली राष्ट्रीयता की भावना में कोई हित नहीं था जिससे शक्ति ग्रहण कर पूंजीवाद फलना-फूलना चाहता था और विशेष अधिकारों को अपने हाथोंमें सुरक्षित रखनाचाहता था।

४. पूँजीवादी शासन-व्यवस्थाएँ साम्राज्यवाद के समर्थक थे और वे धनाढ्य लोग जो इन व्यवस्थाओं का संचालन कर रहे थे उन्हें श्रम जीवी लोगों की मेहनत पर मजा करने का चस्का लगगया था। उनकी दशा इस समय ठीक वैसी ही थी जैसी फ्यूडल राज्य-व्यवस्थाओं के जमाने में राजे महाराजों की। उनका चारित्रिक ह्रास होगया था और वे अपने ऐशोआराम को कायम रखने के लिए धर्म इत्यादि ढकोसलेबाजियों का पल्ला पकड़रहे थे। अमीर-वर्ग इस बदलतीहुई व्यवस्था के मार्ग में एक महान् आपत्ति पैदा कररहा था और उसका पूरा सहयोग उसी पुरानी पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था को प्राप्त था।

५. परन्तु श्रमजीवी समाज के सामने उस पूंजीवादी और साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था का पूर्ण दृष्टिकोण मौजूद था। उसके अपने शरीर का वह रक्त था जिसे पूँजीवादियों को पीता हुआ देखकर भी वह उनका कानून कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे और इसीलिए उनके अन्दर विद्रोह की ज्वाला सुलगरही थी। झूटी राष्ट्रीय भावना का महत्त्व उनकी नजरों से गायब होता जारहा था और वह अपनी उन्नति के लिए खुलकर संघर्ष करने और ऐसी व्यवस्था कायम करने की बात सोच रहा था जिससे उनका शोषण न हो और वह अपनी मेहनत का पूरा सिला पासके। वह उतारू हो चुका था उस पुरानी शासन-व्यवस्था को बदल डालने के लिए।

६. पूँजीवाद को संगठित रखने और बढ़ावा देने में युद्ध बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। युद्ध द्वारा पूंजीवाद का फैलाव होता है और इसकी मट्टी में श्रमजीवियों को झुकना पड़ता है। युद्ध पूंजीवाद को महान् शक्ति प्रदान करता है। श्रमजीवी लोग युद्ध का इसीलिए विरोध करते हैं। वे चाहते हैं सामाजिक क्रांति उत्पन्न करना। वे चाहते हैं कि सामाजिक क्रांति द्वारा संसार की वर्ग व्यवस्था बदले और वर्ग-संघर्ष की भावना का लोप हो; जिसके फल स्वरूप पूंजीवादी शोषण समाप्त होकर मानव-कल्याण की दिशा में अग्रसर हो।

७. प्रारम्भ में राज्य व्यवस्था जनता की आर्थिक-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करती थी। परन्तु धीरे-धीरे इसकी आवश्यकता महसूस हुई। शासन ने जनता की आर्थिक-व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ करदिया। इसके फल-स्वरूप ऐसी शासन व्यवस्था की आवश्यकताहुई जो राजनीति और अर्थ-सम्बन्धी व्यवस्था का ढाँचा सही रखसके। ऐसे दर्शन का विधान जिसमें राजनीति और अर्थ-व्यवस्था का सामंजस्य है, कम्यूनिज्म ने प्रस्तुत किया। कम्यूनिज्म राज्य व्यवस्था में सरकार न केवल देश और राष्ट्र की राजनैतिक समस्याओं का ही हल सोचती है और उनकी व्यवस्था करती है वरन अपनी जनता की आर्थिक समस्या भी उसके सामने रहती है और उसकी अच्छाई तथा बुराई का पूर्ण उत्तरदायित्व उसके अपने ऊपर ही होता है। यदि देश की अर्थ-व्यवस्था खराब होती है, बेरोजगारी बढ़ती है, जनता को उचित खाना और कपड़ा तथा मकान नहीं मिलता, तो उसकी जिम्मेदार वहाँ की सरकार है। इतना बड़ा उत्तरदायित्व अन्य किसी प्रकार की शासन-व्यवस्था अपने ऊपर संभालने के लिए उद्यत नहीं।

८. रूस में कम्यूनिज्म की कामयाबी और फिर उसके पश्चात् चीन में उसकी दूसरी कामयाबी उसकी सफलता के प्रमाण हैं। योरोप के रूमानिया इत्यादि देशों में भी कम्यूनिज्म राज्य-व्यवस्था को सफलता मिलती है। यू० एस० एस० आर० (U. S. S. R.) में कम्यूनिज्म अपनी पूर्ण सार्थकता सिद्ध कर चुका है। वहाँ की प्रथम पंच वर्षीय योजना पूर्ण रूप से सफल सिद्ध हुई। उसके पश्चात वहाँ के आर्थिक विकास ने कम्यूनिज्म के रचनात्मक कार्यक्रम की शक्ति को निर्विरोध रूप से प्रमाणित कर दिया। कम्यूनिज्म में अधिकाधिक जनता का हित है और उसकी राजनीतिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं का बोझा सरकार पर है। आज इस राज्य-व्यवस्था की सफलता को संदेह की दृष्टि से देखना केवल भ्रम है, अपने को धोखा देना है, मानवता से झगड़ना है।

९. आज कम्यूनिज्म सामाजिक नियमों के ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर खड़ा हुआ है। अधिकाधिक मानव के हित का प्रश्न इस व्यवस्था के सामने है। सिद्धांत रूप से इस व्यवस्था को अधिकाधिक मानवीय ही ठहराना पड़ता है। कम्यूनिज्म

का सिद्धान्त हर एक को उसकी योग्यता और आवश्यकता के अनुसार उत्पादन में से वितरण करने का है। सामाजिक ढाँचे में इससे ऊँचा सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता।

विपक्ष :

१. आधुनिक सभ्यता सृष्टि के आदिकाल से विकसित होकर जिस स्थिति तक पहुँचती है, उसमें अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी। कम्यूनिज्म व्यवस्था एक क्रांतिकारी व्यवस्था है क्रमिक सुधार-व्यवस्था नहीं। इसलिये इस व्यवस्था के आजाने से क्रमिक विकासवाद का अन्त होजायगा और वर्तमान सभ्यता में जो कुछ अच्छाईयाँ भी हैं वे भी समूल नष्ट हो जायेंगी। इन अच्छाइयों का नष्ट हो जाना विश्व के सांस्कृतिक-विकास पर एक जबरदस्त धक्का होगा, जिससे मानवता का बहुत बड़ा अहित होने की आशङ्का है।

२. आज हमें जो अंतर्राष्ट्रीय और वर्ग-संघर्ष की स्थिति दिखलाई दे रही है उसको रोकने का उपाय कम्यूनिज्म नहीं है। कम्यूनिज्म द्वारा इस संघर्ष को रोकना रोगी को उसी प्रकार की औषधि देना है जिससे मर्ज रहे न मरीज। विश्व शक्तियों या राष्ट्रों का एक ऐसा फेडरेशन बनाया जा सकता है जो पूर्ण रूप से प्रजातंत्री व्यवस्था को इस प्रकार का संघर्षमय भावना विरोध करसके। यह प्रजातंत्रीय शासन की व्यवस्था पारस्परिक संघर्ष को रोकने में निश्चित रुप से सफल होगी।

३. जहाँ तक मजदूरी और पूंजी का प्रश्न है, यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा हल किया जा सकता है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आफिस (International labour office) पूर्ण सफलता के साथ मजदूरी और पूंजी की गुत्थी को नहीं सुलझा सका इसीलिए यह प्रश्न सामने आकर खड़ा हुआ और इसके अन्दर समस्या में से समस्या पैदा होनी आरम्भ होगई। इन समस्याओं का हल कम्यूनिज्म नहीं है। कम्यूनिज्म व्यवस्था उसी प्रकार एकपक्षीय व्यवस्था है जिस प्रकार पूंजीवाद। यदि पूंजीवादी व्यवस्था पर पूंजीपतियों का ही पक्ष लेने का दोषारोपण किया जा सकता है तो कम्यूनिष्टों पर भी पूंजीपतियों के साथ बरबरतापूर्ण किये गये अत्याचारों की संख्या कम नहीं है। यह दोनों ही धुरी पक्षीय व्यवस्थाएँ हैं जो हर समस्या के हल को अपनी ओर खींचना पसंद करती हैं। इसीलिए यह एक पक्षीय विचारधारा कभी किसी समस्या का हल नहीं बन सकती। समस्या का सही हल खोजने के लिए मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करना होगा और इस प्रकार विश्व-संस्कृति के विकास में जो अच्छी चीजें वर्तमान हैं वे भी सुरक्षित रह सकेंगी और जो संघर्षमय भावनाएँ तथा समस्याएं

उत्पन्न होगईं हैं उनका भी हल निकलसकेगा।

४. हमरी आज की अर्थ-व्यवस्था में बहुत से दोष हैं और आज की प्रगतिशील विचारधारा के आधार पर उसका निरीक्षण करने से उसमें बहुत सी कमियाँ भी दिखलाई देती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि उसे जड़-मूल से ही उखाड़ कर फेंक दियाजाय और उसके स्थान पर एक दूसरी ही व्यवस्था की बात सोचकर संसार को एक प्रकार की अव्यवस्थित स्थिति के हवाले करदियाजाय। इससे एक जबरदस्त अशांति चारों ओर फैल सकती है। शताब्दियों के प्रयोगों तथा परिश्रमों के फलस्वरूप इस व्यवस्था का विकास हुआ है। इसी व्यवस्था को आज और सुधार की आवश्यकता है। किसी भी व्यवस्था के शताब्दियों तक चलने में उसके अन्दर बहुत सी कमियाँ और खराबियाँ आ जाती हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि इस व्यवस्था का सही ढंग से निरीक्षण करके इसमें सुधार कियेजायें और इसे आधुनिकतम आवश्यकताओं के ढाँचे में ढालाजाय। इस अर्थ व्यवस्था पर एक दम कुठाराघात करदेना एक बहुत बड़ी गलती होगी और विश्व का आर्थिक ढाँचा हिलउठेगा। रूस की आर्थिक व्यवस्था को समस्त संसार पर लागू कर देना कोई बहुत दानिशमन्दी की बात नहीं है। रूस ने इस आर्थिक व्यवस्था से, इसमें कोई शक नहीं कि उन्नति की है, परन्तु कौन कह सकता है कि जो परिस्थितियाँ रूस के लिए लाभदायक सिद्ध हुईं वही हर देश और राष्ट्र के लिए लाभदायक सिद्ध होंगी।

५. रूस की सामाजिक क्रांति में जो बरबरता पूर्ण कारनामे सामने आये वे किसी भी प्रकार युद्धकालीन-अपराधों से कम नहीं समझे जाने चाहिएँ। युद्ध को न्योता देने का काम पूंजीवाद का न होकर सैन्यवाद (Militarism) के है। युद्ध सर्वदा अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक होता है और कोई भी व्यापारिक राष्ट्र कभी युद्ध छेड़ना नहीं चाहेगा। कोई व्यापारी देश तभी युद्ध छेड़ेगा या उसमें भाग लेगा जब उसपर स्वयं आपत्ति का भय होगा। तभी उसे अपनी रक्षा के लिए लड़ाई के मैदान में उतर पड़ना आवश्यक हो जायगा। पूंजीवाद पर युद्ध छेड़ने का दोषारोपण करना व्यर्थ की बात है क्योंकि युद्ध में पूंजी का विनाश होता है और पूंजी कमाने के बहुत बड़े-बड़े साधन इसमें नष्ट होजाते हैं।

६. कम्यूनिज्म में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सर्वनाश करदिया गया है और यही व्यक्तिगत स्वतंत्रता वह वस्तु है जिसने हर प्रकार के विकास में प्रथम योग दिया है। कम्यूनिज्म में मनुष्य एक मशीन बनजाता है। कम्यूनिज्म की यह प्रवृत्ति फासिज्म की प्रवृत्ति के ही समान हानिकारक है। जेकोस्लेवेकिया (Czechoslovakia) में इसी प्रकार का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

पार्टी-राज्य-व्यवस्था लाभदायक है

पक्ष :

१. प्रजातंत्रीय शासन-व्यवस्था में जहाँ मतदान के पश्चात् सरकारों की नियुक्ति होती है वहाँ व्यक्तिगत सरकारें न बनकर पार्टी की सरकारों की व्यवस्था रहती है। इस व्यवस्था का प्रारम्भ ब्रिटेन में सर्वप्रथम हुआ और फैलते-फैलते यह प्रणाली आज संसार भर में फैलीहुई है। इस व्यवस्था के बनने में काफी समय लगा है और इसका भी क्रमिक विकास हुआ है। इस व्यवस्था में प्रजातंत्र का संगठित रूप मिलता है इसलिए इसकी सुरक्षा आवश्यक है।

२. पार्टी-सरकार द्वारा शासन-व्यवस्था चलायेजाने में यह निश्चय रहता है कि किसी भी सरकार द्वारा उठाये जाने वाले कदम पर पहले काफी सोच-विचार कियाजायगा। यह सोच-विचार एक दो व्यक्तियों के बीच न होकर पार्टी के सभी सम्मानित सदस्यों के बीच होगा। इस व्यवस्था में कम-से-कम गलती होने का इमकान रहता है।

३. सरकारें, जहाँ तक भी हों, एक ही पार्टी की कामयाब रहती हैं क्योंकि उसके सदस्यों में पारस्परिक सहयोग की भावना पाईजाती है। मिली-जुली सरकारों की स्थापना केवल कुछ कठिन परिस्थितियों में ही कीजाती है और यह भी देखा गया है कि उनका कार्य-संचालन कुछ अधिक कामयाब नहीं होता। उनमें पारस्परिक वाद-विवाद इतना अधिक बढ़जाता है कि आपसी झगड़े उठखड़ेहोते हैं और कार्य की प्रगति रुक जाती है। इस प्रकार की मिली-जुली सरकारों से राष्ट्र का अहित होने की हर प्रकार की सम्भावना रहती है।

४. पार्टी सरकार की व्यवस्था हर स्वस्थ वाद-विवाद को होने देती है और उनसे लाभ उठाने का भी प्रयास करती है, परन्तु जो वाद-विवाद केवल दिमागी खलिश दूर करने के लिए किये जाते हैं उनका वह विरोध ही नहीं करती वरन् उन्हें होने का स्थान ही नहीं देती और इस प्रकार संसद का व्यर्थ समय नष्ट नहीं होता। इससे राष्ट्र के कामों की प्रगति में रुकावट पैदा नहीं होती। बहुत अधिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ होता है अव्यवस्था। पार्टी-सरकार इस प्रकार की अव्यवस्था को सहन नहीं करती और सम्मिलित नियमों द्वारा उस व्यक्तिगत स्वतंत्रता को रोकदेती है।

५. संसद में भी फौज या जहाज की भांति कुछ नियमों का होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि उन नियमों का पालन न करना अव्यवस्था है, और वह अव्यवस्था राष्ट्र-हित में बाधा है। पार्टी सरकार इस प्रकार की बाधाओं को सामने नहीं आने देती और व्यक्ति को उसी हद तक स्वतंत्रता प्रदान करती है

जिस हद तक वह समाज, राष्ट्र और देश का अहित न करसके।

६. पार्टी-सरकार में देश के विभिन्न स्थानों के प्रतिनिधि होते हैं और वे अपने-अपने इलाकों की जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये प्रतिनिधि लोग अपनी जनता के हितों का ध्यान रखते हैं और इस प्रकार देश की अधिकाधिक जनता का हित करना इस पार्टी का धर्म बन जाता है। एक पार्टी के लोगों में भी कभी-कभी मतभेद होजाता है परन्तु नीति के आधार पर उसे दबजाना होता है।

विपक्ष :

१. पार्टीबन्दी देश की गिरावट का लक्षण है जिसके प्रसार से वास्तविक योग्यता का ह्रास होता है। जब पार्टी के आधार पर मत-दान होता है तो मत देने वाले के समक्ष जिसे मत दिया जाता है वह व्यक्ति न रहकर वह पार्टी आजाती है जिसका कि वह प्रतिनिधि होता है। इस प्रकार यह बहुधा सम्भव होता है कि मत देने वाला योग्य व्यक्ति को अपना मत न देकर पार्टी के नाते एक हाथ उठाने वाले मूर्ख को मत दे डालता है और इस प्रकार संसद में योग्य सदस्यों का समुदाय एकत्रित न होकर मूर्खों का समुदाय इकट्ठा होजाता है।

२. पार्टी के सदस्यों को अपनी पार्टी के प्रति वफ़ादार रहना होता है, जिसके फलस्वरूप वह सदस्य बहुत से अवसरों पर सचाई को जानते हुए भी सचाई पर क़ायम नहीं रहसकता। इस प्रकार पार्टी की वफ़ादारी संसदीय सदस्यों का सचाई और ईमानदारी से जनता के हित की बात सोचने से वंचित रखती है।

३. पार्टी को अपनी स्थिति मजबूत बनाने के लिए हमेशा जनता की ओर देखना पड़ता है। इसलिए वह कभी भी कोई ऐसी व्यवस्था या पालीसी तय्यार नहीं कर सकती जो देरपा हो, स्थायी हो और मजबूती तथा साबितकदमी के साथ चलाईजासके। यह वह इसलिए नहीं कर सकती क्योंकि उसे हमेशा जनता को खुश करने वाली छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान देना होता है। उसका यही ध्यान उसे बड़े-बड़े कामों के करने से रोकदेता है।

४. पार्टी-सरकार की व्यवस्था में राजनीतिज्ञ तथा जनता दोनों ही संकुचित दृष्टिकोण से सोचने लगते हैं। व्यापक दृष्टिकोण से सोचना उनके लिए कठिन होजाता है और वे उसी सीमित दाइरे में सोचने लगजाते हैं। इससे राष्ट्र का बड़ा भारी अहित होता है।

५. पार्टी की भावना में सरकार की शक्तियों को हथियाने की भावना काम करनेलगजाती है और इसप्रकार सरकार का जो वास्तविक ध्येय और लक्ष होना-

चाहिए वह नष्ट होजाता है।

६. पार्टी सरकार में पार्टी के गधों को भी बढ़ावा मिलता है और दूसरी पार्टी के योग्य आदमियों को भी नीचा दिखाने और ठुकराने का प्रयास कियाजाता है। इस प्रकार स्वार्थ की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

विश्व की वर्तमान परिस्थिति में साम्यवाद मानव-हितकारी व्यवस्था सिद्ध होगा

पक्ष :

१. विश्व के प्राचीनतम इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि किस प्रकार समाज ने धीरे-धीरे आगे कदम बढ़ाया है। यदि हम बहुत प्राचीन काल पर दृष्टि फैलाते हैं, तो दिखलाई देता है जो मनुष्यों का बहुत गरीब तबका था वह गुलामों का था और उन्हें जानवरों की ही तरह बेचा और खरीदाजाता था। उसके पश्चात, यह गुलामों का तबाका काश्तकारों में परिणित हुआ, परन्तु इस दशा में भी इन्हें खाने और पहिनने के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता था। इसके पश्चात यह तबका मजदूर बना और इसकी मेहनत की मजदूरी मिलने लगी। समाज की प्रगति का यहीं पर अन्त नहीं हुआ। इस समाज ने यहाँ तक उन्नति की कि धीरे-धीरे यह पूंजी की व्यवस्था का भी मालिक बन बैठा और पूंजी पर जनता का अधिकार (Public Control) होगया। प्राकृतिक शक्तियाँ तथा देन जनता की देनें बनगई और इनपर अधिकार जमाकर बैठने वाले कुछ खुदगर्ज पूंजीवादी तबकों के हाथों से यह छिनकर जनता के हाथों में चले गये।

२. मध्य युगीय काश्तकार जब उद्योगों का युग आया और कस्बों की स्थापना हुई तो वहाँ के नागरिक (Burgher) बनगये। धीरे-धीरे ज्यों ज्यों व्यापार ने उन्नति की और बाजारों का विकास हुआ तो वही नागरिक व्यापार करनेलगे और बाजारों पर अधिकार जमाकर पूंजीपति नागरिक (Bourgeoisie) बनगये। ये पूंजीपति नागरिक सन् १९३९—४५ के युद्ध से पूर्व ही यह अनुभव करनेलगे थे कि पूंजी के आधार पर उद्योगों और व्यापारों की व्यवस्था करना कठिन है। काम करनेवालों की हड़तालों के मारे उनका नाक में दम आ गया था।

३. प्रतियोगिता मूलक अधिक उत्पादन और प्रतियोगितामूलक मजदूरों के शोषण के फल-स्वरूप मजदूरों में विद्रोह की भावना उत्पन्न होचुकी थी

और उन्होंने पूँजीवादियों के विरुद्ध अपने को संगठित करलिया था। हड़तालों पर हड़तालें चालू होचुकी थीं। प्रतियोगितावादी नीति के अन्दर मजदूरों की दशा सुधारने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता था और उनकी दशा बराबर खराब ही होतीजाती थी। ऐसी दशा में यह विचारागया कि जबतक पूंजी पर राष्ट्रीय नियंत्रण न हो तब तक जनता की दशा में सुधार आना असम्भव है।

४. प्रतिक्रियावादी लोग इस मानव के विकास में बाधा उपस्थित कररहे थे और वे राजनीतिक विकासवाद की नीति में अविश्वास रखते थे और केवल सामाजिक बुराईयों के सुधार मात्र का युग समाप्त होचुका था उससे मानव की प्रगति से राजनीति में पड़ने वाली गुत्थी को नहीं खोला जा सकता था। साधारण सामाजिक सुधारों के फल स्वरूप गरीब और अमीर के बीच की खंदक का पट जाना असम्भव ही न था बल्कि इससे यह खंदक और भी गहरी बनती चली जारही थी। ऐसी दशा में केवल साम्यवाद ही एक ऐसी व्यवस्था थी जो जनता के कुछ गिने-चुने पूंजीवादियों द्वारा कियेगये शोषण को रोकसकती थी।

५. एक जमाना गुजरचुका था पूंजीवादी को गरीब का रक्त पीते हुए, मालिक कहलाते हुए और अपनी पूजा कराते हुए। परन्तु इस समय यह पूंजीवादी जनता उसी का रक्त पीकर मोटी होती चली जारही है। ऐसी दशा में इन दोनों के बीच की खाई को पाटने के लिए सुधारवादी दृष्टिकोण के लिए स्थान नहीं था।

६. सन् १९३९ से पूंजीवादी लोग पूंजी को बड़े-बड़े सिंडीकेटों और ट्रस्टों में एकत्रित करके काम करने की प्रवृत्ति से कार्य कररहे थे। इसलिए युद्ध से पूर्व जिन-जिन देशों में भी साम्यवादी सरकारें कायम हुई उन सभी ने अपने देशों की बड़ी-बड़ी उद्योग-संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण करदिया। ऐसी दशा में कहीं-कहीं पर इस व्यवस्था के परिवर्तन में उन उद्योगों को चलाने के खर्चे बढ़ भी गये। उन उद्योगों को नवीन आविष्कारों के आधार पर सुसज्जित करने में भी खर्चा हुआ परन्तु इसका परिणाम अधिकांश में अच्छा ही निकला। रेल, कानें इत्यादि का राष्ट्रीयकरण होने से उनके मजदूरों की दशा में सुधार हुआ और उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक आराम और स्वास्थ्यप्रद व्यवस्था दीजानेलगी। साम्यवादी सरकारों की इस नीति ने उन्हें जनता के निकट पहुँचने में सहयोग दिया।

७. साम्यवादी व्यवस्था समय की आवश्यकता थी। यदि सब नहीं तो बहुत से पूंजीपति लोग इस आवश्कयता को महसूस करनेलगे थे और फिर इस समय की सरकारों के संचालन में भी उन पूंजीपतियों का काफी हाथ था जिनके हाथों से वे साम्यवादी सरकारें सत्ताओं को छीनरही थीं। ऐसी दशा में जिन देशों के अन्दर शासन-सत्ता नियमित और सुदृढ़ थी वहाँ कोई आपत्ति सामने नहीं

आई और सामाजिक ढांचे में क्रांतिकारी तथा विध्वंसात्मक प्रवृति पैदा नहीं हुई। परन्तु जिन देशों की व्यवस्था गड़बड़ थी और जहाँ सरकारों में उन लोगों के हाथ नहीं थे जिन लोगों के हाथों से ये सत्ताएँ छिन रही थीं, वहां यकायक क्रांति का विस्फोट हुआ और शासन-व्यवस्था ही बिगड़गई। वैसे, मोटे तरीके पर यदि क्रमिक विकास की रोशनी में देखाजाय तो साम्यवादी व्यवस्था बनने में बौलशविज्म का प्रादुर्भाव हो, यह हास्यस्पद सा ही लगता है, परन्तु अव्यवस्थित राष्ट्रों में ऐसा हुआ। रूस इसी प्रकार की एक मिसाल है और इसीलिए वहाँ पर इस प्रकार के साधारण परिवर्तन न होकर सामाजिक क्रांति हुई।

८. साम्यवाद के विधान के अंतर्गत इन्सान की वास्तविक स्वतंत्रता का विकास होता है। साम्यवाद के अतिरिक्त अन्य हर प्रकार के प्रतिद्वन्दी शासन-विधान और सामाजिक ढाँचों में असंतोष का मिलना स्वाभाविक है। शक्तिहीनता के कारण यह सम्भव है कि आपसी वैमनस्य कुछ दिन तक उभरकर सामने न आये परन्तु ज्योंही शिक्षा का विकास होगा और दबा हुआ शोषित वर्ग यह समझेगा कि पूंजीवादी वर्ग उसका शोषण कररहा है त्योंही उसके मनमें उसके प्रति द्वेश और जलन की भावना उत्पन्न होजायेगी और दोनों में मित्रतापूर्ण व्यवहार का का चलना असम्भव बन जायेगा। साम्यवादी शासन-व्यवस्था में जीवन की आवश्यकताओं पर सबका समान अधिकार होता है और हर व्यक्ति व्यक्ति के रूप में न सोचकर समाज के रूप में सोचता है। जब किसी व्यक्ति का समाज सुखी और समृद्धशाली होगा तो उसको निज की कोई कठिनाई हो, यह सम्भव नहीं। साम्यवादी शासन-व्यवस्था में पारस्परिक वैमनस्य और द्वेष का लोप होजाता है।

९. साम्यवादी व्यवस्था में पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता नष्ट होजाती है और इसप्रकार प्रतिद्वन्दता में बहुतसा अपव्यय होनेवाला धन बचकर आगामी उत्पादन पर खर्च किया जासकता है। प्रतियोगिता में विज्ञापन पर अधिक खर्च होता है, व्यवस्था पर अधिक खर्च होता है और इसीप्रकार अन्य बहुतसी बातों पर विविध संस्थाओं द्वारा कई-कई बार धन खर्च कियाजाता है। साम्यवादी शासन व्यवस्था में उत्पादन इस्तेमाल के लिए कियाजाता है, बेचने के लिए नहीं। बेचने की प्रवृति समाप्त होजाने पर प्रतिद्वन्दता आप-से-आप जातीरहती है।

१०. साम्यवादी शासन-व्यवस्था व्यक्ति को चारित्रिक विकास में सहायता देती है। मनुष्य की स्वार्थप्रिय मनोवृति का ह्रास होता है और वह एक सीमित दाहिरे में सोचने के स्थान पर व्यापक दाहिरे में सोचनेलगता है। उसका अपना चरित्र भी व्यक्तिगत न होकर साम्यवादी और राष्ट्रीय बनजाता है।

११. जब तक प्रतिद्वन्दी-उत्पादन संस्थाओं में खुली प्रतिद्वन्दिता चलती रही तबतक पूंजीवादी व्यवस्था ने भी अच्छा कार्य किया और उत्पादन के क्षेत्र

में काफी उन्नति हुई परन्तु आज जब बड़े-बड़े उद्योगों का वैज्ञानिक संगठन हो गया है और उन्हें राष्ट्रीय अधिकार में लेलियागया है तो वहाँ पूंजीवादी व्यवस्था की आवश्यकता शेष नहीं रहगई है। आज इन उद्योगों का प्रसार और चलन बहुत व्यवस्थित ढंग से अपने आप होता है और इनपर किसी पूंजीवादी संस्था का नियंत्रण होने की आवश्यकता नहीं।

विपक्ष :

१. साम्यवाद की सफलता के लिए जनता को अपने कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से सजग, सचेत और जागरूक होने की आवश्यकता है। वह कार्य सोचने में जितना सरल, आदर्श और सुन्दर जान पड़ता है करने तथा व्यवहार में लाने में उतना ही कठिन, तीखा और अप्रिय बनजाता है। जनता की प्रवृति पर यदि निष्पक्ष भाव से नजर डाली जाय तो मिलता है कि वह अपने कर्तव्यों की अपेक्षा अधिकारों की ओर अधिक चिंतित रहती है। साम्यवादी दृष्टिकोण को जीवन में व्यवहार-रूप से मानने वाले लोगों की संख्या बहुत कम है और उन कम लोगों के आधार पर साम्यवादी व्यवस्था कहाँ तक सफलतापूर्वक आगे बढ़सकती है उसका अंदाज लगाना कठिन नहीं। आदमी स्वभाव से ही स्वार्थी होता है और उसकी यह स्वार्थप्रियता साम्यवादी के मार्ग में पग-पग पर रुकावट पैदा करेगी।

२. संसार में जितना भी व्यापार आज चलरहा है और जितने भी उद्योगों का संचालन होरहा है सबपर दृष्टि डालकर देखने से पता चलता है कि उनमें सब से बढ़िया तरीके से और लाभ के साथ वही व्यापार और उद्योग चल रहे हैं जिनका संचालन व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा होरहा है। यह सच है कि इन व्यक्तिवादी संस्थाओं के सामने हड़ताल इत्यादि की कठिनाईयाँ आकर उपस्थित होजाती हैं परन्तु तब भी व्यवस्था उन्हीं की ठीक है और उन्हीं का कार्य-संचालन अधिक सुचारू है।

३. व्यापार और उद्योगों के क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यक्तिगत कारोबार के हामियों ने ही सबसे अधिक उन्नति की है। यह उन्हीं लोगों के उद्योगों और उत्साहपूर्ण कार्यों का परिणाम है कि मानव-समाज आगे बढ़कर आज साम्यवाद की समस्या पर विचार करने योग्य बनसका। यदि उन लोगों को इतनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता न दीगईहोती और उनके अन्दर पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की इतनी आग न भरीहोती तो सम्भवतया वे इतने बड़े कार्य कभी भी न कर पाते जितने की आज हमारी नज़रों के सामने हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता ने उन्हें कार्य करने का क्षेत्र दिया और प्रतिद्वन्द्विता ने उन्हें वह शक्ति प्रदान की कि जिसे पाकर वे बड़े-बड़े साहसपूर्ण कार्य सम्पूर्ण करसके।

४. प्रतिद्वन्दिता का अर्थ है कि जो जिस स्थान के लिए अधिक उपयुक्त है वह उसका अधिकारी है,—यह प्रकृति का नियम है और इसका उलंघन कोई भी बनावटी सामाजिक नियम नहीं करसकता। यदि कोई नियम बनाकर कुछ समय के लिए योग्य के स्थान पर अयोग्य को रख दियाजाय तो एक दिन उसे अवश्य वहाँ से हटना होगा। प्रतिद्वन्दिता व्यापार और उसके प्रबन्ध को मजबूत बुनियादों पर कायम रखती है। यदि इसका लोप हो जाय तो व्यापार में तुरन्त बदइन्तजामी आजाय और किसी को अपनी गलती का पता ही न चले। कुछ ही दिनों में व्यापार की बुनियादें हिल उठें और उसका ढाँचा चकनाचूर होजाय।

५. आज की स्थिति में व्यापारिक संस्थाओं को चलाने के लिए दिमागी तौर पर अधिक संचालकों की आवश्यकता है। इन दिमागी कार्यकर्ताओं को वेतन भी जिस्मानी काम करने वालों की अपेक्षा अधिक मिलना चाहिए। इस मान्यता को साम्यवाद भी मानता है और जब इसे मानना है तो उसे प्रतियोगिता को भी मानना होगा। गाय, बैल, भेड़, बकरी सभी को एक लाठी से हाँकना ठीक नहीं।

६. साम्यवाद की बात में भी स्वार्थ की भावना निहित है। छोटी दशा वाला व्यक्ति जब सम्पन्न दशा वाले व्यक्ति को देखता है तो उसके अन्दर उस-जैसा बनने की भावना उत्पन्न होती है। यही भावना प्रतिद्वन्दिता की भावना है। जब कोई व्यक्ति अपने को ऊपर उठाने में असमर्थ होता है तो वह साम्यवाद का नारा लगाता है और फिर अपना दल बनाकर ऊपर वालों को नीचे घसीटने का प्रयास करता है। धीरे-धीरे वह नारा गरीब-से-गरीब जनता तक पहुँचता है और क्राँति की बात सामने आजाती है। यही दशा रूस की हुई। स्थिति साम्यवाद पर जाकर नहीं रुकी और वहां कम्यूनिज्म फैल कर रहा। इस प्रकार यह साम्यवादी, बीच की भावना, निराधार है, इस पर आकर कोई शासन व्यवस्था नहीं ठहर सकती। शासन-व्यवस्था या तो कम्यूनिस्ट सरकार के हाथों में रहेगी या पूँजीवादी सत्ता के हाथों में।

७. साम्यवाद सीधे तौर पर न सही, घुमा फिरा कर वर्ग-संघर्ष की भावना को जन्म देता है। साम्यवाद के अंतर्गत किसी भी व्यवस्थित शासन व्यवस्था का चलना तभी सम्भव हो सकता है जब सरकार बहुत मजबूत हो और उसके अधिकारी अच्छे आचरणों और उद्देश्यों वाले हों तथा उनमें अन्य किसी भी प्रकार की खराबियाँ न हों, जो कि मानव होने के नाते असम्भव है।

८. साम्यवाद आत्मविश्वास और असीम साहस का शत्रु है और इन भावनाओं को मनुष्य में पैदा होने से रोकता है। वह आदमी को शासन का गुलाम बनादेता है और वह इतना शासनव्यवस्था का आश्रित बनादेता है कि उसका आत्मविश्वास बिलकुल जातारहता है। आदमी में आगेबढ़ने की जो एक प्रेरणा

होती है उसे यह उसके अन्दर से समाप्त करदेता है। इस शासन-व्यवस्था में और सुस्त तथा काहिल आदमी में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता; फिर भला क्यों कोई व्यक्ति जीतोड़ कर मेहनत करे और जाँफिशानी से जिन्दगी के खतरों में निर्भीकता के साथ घुसता चलाजाय ? आदमी के अन्दर आगे बढ़कर काम करने की जो प्रवृत्ति होती है उसे यह सर्वमूल नष्ट करदेता है।

९. कोई भी संसार का व्यक्ति चाहे क्यों न हो, वह अपने स्वार्थ के लिए जितना जी तोड़कर कार्य कर सकता है उतना अन्य किसी के लिए नहीं करसकता, समाज के लिए नहीं करसकता। साम्यवादी शासन-व्यवस्था में इस प्रकार स्वार्थ का लोप होजाने के कारण सभी की काम करने की शक्ति तथा इच्छा और आकांक्षा का ह्रास होजाता है। इस प्रकार इस व्यवस्था के कारण राष्ट्र की हानि होती है और व्यर्थ की मानव के प्रति रहमदिली की भावना के विचार से राष्ट्र को यह सहन करनी होती है।

१०. प्रतिद्वन्दिता के दबाव में आकर इन्सान अधिकाधिक कार्य पर जुटता है और उसकी उत्पादन की गति भी तीव्र रहती है, परन्तु जब उसकी प्रतिद्वन्दिता समाप्त होजाती है तो उसकी उत्पादन की गति भी मन्द होजाती है और वह उतना लगकर कार्य-संचालन नहीं करसकता जितना प्रतिद्वन्दिता का ध्यान रखनेपर करसकता है।

११. जब किसी भी सामान के बनानेवाले को उसके बिकने का ध्यान ही नहीं रहेगा तो उसकी क्वालिटी खराब होजायेगी और उसकी बनावट में वह सुन्दरता भी नहीं आसकती जो उस समय आयेगी जब उसे यह ध्यान रहेगा कि यदि चीज खराब हुई तो बाजार में नहीं बिकेगी और उसपर लगी पूँजी नष्ट हो जायेगी।

१२. साम्यवादी व्यवस्था मनुष्य की काम करने की शक्ति और प्रेरणा को कम करदेती है और इसके फल स्वरूप राष्ट्र के उत्पादन में कमी आजाती है। इस कमी का नतीजा यह होता है कि राष्ट्र दिन-प्रति-दिन गरीब होताचलाजाता है और एक दिन वह आताहै कि जब उसका असर उसकी जनता महसूस करती है। साम्यवाद की भावना वास्तव में व्यक्तिवाद के अन्दर कुछ विशेष योग्यता के व्यक्तियों की बढ़ती हुई शक्ति के प्रति प्रतिद्वन्दिता करना है और जब यह प्रति-द्वन्दिता व्यक्तिवादी ढग से करने में असमर्थता होती है तो मूर्ख समुदाय को एकत्रित और उत्तेजित करके कुछ चतुर लोग इसका प्रयोग करते हैं।

१३. जिन-जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हुआ है उनका उत्पादन बढ़ने की अपेक्षा घटा ही है और वहाँ के काम करनेवालों की दशा में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। उन काम करने वालों की योग्यता और मेहनत में भी कमी

आयी है तथा जितनी जिम्मेदारी से वे उस समय कार्य करते थे जब उनपर मालिकों का दबाव था उतनी जिम्मेदारी से वे आज कार्य नहीं कररहे। भारत की रेल व्यवस्था को यदि देखा-जाय तो आज पहले की अपेक्षा अधिक ही हादसे होते हैं और जान-माल की हानि भी पहले से कई गुनी अधिक होगई है।

अस्वस्थ व्यक्ति को बच्चे पैदा करने का अधिकार नहीं

पक्ष :

१. अस्वस्थ से हमारा तात्पर्य व्यक्ति की मानसिक या शारीरिक किसी भी प्रकार की अस्वस्थता से है। आधुनिकतम खोजों के अनुसार डाक्टरों ने माता-पिता से उनके बच्चों तक पहुँचने वाले प्रभावों के विषय में घोषित किया है कि बहुत से ऐसे जहरीले प्रभाव और खराबियाँ हैं कि जो माता-पिता से सीधा अपना असर उनके बच्चों पर डालते हैं। जो कुछ खराबियाँ माता-पिता में पाईजाती हैं वे न्यूनाधिक रूप में उनके बच्चों मे भी वर्तमान रहती हैं। पागल, कमजोर या कुन्द दिमाग वाले, खूँखार, अपराधी प्रकृति वाले, शराबी इत्यादि व्यक्तियों की संतानों पर उनके-अपने स्वभावों और अवगुणों का प्रभाव होना अनिवार्य है। यदि इन लोगों को सरकारी नियम के आधीन विवाह करने की सुविधा से वंचित करके इनके बच्चे होने पर प्रतिबन्ध लगादियाजाय और इनकी सन्तानें होनी बन्द होजायें तो निश्चित् रूप से इन बुराइयों और बीमारियों के प्रसार से आप-से-आप एक बहुत बड़ी कमी आजायेगी और कुछ ही दिनों में मानव-समाज बहुत से रोगों से बिना डाक्टरी सहायता के मुक्त होजायेगा। यह मानव-समाज को रोग से बचाने का एक स्थायी इलाज है और इससे स्थायी तौर पर स्वस्थ होजाने की सम्भावना है।

२. धीरे-धीरे इस प्रतिबन्धन को अन्य रोगों की दिशा में भी प्रयोग किया जासकता है। उदाहरणार्थ बहरे और गूँगे व्यक्तियों को भी विवाह की सुविधा से वंचित करके इन रोगों मे कमी की जासकती है। समाज को स्वस्थ बनाने की दिशा में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सुझाव है जिससे लोगों में फैली बीमारियों का प्रसार घटता है। आदतन नशेबाजों और कुछ निरन्तर बीमारी के शिकारों को तो शादी करने की आज्ञा मिलनी ही नहीं चाहिए। इससे संसार स्वास्थ्य की दिशा में एक कदम बढ़ा सकेगा।

३. हमें संसार में रहने के अधिकारों और बच्चे पैदा करने के अधिकारों

में फर्क करना होगा और दोनों को प्रथक-प्रथक रखकर समझना होगा कि क्या संसार में रहने के हर अधिकारी को बच्चे पैदा करने का अधिकार है ? हर आदमी को बच्चा पैदा करने का अधिकार देना एक बहुत बड़ी नादानी है। सुन्दर सन्तानोत्पादन-विज्ञान (Eugenics) का प्रसार और समझदारी असुन्दर और अयोग्य बच्चों की उत्पत्ति को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। वर्तमान कानून कि 'जीने का अधिकारी जिन्दा रहेगा' अधिकाधिक बच्चों की मृत्यु-संख्या बढ़ाने में सहायक होता है। बच्चे पैदा करने पर नियंत्रण करके इस तरह बच्चों की अधिक मरने की संख्या पर नियंत्रण कियाजासकता है। अस्वस्थ मातापिताओं के बच्चे भी अधिकतर अस्वस्थ तथा असुन्दर होते हैं। प्रकृति के इस अटल सिद्धान्त का उपयोग मानव-समाज को अपना ढाँचा सुधारने की दिशा में करना चाहिए। सन्तान के पैदाहोने और मरजाने को प्रकृति के हाथों में छोड़ कर मनुष्य-समाज को निश्चिन्त नहीं होजाना चाहिए।

४. आज मनुष्य-समाज अपना हर दिशा में परिमार्जन कर रहा है, काट-छाँट कर हर वस्तु को सुन्दर बनाने का प्रयत्न कियाजारहा है। जानवरों तक को स्वस्थ और सुन्दर बनाने का प्रयत्न हर ओर जोर है। फिर क्यों मनुष्य अपने ही समाज के प्रति इस प्रकार अप्रयत्नशील हो और क्यों मनुष्य की सन्तानों को अनियमित रूप से जंगली झाड़ियों के समान पैदा होने, पनपने और चाहे जिस दिशा में कुरूपता और भद्देपन से फैलजाने के लिए छोड़ दिया जाय। मानव-समाज के साथ यह एक बड़ा भारी अन्याय है और अप्रगतिशील कार्य है, जिसे मानव की स्वतंत्रता की आड़ में आँख मींच कर कियाजा रहा है। इस पर सामाजिक और सरकारी, दोनों प्रकार का प्रतिबन्ध होनाचाहिए और मनुष्य समाज को गिरावट, असुन्दरता और अस्वस्थता की ओर बढ़ने से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

५. आज के युग में अनियमित और अनियंत्रित बढ़तीहुई आबादी पर प्रतिबन्ध लगाकर चलने की आवश्यकता है। यदि सुन्दर सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान के नियमों को आधार मानकर विश्व का मानव-समाज उन्नति की ओर अग्रसर होना चाहे तो उसे समाज को भूगौलिक आधार पर बांटना होगा और स्थान-स्थान की परिस्थितियों के अनुसार स्वास्थ-निरीक्षण के केन्द्र स्थापित करनेहोंगे। उन्हीं केन्द्रों-द्वारा सन्तान-उत्पत्ति पर नियंत्रण रखकर 'अयोग्य' संतान की उत्पत्ति को रोकदेना होगा। इस प्रकार मानव-मात्र में फैलाहुआ विष जो पारिवारिक रोग बनकर पैत्रिक व्याधा के रूप में बराबर बढ़ता चलाजाता है, एक दम बढ़ने से रुकजायगा। मानव-समाज एक बार अपने अस्वस्थ्य जीवन से मुक्ति प्राप्त करसकेगा और उसके अन्दर पैदा होने वाली भविष्य की सन्तान स्वभावतः, जन्मसे ही बहुत सी बुराइयों से

मुक्त होती चली जायगी।

६. उक्त बीमारियों से ग्रस्त जिन लोगों के विवाह हो चुके हैं उन्हें उस समय तक के लिए चिकित्सालयों में रखदियाजाना चाहिए जब तक कि वे उन रोगों से मुक्त होकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करनेयोग्य न होजायें। जब तक वे पूर्ण स्वस्थ न होजायें तब तक उन्हें ऐसे स्थानों पर रहने की सुविधा नहीं मिलनी चाहिए जहाँ रहकर वे और सन्तान उत्पन्न करसकें।

७. केवल ग्रेटब्रिटेन में जन्मजात गूँगे तथा बहरों की संख्या २०,००० है। ये सब इस रोग की पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में भगवान् के यहां से विरासत में लेकर आये हैं। वास्तव में सन्तान की उत्पत्ति मनुष्य-जाति को स्वस्थ मनुष्य प्रदान करने के लिए होनी चाहिए। आज जो बच्चों की पैदावार होरही है उसका ध्येय सुन्दर और स्वस्थ बच्चे पैदाकरना बहुत कम रहता है। सेक्स के भूखे प्राणी जब अपने ही स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखसकते तो उनका ध्यान आगामी सन्तान की उन्नति पर भला किस प्रकार जासकता है। इसका उत्तरदायित्व सरकार को अपने हाथों में संभाल कर चलना चाहिए, तभी मानव-समाज और जाति का कल्याण सम्भव है, अन्यथा सदियों से चलीआनेवाली बीमारियों का कभी अन्त नहीं होगा। वे कभी भी दफनाई नहीं जासकेंगी और उनका असर मनुष्य के रक्त में बराबर फैलता और दिन-प्रति-दिन प्रबलतर होताचलाजायेगा। मानवजाति को यदि स्वस्थता की दिशा में कदम उठाना है तो उसे अस्वस्थ माता-पिताओं द्वारा अस्वस्थ बच्चों की पैदावार रोकने का प्रयत्न करनाचाहिए। इस दिशा में सरकार को चाहिए कि उन सब बीमारियों की खोज करे जो माता-पिता से सन्तानों में चलीजाती हैं और फिर उनकी रोक-थाम का पूरा प्रबन्ध करे। इस प्रकार की खराबियों को रोकना केवल मूर्खतापूर्ण कार्य ही नहीं है वरन् जहालत और निर्दयता है। इससे अधिक निन्दनीय और अशोभनीय कार्य और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। इस समस्या के सामने मानव-जाति के गिरते हुए स्वास्थ्य का प्रश्न है जिसके ऊपर हमारी सभ्यता, हमारा विज्ञान, हमारी मानवता सब आधारित हैं।

८. मनुष्य-जाति की बढ़तीहुई संख्या को देखकर शायद ही किसी योग्य मस्तिष्क को शांति मिलसके। मानव-जाति को हम स्वस्थ तथा सुन्दर रूप में फलता-फूलता देखना चाहते हैं। जैसा कि हमने ऊपर भी कहा, जंगली झाड़ियों के समान मनुष्यों का पैदाहोना और संसार में छाजाना कहाँ का महत्त्वपूर्ण कार्य है? हमें इसमें कोई भी गौरव की बात दिखलाई नहीं देती। गौरव तो उस बात में है कि हमारी जाति संसार में स्वास्थ्य, मस्तिष्क और हर प्रकार की सम्पन्नता से पूर्ण हो। यह सब होने के लिए इसका स्वस्थ होना नितान्त आवश्यक

है। मनुष्य के स्वास्थ पर उसके जीवन की खुशहाली निर्भर करती है। यदि वह शरीर से स्वस्थ नहीं है तो उसकी लाखों और करोड़ों रुपये की सम्पत्ति उसके लिए व्यर्थ है। वह उसका उपभोग नहीं कर सकता। संसार के हर प्रकार के सुख और आनन्द का भोग करने के लिए सुन्दर स्वास्थ्य का होना नितान्त आवश्यक है। इस दिशा में मानव-जाति को बढ़ने के लिए पहले चाहिए कि वह अपने अन्दर से उन रोगों को निकाल कर फेंक दे या भविष्य में आने से रोकदे जो उसके स्वास्थ्य में बाधक हैं। पैत्रिक बीमारियों के लिए हर प्रकार की रोक-थाम करनी आवश्यक है। ऐसा करने से मानव जाति अपने अन्दर फैलेहुए जहर को इसी पीढ़ी में समाप्त कर सकती है और नई पीढ़ी को एक दम स्वस्थ, सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट बना सकती है।

९. सुन्दर सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान के ज्ञान का विकास होना आवश्यक है और कम से-कम हर शादी शुदा व्यक्ति को शादी करने से पूर्व इसका ज्ञान कर लेना नितान्त आवश्यक है। यदि उसने यह ज्ञान प्राप्त नहीं किया तो उसकी सन्तान सुन्दर और स्वस्थ नहीं बन सकेगी। अस्वस्थ व्यक्तियों को संसार में रहने का उतना ही अधिकार है जितना स्वस्थ लोगों को, और उनका इलाज करने का भी पूर्ण प्रयास करना चाहिए, परन्तु उनके द्वारा आगे सन्तान-उत्पत्ति न हो, इसकी रोक-थाम होनी जरूरी है।

१०. इस दिशा में भारत की वर्तमान स्थिति के अनुसार यदि वर्तमान विवाह-प्रणालियों को एक दम छिन्न-भिन्न करके लड़कियों को अपने वर चुनने का अधिकार देदियाजाय और कोई आर्थिक रुकावट उनके बीच में न आये तो समस्या का बहुत बड़ा हल बिना सरकारी कानूनों की सहायता के निकलसकता है। आज बहुत सी लड़कियों के विवाह अस्वस्थ वरों के साथ केवल आर्थिक-दृष्टिकोण से करदियेजाते हैं और बहुत से स्वस्थ लड़के केवल इसलिए कुँवारे रहजाते हैं कि उनकी आर्थिक दशा खराब होती है,—यह मनुष्य जाति के स्वस्थ विकास में एक बहुत बड़ी रुकावट है। भारतीय समाज और भारतीय सरकार को इस दिशा में क़दम उठाने की आवश्यकता है। इस दिशा में ध्यान न देने से अस्वस्थ आदमियों की संख्या बढ़ेगी और इस प्रकार देश की प्रगति में बाधा उपस्थित होगी।

विपक्ष :

१. पैत्रिक रूप में कोई रोग बच्चों में आजाते हैं इस दिशा में अभी तक खोजपूर्ण नहीं होपाई है। बहुत से गुप्त रोगधारी माता-पिताओं के कभी-कभी बहुत ही स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट सन्तान देखने को मिलजाती हैं। बहुत से पतले दुबले बच्चे बहुत स्वस्थ तथा मजबूत और ताक़तवर होते हैं। इसलिए इस

प्रकार के व्यक्तियों पर बच्चे न पैदा करने की पाबन्दी लगानेवाली समस्या पर अभी निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहाजासकता। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि किसी बीमार, बहरे, गूंगे या अन्य रोगधारी का बच्चा भी उसी रोग से अवश्य ग्रस्त हो।

२. इस प्रकार का कोई भी प्रस्ताव मानव-जाति की स्वतंत्रता में बाधक सिद्ध होगा और इससे मनुष्य-जाति के स्वतंत्र विकास में बाधा पड़ेगी। इससे मनुष्य जाति के हित की अपेक्षा अहित ही अधिक होने की सम्भावना है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में भी पराधीन बन जायेगा और उसपर जो मानसिक असर होगा उससे उसका विकास रुक जायगा। इस प्रकार का कोई भी सरकारी प्रतिबन्ध कभी भी स्वतंत्र जनता को मान्य नहीं होसकता और इसे मानव-समाज अपने अधिकारों के प्रति एक महान् अत्याचार के रूप में ग्रहण करेगा।

३. इससे किसी भी व्यक्ति के जीवन का कोई छुपाहुआ ऐसा पहलू न रह जायगा जिसे वह अपनी भावनाओं के कारण अन्य पर उन्मुक्त नहीं करना चाहता। हर व्यक्ति का जीवन जानवरों की भांति नियंत्रित हो जायगा। वह अपनी प्रेमिका से किसी एकान्त स्थान में मिलने की इच्छा रखने पर भी मिल न सकेगा और इसका बहुत बुरा प्रभाव उसके मस्तिष्क पर पड़ेगा। ये बातें जानवरों के विषय में सम्भव होसकती हैं क्योंकि उनके पास न तो विचार ही होता है और न भावना ही उतनी कोमल कि जो इस प्रकार की बातों से ठेस खाकर चकनाचूर होजाय। इस प्रकार के प्रतिबन्ध से मनुष्य पागल होसकता है, मरसकता है। मनुष्य पर ऐसे प्रतिबन्धों का लगाना मनुष्यता और उसके स्वाभाविक विकास के साथ खिलवाड़ करना है, उसका मज़ाक उड़ाना है।

४. मनुष्यों की सन्तान-उत्पत्ति को उन उसूलों पर पर नहीं चलाया जा सकता जिन उसूलों से घोड़ियों, गायों या अन्य जानवरों को चलाया जाता है। मनुष्य की सन्तान-उत्पत्ति की समस्याओं के अन्दर जितना भी घुस कर उन्हें देखा और परखा जायेगा वे उतनी ही जटिल और उलझीहुई प्रतीत होंगी। इस दिशा में सामाजिक नियम शायद ही कुछ दूर तक सुधारात्मक दृष्टिकोण से साथ दे सकें, पर राजनैतिक दृष्टिकोण तो एक दम दासता का वातावरण पैदा कर देगा और इस प्रकार सम्भव है कि आज जो दशा आर्थिक क्षेत्र में दिखलाई देरही है वही या उससे भी कहीं अधिक चारित्रिक क्षेत्र में दिखलाई देनेलगे। वह मानव-समाज के घोर पतन का काल होगा जब लोगों की अस्मत भी सरकार के हाथों में चली जायगी और उसपर भी क़ानूनी नियंत्रण होनेलगेगा। हमारेलिए तो उसकी कल्पना करना भी एक दुस्साध्य कार्य है। कहीं ऐसा न हो कि मानव-जाति स्वास्थ्य

की खोज में बहक कर पतन की उस खाई में छलांग लगाने लगे जहाँ उसमें और जानवरों की जमात में कोई फ़र्क ही न रहजाय।

५. किसी भी सुधार की बात को कहने के लिए उसके विपक्ष की अंत तक को बुरी बातों को उठाकर सामने रखदियाजाता है। परन्तु यह नहीं सोचा जाता कि उसका परिणाम क्या-क्या होसकता है? यह समाज का ढांचा बदलने वाली बात है, हर व्यक्ति के व्यक्तिगत निरीक्षण की बात है, कोई साधारण कार्य नहीं। इसके करने के लिए कितनी बड़ी मैशीनरी की आवश्यकता पड़ेगी, यह भी शायद सुधारवादी दृष्टिकोणधारियों ने नहीं सोचा। पहले तो डाक्टरों की ही एक फौज चाहिए जो हर व्यक्ति को स्वास्थ्य सर्टिफिकेट प्रदान करे। फिर यह बात सोचने की है कि कुछ इने-गिने रोगों को दूर करने के लिए मनुष्य-जीवन को इतना बाँध देना कहाँ की दानिशमंदी है। ये सभी सुझाव मूर्खतापूर्ण हैं। बीमारियों के इलाजों के लिए नवीनतम खोजे जारी हैं और ऊपर गिनाये गये कोई भी रोग ऐसे नहीं हैं कि जिनका इलाज असम्भव हो। धीरे-धीरे ये बीमारियाँ भूमंडल से नई खोजों और इलाजों द्वारा आप चली जायेंगी। इनके लिए इतनी परेशानी की आवश्यकता नहीं और न ही ऐसे नियम बनाने की ही आवश्यकता है कि जिनके आधार पर मनुष्य-जीवन को नीरसता प्रदान करदीजाय और संसार के बहुत से विवाहित जोड़ों को एक दूसरे से पृथक करके दोनों, स्त्री पुरुष, का जीवन बर्बाद कर-दियाजाय।

६. विज्ञान ने अभी तक इस विषय में अपना कोई निर्णयात्मक मत प्रकट नहीं किया कि बहरे और गूंगे होने के रोग पैत्रिक रूप से आगे बच्चों में बढ़जाते हैं। यदि यह सिद्ध भी हो जाय तब भी इन रोगियों को सन्तान-उत्पत्ति से रोकने का कोई कारण नहीं दिखलाई देता क्योंकि, इन रोगों के इलाज बराबर जारी हैं और इनके ठीक होनेकी बराबर सम्भावना है। फिर ये कुछ ऐसे रोग नहीं हैं जो छूत के रोग हों और एक से दूसरे पर फैल सकें। दैनिक जीवन में गूंगे और बहरे लोगों को बड़े-बड़े काम करते देखा गया है। उनके काम में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती और बहुत से ऐसे काम भी हैं कि जिनमें बहुत सुनने, बोलने की भी आवश्यकता नहीं होती। ये लोग समाज के कोई निरर्थक अंग नहीं हैं और इन्हें मानव-समाज के किसी भी अधिकार से वंचित करदेना इनपर अन्याय करना होगा।

७. कोई भी राष्ट्र जिसकी सन्तान-उत्पत्ति किसी निश्चित संख्या से नीचे चलने पर चिंताजनक चीज़ बन जाती है। यह जाति के ह्रास की दिशा है, जिसमें केवल योग्यता के आधार पर देश की शक्ति और संरक्षण को क़ायम नहीं रखा जा सकता। हमारे विपक्षियों ने मानव की उत्पत्ति में जो बाधाएँ डालने के सुझाव दिये

हैं उनके द्वारा मानव-समाज के शक्तिहीन होने की सम्भावना है।

८. सुन्दर सन्तानोत्पत्ति विज्ञान की खराबी के कई पहलू सामने आते हैं। सबसे पहला पहलू जो सामने आता है वह यह है कि इसी विज्ञान ने जाति गत भेदों को बढ़ावा दिया है। काले, गोरे, बादामी, सुन्दर, असुन्दर ये सभी भावनाएँ मानवीय क्षेत्र में नहीं आनी चाहिएँ। मानव के गुणों में उसकी शारीरिक सुन्दरता को महत्त्व देना जड़ता को प्रश्रय देना है। एक कुरूप परन्तु योग्य और विद्वान व्यक्ति अधिक मान का पात्र है बनिस्बत एक सुन्दर गोरे, सुडौल मूर्ख तथा जाहिल आदमी के। इसलिए जहाँतक आदमी की परख का सम्बन्ध है वहाँतक गोरा, काला, सुन्दर, असुन्दर यह सब एक समान हैं।

दूसरा प्रधान पहलू इस विज्ञान का यह है कि स्त्री और पुरुष का पारस्परिक प्रेम इस विज्ञान के आधार पर कोई महत्त्व नहीं रखता। हमारे विचार से सेक्स दाम्पत्य प्रेम से प्रभावित होकर चलता है। परन्तु इस विज्ञान के आधार पर, जहाँ सुन्दर सन्तान उत्पत्ति ही लक्ष्य है वहां स्त्री-पुरुष के प्रेम का प्रश्न ही सामने नहीं आता। वहाँ तो सुन्दर स्त्री और सुन्दर पुरुष का मिलन होना आवश्यक बनजाता है। यह समाज के वर्त्तमान नियमों पर विद्रोहात्मक आघात है जिसमें मानवीय भावनाओं को उठाकर एकदम बालाएताक रख देना होता है और पुरानी मान्यताएँ एक सुहागिन नारी के हाथों की नाजुक चूड़ियों के समान टूट कर छन्न-छन्न करती हुई भूमि पर बिखर जाती हैं। अब वह पास के समाज की दृष्टि में एक विधवा या सदा सुहागिन नारीके समान है और सुन्दर सन्तान उत्पन्नकरना ही उसके जीवन का मक़सद है। कह नहीं सकते कहाँतक वह इस मक़सद को लेकर समाज का उपकार करसकेगी या मानवता के सुन्दर रूप को नवयुग में फलने-फूलने के केलिए अग्रसर करसकेगी। इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करना सांचे से सुन्दर वस्तुओं को निकालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होसकता।

९. जहां हम पैत्रिक रूप में प्राप्त बीमारियों पर दृष्टि डालते हैं वहां हमें मनुष्य के मानसिक विकारों की ओरभी ध्यान में रखनाहोगा। इनके साथ-ही साथ बहुत से व्यक्तिगत गुणों की अवहेलना करके भी हम नहीं चल सकते। बहुत सी साधारण बीमारियों के डर से उन गुणों की अंत्येष्टिक क्रिया करदेना भी बुद्धिमानी की बात नहीं है।

१०. जो व्यक्ति विशेष योग्यता के कहे गये हैं, उन्हें कभी-कभी पागल भी मानलिया गया है। वास्तव में पागल और विशेष योग्यता वाले व्यक्ति की दशाओं में थोड़ा ही अन्तर है। हमें भय है कि यदि हमारे विपक्षियों के सुझावों को मान कर किसी देश ने इस प्रकार का कोई कानून बनादिया तो सम्भव है कि उस

देश में विशेष योग्यता का व्यक्ति रहे ही नहीं और जो रहे उसे पागल करार दे दिया जाय।

११. मानव की स्वस्थता बहुत कुछ अंशों में मानसिक तथा शारीरिक उसके इर्द-गिर्द के वातावरण और परिस्थितियों पर आधारित रहती है। पैत्रिक प्रभाव का उसपर असर बहुत कम होता है और जो होता भी है वह उसके आस पास की दुनियाँ यदि चाहे तो उसे बहुतआसानी से दूर करसकती है। ऐसी दशा में पैत्रिक रोगों का भय छोड़कर आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियाँ ही ठीक करने का प्रयास करना चाहिए। अन्य सब सुविधाएँ प्राप्त होने पर स्वास्थ्य स्वयं ठीक होने लगते है।

खोज का सम्पूर्ण कार्य सरकाराधीन होना चाहिए

पक्ष :

१. खोजपूर्ण कार्य अनेकों दिशाओं में होते हैं। उनमें कुछ तो ऐसे होते हैं कि जिनकी पूर्ति के पश्चात् कुछ आर्थिक लाभ की सम्भावना रहती है और कुछ ऐसे होते हैं कि जो केवल जिज्ञासा की पूर्ति और ज्ञान-वृद्धि के लिए ही सम्पूर्ण कियेजाते हैं। इन दो प्रकार के खोजपूर्ण कार्यों में प्रथम श्रेणी के कार्य तो इस प्रकार के हैं कि जिनकी खोज में व्यय होनेवाले धन का प्रबन्ध कोई धनवान व्यक्ति या संस्था भी करसकती है परन्तु दूसरी श्रेणी के खोजपूर्ण कार्य पर धन व्यय करने से कोई लाभ न होगा। यहाँ यह भी सम्भव है कि मानव-समाज के हित के विचार से पहली श्रेणी की खोजों की अपेक्षा दूसरी श्रेणी की खोज ही अधिक लाभदायक सिद्ध हों, परन्तु समाज के हित के लिए इतना साहस कौन कर सकेगा ?

उक्त दिशा में सरकार को ही प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। सरकार की अपनी प्रयोग-शालाएँ होनी चाहिएँ और उन प्रयोगशालाओं में ऐसे खोज-निमग्न विद्वानों को खोज करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। सरकार के पास जनता का रुपया होता है, वह उसेजनता जनार्दन के ही लाभार्थ व्यय भी कर सकती है यदि सरकार इस प्रकार की व्यवस्था न करेगी तो निश्चित् रूप से विनास्वार्थ भाव से केवल विज्ञान के लिए अपना जीवन समर्पित करनेवाले विद्वानों को खोज करने का अवसर ही न मिल सकेगा। और इस प्रकार संसार की सम्भावित वैज्ञानिक उन्नति रुकजायगी। सरकार को चाहिए कि इस प्रकार का खोज-कार्य करने वाले विद्वानों को उनकी सहायता के लिए वजीफे (Scholarship) प्रदान करे और उन्हें

उनके कार्य की उन्नति के लिए हर प्रकार का सही अवसर प्रदान करे।

२. केवल वजीफे भर ऐसे वैज्ञानिकों को देकर सरकार का उत्तरदायित्व पूर्ण नहीं होजाता। क्योंकि इस प्रकार के वजीफे खोज का कार्य सम्पूर्ण करने में काफी हद तक सहायक सिद्ध नहीं होते और इन वजीफों के द्वारा वैज्ञानिक अपनी पूरी जरूरियतों को हासिल नहीं कर सकते। साधनों की कमी में वैज्ञानिक की खोज आगे नहीं बढ़ पाती और वह जिस लक्ष पर पहुँचना चाहता है वह उसकी तह तक पहुँचने से दूर बना रहता है। इससे वैज्ञानिक को अपने लक्ष्य तक पहुँचने में देर लगती है और कभी-कभी साधनों की कमी के कारण नतीजे गलत भी निकल आते हैं जिनसे हताश होकर उसका दिल टूट जाता है और उसकी खोज अधूरी ही रहजाती है। सरकार का काफी सहयोग ऐसी दशा में न मिलने से विज्ञान को एक बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है जिससे मानव-मात्र का नुकसान होता है और तरक्की की दुनियाँ एक कदम पीछे रह जाती है।

३. सरकार को इस प्रकार के कामों के लिए कुछ नियुक्तियाँ करनी चाहिएँ और ये नौकरियाँ काफी आकर्षक होनी चाहिएं जिससे कि काबिल से काबिल लोग उधर आकर्षित होकर पहुँच जायें। उनकी तनख्वायें भी काफी अच्छी होनी चाहिएँ और साथ ही उनके मान-मर्यादा का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। उन्हें हर प्रकार की सुविधाएँ रहनी चाहिएँ। कुछ संस्थाएं बड़े पैमाने पर बनाई जानी चाहिएँ जिनके भी अध्यक्ष लोगों को बहुत छाँट के पश्चात् नियुक्त करना चाहिए।

इन संस्थाओं द्वारा न केवल वहाँ के विशेषज्ञ ही अपने खोजपूर्ण कार्य कर सकेंगे वरन् उनके संरक्षण में और बहुत से विद्यार्थी भी काम सीखेंगे और इस प्रकार विज्ञान की दिशा में पर्याप्त उन्नति होगी। इन संस्थाओं में यदि योग्य अध्यक्ष होंगे तो उनका विद्यार्थियों पर प्रभाव भी अच्छा ही होगा। अच्छा प्रभाव होने से और अच्छे अध्यक्ष के सामने से जो विद्यार्थी निकलेंगे उनका शिक्षण भी अच्छा ही होगा, वे अच्छी उन्नति कर सकेंगे, अच्छी तरक्की कर सकेंगे। इस प्रकार इन संस्थाओं में वैज्ञानिकों तथा विद्यार्थियों का एक ऐसा मेल (Combination) बनेगा कि जिसके द्वारा विज्ञान की उन्नति में सहयोग मिलसकेगा। यह कार्य सरकार द्वारा ही सम्भव है। वैज्ञानिकों को गरीब विद्यार्थियों जैसे वजीफे बाँधने से राष्ट्र के इस महान् कार्य की पूर्ति कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। वरन् एक स्वाभिमानी वैज्ञानिक इसे अपना अपमान ही समझेगा। वह कभी भी इस प्रकार का वजीफ़ा लेने के लिए उद्यत नहीं होगा और फल यह होगा कि विज्ञान की उन्नति रुकजायगी तथा राष्ट्र उन्नति नहीं करसकेगा।

४. आज के युग में इस दिशा में संसार के सभी देश प्रयत्नशील हैं।

प्राय: सभी देशों की सरकारें इस दिशा में अपना पूर्ण सहयोग अपने देश के प्रधान वैज्ञानिकों को प्रदान कर रही हैं। देश का औद्योगिक विकास इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योग दिये बिना कभी सम्पन्न नहीं हो सकता। देश की उन्नति के लिए इस दिशा में उन्नति होना आज के औद्योगिक युग में नितान्त अवश्यक है। आज उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में जो हम लोग पिछड़ते हैं उसका मूल कारण यही है कि हमें पुराने जमाने के तरीके अपनाने पड़ते हैं और हम नवीनतम आविष्कारों की प्रतिद्वन्द्विता में खड़े नहीं होपाते। यदि हमारे देश का भी खोज-विभाग उतना ही सम्पन्न और उन्नत हो जितना कि अन्य देशों का, तो हम लोग भी संसार के किसी देश से किसी क्षेत्र में पीछे न रहें। आज खोज की हर दिशा में आवश्यकता है और आवश्यकता है कि सरकार उद्योग, खेती, दस्तकारी तथा व्यापार के हर क्षेत्र में अपने खोज विभाग कायम करके उनके विशेषज्ञों को उनमें स्थान दे और और इस प्रकार देश को उन्नत बनाने का मार्ग प्रशस्त करे। ऐसा किये बिना देश कभी भी उन्नति नहीं कर सकता और सर्वदा अन्य देशों का पिछलगा ही बना रहेगा। यदि हमारे देश के खोज विभाग उन्नत दशा को प्राप्त हो जायेंगे और उनमें काम करने वाले विशेषज्ञों को सरकारी सहयोग तथा मान प्राप्त होगा तो वे विभाग निश्चित् रूप से उन्नति करेंगे।

हमारा देश सदियों के बाद ग़ुलामी की जंजीरें काट कर मुक्त हुआ है। हमारे देश की हर दिशा पिछड़ी हुई है। ऐसी दशा में हर दिशा ही खोजपूर्ण कार्य के लिए पूर्ण सहयोग चाहती है। इस समय इस दिशा में सरकार जितना भी धन व्यय करेगी वह बहुत लाभकर सिद्ध होगा।

५. खोज के केन्द्रों का कुछ व्यापारी या औद्योगिक संस्थाओं या व्यक्तियों के हाथ में चला जाना खोज-कार्य के लिए हानिकारक है ये संस्थाएं या ये व्यक्ति उस खोज-कार्य को केवल धनोपार्जन के लिए ही करते हैं। जहाँ उनकी स्वार्थ-सिद्ध पूर्ण होजाती है उससे आगे वे रुपया लगाना व्यर्थ समझते हैं। इसका मतलब यह होता है कि खोज का कर्य अधूरा रह जाता है और उसे जहाँ तक पहुँचना चाहिए था वह वहाँ तक नहीं पहुँच पाता। सरकार को इस दिशा में हस्तक्षेप करना चाहिए या तो उन खोज-संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण का देनाचाहिए या स्वयं नयी संस्थाओं का निर्माण करना चाहिए। यदि नवीनतम साधनों का आविष्कार हो चुका है तो नई संस्थाओं को बनाना अधिक श्रेयकर होगा। इस दिशा में सरकारों को सोच समझकर कदम उठाना चाहिए। व्यापारी लोगों की विज्ञान-संस्थाओं की पोल से परिचित न होकर कभी-कभी नई सरकारों को धोखा भी खाना पड़ता है। सरकारी कर्मचारियों को इस दिशा में काफी ईमानदारी से कार्य करने की आवश्यकता है नहीं तो राष्ट्र का लाभ होने की अपेक्षा उल्टी हानि

ही सामने आयेगी और राष्ट्रीयकरण से पूर्व औद्योगित संस्थाओं द्वारा जो कुछ थोड़ाबहुत कार्य होभी रहा था वह भी रुक जायगा ।

६. आज के युग में खोज-कार्य करना खाला जी का घर नहीं है। उसके लिए बहुत बड़ी धन-राशि की आवश्यकता है। सरकारी संस्थाओं द्वारा ही वे सुविधाएँ पैदा कीजासकती हैं कि जिनके आधार पर खोज-कार्य आगे बढ़सके। छोटे-छोटे उद्योगपति तो आज विशेषज्ञों को अपने यहाँ रख भी नहीं पाते हैं और साधनों की भी उनके यहाँ कमी ही रहती है। बड़े बड़े उद्योगपति कुछ ऐसे अवश्य हैं कि जो साधन उपलब्ध कर सकते हैं। उन उद्योगपतियों की स्थिति में और सरकार की स्थिति में केवल इतना ही अन्तर है कि सरकार निस्वार्थ-भाव से जनता की भलाई के लिए भी धन खर्च कर सकती है, यह जानते हुए भी कि उससे कोई लाभ होजानेवाला नहीं है और वह उद्योगपति नहीं करसकता। उद्योगपति कोई भी कार्य क्यों न करे, उद्योग उसका प्रधान लक्ष्य रहता है परन्तु सरकार का लक्ष्य विज्ञान की उन्नति और अपने राष्ट्र की उन्नति होता है। इसलिए विज्ञान को यदि उन्नत करना है तो उसे सरकार को अपने ही हाथों में ले लेना चाहिए।

७. जैसा कि हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं आज खोज के अनेकों विषय हैं और उसकी अनेकों दिशाएँ हैं। उन सभी दिशाओं में खोज करना व्यक्तिगत साधन के बसकी बात नहीं और न ही व्यक्तिगत संस्थाएँ उन्हें संभाल सकती हैं। सरकार-द्वारा स्थापित खोज-केन्द्र ही अपना सम्पर्क संसार के अन्य उसी प्रकार के केन्द्रों से स्थापित कर सकते हैं। इनमें आपस में छुपाव की भावना नहीं रहती। इसके ठीक विपरीत जो व्यापारी या उद्योग-सम्बन्धी वर्ग है और खोजपूर्ण कररहा है, उसका सम्पर्क सरकारी केन्द्रों से तो क्या अपने जैसे अन्य व्यापारीकेन्द्रों से भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अपने हर राज को छिपाकर चलने का प्रयास करेगा। उसकी खोज का फल जब तक गुप्त रहेगा तभी तक वह उसका लाभ उठासकेगा। ज्यों ही उसका राज खुला कि अन्य व्यापारी भी उसकी चीज को थोड़े फेरबदल के साथ बनाना प्रारम्भ कर देंगे और उसका मुनाफा जातारहेगा। इसलिए वह अपना राज किसी को नहीं खोलेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत क्षेत्रों में कियागया खोज-कार्य जन-हित का कार्य नहीं होसकता और इसमे राष्ट्र को अधिक लाभ की सम्भावना नहीं रहती। सरकार को चाहिए कि वह इस महत्त्वपूर्ण कार्य को अपने हाथों में ले, अपने देश के विद्वान् विशेषज्ञों को सम्मानित करे, खोज-केन्द्र स्थापित करे और राष्ट्र-हित की दिशा में आगे कदम बढ़ाये।

सिनेमा का प्रभाव राष्ट्र पर बुरा पड़ता है

पक्ष :

१. सिनेमा के आविष्कार से पूर्व बच्चों के नाटक इत्यादि में जाने पर नियंत्रण रहता था। माता-पिता को यह पता रहता था कि उनके बच्चे यदि नाटक में जा भी रहे हैं तो वह किस किस्म का नाटक है। यदि नाटक बच्चों के अधकच्चे मस्तिष्क से मेल न खानेवाला होता था तो वे उन्हें नहीं जाने देते। नाटक का निश्चित् समय होता था और उसकी सुविधाएँ भी नगर में कम होती थीं। सिनेमा की व्यवस्था ने इस बन्धन को मुक्त करदिया। शहरों में सिनेमा के चार-चार शो होते हैं और बच्चे किसी भी बहाने घर से जाकर सिनेमा देखकर लौट सकते हैं। माता-पिता को पता ही नहीं चलसकता कि वे कब और क्या सिनेमा देखकरआये हैं। सिनेमा में बहुत से ऐसे खेल आते हैं जिनको देखना बच्चों के लिए मुज़िर है परन्तु वे देखलेते हैं और उनका बुरा प्रभाव उनकी आदतों पर, उनके चरित्र पर पड़ता है। माता-पिता यदि उन्हें उसे प्रभाव से बचाना भी चाहें तो नहीं बचा सकते। नतीजा खराब ही निकलता है और सिनेमा से इस प्रकार बच्चों का चरित्र दिन-प्रति-दिन गिरता जारहा है और राष्ट्र पतनोन्मुख है।

२. सिनेमा की लोकप्रियता विशेष रूप से प्रेम-गाथाओं की उत्तेजक तस्वीरों से बढ़ती है। जहाँ किसी सिनेमा-गृह पर कोई प्यार और मोहब्बत का खेल लगा कि देखने वालों की भीड़ उधर टूटी। इसी प्रकार उत्तेजक और प्रेम-प्रधान साहित्य बच्चों के लिए हानिकारक है और उन्हें गलत रास्ते पर लेजानेवाला होता है। साहित्य से नाटक का प्रभाव कही अधिक होता है, क्योंकि नाटक में साहित्य खुलकर मंच पर अपने पूर्ण आकर्षण के साथ प्रदर्शित होता है। जब तक कि बच्चे वास्तविक जीवन में पदार्पण न करें और उन्हें यह पता न चल जाय कि व्यक्ति का जीवन किन-किन धाराओं में से होकर प्रवाहित होता है और उसकी क्या-क्या स्थितियाँ होती हैं, उनके सामने प्यार और मोहब्बत के अफसाने और उनका नग्न प्रदर्शन आजाय, तो भला वह उन बच्चों का क्या कुछ नही बिगाड़ सकता ? बच्चों के जीवनमें वह जहर का काम करता है। जीवन की वे परिस्थितियां और घटनाएँ उनके सामने आजाती हैं जो जीवन के इस काल में नहीं चाहिये और उनके भोले-भाले मस्तिष्क की साफ स्लेट पर ऐसी विकृत रेखाएँ खिंचजाती हैं कि कभी-कभी जीवन भर उनका मिटना कठिन होजाता है और वह प्रभाव इतना गलत होता है कि जिससे जीवन का आनन्द प्राप्त न होकर उल्टी परेशानी ही हासिल होती है। इस प्रकार की उत्तेजक कहानियाँ बच्चों के सामने लाकर सिनेमा नित्यप्रति उनके चरित्रों को गिरावट की ओर लेजारहा है। इसपर

सरकारी प्रतिबन्ध लगने की आवश्यकता है जिससे सिनेमा-घरों पर बच्चों को उन तसवीरों के टिकट न दियेजासकें जिन्हें देखना उनके लिए मुज़िर है। कुछ देशों ने ऐसा किया भी हो। वहां भारत की तरह नहीं कि मां-बाप सिनेमा देखने जायें तो उनके बच्चे भी साथ हो लें। यहां मां बाप स्वयँ इस बड़ी हानि से अपरिचित हैं। वे स्वयं भी नहीं समझने की जिन फिल्मों को वे स्वयं देखकर मज़ा ले रहे हैं वे उनके बच्चों के जीवन में किस प्रकार की बेचैनी पैदा करती जा रही हैं। इस दिशा में ध्यान देने की आवश्यकता है।

३. फ़िल्मों में नकली किस्म की चीजें सामने आती हैं जिनसे असली का आभास करलेना होता है। यह अभास बड़े आदमियों के लिए तो सम्भव हो सकता है परन्तु बच्चों के लिए वह कठिन समस्या है। यह सच है कि अधिकांश तसवीरों में जिन समस्याओं या कहानियों को लियाजाता है उनमें अन्त में जाकर आदर्शवादी दृष्टिकोण ही फिल्म-निर्माता बनाता है परन्तु कुछ यथार्थवादी तसवीरें भी सिनेमा में आती हैं। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण से नसीहत निकालना हर व्यक्ति का काम नहीं और फिर विशेष रूप से बच्चे तो उससे कोई नसीहत निकाल ही नहीं सकते। बच्चे की हमेशा नक्ल करने की ओर प्रवृत्ति रहती है। वे जो कुछ भी देखते हैं जीवन में उसकी नक्ल करने की कोशिश करते हैं, और जो कुछ वे नक्ल करते हैं उसका उनके जीवन पर प्रभाव पड़ता है। इस लिए इस दिशा में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है कि बच्चे क्या देखते हैं। सिनेमा की वर्तमान सुविधा ने इस सतर्कता का बन्धन खोल दिया है और बच्चों के वालदेन चाहे जितने भी सतर्क क्यों न रहें, बच्चों के सिनेमा न जाने पर नजर नहीं रख सकते। इसका प्रभाव दिन-प्रति-दिन राष्ट्र पर खराब पड़रहा है और सिनेमा राष्ट्र की गिरावट का साधन बनता जारहा है।

४. फ़िल्मों का झुकाव, हमने ऊपर बतलाया, जिस प्रकार प्रेम-गाथाओं की ओर है उसी प्रकार इसकी दूसरी दिशा अपराधों (crimes) की ओर है। बहुत सी ऐसी कहानियां सिनेमा में आती हैं जिनमें अपराधियों के चरित्र अंकित कियेजाते हैं। उनका सुधारवादी दृष्टिकोण रहने पर भी बच्चे उसे नहीं समझपाते और उनपर उसका गलत प्रभाव पड़ता है। अभी जैसा बतलाया, बच्चे उसकी भी नक्ल ही करने का प्रयास करते हैं और कभी-कभी इस नक्ल-नक्ल में ही उनकी प्रवृत्ति भी उसी प्रकार की बनजाती है। उस प्रवृत्ति का सम्बन्ध उनके चरित्र से बहुत गहरा होता है और इस प्रकार वह खराबी उनके जीवन में प्रवेश करजाती है। सिनेमा का यह प्रभाव हमारी राष्ट्रीय संतति के लिए महान् घातक सिद्ध होगा। इसके खिलाफ समाज को विद्रोह करना चाहिए और शासन को प्रतिबन्ध लगाने चाहिएँ कि जिससे ऐसी फिल्मों का प्रदर्शन एकदम रुकजाय।

५. प्रेमोत्तेजक और सेक्स-आकर्षक फिल्मों की ही भांति सनसनीखोज जासूसी चित्र भी बच्चों की दुनियाँ को खराब करने के लिए कम खतरनाक नहीं। वे जीवन का ऐसा पहलू लाकर उनके सामने रखते हैं जिसमें जीवन की असलियत बिल्कुल खोई और बनावटी सी प्रतीत होती है। वे घटनाएँ आश्चर्यजनक होती हैं, इसीलिए बच्चों की जिज्ञासा को अपनी ओर खींचने में समर्थक होजाती हैं परन्तु उनका प्रभाव बच्चों पर बहुत गन्दा होता है। वे तसवीरें बच्चों के सम्मुख वह निरर्थक दृष्टिकोण उपस्थित करती हैं कि जिसके फेर में पड़कर बच्चा समझ नहीं पाता कि उसका क्या मतलब है। केवल आश्चर्यजनक घटनाओं के आधार पर ही वह उनकी उछल-कूद पर लट्टू रहता है और उसे ही अपने जीवन में घटाने का प्रयास करता है। यह प्रयास बच्चे के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होता है।

६. आज के युग में सिनेमा शिक्षा का बहुत बड़ा माध्यम बन सकता है। इसके द्वारा जनता के सामने ज्ञान-विज्ञान की इतिहास, भूगोल, तथा अन्य अनेकों प्रकार की ऐसी चीजें प्रस्तुत की जासकती हैं कि जिनके द्वारा उसकी ज्ञान-वृद्धि हो। यह सिनेमा का सही इस्तेमाल राष्ट्र को ऊपर उठाने में सहयोगी सिद्ध हो सकता है और देश की जनता के जीवन में एक क्रांति पैदा करसकता है, परन्तु अफसोस कि भारत-सरकार ने अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया और इसीलिए यहां इस इतने बड़े माध्यम का सदुपयोग होने के स्थान पर उलटा दुरुपयोग होरहा है। भारत में सिनेमा पूर्ण रूप से व्यापारिक दृष्टिकोण से चलाया जा रहा है। धन कमाना ही इसका मुख्य उद्देश्य है और इसपर जो सरकारी प्रतिबन्ध लगा भी भी हुआ है वह भी नगन्य है। फिल्म-निर्माता जिस प्रकार की फिल्मों का निर्माण करते हैं उनमें अधिकतर मानव-जीवन की हीन वृत्तियों का ही पोषण होता है, कोई मानसिक विकास नहीं मिलता। रूढ़िवादी धार्मिक चित्र जिनमें देवी देवताओं की चमत्कारपूर्ण कहानी होती हैं, मूर्ख धर्मान्ध जनता को ठगने के लिए उनका निर्माण किया जाता है, इतिहास को इश्क की चाशनी में पागकर पेश किया जाता है, जासूसी ढंग की उछल कूद वाली कलाबाजी से पूर्ण फिल्में बनती हैं, इनसे भला राष्ट्र का क्या भला हो सकता? सरकार चाहिए कि इनपर एक-दम रोक लगादे और ऐसे फिल्म-निर्माताओं को अच्छी फिल्में बनाने का प्रोत्साहन दे। प्रोत्साहन के अनेकों साधन सरकार के पास उपलब्ध हैं। वह चाहे तो स्कूलों में बच्चों के दिखाने के लिए फिल्में तय्यार करा सकती है और फिर उनका प्रदर्शन देश भर के स्कूलों में करा सकती है। इसके लिए निर्माताओं को उनकी तस्वीर के मूल्य का कोई भाग देकर उनसे उसके हक ले सकती है। इस प्रकार फिल्म निर्माताओं को अच्छी किस्म की तस्वीरें बनाने का प्रोत्साहन भी मिलेगा और अच्छी फिल्में भी तय्यार होने लगेंगी। ये सब राष्ट्र-हित की बातें हैं। इन

पर सरकार की ओर से ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

७. आज जो फ़िलमें तैयार होरही हैं उनका स्तर बराबर गिरता जारहा है। जहाँतक साधनों का सम्बन्ध है वहाँतक तो नये साधनों के कारण कला में उन्नति हुई है परन्तु जहाँ फिल्मों की कहानी, विचार, विषय, भावना, कल्पना, भाषा, चरित्र-चित्रण, संगीत इत्यादि का सम्बन्ध है उसमें कोई विशेष ऊँचे दर्जे की कलात्मकता नहीं आपाई। सिनेमा का प्रभाव केवल बच्चों पर ही नहीं पड़ता। इसके अधिक देखने वाले वे लोग हैं जिन्हें नीचे दर्जे का लोग कहा जाता है और सच पूछिये तो निर्माता लोग जो तस्वीरें बनाते हैं वे उनका पूरा-पूरा ध्यान रखकर बनाते हैं। क्योंकि निर्माताओं की अधिकांश आय उन्हीं लोगों पर निर्भर है। खेद का विषय है कि निर्माता उन लोगों के चित्रों की निम्नतम बातें खोज कर अपनी तस्वीरों में इस प्रकार फिट करते हैं कि उनकी तस्वीरें उनके जीवन से जामिलें। उन्हें प्रयत्न करनाचाहिए कि वे उनके जीवन को धीरे-धीरे ऊपर उठायें और धीरे-धीरे उनके अन्दर प्रदर्शित की जानेवाली बेहूदगियों को कम करते जाँय। यदि सिनेमा-संसार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया तो भारत-राष्ट्र का महान् अहित होगा।

विपक्ष :

१. रंगमंच को सिनेमा की तुलना में लाना कमअक्ली की बात है क्योंकि सिनेमा के और रंगमंच के क्षेत्र में कोई तुलना ही नहीं की जासकती। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। सिनेमा का निर्माण केवल बच्चों के ही लिए नहीं कियागया है। यदि बच्चे सिनेमा देखने चले जाते हैं और उनपर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है तो यह सिनेमा का दोष नहीं। सरकार को चाहिए कि वह ऐसे क़ानून बनाये जिनसे अनुपयुक्त चित्रों को देखने छोटे बच्चे न जासकें। आज यदि उपन्यास-साहित्य को ही लिया जाय, तो क्या उपन्यास बच्चों के लिए लिखे जाते हैं। यदि उनका प्रभाव बच्चों पर बुरा पड़े तो उनका लिखना ही बन्द कर देना चाहिए। यह बात कुछ जचने वाली नहीं। सिनेमा एक कला है, जिसके दोनों पहलू हो सकते हैं। जो चीजें बच्चों के उपयुक्त न हों उन्हें उनको नहीं दिखलाना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि उस प्रकार की चीजें बनाई ही नहीं जानीचाहिए। बच्चों के मनोरंजन की जो चीजें हैं वे कभी भी युवकों के मनोरंजन की चीजें नहीं बनसकतीं। ठीक इसी प्रकार जो चीजें युवकों के मनोरंजन की होती हैं उनसे वृद्धों का मनोरंजन मेल नहीं खाता। आयु के अनुसार ही मनोरंजन का रूप भी बदलता है। सिनेमा शिक्षा का माध्यम बन अवश्य सकता है परन्तु यदि इसको शिक्षा का ही माध्यम बना दिया जाय तो इसका मनोरंजन का

रूप बिलकुल ही समाप्त हो जायगा और लोग सिनेमाओं की ओर जाना भी कम पसंद करेंगे। सिनेमाओं की दशा ठीक उसी प्रकार की होगी जैसी आज रेडियो की बनती जारही है। घर में रेडियो रखने वाले भी अधिकांश समय उसे बन्द ही रखते हैं क्योंकि जब खोलते हैं तब वही राग रागनियों के आलाप सुनने को मिलते हैं जिनका उन्हें कोई ज्ञान नहीं। ऐसा मनोरंजन भी भला किस काम का। सिनेमा में जो खेल आते हैं वे यदि बच्चों के उपयुक्त नहीं हैं तो बच्चों को उनमें नहीं भेजना चाहिए। अब रही वाल्दैन से छिपकर जाने की बात, सो उसके विषय में बेचारा निर्माता क्या कर सकता है।

२. आज के युग में हम बच्चों के विषय में प्राचीन काल के ब्रह्मचारी-युग की बात नहीं सोच सकते, जब लड़के पच्चीस वर्ष की आयु तक स्त्री का मुख ही नहीं देखपाते थे। आज तो सह-शिक्षा का युग है और सिनेमा में कोई ऐसी चीज नहीं दिखलाई जाती जिसको साधारण बच्चे जानते न हों। वे सभी कुछ जानते हैं और इसीलिए उनके चरित्र इतने मुलायम नहीं रहजाते कि उनपर हर मजाक या हलकी बात का गहरा और गम्भीर प्रभाव पड़ने लगे। आज के युग में जब कि बचपन से ही तालीम का मार्ग खुलाहुआ है और जरा-जरा से बच्चे उतना पढ़जाते हैं जितना पहले कुछ बड़े-बूढ़े पढ़े लिखे मिलते थे, तो उनका दिमाग़ भी केवल अनुकरणात्मक ही नहीं रहजाता। वे जो कुछ देखते या सुनते हैं उसपर विचार करते हैं और फिर यों ही उसे आचरण का विषय नहीं बना लेते। सिनेमाओं में आने वाली चीजें उनके लिए आश्चर्य की नहीं जीवन में नित्य सामने आने वाली चीजें हैं और इसीलिए वे मनोरंजक भी हैं और उनका राष्ट्र के जीवन से सीधा सम्बन्ध भी है। राष्ट्र के चरित्र को गिराने का काम सिनेमा कर रहा है यह बात बिलकुल ग़लत है। सिनेमा ने समाज के जीवन को वह मनोरंजन प्रदान किया है जो अन्य किसी साधन ने नहीं किया। रंगमंच का मनोरंजन बहुत मंहगा है, जिसे हर आदमी प्रयोग में नहीं ला सकता। सिनेमा उसकी अपेक्षा बहुत सस्ता है और इसीलिए उसके द्वारा ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी मनोरंजन प्राप्त कर सकता है।

३. बच्चों के लिए भी फ़िल्म उसी प्रकार मनोरंजक और शिक्षा-प्रद है जिस प्रकार बड़े आदमियों के लिए। केवल समझदारी इतनी ही बरतने की आवश्यकता है कि जिस प्रकार उन्हें पढ़ने के लिए पुस्तकें छांटनी होती हैं ठीक उसी प्रकार उन्हें फिल्म भी छांट कर देखनी चाहिएँ। लैलामजनू और अनारकली के खेल खराब नही कहे जासकते, परन्तु हाँ बच्चों के मतलब के नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार संसार में और भी बहुत सी ऐसी चीजें हैं जिनका उपयोग सभी के लिए एकसा नहीं होसकता। बच्चों को ऐसी चीजों से बचाने की जिम्मेदारी फ़िल्म

निर्माता अपने ऊपर नहीं लेकर चलसकते। वैवाहिक जीवन की बहुत सी ऐसी पुस्तकें हैं जो दम्पति के लिए पढ़नी आवश्यक हैं परन्तु यदि वे बच्चों के हाथ में पड़जांय तो अनर्थकारी सिद्ध होसकती हैं। सिनेमा देखना और पुस्तक खरीद कर पढ़ना दोनों ही बच्चों के लिए सुगम हैं। इस आकर्षण से बच्चों को दूर रखने के लिए जैसा हम ऊपर संकेत करचुके हैं सरकारी सेंसर ही लाभदायक सिद्ध हो सकता है। सरकारी सेंसर जिन फ़िल्मों को बच्चों के लिए उपयुक्त न समझे उनके लिए बच्चों के टिकट बिकना बन्द करासकती है। इस दिशा में सरकार को सक्रिय क़दम उठाने की आवश्यकता है न कि सिनेमा को। सरकार की कमियों के कारण बच्चों पर जो बुरा प्रभाव पड़ रहा है उसका दोष सिनेमा के सिर मढ़ना युक्तिसंगत नहीं। सिनेमा के खिलाफ़ इस प्रकार के मिथ्या प्रचार और भ्रम पैदा होने से सिनेमा के प्रति लोगों में संदेह उत्पन्न होगा, जिसके फलस्वरूप देश के पनपते हुए उद्योग को तो हानि होगी और दूसरी ओर जनता को मनोरंजन प्रदान करनेवाले एक साधन को ठेस लगती है। सिनेमा राष्ट्र के मनोरंजन का सबसे बड़ा साधन है, जिसके विकास को किसी भी प्रकार रोकने का प्रयास करना राष्ट्र के अहित का कार्य है।

४. उत्तेजनात्मक और सनसनीखेज़ होने का जो दोषारोपण आज सिनेमा पर कियाजारहा है वही एक दिन उपन्यासों पर भी कियागया था। परन्तु उससे उपन्यासों का विकास नहीं रुका और उनकी उपादेयता को धीरे-धीरे विरोधी पक्षों ने भी स्वीकार किया। आज ठीक वही दशा सिनेमा के क्षेत्र में दिखलाई देरही है। ज्यों-ज्यों सिनेमा का प्रचार बढ़ता है और वह नई रोशनी को जनता के बीच फैलाने में कामयाब होता है त्यों-त्यों पुराने रूढ़िवादी विचारकों की पोलें खुलती हैं और उन्हें चिढ़न पैदा होती है। इसी चिढ़न के फलस्वरूप वे धर्म, आचरण, शिष्टता, बच्चों का चलन इत्यादि के नारे लगाकर उस बढ़ती हुई रौशनी की धारा को रोकने का प्रयास करते हैं, परन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि वे इस वेगवती धारा के सामने टिक नहीं पायेंगे। उनके पैर उखड़जायेंगे और यह जनता की इच्छा और आकांक्षा पर चलने वाला सिनेमा बराबर प्रगति की ओर बढ़ेगा। आज सिनेमा वह प्रदर्शित करता है जो जनता चाहती है। सिनेमा के निर्माता जनता की प्रवृत्तियों को परखकर ही आगे बढ़नाचाहते हैं। वे मनमाने चित्र नहीं बनारहे हैं। यह ठीक है कि सिनेमा व्यवसाय है और व्यवसाय पैसे के लिए कियाजाता है, परन्तु इसके साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि कोई अपनी जेब से पैसा उस समय तक नहीं देता जबतक कि तुम उसके मनोरंजन में भाग न दो और वह चीज़ उसके सामने पेश न करो जो वह चाहता है। सिनेमा जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, उसी जनता का जिसका प्रति-

निश्चित्त हमारी सरकार करती है। सरकार भी जनता की रुचि की अवहेलना कर उसपर कुछ लादने का यदि प्रयास करेगी तो उसे मुँह की खानी पड़ेगी, उसे सफलता नहीं मिल सकती।

५. युवकों को उत्तेजना से दूर रखने वाली रूढ़िवादी प्रवृत्ति उन्हें अकर-मण्यता की ओर खींचकर लेजाती है। उत्तेजना बुरी वस्तु नहीं, बशर्ते कि उसका उपयोग ठीक दिशा में कियागया हो। संसार में बहुत से काम ऐसे हैं कि जिनके करने में शिथिलता रहती है, उनका करना कुछ मनोरंजक भी नहीं होता, कभी-कभी वे कष्टसाध्य भी होते हैं, ऐसी दशा में थोड़ी उत्तेजना लाभप्रद ही सिद्ध होती है, हानिकारक नहीं। मनुष्य के मस्तिष्क को तनिक उत्तेजना द्वारा स्वस्थ करना, उसे कुछ रंगीन वातावरण प्रदान करना, जीवन के विभिन्न पहलुओं की झांकी दिखलाना, उत्साह और आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करना, साहस और धैर्य के साथ कठिन समय का सामना इन सभी उत्तेजनात्मक तरीकों से किये जाते है और इन्हें कोई भी व्यक्ति बुरा नहीं कह सकता। संसार में सभी चीज़ों के दो रूप होते हैं, अच्छा और बुरा। शक्ति-वर्धक जितनी भी चीजें होती हैं। वे ग़लत इस्तेमाल से हानिकारक और ठीक इस्तेमाल से लाभदायक सिद्ध होती हैं विष को भी यदि शोधकर प्रयोग कियाजाय तो वह शरीर को शक्ति प्रदान करता है और वैसे ही अन्दर प्रवेश करजाने पर प्राण-घातक सिद्ध होता है। ठीक वही दशा उत्तेजना की भी है।

सिनेमा की बात जाने दीजिए मैं यहाँ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का ही उदाहरण पेश कररहा हूँ। उन्होंने जो आज़ादी के आन्दोलन चलाये उनमें मैं पूछता हूँ कि क्या किया ? क्या उन्होंने जनता को उत्तेजना प्रदान नहीं की और उसीके फलस्वरूप वह तूफ़ान नहीं उठखड़े हुए जिनमें अंग्रेजी सरकार का जहाज़ पूर्व से पश्चिम की दिशा में बहता हुआ इतना दूर निकल गया कि इंगलैंड के किनारे से जा टकराया। उत्तेजना को बुरा कहना मूर्खता है। उत्तेजना एक शक्ति है जिसे सही या ग़लत तरीके पर इस्तेमाल किया जासकता है। सिनेमा-द्वारा भी ऐसे उत्तेजक चित्रों का निर्माण सम्भव है जो जनता में देश और राष्ट्र-प्रेम की ज्वाला सुलगा दें। परन्तु इस प्रकार के कामों के लिए सरकार द्वारा ही क़दम उठाने की आवश्यकता है और यदि सरकार सहयोग प्रदान करती है तो कोई कारण नहीं कि सिनेमा उसे पूरा करने में तनिक भी संकोच करे।

६. आचरण से भ्रष्ट तस्वीरों पर सेंसरबोर्ड रुकावट लगा देता है और उनका प्रदर्शन देश के सिनेमाओं में नहीं किया जासकता। यह सेंसरबोर्ड की ग़लती है कि जो सिनेमा की भ्रष्ट तस्वीरों का प्रदर्शन नहीं रोकाजाता। निर्माता तस्वीरें बनाते समय जीवन के ख़राब पहलुओं को उसके अन्दर से छाँटकर प्रथक

नहीं करसकता। ऐसा करने से जो जीवन के अच्छे पहलू हैं उनपर निखार नहीं आसकता। निर्माता यह कर सकता है कि फिल्म का उद्देश्य अच्छा रखे, उसका अन्त सुधारवादी करदे, परन्तु यह कभी नहीं करसकता कि उसमें बुरा पहलू आये ही नहीं। एक जीवन के एक ही पहलू को लेकर चित्र बन ही नहीं सकता और उसमें दर्शकों के लिए रोचकता भी नहीं आसकती। साथ ही मनोरंजन के साधनों का भी अभाव होजाता है। यदि कोई निर्माता इस प्रकार का चित्र भी बनाता है तो वह चित्र इतना अस्वाभाविक बनजाता है कि जीवन से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता और लोगों की रुचि कम रहती है और वास्तव में लोग सिनेमाओं में उपदेश ग्रहण करने के लिए जाते भी नहीं हैं। यदि उन्हें उपदेश सुनने ही जाना हो तो क्यों बेचारे टिकट पर पैसा खराब करें। मंदिरों, मस्जिदों और गिरजों की कौन कमी है शहर में जिनमें बिना पैसे जाकर उपदेश सुन सकते हैं। इस प्रकार के खेल तमाशे कला से सर्वथा विमुख होजायेंगे और उनमें रोचकता तथा सुन्दरता नाम की कोई वस्तु रह नहीं जायेगी।

७. जासूसी कहानियों वाले तमाशे बच्चों को अपराधों की दिशा में प्रेरणा देकर उनके चरित्रों पर खराब असर पैदा करते हैं, यह बात बिलकुल व्यर्थ प्रतीत होती है। ये कहानियाँ केवल मनोरंजनार्थ ही होती हैं और देखने से पहले तथा पीछे ये बच्चे यह जानते हैं कि उनका सम्बन्ध केवल खेल से है। आज बच्चे इतने मूर्ख नहीं कि खेल और उनसे प्रभावित होकर एक दम उनके जीवन का रुख अपराधों की ओर झुकजाय।

८. सिनेमा-उद्योग का विकास अभी समाप्त नहीं हुआ। वह अपनी जवानी के युग में पदार्पण कररहा है। यह व्यापारिक धंधा है और इसलिए इसका लाभ के दृष्टिकोण से पनपना नितान्त आवश्यक है, यह हम ऊपर भी लिखचुके हैं। यदि यह लाभ और हानि को देखकर नहीं चलेगा तो कभी पनप भी नहीं सकता, कभी उन्नति कर नहीं सकता। इसके खेल जनता की मांग पर आधारित रहते हैं। जनता की शिक्षा का स्तर जितना ऊंचा उठता जायगा, इसका स्तर आपसे-आप उतना ही ऊपर उठने लगेगा। आज जनता का स्तर जहाँ है वहीं के खेलों का निर्माण करना फिल्म-व्यवसाय के लिए लाभदायक सिद्ध होसकता है। आज के युग में सिनेमा की लोकप्रियता यह सिद्ध करती है कि सिनेमा-उद्योग जिस देश में दिशा में जारहा है, वही उस देश की जनता उससे चाहती है।

ट्रेड-यूनियनों का कार्य सराहनीय है

पक्षः

१. संसार में होने वाले किसी भी प्रकार के जुल्म को रोकने के लिए उसमें खिलाफ संगटन की आवश्यकता है। बिना किसी संगठित शक्ति के सामने आये जुल्म को नहीं रोका जासकता। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी भी कहीं पर जुल्म को रोका गया है इसके खिलाफ एक संगठित शक्ति का निर्माण करने की आवश्यकता हुई है। इसी प्रकार जब वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप संसार ने औद्योगीकरण के क्षेत्र में कदम रखा तो लोगों की परिस्थिति बदलगई। पूंजी का महत्त्व बढ़ा और उसने या उसके मालिकों ने पूंजी के जोर से कर्मचारियों का शोषण करना प्रारम्भ करदिया। इस शोषण के फलस्वरूप मानवसमाज पूंजीपति और कर्मचारी वर्गों में विभाजित होगया। जब पूंजीपति वर्ग-द्वारा कर्मचारी वर्ग के शोषण की मात्रा इतनी अधिक बढ़ी कि वह असहनीय होनेलगा तो कर्मचारी वर्ग के दिमागदार मजदूरों ने उसके खिलाफ विद्रोह किया और कर्मचारियों की मांगों को सामने रखा। इन मांगों को सामने रखने के लिए संगठन की आवश्यकता हुई, जिसके फलस्वरूप ट्रेड-यूनियनों का निर्माण हुआ। इन ट्रेडयूनियनों ने पूंजिपतियों के खिलाफ मोर्चा लिया और उनके बढ़तेहुए आतंक के खिलाफ आवाज बुलन्द करके मजदूरों को संगठित किया। इस प्रकार ट्रेड-यूनियनों ने मानव समाज के एक बहुत बड़े समुदाय का शोषण रोका और उन्हें अपने हकूकों के लिए लड़ने-झगड़े का अवसर प्रदान किया।

२. ट्रेड-यूनियनों ने आपस में मिल बैठने और अपनी समस्याओं को समझने तथा सुलझाने या उनके लिए संघर्ष करने के अधिकारों की प्राप्ति के लिए जद्दोजहद की और बहुत कुछ हद तक उसे हासिल करने में उन्हें कामयाबी भी मिली। किसी भी आजाद देश के आजाद नागरिकों को आपस में बैठकर अपनी कठिनाइयों और मुसीबतों के विषय में सोचने का पूर्ण अधिकार है, यह ट्रेडयूनियनों ने साबित किया और विभिन्न देशों की सरकारों से संघर्ष करके मनवाया। इसके लिए ट्रेड-यूनियनों के कर्मचारियों ने बलिदान दिये और अन्त में सफलता प्राप्त की। इन्हीं ट्रेड-यूनियों की बदौलत आज किसी भी कल कारखाने के मजदूर एकत्रित होकर अपनी यूनियन बना सकते हैं, उनकी यह कार्यवाही नियमानुकूल है और इसे मिल-मालिक यदि चाहें तो रोक नहीं सकते। एक समय वह भी आगया था जब मिल-मालिक अपनी तरह-तरह की गन्दी हरकतों से इन यूनियनों को छिन्न-भिन्न करने के प्रयत्न करते थे और इनके संगठन-कर्ताओं को नौकरियों से बरखास्त करके उन्हें हर प्रकार की हानि पहुँचाने का प्रयास करते थे।

३. किसी भी कर्मचारी का काम करने की शक्ति; बुद्धि तथा तजुर्बा उसकी सम्पत्ति है। वह उसका सौदा करने बाजार में निकलता है। पूंजीपति उसकी परवशता का लाभ उठाकर उससे कम पैसों में उसे हासिल करना चाहता है और अधिकाअधिक लाभ वह अपनी जेब में डालना चाहता है। ट्रेड-यूनियनें अपने साथियों का संगठन कर उन्हें उनके इसी शोषण से बचाना चाहती हैं। अपने माल की लुटाई को रोकने का हर व्यक्ति को पूरा अधिकार है। यदि अपने माल की लुटाई को रोकने के लिए वह संगठन करता है तो इसे नियम-विरुद्ध-कार्य नहीं कहा जा सकता। इसे नियम-विरुद्ध कहना मजदूर के साथ अन्याय करना है। जिन देशों में पूंजीवादी सरकारें हैं वहाँ इसीलिए ट्रेड-यूनियनों को दबाने का प्रयास किया जाता है कि जिससे मजदूर-वर्ग उभर कर पूंजीपति-वर्ग के अधिकारों को अपने कब्जे में न करले। परन्तु जहाँ सही माने में प्रजातंत्रीय शासन हैं वहाँ ट्रेडयूनियनों को इस प्रकार दबाया नहीं जाता और कम्यूनिस्ट देशों में तो ऐसे संगठनों को प्रोत्साहन दिया जाता है। इससे जनता को बल मिलता है और ही बल उस कम्यूनिस्ट पार्टी का अपना बल है, अपनी शक्ति है।

४. काम कराने वाले पूंजीपति जब बड़ी-बड़ी कम्पनियों को अपने हाथों में लेकर आपस में गठ-बंधन कर लेते हैं तो मजदूर-वर्ग का ध्यान उनके दिमाग से बिलकुल निकलजाता है। अपने स्वार्थों से दबकर उनकी इन्सानियत न जानें कहाँ खोजाती है। उनकी इस मदान्धता में उनके उत्तरदायित्व की उन्हें सूचना देने के लिए एक शक्तिशाली संगठन की आवश्यकता है। यह संगठन ट्रेड-यूनियनों का ही हो सकता है, अन्य किसी का नहीं। ट्रेड-यूनियन उनकी बड़ी-बड़ी कम्पनियों की कार्यवाहियों का जाम कर सकती हैं और उन्हें बतला सकती हैं कि उनकी पूंजी व्यर्थ है यदि उसे प्रयोग में लाने वाली मजदूरों की मशीन न हो। पूंजी के लिए मानव-मजदूरों के हितों का शोषण करना अनर्थ है। पूंजीपतियों को संगठित शक्ति द्वारा उनके शोषण की सूचना देना, उसे रोकने का आग्रह करना, रोकने का प्रयास करना, उनके लिए संघर्ष करना ये सभी बातें न्यायपूर्ण और नियमपूर्ण हैं। मानवा के अधिकारों से दूर करके इस समस्या पर विचार नहीं किया जासकता।

५. ट्रेड-यूनियनों द्वारा काम की खोज करनेवाले, काम करने वाले या काम के लिए कहीं बाहर जानेवाले मजदूरों को बड़ी सहायता मिलती है। ट्रेड-यूनियों द्वारा काम करने वालों को हर प्रकार की सूचना प्राप्त हो सकती है और वे अपने उपयुक्त कार्य की खोज कर सकते हैं। काम के समाचार प्राप्त करने के एक प्रकार से ये बहुत बड़ा साधन बनगई हैं और इनपर मजदूरों को विश्वास भी बहुत अधिक है क्योंकि ये लोग इन्हें अपनी संस्था समझते हैं। यदि ट्रेड-यूनियनों के कार्यकर्ता ईमानदार तथा महनती हैं तो ये वास्तव में ट्रेड यूनियनों को आदर्श संस्था बनासकते

हैं और फिर उनके द्वारा मजदूरों को काफी लाभ भी होता है तथा कार्य-संचाल में आनेवाली दिक्कतें रुकजाती हैं।

६. आज ट्रेड-यूनियनों की शक्ति से इंकार नहीं किया जासकता। जिन देशों में ट्रेड-यूनियनें बनीं और उन्होंने मजदूरों के हित में कार्य किया है, वहाँ उनका काफी जोर है और उन्होंने जो कार्य किये हैं उनसे मजदूरों का काफी हित हुआ है। उनके उठाये गये आन्दोलनों के फलस्वरूप मज़दूरों के रहने के स्थानों की सफाई तथा उनकी बनावट में परिवर्तन हुआ है, उनकी तनखाहें बढ़ी हैं, उन्हें वेतन के साथ-साथ बोनस मिले हैं, मंहगाई मिली हैं, और छुट्टियां मिली हैं, हस्पतालों की सुविधाएँ मिली हैं और इसी प्रकार और भी बहुत सी सहूलियतों के लिए इन यूनियनों ने संघर्ष किया है। इस दिशा में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ है वह यह है कि ये सुविधाएँ जो ट्रेड-यूनियनों के संघर्ष से प्राप्त कीगई हैं ये पूंजीपतियों की मेहरबानी के फलस्वरूप उन्हें नहीं मिली हैं, बल्कि अधिकार-स्वरूप हासिल कीगई हैं। मजदूरों के आत्मसम्मान को ठेस लगानेवाला इनके अन्दर एक भी सौदा नहीं किया गया। वास्तव में यदि देखाजाय तो, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, यह मजदूरी का सौदा है और जब कोई मजदूर अपनी मजदूरी का अकेले-अकेले सौदा नहीं कर सकता और पूंजीपति द्वारा ठगा जाता है तो फिर उसी सौदे के लिए संगठित प्रयत्न किया जाता है। पूंजीपति अपनी पूंजी के जोर से मजदूरों को दबाकर, उन्हें कम-से-कम पैसे देकर, काम करा लेना चाहता है तथा अधिक से अधिक लाभ स्वयं खालेना चाहता है तथा दूसरी ओर मजदूरों का संगठित समाज अपनी मजदूरी का अधिक-से-अधिक पूंजीपति द्वारा छीना जाता हुआ भाग उससे बचा लेना चाहता है। इस प्रकार ट्रेड-यूनियनों का यह कृत्य सराहनीय है और इसमें अधिकाधिक मानव-हितों का संरक्षण है।

७. ट्रेड-यूदियनें मजदूरों में अपने काम के स्वयंसंचालन की प्रवृत्ति को जन्म देती हैं। संगठन उन्हें शक्ति प्रदान करता है अपने जीवन की कठिन परिस्थितियों में वे किस प्रकार अपने को संभाले इसका ज्ञान कराता है। यदि ये संगठित न होते तो ये लोग भेड़-बकरियों की तरह न जाने कब तब मानव के पूंजीवादी समुदाय द्वारा हाँके जाते हैं और इनका बराबर शोषण होता रहता। ट्रेड-यूनियनों ने काम करनेवालों में एक खुद्दारी का माद्दा पैदा किया है और उसकी रक्षा के लिए बलिदान देने का उन्हें साहस भी प्रदान किया है। पहले पूंजीपतियों के खिलाफ़ आवाज उठाने का मजदूरों में साहस नहीं होता था और चापलूस लोगों की चढ़ी बनीरहती थी परन्तु अब इसके ठीक विपरीत होता जारहा है। आज के मजदूर को उस काम के प्रति वफ़ादार होने की जरूरत है जो वह कर रहा है, उसे उस आदमी के प्रति वफादार होने की जरूरत नहीं जो

उसे करा रहा है। यही आधुनिक डेमोक्रेटिक सरकार की मैशनीरी के हर पुर्जे का भी कर्त्तव्य है। खेद है कि आज का मजदूर तो इस उत्तरदायित्व की ओर अपने कर्त्तव्य को समझने का प्रयास कर रहा है परन्तु सरकारी मशनीरी इसके ठीक विपरीत जा जारही है।

८. ट्रेड-यूनियनों के नेता लोग सर्वदाही पूंजीपतियों की आँखों में खटकते रहते हैं। जब वे मजदूरों के हितों की बात कहते या करते हैं तो उनका मिल-मालिकों से विरोध खड़ा होता है। उन्हें यूनियनों का कार्य करने से कोई विशेष आर्थिक लाभ नहीं होता। वास्तव में यह सेवा-मान और इज्जत ही है जो उन्हें इस कार्य के लिए प्रेरित करती है। इसके लिए कभी-कभी उन्हें हानि भी बहुत उठानी पड़ती है और यहाँ तक होता है कि उन्हें नौकरियों तक से हाथ धोने पड़ जाते हैं। अपना पारिवारिक मोह त्यागकर ही ट्रेड-यूनियनों के नेताओं को कार्य करना होता है।

९. ट्रेड-यूनियनों के द्वारा काम करनेवालों में पारस्परिक प्रेम और सद्-भावना ने जन्म लिया है, मदद और सहयोग ने जन्म लिया है। एक यूनियन का दसस्य दूसरे सदस्य के प्रति उदारता का व्यवहार करता है। भाईचारा निभाता है, और उसकी मुसीबत में काम आने का अवसर खोजाता है। इससे हर सदस्य अपनी पीठ पर एक शक्ति का अनुभव करता है और यदि वह किसी सचाई की बात के लिए किसी अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाता है तो उसे पता होता है कि उसके कुछ मददगार, साथी और हमदर्द हैं जो अवश्य उसकी बात का समर्थन करेंगे और अवसर पड़ने पर उसका पूरा-पूरा साथ देंगे। वह अपने को अकेला नहीं महसूस करता और यही बात उसे बड़े से बड़ा काम करने की प्रेरणा देती है। यूनियन एक शक्ति है जो हर सदस्य की नसों में अपना असर भर देती है और इससे काम करने वाले मजदूरों को उनके जीवन की हर दिशा में लाभ पहुँचता है।

१०. ट्रेड-यूनियनों की तादाद हर देश में बढ़ती जारही है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ये संस्थाएँ लाभदायक सिद्ध हुई हैं। जो वस्तु लाभ-दायक नहीं है वह कभी उन्नति नहीं करसकती। झूठा प्रचार या प्रभाव किसी भी चीज में उसका अपना प्रभाव या असर नहीं डाल सकता और किसी चीज में जब उसको अपनी शक्ति नहीं होगी वह आगे नहीं बढ़ सकती। ठीक इसी तरह यदि ट्रेड-यूनियनों की अपनी कोई उपयोगिता नहीं होगी तो लाख नेता चिल्लायँ, और लाख मजदूर संगठन बनाने का प्रयत्न करें, उन्हें कामयाबी नहीं मिलसकती।

११. हड़तालें कराना ट्रेड-यूनियनों कापेशा नहीं है और नही ट्रेड-यूनियनों

का निर्माण हड़ताल कराने के लिए कियाजाता है। मजदूरों के स्वास्थ्य, बीमारी, दुर्घटना इत्यादि की स्थिति में उनका तथा उनके परिवारों का क्या प्रबन्ध हो, यह सब कुछ देखना यूनियनों का काम है। मजदूरों में पारस्परिक एकता और दृढ़ता की भावना को जगाना भी उनका फर्ज है। हड़ताल इन यूनियनों का अस्त्र है जिसे हर समय चलाया ही नहीं जाता, परन्तु सुरक्षा के लिए पैनाकर न रखना भी मूर्खता है।

विपक्ष :

१. हर व्यक्ति के कुछ व्यक्तिगत अधिकार होते हैं। जिन देशों में व्यक्तिगत व्यापार तथा उद्योगों का चलन है वहाँ उन व्यापारों तथा उद्योगों को चलाने वालों को अपने व्यक्तिगत तरीकों पर उन्हें चलाने का अधिकार है। ऐसी परिस्थितियों में जब ट्रेड-यूनियनें उनकी मुखालफत करती हैं और उनके आचरणों को उन के अन्याय या अत्याचार की संज्ञा दीजाती है तो यह उनके व्यक्तिगत अधिकारों में गलत हस्तक्षेप करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार के हस्तक्षेपों से उस काम करनेवाले के काम का ढाँचा ही बिगड़ जाता है और कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि उन हस्तक्षेपों तथा रुकावटों से वह व्यापार या उद्योग ही ठप्प होजाता है। इससे उस व्यापारी या उद्योगपति को तो हानि होती ही है। साथ ही काम बन्द हो जाने से मजदूरों को भी हानि उठानी पड़ती है और वे बेरोजगारी के शिकार बनजाते हैं। इस प्रकार के हस्तक्षेप और रुकावटें जहाँ एक ओर व्यक्तिगत अधिकारों की अवहेलना करती हैं वहाँ दूसरी ओर अपने मजदूर वर्ग के लिए भी आर्थिक संकट का कारण बनती हैं और साथ-ही-साथ इससे राष्ट्र की भी हानि होती है। एक पनपता हुआ व्यापार या उद्योग रुकजाने से राष्ट्र को हानि होती है। सरकार को चाहिए कि वह इस प्रकार की यूनियनों द्वारा व्यापारों या उद्योगों के मार्ग में पैदाकीजानेवाली रुकावटों को जहाँ तक होसके पैदा न होने दें और उन्हें बिना सोचे-समझे इस प्रकार परेशानी पैदा करने से रोकें।

२. मालिकों के अनियंत्रित शासन यूनियनों का शासन कहीं बदतर है। मालिकों का शासन व्यापार तथा उद्योग की उन्नति करेगा और जो कुछ भी पूंजी कमाईजायगी उसे और कामों पर लगाया जायगा, जिससे व्यापार और उद्योगों में वृद्धि होगी और अधिकाधिक आदमियों को काम मिलता जायगा। परन्तु यदि यही अनियंत्रित शासन यूनियनों के हाथों में आजायगा तो व्यापार के ऊपर से व्यक्तिगत इन्तजाम (Supervision) उठजायगा और उन इन्तजाम करनेवालों का ध्यान काम की अपेक्षा अपने उन स्वार्थों की ओर अधिक रहेगा

लिए लड़झगड़कर उन्होंने उसकी बागडोर अपने हाथों में संभाली थीं। फलत उद्योग या व्यापार नष्ट होजायगा और उसका फलना-फूलना समाप्त होकर उसकी उन्नति रुकजायगी। आखीर में यह मजदूरों के लिए भी हानिकारक सिद्ध होगा। इससे न तो व्यापार या उद्योग की ही उन्नति होगी और न मजदूरों की ही; फिर देश और राष्ट्र का तो कहना ही क्या है?

३. ट्रेड-यूनियनों के द्वारा उद्योगपतियों और मजदूरों के बीच की खाई को पाटने का प्रयास न होकर और गहरा कियाजाता है। उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना को जगाकर उद्योग को उन्नति देने की बात नहीं सुझाईजाती। पारस्परिक संघर्ष छिड़जाने पर पारस्परिक मानवता के सम्बन्ध समाप्त होजाते हैं और केवल कानूनी सिद्धान्तों के आधार पर ही दोनों का आपसी सम्पर्क रहजाता है। इस कानूनी सम्पर्क में कर्तव्य पालन (Duty) की वह गहराई कभी नहीं आसकती जो इस संघर्ष से पूर्व दिखलाई देती थी। आज दोनों वर्गों मे पारस्परिक अमित्रता और धोखेधड़ी तथा लूट-खसोट की भावना का उदय हुआ है और संघर्ष इस बात पर है कि वास्तव में कौन मालिक है। मालिक बनना दोनों चाहते हैं और इसी के लिए यह सब संघर्ष है। इस संघर्ष ने उद्योग तथा व्यापारों को जो हानि पहुँचाई है वह बयान नहीं की जासकती। बड़े-बड़े कारखाने और मिलें कितने-कितने दिन तक बन्द पड़े रहते हैं; उत्पादन रुकता है और उनके संघर्ष से बेचारी देश की जनता पिसती है तथा मंहगाई का शिकार बनती है। सरकार को ऐसी नीति अपनानी चाहिए कि जिसमें ऐसी परिस्थितियाँ पैदा न हों। ट्रेड-यूनियनों ने इस प्रकार की परिस्थितियों को बढ़ावा दिया है जिससे व्यापार, उद्योग, मजदूर, राष्ट्र, जनता सभी को हानि हुई है।

४. मालिक लोगों का ध्यान उनके नैतिक कर्त्तव्यों तथा मानवता के सिद्धान्तों की ओर आकर्षित करना एक टेढ़ी खीर है। आय का लालच नैतिक और मानवता से आगे बढ़कर चलता है। और यदि उन्हें जबरन उनका पालन करने के लिए बाध्य कियाजाय तो इसका असर उनके कामों पर पड़ेगा और वे उस दिलचस्पी से काम करना बन्द करदेगें जिस दिलचस्पी के साथ कि वे उस समय करते थे जब उनपर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। इस प्रकार उद्योगपतियों पर लगाया गया प्रतिबन्ध काम में रुकावट पैदा करता है और उसकी गति को मन्द करदेता है। उद्योग की गति मन्द होने से उत्पादन की हानि होती है और साथ ही काम करनेवालों की संख्या में भी कमी आजाती है। इसलिए इस प्रकार के प्रतिबन्धों के लिए यूनियनों का प्रयास करना बेसूद है क्योंकि यह आखीर में इनके अपने ही अहित में जाता है। इससे अमीर और पूंजीपातियों की अपेक्षा कर्मचारियों की ही अधिक हानि होती है।

५. ट्रेड-यूनियनों द्वारा जिन छोटे-मोटे लाभों के लिए संघर्ष कियाजाता है उनके प्राप्त करने में बहुत बड़ी परेशानी उठानीपड़ती है। कभी-कभी तो परेशानी भी उठानीपड़ती है, हानि भी होती है, बाल बच्चे भी भूखे मरते हैं, रोजगारों से भी हाथधोने पड़ते हैं और हाथ-पल्ले भी कुछ नहीं पड़ता। सच तो यह है कि इन ट्रेड-यूनियनों ने काम करनेवालों को इतना बेसब्र बनादिया है कि उनके जीवन में संतोष नाम की कोईचीज रह ही नहीं गई है। मनुष्य के पास हविसकी खोपड़ी इतनी बड़ी है कि उसकी पूर्ति होना कठिन है। वह भरती हीनहीं। उसीका फायदा उठाकर ट्रेड-यूनियनें मजदूरों को उकसा देती हैं और करने-न-करने वाले अनेकों काम करा डालती हैं। कभी इनसे कुछ लाभ होता है तो कभी हानि। मतलब यह है कि लेखा-जोखा बराबर ही रहता है। मजदूरों को कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचता और परेशानी अलग गले में फंस जाती है।

६. ट्रेड-यूनियनों द्वारा व्यापार और उद्योग को निश्चित रूप से हानि होती है। यदि उत्पादित आय का अधिकाधिक भाग मजदूरों में बाँट दिया जाय तो उद्योग में कोई लाभ हो ही नहीं सकता और इस प्रकार बिना लाभ का कार्य करने से एक दिन उद्योग आप-से-आप समाप्त हो जायगा। ट्रेड-यूनियनों का उद्देश्य यह रहता है कि व्यापार में जो अधिकाधिक लाभ होता है वह मजदूरों को ही मिलना चाहिए।

७. ट्रेड-यूनियनों ने जो सबसे बड़ा अनर्थ, जैसा कि हम ऊपर भी संकेतकर चुके हैं, किया है वह यह है कि उन्होंने कर्मचारियों के जीवन में एक प्रकार की बेचैनी, अस्थिरता और असंतोष की ज्वाला को सुलगा दिया है। यह असंतोष उन्हें हर समय परेशान रखता है और कभी मानसिक शांति के स्तर पर खड़ा नहीं होने देता। उनके दिमागों में हर समय काम करने की भावना न आकर द्रोह और प्रतिहिंसा का विकास होरहा है, जो उनके लिए घातक है, उस कार्य के लिए घातक है जिसे वे कर रहे हैं और यदि बड़े पैमाने पर सोचाजाय तो राष्ट्र और मानव मात्र के हितों के लिए घातक है। यह उन्नतोन्मुख प्रवृत्ति न होकर पतनोन्मुख प्रवृत्ति है, जिसकी गिरावट का कहीं अन्त नहीं और इसका फल निश्चित् रूप से बहुत ही भयानक निकलसकता है। इससे कारबार चौपट होसकते हैं, देश में बेकारी फैलसकती है और भुखमरी का आलम छा सकता है, देश की समृद्धि खाक में मिलसकती है और इतने दिनों से जो विशेष योग्यता वाले विद्वानों, वैज्ञानिकों, खोजकारी इत्यादि ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं उन सब पर पानी फिर सकता है। इस प्रवृत्ति को रोकने की आवश्यकता है नहीं तो व्यक्तिगत आजादी के साथ-साथ देश और राष्ट्र की आजादी तथा समृद्धि सभी खतरे में पड़ सकती हैं।

८. अधिकांश ट्रेड-यूनियनों का संचालन उन व्यक्तियों द्वारा होता है जिनका

उन उद्योगों से जिनकी ट्रेड-यूनियनों का वे संचालन कररहेहोते हैं, कोई सम्बन्ध नहीं होता और उनमें हानि हो अथवा लाभ, इससे उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इस प्रकार के संचालकों का मस्तिष्क मजदूरों के हित की अपेक्षा शक्ति-दंड अपने हाथ में रखने की उधेड़-बुन (Power politics) में अधिक ग्रस्त रहता है। इससे मजदूरों की हानि होती है। वे बेचारे सीधे तरीके से उन्हें ईमानदारी के साथ अपना पथ-प्रदर्शक मानलेते हैं और वे लोग पथ-प्रदर्शक न होकर उलटे उन्हें गुमराह करनेवाले होते हैं। हड़तालें करादेते हैं, मिल-मालिकों से सौदेबाजी करते हैं, अपना उल्लू सीधा करते हैं और अंत में हड़तालों को तुड़वा कर एक ओर जाबैठते हैं। इससे गरीब मजदूर कहीं का नहीं रहता। मिल मालिकों का उलटा अधिक रौब उनपर होजाता है और उद्योग को तो हानि होती ही है।

९. ट्रेड-यूनियनों द्वारा अच्छे कारीगरों की अपेक्षा मूर्ख कारीगरों को अधिक प्रोत्साहन मिलता है। उन्हें जल्दी से भड़काया जासकता है और बेहूदा तरीकों से कामकरने के लिए प्रेरित कियाजासकता है। वास्तव में ट्रेड-यूनियनों का काम इन्हीं लोगों के मत्थे चलता है क्योंकि कारीगर आदमी को इस प्रकार की बेहूदा बातों में पड़ने का अवकाश नहीं मिलता, इसके फलस्वरूप अच्छे कारीगरों की घटती और रद्दी कारीगरों की बढ़ोतरी होती है।

१०. ट्रेड-यूनियनें विद्रोहात्मक भावना का अपने मेम्बरों में बीजारोपण करती हैं, जिसके फलस्वरूप उनके स्वभावों मे परिवर्तन आता है और उसका प्रभाव उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं पर पड़ता है, उनके सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है। इस प्रकार इन यूनियनों से अशांति के वातावरण को फैलाने में सहायता मिलती है, जो जन-रक्षा के लिए हानिकारक है। ये मजदूरों में झगड़ा करने और लड़ने-झगड़ने की उत्तेजना पैदा करती हैं जो कि देश की शांति के लिए बहुत ही खतरनाक है। इस प्रकार के संगठन विद्रोहात्मक ज्वाला को लेकर चलते हैं और जब मनुष्य की प्रवृत्ति में विद्रोह आजाता है तो वह भले कामों की तरफ भी अपना मन लगाना छोड़देता है। इसका नतीजा खराब ही निकलता है।

११. अर्थ-शास्त्र के अनुसार माँग और खपत (Demand and supply) का सिद्धान्त एक अटल सिद्धान्त है। इसके खिलाफ जिद या हकूमताना रवैये से काम नहीं चल सकता। यदि यूनियनों के संगठन से मजदूरी के दर बढ़ेंगे तो उत्पादित वस्तु का मूल्य भी बढ़ेगा और यदि दाम बाजार की चीजों से बढ़ गये तो उसकी बिक्री बन्द होजायगी और उद्योग ठप्प होजायगा। इसलिए यूनियनों को भी मजदूरी का अनुपात कायम रखनापड़ेगा।

औद्योगिक लाभ में हिस्साकशी ही मजदूरों की समस्या का हल है

पक्ष :

१. उद्योग के तीनों एजेन्टों, पूँजीपति, प्रबन्धक तथा मजदूर, में यदि उद्योग के लाभ को तकसीम करदियाजाय तो तीनों की शिकायतें दूर होजाती हैं। उद्योग की उन्नति में तीनों ही भाग लेते हैं और तीनों के ही सहयोग से उद्योग फलता-फूलता है। तीनों की ही ईमानदारी तथा मेहनत और प्रयत्नशीलता पर उद्योग की कामयाबी मुनहसिर है। इसलिए यदि इन तीनों में से एक भी नाखुश रहता है तो उद्योग सफलतापूर्वक नहीं चलसकता। तीनों ही गाड़ी के पहियों के समान आवश्यक हैं। इन तीनों का पारस्परिक मतभेद या संघर्ष केवल लाभ के विभाजन के ही सम्बन्ध में होसकता है। काम के सम्बन्ध में मतभेद की गुंजाइश नहीं, क्योंकि काम तो जो जिसे आता है वही उसे कर सकता है। इसलिए यदि कोई तरीका ऐसा बनजाय कि जिससे उद्योग का लाभ ठीक निश्चित् अनुपात के अनुसार तीनों में सद्भावना पैदा होजाय।

२. उद्योग के लाभ में हिस्साकशी होने से सभी का व्यक्तिगत ध्यान और सहयोग उद्योग को प्राप्त होजायगा। काम करनेवालों की यह नियत नहीं रह जायगी कि कम-से-कम काम करके अधिक-से-अधिक लाभ या वेतन उनसे प्राप्त करें। लाभ में मिलनेवाला हिस्सा उन्हें यह महसूस करादेगा कि उद्योग उनका अपना है और वे सब उसके मालिक हैं, उस उद्योग की किसी भी प्रकार की हानि उनकी अपनी हानि है और कोई भी लाभ उनका अपना लाभ है। उनकी चिन्ता उद्योग के लाभ की दिशा में बढ़जायगी और इस प्रकार उद्योग को अधिक सावधानी तथा अपनत्व के साथ काम करने वाले कार्यकर्त्ता प्राप्त हो सकेंगे। यही उद्योग की उन्नति का लक्षण है।

३. किसी भी उद्योग में काम करनेवालों में जिस मेहनत के साथ उसके हिस्सेदार काम कर सकते हैं उस प्रकार मजदूर नहीं करसकते। मजदूरों के दिलों में उद्योग की बढ़ती या घटती को देखकर चिंता नहीं होती और हिस्सेदारों का इसकी चिंता कियेबिना काम नहीं चलेगा। उन्हें हर समय काम की चिंता रहेगी और उनकी यही चिंता उनमें संलग्नता की प्रेरणा उत्पन्न करेगी, जिसके फलस्वरू 'उद्योग उन्नत होगा। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ तक भी सम्भव होसके किसी भी उद्योग के काम करने वालों की स्थिति

मालिकों के जैसी बनादेनी चाहिए, जिससे कि वे अपना व्यक्तिगत लगाव उद्योग के साथ स्थापित करसकें और जिस काम को भी वे करें फिर उसमें किसी भी प्रकार की खामी न आजाय। उद्योग की बढ़ती देख कर उनकी आत्मा प्रफुल्लित होउठे और उनका उत्साह अधिकाधिक उन्नति के लिए बढ़े, तथा तनिक भी गिरावट के आसार देखकर उनकी चिन्ता बढ़जाय और वे तन, मन, धन से उसकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील होउठें।

४. यदि काम करनेवालों में उद्योग के प्रति मिलकियत का भाव पैदा होजायगा तो वे जी लगाकर काम करेंगे, यह हम ऊपर कह चुके। जी लगाकर काम करने का फल यह होगा कि उनके काम करने की योग्यता में भी फर्क आजायगा। उनका काम फिर अच्छे किस्म का होगा और उनके काम करने की रफतार भी बढ़जायगी। होशियारी के साथ तेज रफतार से अच्छे किस्म का कियागया काम निश्चित रूप से उद्योग का भाग्य परिवर्तन करने में सफल होगा जिसका अन्त में उन काम करनेवालों के अपने भाग्य पर भी बड़ा भारी असर पड़ेगा, उनकी आय में वृद्धि होगी और आय की वृद्धि होने से उनका तथा उनके परिवार का जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा जिसका प्रभाव राष्ट्र की उन्नति पर पड़ेगा। इस प्रकार किसी भी उद्योग के अन्दर हर काम करनेवाले में उद्योग का भागीदार होने की भावना को भरना उद्योग की दिशा में एक महान् क्रांतिकारी कदम है। मानव का शोषण न करने की दिशा में भी यह संसार के शोषण कर्त्ताओं के लिए एक चुनौती है। इस प्रकार की उद्योग व्यवस्था निश्चित् रूप से एक स्वस्थ वातावरण पैदा करेगी और इससे राष्ट्र का महान् हित होगा।

५. किसी भी उद्योग में मशीनों का लापरवाही के साथ इस्तेमाल तथा उद्योग के अन्य प्रयोग में आनेवाली वस्तुओं के गलत तथा असावधानी से इस्तेमाल में लाने से बहुत बड़ी हानि होती है। इस प्रकार का छीजन और घिसाई आज कोई उद्योग ऐसा नहीं है जहाँ देखने को नहीं मिलती। इसका प्रधान कारण यही है कि काम करने वाले मजदूर उनमें अपनापन महसूस नहीं करते। भारतवर्ष से विदेशी शासन को गये बहुत दिन नहीं हुए। विदेशी शासन में सरकार के प्रति जनता में अपनेपन की भावना का उदयहोना असम्भव था। विदेशी शासन की इस विदेशी व्यवस्था में व्यक्तिगत उद्योगों का जो सिलसिला चला उसमें काम करने वालों के अन्दर भी अपनत्व की भावना उदय न होसकी। इसके फल स्वरूप विशेष रूप से भारत में जो उद्योगपनपा उसमें काम करनेवालों में पारस्परिक सद्भावना का उदय होना असम्भव था। ऐसी दशा में इस असहयोग की भावना के अन्तर्गत जो उद्योगों की स्थिति रही उसमें अपनापन महसूस करने की भावना का ही लोप रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप उद्योगों में काम

करनेवालों ने लापरवाही बरती और छीजन तथा घिसाई में उद्योगों का बहुत नुकसान हुआ। यदि भागीदारी का उदय होजाय और ये सभी काम करनेवाले यह समझसकें कि वह उद्योग उनका अपना है तो निश्चित् रूप से घिसाई और छीजन कम होजाय और उद्योग को इससे बहुत लाभ पहुँचे।

६. उद्योगों की स्थायी पूँजी उनकी मशीनें हैं। मशीनों पर काम करने वाले मजदूर हैं। जब ये मजदूर यह जानते हैं कि उन मशीनों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं और उनका सम्बन्ध केवल उनके मासिक वेतन से ही है तो उन्हें उन मशीनों के इस्तेमाल में सावधानी बरतने की विशेष आवश्यकता नहीं। परन्तु जब ये मजदूर यह समझने लगेंगे कि ये मशीनें उनकी अपनी हैं, इनमें जो रुपया लगा है वह उनके अपने खून-पसीने की कमाई का लगा है और यदि उन्हें कोई हानि होजायगी तो उससे उनका अपना ही नुकसान होगा, तो वे निश्चित् रूप से उनका इस्तेमाल बहुत सावधानी के साथ करेंगे। इसका फल यह होगा कि उन मशीनों की उम्र बढ़जायगी और इस प्रकार मशीनें अधिक दिन तक सही सलामती से काम दे सकेंगी। इसके फलस्वरूप उत्पादन भी सस्ता होगा और मजदूरों के काम में भी वृद्धि होगी।

७. उद्योगों के तीनों एजेन्टों में लाभ वितरण से औद्योगिक क्षेत्र में शांति का सम्राज्य छाजायगा और आपसी कलह तथा फूट के मिटजाने की सम्भावना है। पारस्परिक प्रेम और मोहब्बत सहयोग को जन्म देगा और सहयोग के फल स्वरूप कार्य-संचालन में सुभीता तथा प्रगति होगी। इससे उद्योग की जड़ें मजबूत होंगी और वह राष्ट्र के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। पारस्परिक सद्-भावना से उद्योग की उन्नति होगी और वह तभी सम्भव है जब हर काम करने वाला यह महसूस करे कि उसके अन्दर उसकी मेहनत का सही दाम उसे मिल रहा है और उसका शोषण नहीं होरहा।

विपक्ष :

१. इस योजना को कार्यरूप में परिणित करना नितान्त असम्भव है। किसी उद्योग में काम करने वाले हर व्यक्ति को उसकी मिल्कियत में भागीदार बनादेना और फिर उसे उसके मुनाफे में पूरा-पूरा हिस्सा देना नामुमकिन है। पूंजी लगाने वाला जब किसी उद्योग में पूँजी लगा चुकता है तो उसके सिर पर काम की काम-याबी या नाकामयाबी की पूरी जिम्मेदारी आजाती है। यदि उद्योग किसी कारण वश उसी स्थिति में समाप्त होजाता है तो उद्योग की पूरी हानि उसी के सिर पर रहती है। ऐसी दशा में उद्योग का जो एजेन्ट इतना बड़ा खतरा लेकर चलता है उसे अन्य सब की समानता में भला किस प्रकार रखा जासकता है? यह उद्योग

के असफल सिद्ध होने का खतरा ही पूंजी लगाने वाले की स्थिति को सबसे मजबूत और अहम बनादेता है।

२. किसी भी उद्योग को चालू करने के लिए पहली आवश्यकता पूंजी की होती है। यह सच है कि बिना तजुरबेकार इन्तजाम करने वालों और काम करने वालों के पास पूँजी व्यर्थ है परन्तु सब तजुरबेकारी और मजदूरी बिना पूंजी के निरर्थक होजाती है। पूंजी आज के युग में एक अहम वस्तु बनगई है, किसी भी बड़े कारोबार को चालू करने के लिए। ऊपर हम कह चुके है कि कारबार का पूरा खतरा पूंजी का ही रहता है, इसलिए मिल्कियत को भी पूंजी के क्षेत्र से बाहर नहीं लेजाया जासकता। काम करनेवालों को मंहगाई, भत्ता या अन्य किसी प्रकार की सहायता या इनाम दिया जा सकता है परन्तु उसे लाभ में भागीदार नहीं बनाया जा सकता। लाभ में भागीदार बनने का अधिकारी वही है जो हानि में भी भागीदार हो और हानि में भागीदार वही हो सकता है जिसका उद्योग या कारोबार में कुछ लगाहुआ हो। उद्योग में उस व्यक्ति को जिसकी कोई पूंजी नही लगी हुई, भागीदार नहीं बनाया जा सकता।

३. किसी भी उद्योग में काम करनेवाले यदि सभी भागीदार बन जायेंगे तो उसका इन्तजाम ढीला पड़जायगा और उद्योग उन्नति करने की अपेक्षा उल्टा अवनति करने लगेगा। इस प्रकार के जितने भी परीक्षण हुए हैं उन सब में प्रयोग करने वालों को सफलता नहीं मिली, बल्कि असफलता ही मिली है। इस प्रकार की व्यवस्था के लिए काम करने वालों में बहुत बड़ी जिम्मेदारी होने की आवश्यकता है। यह जिम्मेदारी साधारण काम करने वालों में आनी बहुत कठिन है और इसके न आने से उद्योग की व्यवस्था इतनी ढ़ीली होजाती है और काम में नुकसान होता है और इससे राष्ट्र का लाभ होने के स्थान पर उल्टी हानि ही होती है।

४. इस प्रकार की व्यवस्था में काम करनेवालों को भी संतोष नहीं होता क्यों कि वे समझते हैं कि इससे उनकी वास्तविक समस्या का हल नही निकलता। केवल आमदनी में से कुछ हिस्सा मिलजाने से वे कारोबार के अन्दर भागीदार नहीं बनते और इसलिए वे मिल-मालिकोंद्वारा दीगई इन सहूलियतों को कोरा धोखा-मात्र ही समझते हैं, उसके अन्दर उन्हें असलियत दिखलाई नहीं देती। इसके फलस्वरूप काम में जो प्रगति होने की मिल-मालिक आशा करते हैं, वह सामने नहीं आती और उन्हें भी इसमें निराशा ही होती है। जिस उम्मीद को लेकर वे काम करनेवाले मजदूरों में अपने मुनाफे का कोई भाग बाँटना प्रारम्भ करते हैं, उनकी वह उम्मीद नष्ट होजाती है और उन्हें अपनी योजना पर निराशा होती है। इस प्रकार यह व्यवस्था कामयाब सिद्ध नहीं होती।

५. कर्मचारी लोग खूब समझते हैं कि जो कुछ बोनस मिल-मालिक लोग उन्हें देते हैं वह उन्हीं की अधिक मेहनत का एक भाग है। उनकी इस अधिक मेहनत का भी बड़ा भाग मिल मालिक लोग ही हड़प करजाते हैं। ऐसी दशा में बोनस उनके काम की रफतार में कोई विशेष परिवर्तन पैदा नहीं करता। काम करनेवालों के दिमाग पर यह नक्श होचुका है कि मिल मालिक लोग कुछ अपने पास से उन्हें देनेवाले नहीं हैं। वे जो कुछ भी उन्हें देंगे वह उन्हीं की कड़ी मेहनत से कमायी पूँजी का एक छोटा सा भाग होगा। इस प्रकार यह बोनस इत्यादि की प्रथा मजदूरों की सहानुभूति प्राप्त करने में उतनी सहायक सिद्ध नहीं होती, वरन् उल्टे-धोखे का ही आरोप इसमें मजदूर-वर्ग करता है।

६. संसार के औद्योगिक क्षेत्रों में समस्याएँ बराबर पैदा होती जारही हैं और वे समस्याएँ ऐसी अहम हैं कि उनका हल इन छोटे-मोटे सुझावों से नहीं किया जासकता। बोनस या लाभ में भागीदार बनाने की बातें बहुत साधारण हैं, जिनमें उन गूढ़ समस्याओं का हल छुपाहुआ नहीं है जिनके अधीन लेनिन ने पूंजी को मजदूरी का ही पूँजीवादों द्वारा मजदूर से लूटी खसोटीहुई सम्पत्ति बतलाया है। उस पूँजी का मालिक कौन है ? पूँजीपति या मजदूर ? पहले इन समस्याओं का हल होना है तभी भागीदारी या बोनस इत्यादि की बातें सोची जायेंगी। मजदूर को उसी की मजदूरी का एक भाग बोनस स्वरूप देकर उसे धोखा देना नादानी है।

शान्ति-काल में भी बलात् फौजी भर्ती होनी चाहिए

पक्ष :

१. देश की फौजी स्थिति को मजबूत रखने के लिए शांति-काल में भी फौजी भर्ती बन्द नहीं करनी चाहिए। वास्तव में व्यवस्थित और सीखी तथा सधी-हुई फौज तभी तय्यार होसकती है जब शाँति-काल में उसकी व्यवस्था हो और उसकी ट्रेनिंग ठीक से हुई हो। युद्ध-काल में बलात् फौजी भर्ती करने से वह फौज न तो भली प्रकार सीखीहुई ही होती है और न सधीहुई। इस प्रकार की फौज के सौ सिपाही सधी हुई फौज के दस सिपाहियों का भी मुकाबिला नहीं करसकते।

२. शान्ति-काल में फौजी भर्ती न करके देश को अरक्षित बनाकर रखना आक्रमणकारी देशों को अपने ऊपर आक्रमण करने का बुलावा देने के समान है।

फौजी ताकतें जिन देशों की ऐसी अरक्षित दशा देखती हैं उनपर आक्रमण कर अधिकार करने का प्रयत्न करती हैं। सन् १९१४-१९१८ के महायुद्ध में जर्मनी ने अपने आस-पास के देशों की ऐसी ही स्थिति का लाभ उठाकर उनपर आक्रमण किया। यदि सन् १९१८ की युद्ध-समाप्ति के पश्चात् वे सभी देश जिनपर जर्मनी ने आक्रमण किया था, अपनी शक्ति को बनायेरखते और अपनी फौजी भर्ती बन्दकरके न बैठजाते तो सम्भव था कि जर्मनी फिर सन् १९३९-४५ के युद्ध में न कूदता और संसार इस महायुद्ध की दुर्घटना तथा बर्बादी से बचजाता अपनी फौजी शक्ति को कमजोर बनाना इसीलिए फौजी ताकतों को बढ़ावा देने के समान है और फौजी ताकत बढ़ाकर ही इस प्रवृत्ति वाली शक्तियों को रोका जा सकता है।

३. गत महायुद्धों में जिन-जिन देशों ने आक्रमणकारियों का मुकाबिला किया उन्हें बलात फौजी भर्ती अपने देशों में लागू करनी पड़ी। इङ्गलैंड में गत दोनों युद्धों के अन्दर इस नीति को अपनाया गया और उसके फलस्वरूप युद्ध में कामयाबी मिली। इंगलैण्ड की मान-मर्यादा इसी नीति को अपनाने से बची। परन्तु साथ ही यहाँ यह भी समझलेना आवश्यक है कि यदि इस नीति को दोनों गत युद्धों के बीच छोड़ न दियाजाता तो कभी भी दूसरा युद्ध न लड़ा गया होता और यदि लड़ा भी गया होता तो उसका मुकाबिला करने के लिए इंगलैंड अधिक सतर्क और शक्तिशाली होता। उसकी फौजें, जो युद्ध काल में भर्ती की गईं, उनसे अधिक कुशल होतीं और उन्हें आक्रमणकारियों को परास्त करने में अधिक सफलता मिलती। सैनिक भर्ती का काम इसलिए किसी विशेष समय पर न करके स्थायी रूप से करना आवश्यक है।

४. शांति-काल में जो बलात् फौजी भर्ती की जाय उसमें यह आवश्यक नहीं है कि उन सभी भर्ती किये गये सिपाहियों को एक नियमित फौज का रूप देदिया जाय, बल्कि उसके स्थान पर एक जनता की सीखी फौज तय्यार होना चाहिए जिसे फौजी तालीम देकर स्वतंत्र कर देना आवश्यक है। ये सीखे हुए जनता के सैनिक अपने निजी उद्योगों तथा व्यापारों में कार्य करते रहें और अवसर पड़ने पर इन्हें नियमित फौज का रूप दिया सके। इस प्रकार की व्यवस्था कभी भी देश को अरक्षित स्थिति में नहीं छोड़ती। राष्ट्र हर समय अपने को सुरक्षित महसूस करता है और हर प्रकार के खतरे का सामना करने के लिए तय्यार रहता है। इस प्रकार की बलात भर्ती देश में हर समय सीखी हुई सेना को बनायेरखेगी, जिससे देश की स्थिति बनी रहेगी।

५. आज परमाणु-बमों इत्यादि की ईजाद के साथ-साथ युद्ध की सम्भावना ऐसी बनगई है कि किसी भी समय किसी दिशा में फूटनिकलसकता है। ऐसी

गम्भीर स्थिति में फौजी शिक्षा के लिए किसी भी राष्ट्र के पास बहुत कम समय रहता है। इसलिए समय आने पर ही फौजी स्थिति को मजबूत करने का विचार करना आज के युग में मूर्खतापूर्ण विचार है। आज हर राष्ट्र को चाहिए कि वह अपनी सैनिक स्थिति को हर समय मजबूत बनाये और अपनी जनता के युवकों को हर गम्भीर स्थिति का मुकाबिला करने के लिए तय्यार रखे। जो राष्ट्र आज अपने को पहले से मजबूत नहीं बनायेरहेगा वह समय आने पर आक्रमणकारियों का ग्रास बनजायगा और उसका सब सांस्कृतिक विकास एक क्षण मात्र में स्वप्नलोक की कहानी बनजायगा। इस स्थिति से अपने-अपने देश और राष्ट्र की रक्षा के लिए देश में बलात फौजी तालीम और भरती को बराबर बनाये रखने की आवश्यकता है।

६. उक्त प्रकार की सैनिक-व्यवस्था देश की सुरक्षा है। इसका निर्माण किसी को भयभीत करने या आक्रमण करने के लिए नहीं होता वरन् अवसर पड़ने पर सुरक्षा के लिए होता है। जो देश फौजी शक्ति पर विश्वास रखते हैं वे इस प्रकार की जनता-सेना तय्यार न करके निश्चित रूप से स्थायी सेना (Standing Army) की व्यवस्था करना पसंद करेंगे। हमारा सुझाव इस प्रकार की स्थायी सेना बनाये रखने की दिशा में नहीं है। हम तो चाहते हैं कि देश में सैनिक शिक्षा-प्राप्त अधिकाधिक व्यक्ति रहें और उनके बल पर देश कभी भी अपने को अरक्षित महसूस न करसके। इस शक्ति से राष्ट्र हर समय अपनी नसों में उस बल का अनुभव करेगा कि जिसे वह जब चाहेगा तभी अपने आक्रमण कारियों के विरुद्ध इकट्ठा कर सकेगा।

७. इस प्रकार की जनता-सेना को आक्रमण के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता क्योंकि युद्ध में सब से अधिक हानि जनता की होती है और आज का सुशिक्षित तथा प्रगतिशील मानव-समाज इस रहस्य से अनभिज्ञ नहीं रहगया है। इस प्रकार की सेना अपने उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ नहीं रहेगी और इसलिए यह कभी भी कोई ऐसा कार्य नहीं करेगी जिससे विश्व-शांति को ठेस लगे और कोई युद्ध की परिस्थिति पैदा हो। प्रजातंत्रवाद की सुरक्षा के लिए इस प्रकार की सेना का संगठन नितान्त आवश्यक है। वह जनता की सेना प्रजातंत्र को संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करसकेगी।

८. सैनिक-व्यवस्था में एक नैतिक और शिक्षापूर्ण नियामकता है। साथ ही इससे राष्ट्र के संगठन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है और जब इस व्यवस्था का प्रसार शिक्षा-संस्थाओं में होता है तो वहाँ वे विद्यार्थियों में स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुधार बहुत अधिक मात्रा में होता है। फौजी शिक्षा भी स्वास्थ्य के लिए उसी प्रकार लाभप्रद है जिसप्रकार स्कूली खेल-कूद होते हैं, परन्तु इनमें अन्तर यही है

कि खेल कूद का सम्बन्ध केवल स्वास्थ्य से ही रहता है, जीविका से नहीं। फौजी तालीम जीविका का साधन भी बन सकती ही नहीं, बनती भी है।

६. बलात फौजी भर्ती के खिलाफ जो सबसे बड़ी भावना है वह यह है कि इस प्रकार की फौजी शिक्षा के फल-स्वरूप उस फौज के इस्तेमाल की समस्या सामने आजायगी। परन्तु यह धारणा व्यर्थ है। उदाहरण स्वरूप स्विस-सेना को हम लेसकते हैं जो कभी अपने पास पड़ोसियों के लिए खतरा नहीं बनी और सर्वदा ही उसने अपने देश की रक्षा आक्रमणकारियों से की है। इस प्रकार की सैनिक व्यवस्था विश्व-शांति के लिए आवश्यक और लाभदायक है और यह वास्तव में यदि खतरा साबित होगी तो उन आक्रमणकारी नीति वालों के लिए होगी जो सैनिक रूप से अव्यवस्थित तथा असंगठित देशों को अपना शिकार समझना चाहते हैं।

विपक्ष :

१. बलात सैनिककरण की नीति आस-पास के अन्य देशों में उस देश के प्रतिशङ्का पैदा कर देती हैं और सबको यह भय होने लगता है कि पता नहीं कब वह देश आक्रमणकारी बनकर उनमें से किसी पर आक्रमण कर दे। उन्हें भी अपनी रक्षा के लिए सतर्क हो जाना होता है और इसके फलस्वरूप उनका सैन्य-वयवस्था का खर्चा बढ़जाता है। यह व्यय यदि किसी उत्पादक कार्य के लिए कियाजाय तो उससे राष्ट्र में वास्तविक शक्ति का संचार हो और देश में रहनेवाली जनता को कुछ लाभ हो। केवल भावी सुरक्षा के विचार से नित्य खर्च करते चले जाना कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

२. सैनिककरण की नीति अपनाने से समस्त देश एक ऐसी व्यवस्था में बँधजाता है कि राष्ट्र का सामाजिक जीवन कुछ अपने को बंधाहुआ महसूस करनेलगता है। उसे अपने मार्ग में प्रतिबन्ध दिखलाई देने लगेंगे और वह अनुभव करने लगेगा कि उसके देश की सरकार ने उसके जीवन को जकड़ दिया है, उसकी स्वतंत्रता को नष्ट करदिया है। सैनिक शिक्षा और संगटन युद्ध-काल में हर व्यक्ति आवश्यक समझता है परन्तु शांति-काल में यह भार-स्वरूप ही ग्रहण किया जाता है। इस राजाज्ञा को उत्साह के साथ कोई भी ग्रहण नहीं करता।

३. इस प्रकार का सैनिककरण करने वाले देश पर यदि कोई अन्य देश आक्रमण भी करता है तो उसे यह कहने के लिए स्थान रहता है कि सारा दोष उसी का नहीं है। जब उसका पडौसी देश उसके बराबर में बैठा अपनी सैनिक शक्ति बढ़ारहा है तो उसे क्या पता कि वह उसकी बढ़तीहुई शक्ति किस समय उसपर टूट पड़े। उसके इस खतरे को कोई भी देश नासमझीपूर्ण या अतिशयोक्तिपूर्ण

नहीं बतलासकता। निष्पक्ष जाँचपड़ताल का यदि कोई कमीशन इस बात की जाँच करे तो ऐसे देश को यह साबित करना कठिन होजायगा कि उस देश ने अपना सैनिककरण केवल अपनी सुरक्षा के लिए ही किया है। उसकी नीयत पर शक करना साधारण बात है।

४. जनतासेना जब किसी विशेष अवसर पर एकत्रित की जाती है तो उसमें भर्ती होने वाले वीरों में जो भावना उत्पन्न होसकती है वह एक साधारण क्रम से सैनिक कार्य सीखने वाले व्यक्तियों में नहीं हो सकती। जो लोग भर्ती किये जाते हैं वे एक उद्देश्य को लेकर भर्ती होते हैं और जो लगातार सैनिक शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं उनके अन्दर उस उत्साह का अभाव रहता है।

५. जबरन फौजी भर्ती किसी आपत्ति काल की परिस्थिति का सामना करने के लिए कीजाती है। परन्तु इस भर्ती के नतीजे बहुत खराब और निराशाजनक निकलते हैं। कभी-कभी कुछ परिवारों के ऐसे आवश्यक व्यक्तियों की इन फौजों में भर्ती होजाती है कि जिनपर बड़े-बड़े परिवारों का दारोमदार रहता है। यदि कहीं दुर्भाग्यवश उनकी मृत्यु होजाती है तो उनके बड़े-बड़े परिवार लावारिस हो जाते हैं और इसप्रकार मानव समाज के सामने और समस्याएँ खड़ी होजाती हैं। इस प्रकार की जबरदस्ती भर्ती की हुई फौज के सिपाहियों में वास्तविक उत्साह का अभाव रहता है। उस अभाव के साथ न तो ये फौजी उत्साह के साथ लड़ही सकते हैं और न वह बहादुरी ही दिखासकते हैं जो समय की आवश्यकता होती है। सन् १९४० में फ्राँस में इसी प्रकार की फौजें तय्यार की गईं और उनका परिणाम बहुत निराशाजनक निकला।

६. आज के युग में युद्धकालीन परिस्थितियों का मुकाबिला करने के लिए अधिक संख्यक सेना की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अधिक सीखीहुई और योग्य सेना की आवश्यकता है। शांति-काल में भी बलात् फौजी भर्ती करने का फल यह होगा कि देश की अधिक से-अधिक आय फौज पर ही खर्च होने लगेगी और इससे जनता पर और टैक्स लगाने की आवश्यकता महसूस होगी। जनता पर अधिकाधिक करों का बोझा लादने और उस रुपये को अनुत्पादक कार्य पर व्यय करने का फल यह होगा कि देश की जनता बराबर युद्ध की आशंका के नीचे पिसती चलीजायगी और दिन-पर-दिन जनता के रहन-सहन का स्तर नीचे गिरता चलाजायगा, इस प्रकार की बलात् फौजी भर्ती शांति काल में देश के अन्दर विद्रोहात्मक स्थिति पैदा कर देगी और जनता की गिरतीहुई परिस्थितियाँ उसे इसकी खिलाफ़त करने के लिए बाध्य कर देंगी।

७. शांतिकाल में बलात् फौजी भर्ती के बुरे परिणामों के उदाहरण स्वरूप हम जर्मनी की सन् १९१४-१८ तथा सन् १९३९-४५ की दशा को लेसकते हैं

इस भर्ती के फलस्वरूप वहाँ एक बहुत बड़ी जमायत बड़े-बड़े अफसरों की पैदा हो गई जिन्हें अपना अस्तित्त्व सँभालने के लिए युद्ध की आवश्यकता हुई। एक शांतिप्रिय देश में यदि इस प्रकार की जमायत पैदा होजायगी जो वह देश अधिक दिन तक शांतिप्रिय नहीं बना रहसकता। इस प्रकार की जमायत के लोग हर समय युद्ध करने का कारण खोजने पर जुट जायेंगे और कोई न कोई सही या गलत अवसर किसी से लड़ने-भिड़ने का खोज ही निकालेंगे। इस प्रकार शांतिकाल में फौजी भर्ती और उसकी उन्नति में संलग्नता को हम युद्ध का आवाहन मात्र ही समझते हैं और कुछ नहीं।

शासन-व्यवस्था सामूहिक हितानहित पर आधारित होनीचाहिए

पक्ष :

१. पुराने जमाने की विचारधारा कि शासन व्यवस्था का सम्बन्ध केवल देश में उसके निवासियों तथा उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा करना और शांति तथा स्वतंत्रता स्थापित करना है, आज के युग को मान्य नहीं। यह मान्यता इतनी पुरानी होचुकी है कि आज इसी तक सीमित रहने वाली शासन-व्यवस्था निरर्थक है और इसका विश्व की राजनीति के क्षेत्र में कोई महत्त्व ही नहीं रहगया है। हर प्रकार के आर्थिक दवाव,—कीमतों का उतार चढ़ाव, बेरोजगारी, मजदूरों तथा जमीन की समस्या,—इत्यादि जनता पर अधिक जुल्मों के कारण बने हुए हैं बनिस्बत उन आक्समिक आक्रमणों के जो इतिहास में कभी-कभी आकर उपस्थित होते हैं। ये नित्य की समस्याएँ हैं और इनका देश की जनता के सुख तथा समृद्धि से नित्य का सम्बन्ध है। इनका हल करना उन आक्रमणों का सामना करके देश की जनता की सुरक्षा से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। देश में जो लोग आर्थिक दृष्टि से मजबूत हैं उनके अत्याचारों तथा शोषण से उन लोगों की रक्षा करना जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं, देश की शसन-व्यवस्था का कर्तव्य है। इसलिए देश की राज्य व्यवस्था को देश की प्रधान उत्पादन और वितरण एजेन्सियों को अपने हाथ में लेकर उनका प्रबन्ध राष्ट्र के हितार्थ करनाचाहिए। इस प्रकार के उत्पादन तथा वितरण के साधनों परकिन्हीं व्यक्ति विशेषों या वर्ग विशेषों का अधिकार होजाने से देश की अधिकाँश जनता उसका लाभ नहीं उठासकेगी और उनका योग राष्ट्र उत्थान में नहीं मिलसकेगा।

२. आज के युग में किसी देश की जनता के आर्थिक क्षेत्र में सरकार द्वारा

हस्तक्षेप करना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं रहगई है। हालांकि ऐसे व्यक्तिवादी लोगों की कमी नहीं जो इस युग में आर्थिक हस्ताक्षेप की अपेक्षा बलात् फौजी भर्ती को तरजीह देते हैं। यह उनकी स्वार्थप्रिय मनोवृत्ति का द्योतक है क्योंकि वे जानते हैं कि बलात् भर्ती से अधिकांशलोग गरीब ही होते हैं जिनका आर्थिक हस्ताक्षेप से को सम्बन्धी नहीं होता। व्यक्तिवादी लोग अपनी स्वार्थप्रिय मनोवृत्ति की तृप्ति के लिए सामूहिक हानि करते हैं।

३. व्यक्तिगत पूंजीवाद ने काफी हद तक उन्नति की है और उसे इस दिशा में सफलता भी मिली है परन्तु यह सफलता उस हद तक नहीं पहुँची है जिस हद तक कि औद्योगिक उन्नति को पहुँचना है। जहाँतक किसी दिशा में आगे कदम बढ़ाने की बात है वहाँ तक व्यक्तिगत पूंजीवाद बढ़ा परन्तु उसके अन्तर्गत मानव-हितकारी भावना न पनप सकी। उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना ने ही जन्म लिया और उसके फल-स्वरूप समाज के कुछ लोग तो बहुत अमीर हो गये और कुछ गरीब। जो अमीर होतेगये उन्होंने गरीबों का शोषण आरम्भ किया और इसके फलस्वरूप अन्त में वर्ग-संघर्ष ने जन्म लिया। देश की शासन-व्यवस्था को इस वर्गसंघर्ष का मुकाबिला करना पड़ा और इसकी शांति के सुझावों के फलस्वरूप शासन-व्यवस्था के नये रूप ने जन्म लिया जिसमें सरकार अपने को अपनी जनता की आर्थिक समस्याओं के सुलझाने से प्रथक न रख सकी। सामूहिक हितानहित का ध्यान इसी समाज की उपज है, जिसे भुलाकर आज की सरकार शासन-व्यवस्था नहीं चलासकती।

४. आज पूंजीवाद का ह्रास-काल है। पूंजी मजदूरी में से काट-छाँटकर कुछ स्वार्थी पूंजीवादियों ने एकत्रित की है। यह उसी समय तक एकत्रित होती रही और होती रहेगी जब तक जिन मजदूरों की मजदूरी काटी जा रही है वे इस राज से अनभिज्ञ है और उनके पास तक विद्या का प्रकाश नहीं पहुँच पाया है। परन्तु ज्यों ही उनके पास विद्या का प्रकाश पहुँचा और उन्होंने यह अनुभव किया कि पूंजीवादी पर एकत्रित पूंजी उन्हीं की मेहनत में से छीनकर खसोटी हुई धन-राशि है तो वे उसे मांगने-छीनने और जबरदस्ती हासिल करने का प्रयास करेंगे। इसके करण संघर्ष होगा और इस संघर्ष में सचाई की विजय होगी। पूंजीपतियों को मजदूरों की लूटी-खसोटी सम्पति लौटानी होगी। इससे सम्पूर्ण मानव-समाज का स्तर ऊपर उठेगा और हर दिशा में तरक्की दिखलाई देगी। इससे कम आदमियों को हानि और अधिक आदमियों को लाभ होगा।

५. यदि कोई सरकार अपने को अधिकाधिक देश में रहने वालों की प्रतिनिधि मानती है और वास्तव में वह अधिकाधिक लोगों की शुभचिंतक है तो उसे ऐसे कार्य करने होंगे जिनसे अधिकाधिक लोगों को लाभ हो। भारत के विभिन्न

प्रदेशों ने जमींदारी-प्रथा को समाप्त करके उनकी भूमि काश्तकारों को देदी। इससे जो कुछ थोड़े जमींदार पनप रहे थे और ठाली पड़े कृषकों का खून पीरहे थे उनकी समाप्ति हो गई तथा काश्तकारों की दशा में सुधार हुआ। यह कार्य अधिकाधिक लोगों के लाभार्थ सरकार ने किया। आज के युग की सरकारों को इसी प्रकार की आर्थिक नीतियाँ अपनानी होंगी, तभी उन्हे जनता का सहयोग प्राप्त हो सकेगा अन्यथा नहीं।

६. जिन देशों में प्रजातंत्रीय शासन-व्यवस्था है वहां तो सरकारों का इस प्रकार की नीति अपनाये बिना काम नहीं चलसकता। कोई भी सरकार चाहे क्यों न हो उसे एक निश्चित अवधि के पश्चात् जनता के पास अपना लेखा-जोखा लेकर पहुँचना ही होगा और यदि उसने अपने पिछले शासन-काल में अधिकाधिक जनता के हितार्थ शासन नहीं किया है तो उसका भविष्य अंधकारपूर्ण बनजाता है। उसे आगामी चुनावों में जनता का समर्थन प्राप्त नहीं होसकता। आज वह सरकार अधिक स्थायी रूप से कार्य कर सकेगी जो सामूहिक हितानहित पर ध्यान देगी और कुछ व्यक्ति विशेषों के लाभार्थ सामूहिक हितों की अवहेलना नहीं करेगी। आज जो सरकार जनता की आवाज को ठुकराकर अपना दृष्टिकोण संकुचित रखेगी उसे जनता की मान्यता प्राप्त नहीं होसकती।

७. आज किसी भी देश और उसकी जनता को समुन्नत बनाने के लिए केवल मजदूरों को दियेजानेवाले भत्ते, इनाममंहगाई इत्यादि से ही काम नहीं चलसकता। आज तो सरकार को नये तरीके अपनाने होंगे और वे तरीके सामूहिक हितको ध्यान में रखकर अपनाने होंगे। देश की आर्थिक उन्नति भी तभीसम्भव है जब वहां की जनता खुशहाल हो और जनता खुशहाल तभी होसकती है जब उसके रहने वालों में वहां की उत्पादित वस्तुओं का विभाजन सही अनुपात से हो। यह अनुपात ठीक तभी हो सकता है जब सरकार का दृष्टिकोण सामूहिक उन्नति की ओर हो और वह जो कानून भी बनाये उसे पहले ठीक से नाप तोलकर देख ले कि कहीं उसके लागू होजाने से गरीब और गरीब तो नहीं होता और धनवान पर और अधिक पूंजी तो जमा नहीं होसकती। इस बात को ध्यान में रखे बिना सरकार जो कार्य करेगी वही उसका कार्य असामूहिक कार्य होगा और उसीसे अधिक व्यक्तियों की हानि और कम व्यक्तियों को लाभ होने की सम्भावना है। ऐसे कामों का नतीजा यह होगा कि देश की अर्थ-व्यवस्था खराब होगी और देश के विभिन्न वर्गों में संघर्ष की सम्भावना बढ़जायगी।

८. युद्ध-काल में पूंजीवादियों की मनोवृत्ति पर अधिकार करना सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है। इन पूँजीवादियों में अधिकांश अपने देश के हितैषी ही होते हैं परन्तु जब व्यक्तिगत की बात सामने आती है तो उनका झुकाव उस ओर

होजाता है। सरकार को ऐसी दशा में अपने नियमों का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। सन् १९३९-४५ के महायुद्ध में हालांकि इंगलैंड के शासन की बागडोर उन्हीं लोगों के हाथों में थी जो स्वयं बड़े पूंजीपति हैं और पूंजीवाद के पक्षपाती हैं तथा सामूहिक योजनाओं के विपरीत विचार रखनेवाले हैं, परन्तु उन्हें भी देश के उद्योगों और व्यापारों को अधिकाधिक अपने नियंत्रण में रखनेकी नौबत आगई। नौबत यहां तक आई कि अधिकांश फैक्ट्रियाँ तथा कारखाने उन्होंने अपने ही इन्तजाम में लेकर चलाये और इसीसे उनकी अव्यवस्थित स्थिति को सँभाल कर देश की बिगड़ती हुई दशा को कायम रखसके। खेती और खाद्य के मंत्रालयों ने खाद्य-सामग्री के आयात और पैदावार को अपने हाथों में लेलिया और इसपर से व्यक्तिगत दखल को एक दम समाप्त करदिया। ऐसा करने से देश की जनता में बढ़नेवाली बेचैनी दूर हुई और पूँजीपतियों ने जो मुनाफाखोरी का बाजार गर्म करके चोर बाजारी का सिलसिला शुरू करदिया था उसकी रोकथाम हुई। जनता को इससे काफी लाभ हुआ और इसका प्रभाव देश के सभी उद्योगों पर समान रूप से पड़ा, क्योंकि भोजन की समस्या औद्योगिक केन्द्रों में रहनेवाले हर व्यक्ति के सामने समान रूप से आकर खड़ी होगई थी। सरकार की इस सामूहिक नीति के फलस्वरूप देश खाद्य-सामग्री की कमी का शिकार होने से बचगया। यदि सरकार ने यह कदम न उठाया होता तो देश में तबाही और अविश्वास फैल जाता तथा सरकार पर से लोगों का विश्वास उठजाता। यह परिस्थिति भारत में बहुत गम्भीर स्थिति में पैदा हुई थी और उसी के फलस्वरूप सरकार को राशन-व्यवस्था कायम करनी पड़ी थी, जिसे शहरों की जनता को साधारण मूल्य पर अन्न प्राप्त होसका। यदि यह व्यवस्था न होती तो खाने के लिए लूटमार होनी प्रारम्भ होजाती। पूंजीपति लोग अन्न को जमा करके परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए चौगुनी तथा पंचगुनी पूंजी बनाने की सोचते और भूखे लोग अपने पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए उनके गोदामों को लूट लेते। नतीजा यह होता कि देश में अशांति फैलजाती और सरकार को युद्ध की कठिन समस्या को सुलझाना कठिन होजाता। सरकार की सामूहिक हितकारी विचारधारा ने उसे इस कठिन परिस्थिति में पड़ने से रोकदिया।

९. व्यक्तिगत उद्योग-व्यवस्था में समस्त कार्य का आधार और प्रेरणा व्यक्तिगत लाभ है। इस लाभ का योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही इस लाभ से योग्यता आती ही है। व्यक्तिगत अधिकार में चलने वाले उद्योगों को व्यक्ति उसी हद तक संचालित रखना चाहते हैं जहाँ तक उन्हें अधिकाधिक लाभ होता है। उससे आगे बढ़ना न वे उचित समझते हैं और न ही मानवहितकारी उसे बढ़ाना चाहते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों को रोकने से मनुष्य मात्र का अहित होता है।

इस प्रकार व्यक्तिगत अधिकार अपने हित के लोभ में फँसकर मानव-हित की अवहेलना करता है, जिसे आज की शासन-व्यवस्था कभी भी सहन नहीं करसकती। सामूहिक योजनाओं से सम्बन्ध रखनेवाली शासन-व्यवस्था कभी भी इस प्रकार के व्यक्तिगत प्रतिबन्धों को बर्दाश्त नहीं करसकती और यदि उसके देश में इस प्रकार का पूंजीपति स्वार्थी समुदाय पैदा होगया है तो उसे कानून उसकी कार्यवाहियों पर प्रतिबन्ध लगानाहोगा। बिना प्रतिबन्ध लगाये इस प्रकार की स्वार्थप्रिय मनोवृत्ति को रोकना असम्भव है।

१०. किसी भी व्यापार या उद्योग के केन्द्रीयकरण से उसमें उन्नति होती है और उत्पादन में वृद्धि होती है। इससे उस दिशा में लाभ होता है और उसमें काम करनेवालों की दशा में सुधार होता है। पहले जब रेलों की व्यवस्था हुई तो इनका इंतजाम भी व्यक्तिगत पूंजीवादी संस्थाओं के ही हाथ में था। उस समय रेल की शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं उठाया जासकता था। रेल-जैसी लाभदायक शक्ति का सही और अधिकाधिक उपयोग करने के लिए सरकार को उसे अपने हाथों में लेनापड़ा। इसका नतीजा यह हुआ कि देशों में रेलों का जाल पुर गया और उसके द्वारा हर प्रकार के उद्योगों की उन्नति हुई। साथ ही युद्ध-काल में सेना को इधर-से-उधर लेजाने में भी ये सहायक सिद्ध हुई। इसीप्रकार अकाल इत्यादि के समय में भी इनके द्वारा आसानी से कम समय में मदद पहुँचाईजानेलगी। सरकार को इनसे बहुत लाभ हुआ और जनता को भी इनसे सामूहिक लाभ हुआ। व्यक्तिगत रूप से इनका इतना विस्तार के साथ विकास कभी भी सम्भव नहीं था।

इसीप्रकार कोयले की कानों का कार्य भी सरकार ने अपने हाथों में सम्भाला और उसे सामूहिक उद्योग या कारोबार का रूप दिया। व्यक्तिगत प्रबन्ध में बहुत सी कानों में या तो काम ही ठीक प्रकार से नहीं होता था या उनसे उन कानों का जितना होना चाहिए था उतना उपयोग नहीं लियाजाता था। सरकार के प्रबन्ध में आकर मजदूरों की दशा सुधरी और कारबार का विकास हुआ, जिससे उन देशों की राष्ट्रीय उन्नति में योग मिला। सरकार-द्वारा इन कामों को अपने हाथों में लेलेने से पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता समाप्त होगई और उसमें व्यर्थ नष्ट होनेवाली शक्ति का उपयोग उत्पादन-कार्यों के लिए होनेलगा। पूंजीवादियों के काम में जो अयोग्यतापूर्ण काम होरहे थे उनमें काबिल आदमियों का योग मिला और इस योग से वह काम योग्यतापूर्वक चालू होगया।

इन कामों के सरकार के हाथों में आजाने से इनका संचालन लाभ की दृष्टि से न होकर जनता की भलाई के लिए हुआ। इन कारोबारों में इस प्रकार चाहे कम लाभ हुआ, परन्तु इनसे प्रभावित अन्य छोटे-बड़े उद्योगों को काफी लाभ

पहुँचा और इस प्रकार राष्ट्र की आर्थिक दशा पर उसका बहुत ही स्वस्थ प्रभाव पड़ा। राष्ट्र समृद्धिशाली बना और उससे सामूहिक लाभ हुआ। बहुत सी चीजों के ऊँचे दाम, जैसे उदाहरणार्थ मंहगे कोयले और मंहगे रेल भाड़ों के कारण, हो जाते थे, वे गिरे और उसका लाभ समस्त देश को हुआ।

११. व्यक्तिगत व्यापारी या उद्योग-पति किसी भी कारोबार में एकाधिकार (Monopoly) की भावना को लेकर चलते हैं और तभी उन्हें अधिक लाभ होने की सम्भावना है। आज राष्ट्रीय सरकारों के सामने यह प्रश्न है कि उस एकाधिकार (Monopoly) का लाभ कुछ कम्पनी के सदस्यों (share hld-ears) को ही हो, या समस्त राष्ट्र को। सरकार का सम्बन्ध यदि राष्ट्र से है तो वह उनका ध्यान रखेगी। आज समस्त विश्व कम्यूनिस्ट तथा प्रजातंत्रीय शासनों के आधीन है। जिन देशो में पूँजीपति सरकारे भी हैं वहाँ भी ऊपरी ढकोसला प्रजातंत्र का ही है। आज वहाँ भी सरकारें जनता की अवहेलना करके नहीं चल सकतीं। वहाँ भी एकाधिकार का प्रश्न नहीं खड़ा होता है, सामूहिक उत्थान और उपयोग को ही प्रथम स्थान देना होता है। परन्तु जहाँ कम्यूनिस्ट और प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्थाएँ हैं वहाँ तो निश्चित् रूप से सामूहिक लाभ को ही ध्यान में रखकर हर कार्य संचालित होता है। वहाँ व्यक्ति को समाज के लिए हमेशा बलिदान देनाहोगा।

१२. सरकारी महकमों का प्रबन्ध आमतौर पर कुशलतापूर्वक योग्यता के साथ कियाजाता है और उनके द्वारा संचालित कामों में सफलता भी मिलती है। सरकार द्वारा संचालित डाक-तार का महकमा, नहरों का प्रबन्ध, बड़े-बड़े सरकारी या अर्ध-सरकारी कारखानों का प्रबन्ध, बैंक इत्यादि ऐसे काम हैं जिन्हें व्यापार की ही संज्ञा ही दी जायगी, और इनका प्रबन्ध सरकारों-द्वारा बहुत ही योग्यतापूर्वक चलायाजारहा है। सरकार इसी प्रकार अन्य बड़े-बड़े कारोबारों को भी संभाल सकती है और उन्हें कुशलतापूर्वक सामूहिक उन्नति तथा लाभ के लिए संचालित करसकती है।

१३. आज कर्मचारियों में यह भावना जाग्रत होचुकी है कि वे सरकारी उद्योग और कामों में अधिक योग्यता और मेहनत के साथ काम करते हैं, बनिस्बत किसी व्यक्तिगत संस्था या कारोबार में काम करने के। सरकारी काम को वे अपना काम समझते हैं और यह भी समझते हैं कि उससे जो लाभ होता है वह भी राष्ट्र-हित के ही लिए व्यय होता है, परन्तु व्यक्तिगत लाभ के साथ उनकी कोई सहानुभूति नहीं होती। उस काम में काम करते समय वे अपना शोषण होता हुआ देखते हैं। व्यक्तिगत कारोबार में अधिकाधिक काम और कम-से-कम मजदूरी के सिद्धान्त का पालन होता है, परन्तु जो काम सामूहिक लाभार्थ किये जाते

हैं उनमें 'उचित काम और उचित वेतन' के सिद्धान्त पर चलाजाता है। यहाँ काम करने पर काम करनेवालों में मालिक और नौकर की हीन भावना का उदय नहीं होता। सरकारी काम हर काम करनेवाले का अपना राष्ट्रीय काम होता है और उसके उत्थान के लिए प्रयत्न कराना उसका अपना कर्तव्य होता है। इस प्रकार कर्तव्य की भावना को लेकर जो कार्य कियाजाता है वह सही भी होगा और उसकी रफतार भी तीव्र होगी। इससे उत्पादन में वृद्धि होगी और राष्ट्र को सामूहिक लाभ होगा। आज कानों में जो काम होरहा है उसका यदि उस समय के काम से मुकाबिला कियाजाय जिस समय इनका प्रबन्ध और संचालन व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा होता था, तो दोनों में कोई तुलना ही नहीं होसकती। इंग्लैंड में उन दिनों आम मजदूरों ने उसमें सहयोग नहीं दिया था, परन्तु जब उनका काम राष्ट्रीय सरकार ने संभाला तो मजदूरों ने उसमें सहयोग दिया। आज उससे राष्ट्र तथा सरकार को काफी लाभ होरहा है।

१४. आज के युग की प्रधान बुराइयाँ,—जिन्होंने व्यक्तिगत तथा सामूहिक विचारधारा को जन्म दिया,—मजदूरी और लाभ के बीच निरन्तर बढ़ने वाला फर्क, उत्पादित सामान का गलत बटवारा और खरीदने की शक्ति के उतार चढ़ाव हैं। सामूहिक विचारधारा इन बुराइयों को दूर करने का एकमात्र सुझाव है। सामूहिक कार्यों में व्यक्ति के लाभ पर दृष्टि न रहकर सामूहिक लाभ की ओर ही ध्यान रहता है और इस प्रकार सामूहिक लाभ के साथ व्यक्तिगत लाभ अपने आप होजाता है। आज के युग में कोई भी सरकार जो सामूहिक लाभ को दृष्टि में रखकर अपने कार्य का संचालन नहीं करेगी, वह लोकप्रिय सरकार नहीं बनसकती और जो लोकप्रिय सरकार नहीं होगी वह प्रजातंत्री युग में अपनी सत्ता को कायम नहीं रखसकती।

विपक्ष :

१. किसी देश की सरकार का काम राष्ट्र के राज्य-कार्यों का संचालन करना है, न कि व्यापार और उद्योगों की झंझटों में फँसना। सरकार को राज्य में शांति-व्यवस्था कायम रखनीचाहिए और स्वतंत्रता की स्थिति को कायम रखनाचाहिए। सरकार विशुद्ध रूप से राजनैतिक संस्था होती है, जिसका ध्येय राष्ट्रीय स्वतंत्रता कायम रखना रहता है और व्यक्ति तथा सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षाकरना भी उसका काम है। यदि सरकार इन सीमाओं का उल्लंघन करती है तो वह गलती करती है और इसके फलस्वरूप बहुत सी दिक्कतें पैदा होसकती हैं। सरकार को इन दिक्कतों से दूर रहनाचाहिए क्योंकि इन दिक्कतों में फँसकर वह अपने काम में भी ठीक व्यवस्था नहीं रखसकती। इससे शासन में अव्यवस्था आ जाती है।

२. किसी काम पर सामूहिक अधिकार होने का अर्थ होता है एकाधिकार। यह एकाधिकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक है। इसका अर्थ है कि उस क्षेत्र में न तो कोई स्वतंत्र व्यक्ति अपनी पूँजी का ही उपयोग करसकता है और न मस्तिष्क का। यह व्यक्ति के प्रति सामूहिकता का अन्याय है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बाधा पहुँचाने से नवीनतम खोजों और आविष्कारों के प्रति व्यक्तिगत संलग्नता समाप्त होजायेगी और भविष्य में उन्हें संदेह होनेलगेगा कि उनकी मेहनत का फल कहीं सामूहिक नीतिधारी सरकार हड़प न करले। आज जितने भी आविष्कार, व्यापार तथा उद्योग दिखलाई देरहे हैं ये सब व्यक्तिगत प्रयासों के ही फलस्वरूप दिखलाईदेते हैं। यदि इन आविष्कार-कर्त्ताओं को कार्य प्रारम्भ करने से पूर्वयह ज्ञात होता कि इन्हें किसी दिन उनके या उनके उत्तराधिकारियों के हाथ से छीनलियाजायेगा तो सम्भवतः वे इन्हें न ही करते या यदि करते भी तो उस संलग्नता के साथ न करते। इस प्रकार यह नीति भविष्य में व्यक्तिगत प्रयासों को प्रोत्साहन नहीं देती, जिससे मानव-समाज का हित होने के स्थान पर उल्टी हानि ही अधिक होगा।

३. व्यक्तिगत उद्योगों और व्यापारों को क्यों प्रोत्साहन मिलना चाहिए, इसका कारण देने की आवश्यकता नहीं। व्यक्तिगत उद्योगों और व्यापारों की प्रगति देखकर ही इनकी आगामी उन्नति में योग देना सरकार का कर्तव्य हो जाता है। आज जो औद्योगिक संसार की कामयाबी दिखलाई देरही है वह सब व्यक्तिगत प्रयासों का ही परिणाम है और भविष्य में भी उन्नति की सम्भावना है। यदि सरकार ने इस ओर अपनी नीति उदासीन रखी तो इससे मानव-समाज की महान् हानि होसकती है। इन व्यक्तिगत प्रयासों ने पूंजी को बढ़ाकर कईगुना करदिया है। भूमि-सम्बन्धी सुधार भी व्यक्तिगत प्रयासों के फल-स्वरूप काफी मात्रा में हुए हैं और इन सुधारों के फलस्वरूप जमीन की पैदावार बढ़ी है तथा मानव-समाज का अधिकाधिक हित हुआ है। आज जो सभ्यता का विकास हमारे सामने दिखलाई देरहा है वह सब व्यक्तिगत प्रयासों से ही हुआ है। यदि कहीं पर सामूहिक प्रयास है भी तो उसमें भी प्रेरणा व्यक्तिगत ही है, सामूहिक नहीं। इस प्रकार यह साबित होता है कि समूह के अन्दर भी जो शक्ति उसे उन्नति के लिए प्रोत्साहन देती या नया मार्ग सुझाती है वह व्यक्तिगत ही है।

४. वैदेशिक व्यापार की दृष्टि में यदि विचारा जाय तो वह विशेष रूप से व्यक्तिगत प्रयासों पर ही आधारित रहता है। इस दिशा में भी यदि सामूहिक प्रयास कियाजाय तो व्यापार ही समूल नष्ट होजायगा। इस दिशा में यदि सरकार हस्तक्षेप करना भी चाहे तो उसे केवल सहयोग के रूप में ही करनाचाहिए और

जहाँ तक कार्य-व्यवस्था का सम्बन्ध है उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करनाचाहिए।

५. आज व्यक्तिगत पूंजीवाद ने अपनी जड़ें इतनी मजबूती के साथ जमाली हैं कि उन्हें उखाड़फेंकना कोई साधारण बात नहीं। युद्ध के धक्कों को बर्दाश्त यही कर सकता है। जहाँ तक फिजूल बरबादी का सम्बन्ध है, वह हमें सरकारी इन्तजाम में कहीं अधिक मात्रा में देखने को मिलती है, बनिस्बत व्यक्तिगत इन्तजाम के। उदाहरणार्थ यदि सरकारी दफ्तरों में होनेवाली सामान की सप्लाई का निरीक्षण कियाजाय तो दिखलाईदेगा कि वह सब कार्य आँखें मींचकर बेरहमी और बेदर्दी के साथ कियागया है। फौजों में पहुँचनेवाले सामान की बात तो पूछो ही नहीं। जिन चीजों के लिए देश के रहनेवाली जनता परेशान रहती है, वे चीजें फौजी गोदामों में पड़ी सड़तीरहती हैं। सरकार अपने काम के लिए बड़े-बड़े मकानों को लेकर खाली डालदेती है और खेती के योग्य भूमि को लेकर बर्बाद करदेती है। व्यक्ति कभी भी अपने मकानों या जमीनों को इस प्रकार बरबाद होने के लिए नहीं छोड़सकते। वास्तव में सामूहिक चीजें लावारिस होजाती हैं और कोई भी व्यक्ति उनकी सुरक्षा में इस प्रकार तन,मन, धन से नहीं जुटता जिस प्रकार वह अपनी निजी चीज के लिए जुटता है।

६. अब रही सरकारी अफ़सरों और सरकारी नौकरों तथा क्लर्कों की कारगुजारी का सिलसिला, सो वह तो बहुत ही खेदपूर्ण विषय है। उनकी योग्यता की बात तो एक ओर रहने दो, जहाँ तक उनकी काम के प्रति ईमानदारी का सम्बन्ध है,वह निहायत ही कम है। यदि सरकारी कामों की,उन सरकारी कामों की जो साधारण व्यापार के ही मानिन्द हैं, जाँच-पड़ताल की जाय तो उनका संचालन आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत ही असंतोषजनक है। यदि वह कार्य किसी व्यक्तिगत प्रबन्ध के अन्तर्गत संचालित हो तो निश्चित् रूप से उसका संचालन-व्यय घटजायगा। सरकारी कामों का प्रबन्ध करनेवाले वे अफ़सर होते हैं जिनका व्यक्तिगत लगाव उन कामों में लगी पूंजी से नहीं होता। इसीलिए पूंजी की बरबादी पर उनके दिल में में वह दर्द पैदा नहीं होसकता जो व्यक्तिगत कार्य के संचालक के दिल में होता है, क्योंकि वहाँ वह स्वयँ उसका मालिक होता है और उसमें जो हानि होती है है उसे वह अपनी हानि समझता है। सरकारी कारिन्दा सरकारी काम में से कुछ-न कुछ काटकर अपनी व्यक्तिगत पूंजी बनाने की ही धुन में रहता है और इससे सामूहिक योजना या सरकारी काम को हानि पहुँचती है।

७. व्यापार में उन्नति प्रधानतया व्यापक दृष्टिकोण, तुरन्त निश्चय तथा होशियारी के साथ खतरा उठाने से होती है। सरकारी अफ़सर जो काम भी करते हैं वह सहूलियत के साथ ठहर-ठहर कर सुस्त तरीके से करते हैं। तुरन्त निश्चय किसी भी बात के विषय में करना तो मानो उन्होंने सीखा ही नहीं। फाइल के एक

मेज से दूसरी मेज पर खिसकने में जितने दिन भी न लगें कम हैं। किसी भी किस्म की जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर वे काम करते हैं, और बिना जिम्मेदारी अपने ऊपर लिए व्यापार का खतरा भी मोल नहीं लिया जासकता। सामूहिक उद्योगों का संचालन करनेवाले इसीप्रकार के सरकारी अफसर, कारोबार की क्या उन्नति कर सकते हैं? उनका काम अपनी तनख्वाहें सीधी करना होगा और बिना किसी खतरे में पड़े जो काम भी होजाय, उसे वे करतेजायेंगे। इस प्रकार न व्यापार उन्नति करसकता है और न उद्योग ही। यह बहुत ही रूढ़िवादी तरीके का स्थूल काम होगा जिसमें तेज रफतार (Rapidity) का स्वप्न देखना मूर्खता है। इस प्रकार का हर काम अपनी रफतार के साथ चलेगा, जिससे किसी भी प्रकार की तीव्र प्रगति का अनुमान नहीं लगाया जासकता।

८. किसी भी उद्योग के एकाधिकार (Monoply) में केन्द्रीयकरण (Centralisation) उद्योग या व्यापार के लिए उतना लाभदायक नहीं हो सकता जितना अकेन्द्रीयकरण (Decentralisation)। अकेन्द्रीयकरण से बहुत से व्यक्तियों को अपने-अपने कामों को अपने व्यक्तिगत प्रबन्ध में संचालित करने का अवसर मिलेगा और उन सब व्यक्तिगत काम करनेवालों के काम का आप-से-आप एक सिलसिला बनजायेगा। इस काम के करने में अफसर काम नहीं करेंगे बल्कि वे लोग काम करेंगे जिनका सर्वस्व उसमें लगाहुआ है। काम में उन लोगों की दिलचस्पी और संलग्नता का सरकारी अफ़सरों की संलग्नता से मुकाबिला नहीं कियाजासकता।

केन्द्रीयकरण में जब किसी कारोबार का तूल बहुत बड़ा होजाता है तो उसके संचालन का खर्चा भी बढ़जाता है। उसमें से उस आत्मीय भावना का समावेश उठजाता है जो व्यक्तिगत कामों में होती है।

६. सरकारी शासन-व्यवस्था का वह प्रबन्ध, जिसमें बंटी हुई जिम्मेदारी (Divided responsibility) होती है और फिर उसपर राजनीतिक प्रभाव होते हैं, किसी भी अर्थ-सम्बंधी कारोबार के संभालने के सर्वथा नाकाबिल होता है। सरकारी एकाधिकार में जिन व्यक्तियों के हितों का शोषण होता है या जिनपर अन्याय होता है, उनकी कोई सुनाई करनेवाला नहीं होता। सरकार के खिलाफ मुकदमा करने का साहस भी बेचारे साधारण व्यक्तियों में नहीं होता। इस लिये उन्हें सरकारी सामूहिक अत्याचारों को दम घोंटकर सहन करलेनाहोता है।

१०. व्यापारी लोग राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी के समान होते हैं। राष्ट्र की उन्नति या अवनति का सबसे अधिक असर इन्हीं लोगों पर पड़ता है। इसलिए इन्हें ही सबसे अधिक राष्ट्र की उन्नति का ध्यान रहता है। व्यापार व्यक्तिगत रूप में ही चलसकता है, सामूहिक रूप में नहीं। व्यापार एक ऐसी चीज है जिसमें

बहुत सी चीजें केवल एक व्यक्ति की ही जानकारी पर निर्भर करती हैं। यह जानकारी हर आदमी हासिल नहीं करसकता, इसीलिए यह कार्य भी सामूहिक नहीं होसकता।

११. काम करनेवालों की यह आदत होती है कि वे किसी दबाव में आकर ही काम करते हैं। हर काम करनेवाले में इतनी जिम्मेदारी का पैदा होजाना कठिन काम है कि जिससे वह बिना किसी दबाव के अपना काम करता चलाजाय। ये लोग किसी सरकारी काम में बिना दबाव के पूरी जिम्मेदारी के साथ काम करते चले जायेंगे, यह सोचना मूर्खतापूर्ण विचार है। सरकार को इनकी हर जरूरत का खयाल रखनाहोगा और उसके बदले में जो कुछ भी ये काम करके देंगे उससे तसल्ली करनीहोगी। इससे काम करनेवालों की भी काबलियत अधिक नहीं बढ़ सकेगी और उनके अन्दर निठल्लापन भी आजायेगा।

मृत्यु-कर लगाना आवश्यक है

पक्ष :

१. मृत्यु-कर का दबाव सब करों से कम होता है। जिस व्यक्ति पर यह कर लगता है उसकी मृत्यु होजाती है; इसलिए उसे इसके अदाकरने में कोई कष्ट नहीं होता। जिन लोगों को मरेहुए व्यक्ति की सम्पत्ति मिलती है उन्हें वह बिना किसी परिश्रम के मिलती है, इसलिए उन्हें जो कुछ भी मिलजाता है उसे वे लाभ ही समझलेते हैं। सरकारी खजाने को भी इससे लाभ होता है।

२. मृत्यु-कर के वसूल करने में भी अधिक कठिनाई नहीं होती और वह आसानी से वसूल कियाजासकता है। जिस प्रकार आय-कर (Income tax) देतेहुए व्यक्ति पर जोर पड़ता है उसप्रकार की स्थिति मृत्यु-कर देते समय नहीं होती।

३. व्यक्तिगत सम्पत्ति के बहुत अधिक इकट्ठा होने को मृत्यु-कर रोकता है। पिताओं की बिनाकमाई सम्पत्ति को प्राप्त करके बच्चे लापरवाह, सुस्त, निकम्मे और आरामतलब होजाते हैं। उनमें बुरी-बुरी लतें पैदा होजाती हैं। अपनी कमाईहुई पूंजी के साथ व्यक्ति खिलवाड़ नहीं करते और उसे बेहूदा तरीके पर खर्च करने में भी दिल में दर्द पैदा होता है, परन्तु पिताओं से बिना परिश्रम प्राप्त की हुई सम्पत्ति को नष्ट करने में उन्हें अधिक कष्ट नहीं होता। मृत्यु-कर में सम्पत्ति का जो भी भाग चलाजाता है वह राष्ट्र-हित में लगता है और उसका सदुपयोग होता है।

४. सरकार को मृत्यु-कर से काफ़ी आमदनी होती है। यदि यह कर

उठाना बन्द करदियाजाय तो सरकार को अपना बजट पूरा करने के लिए और जरिये सोचने पड़ें और होसकता है कि उन जरियों का प्रभाव देश की गरीब जनता पर भी पड़े। मृत्यु-कर का गरीब लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इससे केवल पैसेवाले लोग ही प्रभावित होते हैं।

५. युद्ध-काल में जब राष्ट्र को अधिक धन की आवश्यकता होती है तो मृत्यु-कर उस कठिन समय में बहुत सहायक सिद्ध होता है। इन दिनों बिना मृत्यु-कर, जिन देशों में यह लागू है, सरकार का काम चलता ही नहीं। ब्रिटेन की बिल्कुल ऐसी हो दशा है।

विपक्ष :

१. मृत्यु-कर की अपेक्षा जीवन-काल में दान करना व्यक्ति और राष्ट्र के लिए अधिक सुखद वस्तु है। जिन लोगों को यह पता होता है कि उनकी सम्पत्ति पर उन्हें अपनी मृत्यु के पश्चात् मृत्यु-कर देनाहोगा उन्हें अपने जीवन-काल में ही उसका बहुत कुछ भाग दान में देदेनाचाहिए। अपनी आँखों के सामने दियागया दान उसकी आत्मा को शांतिप्रदान करेगा और उन्हें आत्मिक तुष्टि होगी।

२. कभी-कभी उत्तराधिकारी को बहुत बड़ी धन-राशि टैक्स में देनी हो जाती है और उन्हें मिलती केवल जायदाद ही है। जायदाद के बदले रुपया देने में उन्हें कर्ज लेकर उसका प्रबन्ध करना होता है जो निश्चित् रूप से उनके लिए हानिकारक सिद्ध होता है। कभी-कभी तो उसी कर्ज में उसकी वे जायदादें समाप्त होजाती हैं। यदि उस व्यक्ति पर यह मृत्यु-कर न लगायाजाय और सरकार केवल आय-कर पर ही संतोष करती है तो कुछ ही दिनों में उसे मृत्यु-कर से कहीं अधिक धन-राशि केवल आय-कर से ही प्राप्त होजाती है। सरकार को सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी का पेट-चाक करके सब अंडे एक साथ निकाललेने की नीति पर नहीं चलनाचाहिए।

३. प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेषों की सुरक्षा के लिए आरामतलब वर्ग का भी देश में रहना नितांत आवश्यक है। देश के कलाकौशल की उन्नति में जितना योग यह वर्ग देता है उतना अन्य कोई वर्ग नहीं देसकता। मृत्यु-कर लगजाने से इस वर्ग की कमर टूटजाती है और यह बर्बाद होजाता है। जायदादों की व्यवस्था का सिलसिला भी खराब होजाता है।

४. मृत्यु-कर की संभावना व्यक्ति को जीवन-काल में ही फिजूलखर्च बना देती है। आदमी सोचता है कि जब उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका जोड़ा-जंगोड़ा रुपया या सम्पत्ति उसके बाल-बच्चों का कोई लाभ नहीं करसकेगी तो उसके संचित करने का ही क्या प्रयोजन। वह इस विचार के मन में आते ही जो कुछ कमाता है

उसेखूब खुलकर खर्च करनेलगता है और उसके कारोबार के खर्चे भी बढ़जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सरकारी आय-कर में भी घटती होनेलगती है। इस प्रकार मृत्यु-कर लगते समय या उससे भी पूर्व हानिकारक होजाता है। सरकार को उससे कोई विशेष लाभ नहीं होता। इससे राष्ट्र की पूंजी में धीरे-धीरे कमी होनेलगती है और उत्पादन घटजाता है। हर आदमी आरामतलबी से काम करनेलगता है और अधिक धन कमाने या संचय करने की प्रवृत्ति नष्ट हो-जाती है। इस प्रवृत्ति का नष्ट होजाना धीरे-धीरे राष्ट्र को ग़रीब बनादेता है।

५. यदि सरकार लोगों को यह आश्वासन देदे कि उनसे मृत्यु-कर नहीं लियाजायगा तो वे आय-कर की चोरी न करें और साथ ही आय-कर के रूप में सरकारी आय भी बहुत बढ़जाय। इस कर को कुछ लोग सरकारी छीन-झपट के रूप में ग्रहण करते हैं और इससे उनके मन में सरकार के प्रति सद्भावना की कमी होजाती है। यदि यह कर न रहे तो सरकार और कर देनेवालों के बीच सद्भावना बढ़जाय।

समाज के स्वस्थ चलन के लिए तलाक़ आवश्यक है

पक्ष :

१. शादी स्त्री और पुरुष का सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करती है। इस सम्बन्ध को दृढ़ बनाने के लिए इसपर धर्म की मुहर लगाईगई है। ईसाई धर्म में यह सम्बन्ध इतनी दृढ़ता से स्थापित कियाजाता है कि एकबार जुड़जाने पर फिर खुल ही नहीं सकता। स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री का साथ हर दशा में देनाचाहिए। ईसाई धर्म में इस व्यवस्था के ख़िलाफ स्वतंत्र प्रकृति के लोगों ने आवाज़ उठाई और इस बन्धन से मुक्ति पाने के तरीके निकालेगये। पोप को विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार था परन्तु उसके लिए भी उसे समुचित कारण खोजनेहोते थे। मनुष्य की इच्छा पर इस प्रकार की बंदिश लगाने का न तो किसी को अधिकार ही है और न इसकी पुष्टि का कोई कारण ही दिखलाई देता है। भारत में इस सामाजिक बंधन के विरुद्ध यहाँ का बुद्धिवादी विचारक संघर्ष कररहा है और उसका रूढ़िवादी धर्माचारियों द्वारा विरोध कियाजारहा है। ब्रिटेन में तलाक़-बिल पास होने से पूर्व यही परिस्थिति थी। उन दिनों वहाँ तलाक़ केवल अमीर आदमियों के लिए ही सम्भव था, ग़रीबों के लिए नहीं। ग़रीब आदमियों के विवाह यदि अनमेल होजाते थे तो उन्हें जीवनभर उसी परिस्थिति में नाखुश जिन्दगी बितानीहोती थी। यह शादी की व्यवस्था का उन लोगों पर अन्याय था। इस अन्याय का अन्त होजाना आवश्यक था और यह हो रहा है।

भारत में भी इस प्रकार के अनमेल विवाहों को समाप्त होजाने की सुविधा प्रदान करना सरकार तथा समाज दोनों का कर्तव्य है।

२. शादी स्त्री-पुरुष का एक सौदा-साधा सामाजिक सम्बन्ध है, जिसे कानून और अन्य लोगों की दृष्टि में इसी प्रकार समझना चाहिए। स्त्री या पुरुष किसी पर भी धर्म की छाप लगाकर उसे साथ-साथ रहने के लिए मजबूर करना उनके साथ अन्याय करना है। इस सामाजिक सम्बन्ध को उसीप्रकार समझना आवश्यक है जिस प्रकार कि समाज के अन्य सम्बन्ध होते हैं। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को व्यर्थ ऐसा जकड़देना कि वे दोनों ही अपने को कारावास की स्थिति में समझने लगें, मूर्खता और उनपर अत्याचार है।

३. तलाक़ की परिस्थिति आमतौर पर तभी पैदा होती है जब स्त्री का आचरण खराब होजाता है और नाजायज सम्बन्ध किसी अन्य पुरुष से स्थापित होजाता है। पुरुष स्त्री की हर बात को बर्दाश्त करसकता है परन्तु इस बात को बर्दादाश्त नहीं करसकता। इसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के इस प्रकार के सम्बन्ध को किसी अन्य स्त्री के साथ बर्दाश्त नहीं करसकती। स्त्री के मन में तलाक़ की बात उस समय भी पैदा होती है जब वह निकम्मा होता है और काम करके अपना तथा उसका पेट नहीं भरसकता। यदि वह ऐसा बीमार होता है कि कुछ काम ही न करसके, तब भी तलाक़ की परिस्थिति पैदा होजाती है। इन बातों के अतिरिक्त यदि पुरुष व्यवहार में जालिम होता है और स्त्री को मारता-पीटता है तो तब भी स्त्री तलाक़ देने की बात सोचती है।

उक्त सारी परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि जिनमें तलाक़ देना दोनों के जीवन को सुखमय बनानेवालाहोता है। इन परिस्थितियों में दोनों को प्रथक होने की आज्ञा न देना और साथ-साथ बनायेरखना उनके साथ कानून और सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है। आज के प्रगतिशील युग में शादी की इस रूढ़िवादी प्रथा को समाप्तकरके स्त्री तथा पुरुष दोनों को स्वतन्त्र करदेनाचाहिए। दोनों को यह स्वतन्त्रता न देना मानव के साथ बड़ा भारी दुर्व्यवहार ही नहीं, जुल्म है।

४. आचरण की गिरावट पर तलाक़ देने की ईसामसीह ने भी आज्ञा दी थी। ग्रीक शब्द Apoluo (I put away) और तलाक़ (Divorse) दोनों एक ही हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं। इसकी आवश्यकता इस सभ्यता में भी महसूस कीगई थी। आज के प्रगतिशील युग में स्त्री तथा पुरुष दोनों को ही अपना साथी चुनने और बनायेरखने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता होनीचाहिए। इस स्वतन्त्रता के न रहने से दोनों का जीवन खराब होसकता है। यदि दोनों में पारस्परिक प्रेम न हो और एक दूसरे को आपस में घसीटकर चलनेवाली बात होजाय तो दोनों का जीवन भार बनजाय। इस प्रकार की शादी दोनों की बर्बादी का

ही लक्षण हैं।

५. यदि कानूनन किन्हीं स्त्री-पुरुषों को तलाक देने से रोक दियाजाय तो इससे कभी भी उनके आचरणों की गिरावट या कामुक वृत्ति नष्ट नहीं होसकती। तलाक न देने से खराबी अन्दर-ही-अन्दर पनपतीरहती है और दोनों के जीवन में घुन की तरह लगजाती है। यह घुन-जैसी लगीहुई खराबी दोनों का जीवन नष्ट करके ही दम देती है; जिसके फलस्वरूप उनका दिल, दिमाग और शरीर सब अस्वस्थ होजाते हैं। इस अस्वस्थता का मूल कारण तलाक देने पर लगा हुआ कानूनी प्रतिबन्ध है। इससे समाज के स्वस्थ्य चलन में खराबी पैदा होजाती है। व्यभिचार की भावना अन्दर-ही-अन्दर बढ़कर पके-फोड़े के समान पकने लगती है और अन्त में यह समाज के शरीर का एक नासूर बनजाती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि स्त्री पुरुष दोनों को तलाक की सुविधा प्रदान कीजाय और इसप्रकार समाज के स्वस्थ चलन के लिए मार्ग खोलदियाजाय।

६. जिन बच्चों के माता-पिता पारस्परिक असद्भावना से एक साथ रहते हैं उनके बच्चों पर उनके जीवन और पारस्परिक व्यवहार का भी बहुत बुरा असर पड़ेगा। उनका अपना जीवन तो कभी स्वस्थ रह ही नहीं सकता, उनके बच्चों के जीवन में भी एक प्रकार की चिढ़न और जलन पैदा होजायगी। पारस्परिक प्रेम भावना का उनमें उदयहोना नितान्त असम्भव है। जिन बच्चों ने कभी अपने माता-पिता के प्रेम-भाव के साथ रहतेहुए नहीं देखा, उनमें प्रेम-भावना का उदय भला किसप्रकार होसकता है। इस प्रकार स्त्री पुरुष को तलाक देने की आज्ञा न देना केवल उनके पारस्परिक जीवन में ही विष नहीं फैलाता वरन् उनके बच्चों के जीवन को भी विषैला बनादेता है। इसका प्रभाव समस्त मानव-समाज पर पड़ता है।

७. शादी स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित है। इन सम्बन्धों को बनाना कानून का काम नहीं। इन्हें तो केवल उनकी पारस्परिक सद्भावना और प्रेम ही बना तथा बिगाड़ सकते हैं। इनपर कानूनी-जिम्मेदारी आयद करने से आपसी प्रेम-भावना को ठेस लगती है। जब आपस में प्रेम-भावना ही न रही तो शादी ही क्या रही? इस प्रकार बिना प्रेम शादी की व्यवस्था को कायम रखने से उनके व्यवहारों में एक दूसरे से छिपाकर आचरण करने की भावना पैदा होजाती है। पारस्परिक भेद और छल को लेकर इस प्रकार जीवन व्यतीत करना कभी सुखद नहीं होसकता। इससे तो कहीं बेहतर है कि जब तक आपस में निभे तब तक शादी के व्यवहार को निभायाजाय और जब यह व्यवहार समाप्त होजाय तो आपसी सम्बन्धों को उसी सामाजिक व्यवहार के साथ, जिसके साथ जोड़ा था, तोड़ दियाजाय। एक-दूसरे के ऊपर भार बने रहने से जो दोनों के

जीवनों में कटुता आती है वह इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छेद होने से आप से-आप मिट जायगी। स्त्री पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए इस प्रकार तलाक़ की व्यवस्था एक स्वस्थ व्यवस्था है, जिसमें किसी भी प्रकार का नैतिक ह्रास हमें दिखलाई नहीं देता और उलटा आचरण को छुपाकर न चलाने की स्थिरता और विचारों की मजबूती ही दिखलाईदेती है। यह व्यवस्था मानव-स्वतन्त्रता की हामी है और मनुष्य के चलन पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगा कर नहीं चलती।

विपक्ष :

१. आज की सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था के अन्तर्गत विवाह-संस्कार की जो व्यवस्था बनीहुई है उसमें तलाक़ के लिए कोई स्थान नहीं। न ईसाई धर्म ही इसकी आज्ञा देता है और न हिन्दू धर्म ही। स्त्री तथा पुरुष दोनों विवाह के समय पवित्रता के साथ प्रण करते हैं कि वे दोनों जीवन के अन्त-काल तक एक दूसरे को अपनाये रहेंगे। चाहें जैसी भी जीवन की परिस्थितियाँ क्यों न आयें, वे एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ेंगे और एक दूसरे की मुसीबत में उसका साथ देंगे। इस प्रण को निभाना दोनों का कर्त्तव्य है। चाहे धर्म और सरकारी क़ानून दोनों तलाक़ क्यों न पास करदें पर स्त्री-पुरुष को प्राण रहते यह वायदा निभाना चाहिए। यदि धर्म को साक्षी करके दोनों ने यह प्रण किया है तो धर्म उस प्रण के खिलाफ जाने की उन्हें आज्ञा नहीं देसकता।

२. शादी की आवश्यकता को आज तक हर राष्ट्र और उसके रहने वाले ने अनुभव किया है। शादी की स्वच्छता, पवित्रता, धार्मिकता, सामाजिकता, नैतिकता तभी कायम रहसकती है जब एक बार ईश्वर, खुदा, गाड, वेद, कुरान, बाईबल या अन्य किसी प्राकृतिक शक्ति, जैसे अग्नि के समक्ष या इनको हाजिर-नाजिर मानकर जो प्रण कियाजाय उसे आजीवन निभायाजाय। इस प्रण के डाँवाडोल होते ही शादी की पवित्रता नष्ट होजाती है और फिर स्त्री तथा पुरुष का सम्बन्ध साधारण संसार में मिलनेवाले किन्हीं भी दो प्राणियों के समान होजाता है, जिसमें कोई स्थिरता नहीं और उसके सामने न कर्तव्य है और न कर्तव्य की प्रेरणा।

३. शादी का सम्बन्ध न केवल स्त्री और पुरुष तक ही सीमित रहता है वरन् वह आगामी संतति तक अपना प्रभाव लेजाता है और उनके प्रति उनकी जिम्मेदारियाँ होती हैं। इस सम्बन्ध में केवल वासना का ही रूप नहीं होता। माता और पिता का उत्तरदायित्व होता है, स्त्री और पति के कर्त्तव्य की दृढ़ नींव बनती है और इसी मजबूत नींव पर आगामी संतान अपना भविष्य का गढ़ निर्माण करती है।

यह शादी का संस्कार अपने गर्भ में आनंद और भोग की अपेक्षा उत्तरदायित्व और त्याग को अधिक मात्रा में समेटकर चलता है। जो लोग शादी के बंधन को अपने गले में चाहे जब तोड़ डालने के लिए डालते हैं वे इस पवित्र प्रण के प्रति अन्याय करते हैं और साथ ही अपनी आत्मा को भी धोखा देते हैं। शादी में दम्पति एक दूसरे को इसकी अच्छाई और बुराई के साथ अंगीकार करता है और इस अंगीकार करने के पश्चात् उनमें जो भी तलाक की बात सोचता है वही हीन प्राणी है, वही कमज़ोर व्यक्ति है। वह आचरण का पतित है और कर्त्तव्य के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाने में असफल है। उसकी तलाक़ देने की विचारधारा को कोई भी चरित्र का बलवान व्यक्ति चरित्र की गिरावट के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकता और सभ्य समाज में वह मान पाने का अधिकारी नहीं बनसकता।

शादी करने से पूर्व स्त्री तथा पुरुष दोनों को पूर्ण अधिकार है कि वे एक दूसरे को खूब निरख-परख कर देखलें, जाँचलें और हर प्रकार की एक दूसरे की परीक्षा लेलें, परन्तु एक बार शादी के बन्धन में बँधजाने के पश्चात् फिर उन्हें एक दूसरे को निरखने-परखने का अधिकार नहीं, फिर निभाने तथा एक दूसरे को अपने अनुकूल बनालेने की बात है। स्त्री पुरुष दोनों में से जो दूसरे को अपने अधिक निकट लाने में जितना भी अधिक सफल होता है वह जीवन में उतना ही सफल व्यक्ति है। एक दूसरे को छोड़कर भागना बुज़दिली है, कमज़ोरी है, हीनता है।

४. जो लोग चारित्रिक गिरावट के कारण तलाक़ की बात सोचते हैं वे और भी संकुचित विचार के व्यक्ति हैं। पुरुष अधिकांश में अपनी कमज़ोरी की परवाह न करके इस पवित्रता को स्त्री में ही अधिक देखने का आदी होगया है। यह पुरुष की स्वार्थप्रियता है कमज़ोरी है। पुरुष की इसी कमज़ोरी की नकल जब स्त्री करने पर उतारू होती है तो वह एक साधारण वेश्या का रूप धारण कर-लेती है। अनेकों स्त्रियों के पास चक्कर लगाने वाले पुरुष और वेश्या में चारित्रिक दृष्टिकोण से मैं कोई अन्तर नहीं समझता। शादी इन दोनों ही कमज़ोरियों के खिलाफ़ एक बहुत बड़ी रोक है और जब तक इस रोक का पर्दा भी स्त्री और पुरुष की आंखों पर पड़ारहता है तब तक दोनों को एक दूसरे का डर रहता है और वे गिरावट की ओर उस तेज़ी के साथ नहीं बढ़ते जिस तेज़ी के साथ कि तब बढ़ सकते हैं जब तलाक़ का रास्ता उनके सामने हो और एक दूसरे से डरने, भय खाने या सशंकित होने का कोई कारण ही न रहे।

५. चारित्रिक गिरावट के कारण हालांकि ईसामसीह ने तलाक़ की इजाज़त देदी थी परन्तु उसके पश्चात् फिर दुबारा शादी की ईसाई धर्म ने इजाज़त नहीं दी। हिन्दू धर्म तो तलाक़ की आज्ञा देता ही नहीं। आज हिन्दूकोड बिल के आधार पर तलाक़ के हामियों ने जो हंगामा मचायाहुआ है वे संस्कृति की नींव

को अपने आधुनिकतम विचारों की कुदाली से तोड़डालना चाहते हैं। इस नींव को इतनी पुख्ता बनने में शताब्दियाँ बीती हैं और संस्कृति के न जाने कितने परीक्षणों के पश्चात् इसने यह रूप धारण किया है। इसको इस प्रकार छिन्न भिन्न करके फेंकदेना कोई दानिशमंदी की बात नहीं। इस नींव पर यदि नये मकान का भी निर्माण करना है तो सोच-समझकर करना चाहिए। आज 'शादी' मानव-जीवन को संचालित करने का वह संगम है कि जिसमें स्नान किये बिना मनुष्य को शांति नहीं मिलसकती और इसी संगम पर मिलकर स्त्री तथा पुरुष की दो धाराएँ एक होती हैं। इस 'एक' प्रवाह से आगामी मानव-समाज का विकास होता है, जन्म होता है। यह धारा जितनी भी एक होकर बहेगी उसमें उतना ही गहरापन रहेगा, उतना ही तीव्र प्रवाह रहेगा, उतनी ही आगे बढ़ने की शक्ति रहेगी और उतनी ही पवित्रता रहेगी। इसी प्रकार इसमें से जन्म लेकर उठने, निकलनेवाली धाराओं में भी इसी धारा का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ेगा। यदि पहली धारा शिथिल और छिछली होगी तो उसका प्रभाव उसमें से निकलने वाली सभी धाराओं पर पड़ेगा और मानव-समाज बराबर पतनोन्मुख होता चला जायगा। यह है 'शादी' की दृढ़ता और एकरूपता का महत्त्व। इसे यों ही बातों में ठुकराया नहीं जासकता, इसकी पवित्रता को नष्ट नहीं कियाजासकता। इसकी पवित्रता के पीछे हमारे समाज की संस्कृति का इतिहास झाँकता हुआ दिखलाई देता है। नवीन विचारों की भावुकता में आकर तलाक की विचारधारा की रविश में वह दानिशमन्दी नहीं, मूर्खता है, कमअक्ली है।

६. यदि किसी भी दम्पति के दिमाग में उनकी 'शादी' के विषय में यह विचार है कि वे अब एक दूसरे से अलग नहीं होसकते और उन्हें यह जीवन हर दशा में एक दूसरे के साथ ही निभानाहोगा, तो वे अपने हर प्रकार के मत-भेद को हमेशा दूर ही करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु इसके विपरीत यदि उन्हें यह पता हो कि यदि उनके पारस्परिक झगड़े न सुलझ सके तो वे एक दूसरे को छोड़ भी सकते हैं तो वे झगड़े सुलझाने की दिशा में कम प्रयास करेंगे और बहुत सम्भव है कि उनके झगड़े एक दिन तलाक की स्थिति तक पहुँचजायें। तलाक की बीमारी यदि समाज में एक बार फैलजाय तो यह काफ़ी दूर तक फैलती है और बहुत घातक सिद्ध होगी। खरबूजे को देखकर खरबूज़ा रंग बदलता है, वाली कहावत जितनी व्यापकता के साथ इस दिशा में चरितार्थ होगी उतनी शायद ही आज तक किसी अन्य दिशा में हुई हो। आम आदमियों के चरित्रों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा और फिर साधारण झगड़ों के कारण भी लोग अपनी जिम्मेदारियों से मुँह मोड़कर तलाक़ का दामन पकड़ना प्रारम्भ करदेंगे। यह स्थिति समाज के लिए असहनीय होउठेगी और मानव-समाज का स्वस्थ चलन, जिसे हमारे विपक्षी 'स्वस्थ

चलन' कहते हैं वह ख्वाब की बात नजर आयेगा। समाज स्वस्थ्य नहीं रोगी हो जायगा, इसकी समस्त संगठित-शक्ति का ह्रास होजायगा; जिसमें सहन-शीलता और सहयोग नाम की कोई वस्तु रह ही नहीं जायेगी।

७. माता और पिता के कानून प्राथक्य के पश्चात् बच्चों की क्या दशा होगी यह तो कुछ कहने की बात है ही नहीं। इस प्राथक्य का जितना बुरा प्रभाव बच्चों पर पड़ेगा उतना सम्भवतः अन्य किसी पर नहीं पड़ेगा। बच्चे यदि एक के पास रहे तो वे दूसरे के प्रेम तथा सद्भावना से वंचित रहजायेंगे और उन दोनों के झगड़े में वे दोनों का प्रेम तथा दोनों की सद्भावना प्राप्त करसकें, यह सर्वथा असम्भव है। वास्तव में जिसे गृह (Home) कहते हैं, वह संस्था उन बच्चों के लिए नष्ट होजायेगी और वे उसके आनन्द की कल्पना भी न कर सकेंगे जिसमें दम्पति का प्रेम-राज्य छाया हुआ रहता है और उस प्रेम के आँचल में वे पलते हैं, फलते-फूलते हैं, बड़े होते हैं, शिक्षा प्राप्त करते हैं और फिर अन्त में मानव-समाज के अमूल्य रत्न बनकर समाज में प्रवेश करते हैं।

८. जो लोग कामुकता या अन्य किसी प्रलोभन-वश तलाक की शरण में जाते हैं उन्हें दुबारा विवाह करने का कोई अधिकार नहीं। ऐसे व्यक्तियों पर समाज, सरकार तथा धर्म-गुरुओं को कड़ी नजर रखनीचाहिए और उनके साथ कम-से-कम दूसरी शादी करने के मामले में बिलकुल सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं करनाचाहिए। उन्हें दूसरी शादी की आज्ञा नहीं होनीचाहिए। दूसरी शादी की आज्ञा न मिलने से ही उनके लिए पहली को तलाक देना कठिन होजायगा। इस प्रकार हमने देखा कि तलाक-द्वारा मानव-समाज स्वस्थ्य युग में पदार्पण करसकेगा और मानव को अधिक प्रसन्न तथा आनन्दपूर्ण बनासकेगा ये सब ख्वाब की बातें हैं। तलाक की व्यवस्था मानवहितकारी सिद्ध नहीं होसकती।

साहित्य, सिनेमा और नाटक पर सेंसर आवश्यक है

पक्ष :

१. सिनेमा आज जनता के प्रधान मनोरंजन का साधन है। सिनेमा की जितनी भी फ़िल्में बनती और सिनेमाघरों में प्रदर्शित की जाती हैं वे सभी अपना कुछ-न-कुछ असर उनके देखनेवालों पर छोड़ती हैं। इसी प्रकार नाटक भी जो रंगमंच पर जनता के सामने प्रदर्शित कियेजाते हैं वे अपना प्रभाव रखते हैं। इन दोनों का ही प्रभाव साहित्य से अधिक पड़ता है। इसका प्रधान कारण तो यही

है कि साहित्य का अध्ययन करने के लिए व्यक्ति को कुछ पढ़ा-लिखा होने की आवश्यकता है और जो व्यक्ति कुछ भी पढ़ा-लिखा है वह यों ही ग़लत बातों से प्रभावित कम होसकता है। परन्तु सिनेमा और नाटक बिना पढ़े-लिखे व्यक्तियों का भी मनोरंजन करते हैं। इनपर ग़लत बातों का जल्दी प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए इनके सामने जो खेल उपस्थित हों, सरकार का यह कर्त्तव्य होजाता है कि वे काफी जाँच-पड़ताल के बाद सामने आयें अन्यथा उनका प्रभाव गलत होगा और वे जनता को गलत रास्तों पर लेजायेंगे।

२. सिनेमा और नाटकीय मनोरंजन का आकर्षण भी साहित्य से, कम पढ़े-लिखे लोगों के लिए अधिक है। इसमें पात्र सामने आकर स्वयं अपना चरित्र प्रकट करते हैं। साथ ही संगीत और नृत्य की भी सुविधा है और वातावरण पाठक को अपनी कल्पना से ही नहीं बनानाहोता, वह सामने मंच या पर्दे पर चित्रित हो-उठता है। इस प्रकार इनमें शीघ्र ही प्रभावित होउठने के अधिक साधन उपलब्ध हैं। आज जनता में फैली बहुत सी गलत बातें और अपराध मूल रूप से सिनेमा से जन्म लेकर आई हैं। इनकी रोक-थाम व्यापार के लिए पैसा कमाने को खेल बनानेवाले लोग नहीं करसकते। उन्हें हलके टेस्ट की चीजें खेलों में डालकर छोटे तबके के लिए भी दिलचस्प बनाना होता है और यही छोटा तबका सिनेमावालों को पैसा देता है। वास्तव में ये फ़िल्में एक प्रकार का नशा हैं जो जनता पर अपना प्रभाव ठीक शराब, जुआ, रेस, इत्यादि की भांति डालती हैं। इनका नशा, स्वस्थ नशा नहीं है। जो उत्तेजनायें पैदा करती हैं वह उत्तेजना भी स्वस्थ्य नहीं है। इस अस्वस्थ उत्तेजना को रोकने के लिए इनकी प्रदर्शन से पूर्व, पूरी जाँच-पड़ताल होनी आवश्यक है।

३. अपने देश में चलनेवाली फ़िल्मों के अतिरिक्त विदेशों में भेजीजाने-वाली फ़िल्मों को और भी सावधानी के साथ जाँच-पड़ताल करके भेजनाचाहिए। इन्हीं फ़िल्मों के आधारपर विदेशी हमारे चरित्र और रहन-सहन का अंदाज लगाते हैं। विदेशों में योंही बिना पूरी तरह जाँच-पाताल के फ़िल्मों को भेजदेना राष्ट्रीय सम्मान को विदेशों में गिराना है, तथा अपने देश को अपमानित करना है।

४. ऐसी फ़िल्में जो हीन चरित्रों का चित्रण करती हैं और जिनका प्रभाव जनता पर बुरा पड़ता है, उनका प्रदर्शन नहीं होनाचाहिए। ठीक इसी प्रकार ऐसे नाटकों को भी रंगमंच पर आने की आज्ञा नहीं मिलनीचाहिए जो जनता पर अपना बुरा प्रभाव छोड़जायें। कला की दृष्टि से ऐसे नाटक और सिनेमा चाहे जितने भी ऊँचे दर्जे के क्यों न हों परन्तु क्यों कि ये जनता के मनोरंजन की वस्तु हैं इसलिए इसकी जाँच-परताल जनता के हित को लेकर होनीचाहिए, कला या केवल सौंदर्य को लेकर नहीं।

५. आज बहुत सा ऐसा उत्तेजक तथा भ्रष्ट साहित्य प्रकाशित होरहा है कि जिसका जनता के चरित्र पर गन्दा प्रभाव पड़ता है और उसकी मनोवृतियाँ अन्याय, पाप और अत्याचार की ओर रागिब होती हैं। चालाकी और मक्कारी-भरे पात्रों का उनमें चित्रण मिलता है और इसप्रकार वह जनता के चरित्र को दूषित करने में योग देता है। आज हमारी आँखों के सामने आनेवाली अनेकों खराबियाँ उसी के फलस्वरूप जन्म लेती हैं। इस प्रकार के साहित्य पर प्रतिबन्ध लगना जरूरी है।

६. यदि देश के कलाकारों में जनता के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझने की अकल नहीं है और वे अपनी जिम्मेदारी को नहीं निभासकते तो सरकार को चाहिए कि वह उनके उठायेजानेवाले ग़लत कदमों पर प्रतिबन्ध लगादे। यदि सरकार भी इस कार्य में असफल रहती है तो वह भी अपना उत्तरदायित्व ठीक से नहीं निभाती। ऐसी दशा में देश के राष्ट्र-हितैषी नेताओं को उनके विरुद्ध आन्दोलन करनाचाहिए और ग़लत मार्ग प्रशस्त करनेवाले साहित्य को पनपने से रोकदेना चाहिए। अच्छे प्रकाशकों को चाहिए कि वे इस प्रकार का साहित्य न छापें।

७. सरकारी जाँच-पड़ताल के महकमे को चाहिए कि वह इस प्रकार के साहित्य, फ़िल्मों और नाटकों को जनता के सामने तक न पहुँचने दे और इससे पहले कि मर्ज बढ़कर जनता की आँखों के सामने आये, उसे रोकदे। ऐसा करने से सरकार जनता को ग़लत मार्ग पर जाने से रोक सकती है। कुछ लेखक लिखते समय केवल अपना लक्ष्य व्यापारिक ही रखते हैं और वे जनता के लिए हानिकारक होता है। ये लेखक जनता के उस पहलू को छूकर लाभ उठाना चाहते हैं जो सबसे अधिक भावनामय, मनोरंजन-ग्राहक तथा तफ़रीह की दिशा में झुकजानेवाला होता है। इसमें सेक्स की उत्तेजना कूट-कूट कर भरी होती है और यह देश के नवयुवकों के लिए बहुत ही हानिकारक है। सेंसर को चाहिए कि वह इस साहित्य को पनपने से पहले ही काट-छाँट कर फेंकदे और इसका झूटा तथा भ्रामक आकर्षण जनता के सामने तक न पहुँचने दे।

८. गल्प (Fiction) साहित्य का बहुत प्रभावात्मक भाग है, जिसका जनता पर सबसे गहरा असर पड़ता है। इसलिए इस दिशा में सेंसर को काफी छान-बीन करने की आवश्यकता है और यों ही हर प्रकार के गल्प को जनता तक पहुँचने से रोकने की आवश्यकता है। जिस साहित्य का पाठकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है उसके बाजार में बिकने पर पाबन्दी लगादेनी चाहिए।

९. सेंसर की आवश्यकता उक्त सभी क्षेत्रों में विशेष रूप से उन दिनों पड़ती है जब देश में अव्यवस्था रहती है। उदाहरणार्थ जैसे हिन्द-विभाजन के समय साम्प्रदायिक वातावरण छायाहुआ था उन दिनों ऐसी चीज़ों के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध की आवश्यकता थी जो साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दें। इस प्रकार की फ़िल्मों-

तथा पुस्तकों को सहन नहीं किया जा सकता था। उन्हें रोकने का काम सेंसर का ही था।

१०. सिनेमा के निर्माताओं की फ़िल्में सेन्सर करने के स्थान पर यदि उनका सिनेरियो पहले देख लिया जाय तो कहीं अच्छा है। फ़िल्म बनने के बाद यदि सेंसर किसी चित्र के प्रदर्शन पर रोक लगाता है तो इससे राष्ट्रीय हानि होती है। राष्ट्र की इस हानि को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सिनेरियो का सेंसर हो जाय। सेंसर का काम जनता के पास पहुँचने से हानिकारक साहित्य फिल्म और नाटकों को रोकना है, राष्ट्रीय धन की बर्बादी नहीं। इंग्लैंड इत्यादि देशों में जहाँ व्यक्तिगत सेंसर की व्यवस्था है, वह सीमित अधिकारों वाला सेंसर जनता का कोई हित नहीं कर सकता। यह सेंसर सरकारी होने की आवश्यकता है।

विपक्ष :

१. प्राइवेट सेंसर-बोर्ड की व्यवस्था सरकारी सेंसर बोर्ड की अपेक्षा हमेशा जन हित की वस्तु है। वास्तव में यदि देखाजाय तो प्रजातंत्रीय देशों में तो इसकी भी आवश्यकता नहीं है इसे समाप्त करने की दिशा में भी विचार किया जा रहा है। स्थानीय सरकारी अफ़सरों को अधिकार होनाचाहिए कि वे जिन फ़िल्मों, किताबों या नाटकों को जनता के लिए अनुपयुक्त समझें उनपर प्रतिबन्ध लगादें। कुछ चीजें ऐसी होती हैं जो कभी-कभी किसी विशेष स्थान पर हानिकारक होती हैं, सर्वत्र नहीं। उनपर सेन्सर द्वारा हरजगह के लिए प्रतिबन्ध लगा देना अन्यायपूर्ण है।

२. सरकारी सेन्सर कायम होने पर स्वतंत्ररूप से विचारकरने का अन्त ही हो जायगा और इस प्रकार सही बात की आलोचना तथा प्रगति रुक जायगी। यह साहित्य तथा फिल्म-निर्माण-क्षेत्र की एक बहुत बड़ी हानि होगी और इसका परिणाम यह होगा कि स्वतन्त्र दिशा में लोगों का कुछ दिन में सोचना ही बन्द हो जायगा। स्वतन्त्र विचारकों के सुझाव आने बन्द हो जायेंगे और फिर सेन्सर के आधीन रहकर चलना होगा। यह स्थिति बहुत ही खतरनाक होगी, जिससे प्रजा-तन्त्रवाद का मूल सिद्धान्त ही नष्ट होजायगा। आजके इस प्रजातन्त्रीय युग में साहित्य, सिनेमा और नाटकपर इस प्रकार का सेन्सर-सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाना लेखकों, फिल्म-निर्माताओं तथा नाटक-प्रदर्शकों की जबान, लेखनी, मस्तिष्क और व्यवसाय पर ताला लगाना है। यह प्रतिबन्ध स्वतंत्र विचारों के प्रकाशन में बाधा उपस्थित करेगा और वह कभी नहीं चाहेगा कि उसका मनोरंजन भी सरकारी प्रचार के द्वारा ही कियाजाय। वास्तव में इस प्रकार के सेन्सर से मनोरंजन के साधन ही समाप्त होजायंगे और जनता की रुचि इनमें नहीं रहजायेगी।

३. हमारे विपक्षियों ने सिनेमा, साहित्य और नाटक के बुरे प्रभावों की ओर ही दृष्टि डाली है। उन्होंने उनके अच्छे प्रभावों की ओर से नजर बन्द करके केवल वहीं तक सोचा है जहाँ तक उनका उलटा प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु यदि गहराई के साथ सोचा जाय तो सिनेमा, साहित्य और नाटकों का जनता पर बहुत स्वस्थ्य और सुधारात्मक प्रभाव भी पड़ता है। इन चीजों का स्तर आप-से-आप ऊँचा उठता जारहा है और ज्यों-ज्यों जनता के ज्ञान की वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों गन्दी चीजों की ओर से उसकी रुचि आप-से-आप हटती जारही है। सिनेमा, साहित्य और नाटक का आज वह स्तर नहीं रहगया है जो पहले था, उसमें बहुत बड़ा अन्तर आ गया है। समय की प्रगति के साथ यह और उन्नत दिशा की ओर अग्रसर होगा। इनपर सेन्सर का प्रतिबन्ध लगाने से लाभ होने के स्थान पर उलटी हानि की ही सम्भावना अधिक है।

४. फिल्म-निर्माता, साहित्यकार और नाटककार इतने मूर्ख नहीं हैं कि विदेशों में प्रदर्शन के लिए बनायेगये चित्रों, लिखीगई पुस्तकों और तय्यार कियेगये नाटकों को ऐसा हलका बनाडालें कि जिनके द्वारा उनकी बदनामी हो। कोरे व्यापार के लिए बनाई गई फ़िल्मों और लिखी गई पुस्तकों में भी निर्माता, कलाकारों और साहित्यकारों का अपना नाम होता है। वे लोग पैसे के लिए अपने नाम का बलिदान नहीं करसकते। आजका कलाकार काफी सजग है और वह जनता के प्रति अपने उत्तारदायित्व को भी निभाना जानता है। उसके सिर पर सरकारी प्रतिबन्ध का सेंसर बिठलाना उसकी स्वतंत्रता में बाधा उपस्थित करना है, जिससे उसकी कला कुंठित होजायगी और उसकी प्रतिभा का मुक्त प्रवाह रुक जायगा। इस प्रकार सरकारी सेन्सर बहुत हानिकारक सिद्ध होगा।

५. सरकारी सेन्सर जिस दृष्टिकोण से साहित्य, फिल्म इत्यादि का निरीक्षण करेगा उसका दृष्टिकोण ही दूसरा होगा। वह अपने राजनैतिक दृष्टिकोण को हर बात में प्राथमिकता देगा। इसका प्रभाव फिल्म-साहित्य के निर्माण पर बुरा ही पड़ेगा। इससे व्यवसाय की भी दशा खराब होगी और उस व्यवसाय में भाग लेने वाले कलाकारों की भी हानि होगी। साहित्य और फिल्मों की उपादेयता मनोरंजन के क्षेत्र में सबसे अधिक है। सरकारी सेन्सर इस मनोरंजन के विकास में बाधा उपस्थित करेगा और उसके नियंत्रण में जिस साहित्य या फिल्म का निर्माण होगा उसमें प्रचारात्मकता का आधिक्य रहेगा। इससे कला का ह्रास होगा और साहित्य तथा कला का जनता के जीवन से सीधा सम्बंध स्थापित नहीं होसकेगा। यह राष्ट्रहित में हानिकारक वस्तु है।

६. इस प्रकार का सेन्सर जिस आधार पर पुस्तकों की बिक्री पर रुकावट पैदा करता है वह राजनैतिक होता है, उसका अच्छे या बुरे साहित्य से बहुत कम

सम्बन्ध रहता है। आज तक जिन पुस्तकों या फिल्मों पर सरकारी सेन्सर ने रोक लगाई है वे सभी किसी-न-किसी राजनैतिक आधार पर ठीक नहीं बैठतीं। नैतिकता के आधार पर कहीं भी किसी फ़िल्म या पुस्तक को रोकागया हो यह कम दिखलाई देता है।

७. इस प्रकार का सेंसर कला के विकास में बाधक है। कला का विकास तभी सम्भव है जब उसके मार्ग में कोई रुकावट पैदा न हो। जिन नाटकों, सिनेमाओं या पुस्तकों को जनता पसन्द न करे, स्वयं वह उन्हें रोक सकती है। वे अपने आप रुकजाती हैं यदि जनता उनका स्वागत नहीं करती। सरकारी सेंसर कला के मार्ग के में बाधा उपस्थित करेगा और इससे स्वतन्त्र कला का निर्माण-कार्य रुकजायगा। कलाकार पर-कटे पक्षी की तरह तड़फायेगा और उसकी कल्पना उड़ान लेने से पूर्व ही सेंसर द्वारा पर कैंच कर दी जायगी। इन्सानी गुलामी का यह भद्दे-से-भद्दा स्वरूप होगा जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट होजायगी।

८. सरकारी सेंसर हमेशा एकतर्फा होता है और वह केवल अधिक संख्यक पार्टी के ही विचारों के प्रचार का ध्यान रखता है। इस प्रकार इस सेंसर द्वारा पास या प्रोत्साहित होकर जो फिल्म, पुस्तकें या नाटक आयेंगे उनसे समाज का सही मक़सद पूरा नहीं होगा। समाज का सही मकसद तभी पूरा हो सकता है जब कलाकार को अपने विचार अपनी भावना और अपनी कल्पना को विकसित तथा प्रस्फुटित करने के लिए स्वतन्त्रा रहे।

९. फिर सरकारी सेंसर के पश्चात् भी यदि स्थानीय पुलिस चाहे तो किसी फिल्म, पुस्तक या नाटक पर प्रतिबन्ध लगासकती है। सरकारी सेन्सर उन्हें नहीं रोक सकता। इसका नतीजा यह हुआ कि रचना पर दो दो प्रतिबन्ध लागू होगये और उसकी स्वतंत्रता बिलकुल ही नष्ट होगई। इस प्रकार सरकारी सेन्सर सुन्दर साहित्य, सिनेमा और नाटक के विकास में बाधक है।

लौकिक शिक्षा ही धार्मिक-कलह का हल है

पक्षः

१. देश की धार्मिक कलह को समाप्त करने का हल लौकिक शिक्षा का प्रचालन है। यदि शिक्षा के क्षेत्र से धर्म को प्रथक करदिया जाय तो बहुत कुछ हद तक धार्मिक कलह मिट सकती है। आज की जनता में धर्म के लिए वह मान्यता नहीं रहगई है, जो पहले थी। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति की आत्मा

से है और यह उसका व्यक्तिगत विषय है। इसके लिए वह प्रथक से ज्ञान प्राप्त करसकता है। साधारण स्कूलों में धर्म का पाठ पढ़ाया जाय इसकी बिलकुल आवश्यकता नहीं।

२. एक समय वह भी था जब देश के स्कूलों में धर्म-शिक्षा का एक प्रश्न-पत्र होता था और उसका पठन-पाठन उसी प्रकार होता था जिस प्रकार पढ़ाई के अन्य विषयों का। सरकारी दफ्तरों के लिए भी जब चुनाव होता था तो धार्मिक शिक्षा का ध्यान रखाजाता था, परन्तु आज वह युग समाप्त होचुका। आज सरकारी नौकरी तो क्या स्कूलों में भी धार्मिक पढ़ाई नहीं होती। आज किसी के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह धर्म-शिक्षा प्राप्त करे।

३. आज सरकारी स्कूलों में धर्म का कोई घंटा नहीं होता। केवल उन स्कूलों में, जिनका संचालन कुछ धार्मिक संस्थाओं द्वारा, जैसे आर्य समाज, सनातन धर्म सभा, हिंदू महासभा, जैन धर्म-सभा इत्यादि होता है, धर्म-शिक्षा को स्थान दिया गया है; परन्तु वहाँ भी अब धीरे धीरे वह दृढ़ता नहीं रहती जारही जो कभी पहले मिलती थी। उन स्कूलों में भी किसी विद्यार्थी का पास या फेल होना धर्म-शिक्षा पर निर्भर नहीं करता।

४. आज देश की जनता में शांति स्थापित करने के लिए यह आवश्यक समझागया है कि सरकार धर्म-सम्बन्धी मामलों में बिलकुल न पड़े और अपने स्कूलो में शिक्षा का क्षेत्र केवल लौकिक-शिक्षा तक ही सीमित करदे। बच्चों के संरक्षक यदि अपने बच्चों को धार्मिक शिक्षा देना चाहें तो वे उसका प्रथक से प्रबन्ध करें परन्तु सरकारी स्कूलों में धार्मिक शिक्षण की आवश्यकता नहीं। सरकार स्वयँ एक लौकिक संस्था है, इसलिए इसने अपने शिक्षा के क्षेत्र को भी केवल लौकिक-ज्ञान तक ही सीमित करदिया है। एक सरकार के शासन में अनेकों धर्मावलम्बी रह सकते हैं। उनका धर्म उनके किसी लौकिक व्यवहार में परिवर्तन पैदा नहीं कर सकता। धर्म न तो उनके किसी काम में रुकावट स्वरूप ही आता है और न किसी प्रोत्साहन स्वरूप। भारत आज इसी प्रकार की लौकिक (secular) स्टेट है जिसमें सभी धर्मों के माननेवाले शांतिपूर्वक रहसकते हैं, अपने-अपने धर्मों को मानसकते हैं और उनके पारस्परिक मतभेद का कोई कारण नहीं।

५. स्कूलों में दीगई धार्मिक शिक्षा एक जबरदस्ती की बात थी, जिसका सम्बन्ध आत्मिक सचाई से बहुत कम रहता था। किसी की रुचि चाहे धर्म में हो अथवा नहीं, उसे जबरदस्ती धर्म पढ़ना होता था। यह व्यर्थ की बात थी और विशेषरूप से ऐसी संस्थाओं में जब अन्य धर्मावलम्बी विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे तो उन बेचारों को इम्तहान पास करने के लिए वह धर्म पढ़ना होता था जिसमें उनकी कोई मान्यता नहीं होती थी। वह जबरदस्ती अब समाप्त

हो चुकी और उसके फलस्वरूप जो एक अन्य धर्मावलम्बी को कुढ़न होती थी वह भी आज दिखलाई नहीं देती। इस प्रकार की शिक्षा से पढ़नेवाले छोटे-छोटे बच्चों में पारस्परिक मतभेद पनपने लगता था और वह बराबर बढ़ता ही जाता था। केवल धर्म-शिक्षा के घंटे के कारण उनके पारस्परिक प्रेम-भाव को ठेस लगती थी और जो पारस्परिक सद्भावना उनमें पैदा होसकती थी, वह नहीं हो पाती थी। आज हमारी सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में लौकिक-शिक्षा की नीति अपनाकर हिन्दुस्तान में फैले विभिन्न मतों में सद्भावना को बढ़ावा दिया है।

६. धार्मिक शिक्षा और नैतिकता में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। आज का नागरिक आज से पचास वर्ष पुराने नागरिक से कहीं अधिक सभ्य हो चुका है। आज वह अपने पड़ौस, अपने नगर और अपने राष्ट्र के प्रति अधिक स्वस्थ तथा प्रेममय भावना रखता है, बनिस्बत आज से पचास वर्ष पुराने नागरिक के। जहाँ एक ओर नैतिक क्षेत्र में मानव ने यह प्रगति की है वहाँ दूसरी ओर धर्म के क्षेत्र में जनता की मान्यता का निश्चित रूप से ह्रास हुआ है। इसका यह अर्थ हुआ कि धार्मिक ह्रास का नैतिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। एक अधार्मिक व्यक्ति भी बहुत ऊँचे नैतिक स्तर पर रह सकता है और एक धार्मिक व्यक्ति का नैतिक स्तर बहुत नीचा भी होसकता है। आज का युग मानव में नैतिकता चाहता है धार्मिकता उसमें हो या न हो, यह उसके निजी सम्बन्ध की बात है। धर्म और नैतिकता साथ-साथ चल भी सकते हैं और नहीं भी। दोनों का साथ-साथ चलना आवश्यक नहीं।

७. आज देश में जितने भी धार्मिक स्कूल दिखलाई देते हैं उनकी पढ़ाई का स्तर उतना ऊंचा नहीं, जितना अन्य सरकारी स्कूलों का है। लौकिक शिक्षा का सम्बन्ध देश के रहने वालों के जीवन से है। इस शिक्षा को प्राप्त करके उनका लौकिक जीवन समृद्ध होता है। आध्यात्मिक ज्ञान से उनके लौकिक जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं। लोगों की समृद्धि में धार्मिक ज्ञान कोई योग प्रदान नहीं करसकता। आजका भौतिकतत्वदर्शक धार्मिक पचड़े को व्यर्थ की दिमागी अय्याशी के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता। आधुनिकतम वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में वे धर्म को बाधक समझते हैं।

८. आज का विद्यार्थी वर्ग तो क्या, शिक्षक-वर्ग भी धार्मिक शिक्षा से अपनी आस्था खोचुका है। वे स्वयं भी जिन संस्थाओं में इस प्रकार की शिक्षा देते हैं, उन्हें मजबूरन ही देनीहोती है। उनकी आत्मा स्वयं इसकी गवाही नहीं देती और न ही उनके जीवन में धार्मिक आस्था ही रहगई है, जो प्राचीन इतिहास को देखने से धर्माचार्यों के अन्दर दिखलाई देती है।

विपक्ष :

१. धार्मिक शिक्षा के स्थान पर लौकिक शिक्षा का प्रचलन करदेने से देश के रहने वालों में शांति का स्वप्न देखना मूर्खता है। इस तब्दीली के फल-स्वरूप विभिन्न मतों के धार्मिक मतभेदों के साथ-साथ लौकिक मतभेद और खड़े जायेंगे। लौकिक शिक्षा के अंतर्गत नैतिकता के नियमों का निर्माण हुआ है। इनका मानना देश की सामाजिक और राजनैतिक आवश्यकता है और धार्मिक नियमों का मानना हमारे जीवन का वह आवश्यक अङ्ग बन चुका है कि उसे लौकिक शिक्षा द्वारा समाप्त नहीं कियाजासकता। धर्म हमारी नस-नस में पुर चुका है, उसे लौकिक शिक्षा द्वारा हमारे जीवन से नहीं निकालाजासकता।

२. यह सच है कि आज के युग में अधिकांश राष्ट्रों में धर्म को अप्रधान वस्तु मानकर सरकारी नौकरियों, शिक्षा संस्थाओं तथा अन्य राज्य-संचालित कार्यों के क्षेत्र में महत्त्व देना बन्द करदियागया हैं परन्तु फिर भी बहुत से देशों में अभी धर्म की मान्यता कम नहीं हुई है। ब्रिटेन में आज भी ऐंग्लीकन चर्च का सम्मान कम नहीं। पाकिस्तान पूर्ण रूप से धर्म-प्रधान राज्य है और इसीप्रकार और कई राज्यों के नाम गिनाये जा सकते हैं।

३. आज भारत एक सेक्यूलर राज्य है, परन्तु फिर भी यहाँ हिन्दू धर्म की मान्यता कम नहीं। हिन्दू धर्म राज्य का प्रधान धर्म है, हिन्दू धर्मावलम्बियों की मान्यताओं को शासन में यों ही नहीं ठुकराया जासकता।

४. धर्म का ह्रास आज चारों ओर दिखलाई देरहा है, परन्तु फिर भी हमारे देश में धर्म अपनी एक विशेष मान्यता रखता है। धर्म की मान्यताओं को यों ही नहीं ठुकराया जासकता और न ही उनकी साधारणतया अवहेलना ही की जा सकती है। धार्मिक उपदेशों के पीछे आज भी भारत की जनता आँख मींचकर चलती है और उसके अन्दर धर्म की मान्यताओं का बहुत बड़ा सम्मान है। यह धर्म ही वह संस्था है जिसने शिक्षा को जन्म दिया है। किसी भी देश के आदि-साहित्य पर यदि दृष्टि डालें तो उसके मूल में धार्मिक साहित्य मिलता है। इसलिए जहाँ तक तालीम का सम्बन्ध है वहाँ धर्म को बिलकुल भुलाकर नहीं चला जासकता। चाहे आज विद्यालयों में धर्म-शिक्षा को स्थान न मिले परन्तु पाट्य पुस्तकों से धर्म का लोप करदेना नितान्त असम्भव है। धर्म हमारे देश के महापुरुषों के जीवन में, इतिहास में, साहित्य में सब चीजों में समाया हुआ है। यदि विद्यार्थी उनका अध्ययन करते हैं तो वे अपने को धर्म से प्रथक नहीं रखसकते। धर्म उनमें पुराहुआ है और उनके हर पहलू में धर्म विद्यमान है।

५. नैतिकता के उच्चतम आदर्श का पालन करने के लिए धर्म के क्षेत्र में पदार्पण करना ही होता है। नैतिक आदर्शों की उच्चता का एक स्तर वह आता है जहाँ पहुँचकर मनुष्य की स्वयँ धर्म में प्रवृत्ति होने लगती है और उसकी वृत्तियों का खिंचाव लौकिक जगत को छोड़कर अलौकिक और आत्मीय जगत में प्रवेश करने लगता है। ऊँचे स्तर पर नैतिकता को बिना धर्म की सहायता के पढ़ाया ही नहीं जासकता, समझाया ही नहीं जा सकता। बिना धार्मिक पृष्ठभूमि के नैतिकता फीकी-फीकी जान पड़ती है और नैतिक आदर्श आधार-विहीन होजाते हैं। जिन देशों में आज नागरिक शिक्षा के साथ नैतिक आदर्शों को मिलाकर धार्मिक ज्ञान और मान्यताओं को निरर्थक गिनलिया गया है, उनके चलन का आधार कमज़ोर ही है।

६. आज प्रायः सभी सेक्यूलर राज्यों को यह देखकर खेद होता है कि उनके यहाँ अपराधों की मात्रा बढ़ती जा रही है। धर्म का लोप होजाने से लोग अपने को ऐसा मुक्त पाते हैं कि उन्हें अपराधों की दिशा में बढ़ते संकोच नहीं होता। धार्मिक शिक्षा जनता को अपराधों के प्रति बढ़नेवाली प्रवृत्ति को रोकती है। यही रुकावट जनता के चरित्र का बल बनती है और इससे राष्ट्र मजबूत होता है। यदि सचमुच देखाजाय तो सेक्यूलर राज्यव्यवस्था ने राष्ट्रों को कमजोर बनाया है और अपराधों की मात्रा बढ़ा कर, धार्मिक कलह तो दूर की बात रही एक मतावलम्बियों में भी पारस्परिक स्वार्थपूर्ण मतभेद और झगड़े पैदा कर दिये हैं। धर्म का लोप होजाने से लोगों में स्वार्थ की भूख बुरी तरह जागउठी है, लोगों की लौकिक इच्छाओं में वृद्धि हुई है और संतोष नाम की कोई वस्तु रह ही नहीं गई है। यह राष्ट्र का बड़ा भारी पतन हुआ है। आज हम भारत में चाहे धार्मिक विचारधारा का ह्रास होने से हिन्दू-मुस्लिम झगड़े कम पाते हैं परन्तु इस अधार्मिकता के फलस्वरूप धर्म-भीरुता जाती रही और उसी के फलस्वरूप लोगों को अपराधों और गलतियों की दिशा में अग्रसर होने से संकोच नहीं होता। वे लौकिक काम को ही सब कुछ मानकर जो कुछ भी अनर्थ न कर बैठें वही कम है।

७. हम यह मानते हैं कि धार्मिक शिक्षा हमारे जीवन में आर्थिक लाभ नहीं पहुँचा सकती और न ही हमारे लिए कोई सांसारिक समृद्धि का साधन ही जुटासकती है। वह हमारे दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं करसकती परन्तु अलौकिक जीवन की झांकी वह अवश्य प्रस्तुत कर सकती है और उसी आदर्श तथा अलौकिक जीवन की झांकी मनुष्य को अपराधों की ओर प्रवृत्त होने से रोकती है। आज स्कूलों से धार्मिक शिक्षा को समाप्त करदेने का फल यह हुआ है कि बच्चे प्रारम्भ से ही जड़ता के साथ सोचना प्रारम्भ करदेते हैं। कल्पना और

मस्तिष्क की उड़ान का यह व्यापक क्षेत्र जो उन्हें धर्म प्रदान करता है, सेक्यूलर शिक्षा ने उसके द्वार का प्रवेश बन्द कर दिया है। अब बच्चे संसार की भौतिक चहार-दीवारी के अन्दर-ही-अंदर अपनी दृष्टि को किलेबंदी की दीवारों से टकराते रहते हैं, उन्हें भेद भी नहीं सकते और उनके ऊपर से होकर झाँकने का भी उनका मार्ग बन्द होचुका। यह लक्षण मानव-शांति का न होकर मानव-अशांति का ही है।

८. अब रही अध्यापकों में से धार्मिक प्रवृत्ति के लोप होजाने की बात सो वह उन अध्यापकों के साथ लागू होसकती है जिनकी धर्म में कोई प्रवृत्ति नहीं और उन्हें क्लास के घटे की खानापुरी करने के लिए धर्म-शिक्षा का घण्टा दियागया है। यह प्रणाली गलत है। धर्म-शिक्षा उसी शिक्षक द्वारा दी जानी चाहिए जो उसका अधिकारी हो, धर्म पर आस्था रखता हो, तभी विद्यार्थियों पर उसका प्रभाव पड़सकता है। धर्म के प्रति लोगों की अप्रवृत्ति होने का एक यह भी प्रधान कारण है कि आज धर्म के गढ़ और धर्म की बागडोर अयोग्य और अधर्मी लोगों के हाथों में चली गई, जिसके फलस्वरूप जनता की आस्था धर्म पर से उठने लगी। इन धर्म के गलत प्रचारकों के ही धर्म के कारण जनता को धर्म की आड़ लेकर पीछे पारस्परिक झगड़ों के लिए उभारा गया और धर्म को कलंकित किया गया। आज जो सब झगड़ोंका मूलधर्म समझा जाने लगा है, इसका प्रधान कारण यही है, परन्तु इसमें हमें कहीं पर भी यह दिखलाई नहीं देता कि धर्म आपस में लड़ना सिखाता है और इसलिए इसका पठन-पाठन ही सरकार को रोकदेना चाहिए। किसी चीज में यदि कोई बुराई या खराबी आजाय तो उसे ठीक करने का प्रयास कियाजाता है न कि उसे जड़मूल से ही समाप्त कर दें। यह प्रवृत्ति खतरनाक है और इस प्रकार की प्रवृत्ति से हमारी संस्कृति की बहुत सी अमूल्य वस्तुओं और मान्यताओं को भुलायेजाने और समाप्त कियेजाने की आशंका है। जिन मान्यताओं और आदर्शों की स्थापना करने में युग-के-युग व्यतीत हुए हैं उन्हें साधारण धार्मिक झगड़ों से भयभीत होकर, और वह भी उन झगड़ों से भयभीत होकर जिन्हें पैदाकरनेवाली एक विदेशी शक्ति थी, एक दम समाप्त करदेना कहीं की दानिशमंदी नहीं, बेहूदगी है।

बराबर काम का बराबर वेतन देना चाहिए

पक्ष:

१. आज श्रम और श्रम के मिलने वाले वेतनों में बराबरी होने के कारण काम करनेवाले की समर्थ्य और काम की क़िस्म में फर्क पैदा होजाता है। यह परि-

स्थिति शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार के कामों के क्षेत्र में है। दोनों सेक्स के कामकरनेवालों को बिना इस बात का खयाल किये कि वह स्त्री है, या पुरुष बराबर वेतन मिलना चाहिए। ऐसा न होने से उनके कामों की किस्म में भी फर्क आजयगा। इसका परिणाम यह होगा कि कामकरनेवालों की योग्यता कुंठित होजायगी और काम की खूबसूरती तथा उपयोगिता में अन्तर आजायगा। इससे देश और राष्ट्र को हानि होगी। देश में जितनी अधिक पैदावार होसकती है वह नहीं होसकेगी और जो कुछ भी पैदावार होगी वह भी अच्छे किस्म की नहीं होगी उसकी किस्म में बराबर गिरावट पैदा होतीजायगी।

२. कानूनन या प्रथा के रूप में अधिक वेतन वाले स्थानों पर स्त्रियों की नियुक्ति न करना और उन्हें उन स्थानों से वंचित रखना उनके साथ घोर अन्याय है। इसका परिणाम यह होता है कि फिर वे नीचे स्थानों पर पहुँच कर वहीं की प्रतिद्वन्दिता में बढ़ावा पैदा कर देती हैं। यह स्थिति दोनोंके ही लिए खतरनाक है। उन नीचे स्थानों पर भी स्त्रियों को कम वेतन देना उनके साथ अन्याय करना है। यह गलत है कि स्त्रियों पर उनके बाल-बच्चों का भार नहीं होता। जो स्त्रियाँ नौकरी करने की दिशा में कदम उठाती हैं उनमें से अधिकांश जरूरतमन्द होती हैं। या तो वे विधवा होती हैं या किसी अन्य परिस्थितिवश उन्हें नौकरी करनी होती है। उनमें से शौकिया नौकरी करने वाली बहुत कम होती हैं। स्त्रियों की खाने, कपड़े सम्बन्धी जरूरतें भी पुरुषों से कम नहीं होतीं। ये आवश्यकताएँ स्त्री तथा पुरुष दोनों की समान होती हैं इसलिए उन्हें पूरा करने को दोनों के लिए समान सुविधाओं की आवश्यकता है।

३. जब से स्त्रियों ने पुरुषों के साथ काम के मैदान में कदम बढ़ाया है तब से यह तजुरबे में आया है कि स्त्रियाँ बहुत से कामों में पुरुषों के ही समान योग्यता से काम करसकती हैं। साथ ही कुछ काम करने की ऐसी भी दिशाएँ हैं जिन में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ही अधिक बेहतर कार्य करसकती हैं। उदाहरणार्थ हम डाक्टरी की ही दिशा को ले सकते हैं और उनमें भी नर्सों का कार्य ऐसा है जिसे करने में स्त्रियाँ अधिक सफल हुई हैं। इसी प्रकार कनवेसरों, टाइपिस्टों इत्यादि के कामों की भी मोनोपली स्त्रियों के ही हाथों में आती जारही है। कुछ भी सही, हमारे कहने का तात्पर्य केवल यही है कि एक प्रकार का काम करनेवाले यदि कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियाँ साथ-साथ काम करते हैं तो उन्हें बराबर-बराबर वेतन मिलना चाहिए। जिस काम के लिए एक पुरुष को एक वेतन मिलता है उसी के लिए एक स्त्री को, केवल इसलिए कि वह एक स्त्री है, और उसकी आवश्यकताएं कम हैं, कम वेतन नहीं मिलना चाहिए।

४. एक प्रकारकी उत्पादित वस्तुओं की कीमत एकसी होती है। दोनोंके

मूल्य में कोई अन्तर नहीं होसकता। बाजार यह नहीं देखता कि यह वस्तु किसी स्त्री द्वारा बनाई गई है या पुरुष द्वारा, किसी एक प्रान्त के व्यक्ति द्वारा या दूसरे प्रान्त के व्यक्ति द्वारा, किसी कम पढ़े-लिखे द्वारा या अधिक पढ़े लिखे, द्वारा किसी छोटी जातिवाले द्वारा या बड़ी जातिवाले द्वारा। उसका सम्बन्ध तो उस वस्तु से है जो बनाईगई है। वह तो वस्तु की सुन्दरता और मजबूती इत्यादि देखता है और इन्हीं के आधार पर उसका मूल्य निर्धारित करता है। इसलिए यदि कोई मालिक एक ही चीज को बनाने वालों के साथ वेतन में भेदभाव करता है तो वह निश्चित रूप से उसकी परिस्थिति का लाभ उठाकर उसका शोषण करना चाहता है। उसका लाभ सिर्फ काम करने वाले को पहुँचता है। यह नहीं होना चाहिए। सेक्स, जाति, सामाजिक स्तर इत्यादि के आधार पर कम वेतन देने की व्यवस्था करना भेदपूर्ण नीति है जिसका सब काम करने वालों को मिलकर विरोध करना चाहिए।

५. जिन कारोबारों, व्यापारों तथा उद्योगों में बराबर वेतन देने की प्रयत्न होनेलगा है वहाँ तरक्की दिखलाई देती है। वहाँ का उत्पादन भी बढ़ा है और वहाँ के काम करनेवालों की दशा में भी परिवर्तन हुआ है। वहाँ के काम करने वालों के जीवन में किसी भी प्रकार पारस्परिक मतभेद पैदा नहीं होता और वे उत्साह के साथ काम करते हैं।

६. विशेष रूप से बेरोजगारी के जमाने में स्त्रियों की प्रतिद्वन्दिता बहुत खतरनाक होती है। स्त्रियाँ और बच्चे कम वेतन पर काम करने के लिए उद्यत हो कर पुरुषों को बेरोजगार करदेते हैं। कुछ बड़ी-बड़ी ट्रेड-यूनियनों ने इस समस्या का यही हल निकाला है कि नियम लागू कियाजाय कि किसी काम पर चाहे स्त्री काम करे या पुरुष, वेतन सबको बराबर ही दिया जायगा। इस नियम के अनुसार कम वेतन पर काम करनेवाली स्त्री किसी पुरुष को उसके काम से प्रथक करने में असमर्थ नहीं होसकती। वास्तव में ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम होती हैं जो अकेली ही किसी परिवार को चलाती हैं। स्त्रियाँ अपनी आय से अपने पतियों की आय में वृद्धि करती हैं। इस वृद्धि के लिए यदि उनकी संख्या इतनी अधिक होजाय कि उसके फलस्वरूप पुरुषों की छटनी होनेलगे तो इसका परिणाम यह होगा कि बहुत से पुरुष काम से बेरोजगार होजायेंगे और इस प्रकार सम्पूर्ण मजदूर-समाज का अहित होगा। इसीलिए ट्रेड-यूनियनों ने इसे रोकने का प्रयत्न किया। बराबर काम का बराबर वेतन ही इस समस्याका एकमात्र सुझाव है।

विपक्ष :

१. स्त्रियों का स्थान घरमें है। नौकरी करना उनका काम नहीं। कभी-कभी जब राष्ट्रीय आवश्यकता होती है तो स्त्रियों को काम पर लगालियाजाता है और वे पुरुषों के साथ काम में सहयोग दे देती हैं। यों साधारणतया दैनिक जीवन में स्त्रियों को नौकरी करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि स्त्रियों को नौकरी की अच्छी सुविधा मिलने लगेगी तो इसका परिणाम यह होगा कि वे घर-गृहस्थी का काम करना छोड़देंगी। जब स्त्रियाँ भी घर-गृहस्थी का काम छोड़कर नौकरियों के पीछे दौड़ने लगेंगी तो वैवाहिक-जीवन का आनन्द समाप्त होजायगा। स्त्री-पुरुषकी नौकरी एक ही स्थान पर हो यह भी सर्वदा सम्भव नहीं। दो नगरों में उनकी नौकरी लगने से उनकी गृहस्थी बिलकुल ही बिगड़ जायगी। फिर यह समस्या अपने और भी जटिल रूप में उस दम्पति के सामने आयेगी जब उनके बच्चे होंगे और उनके पालन-पोषण की समस्या सामने होगी। यह ठीक है कि इससे दोनों की आय में कुछ वृद्धि होसकती है परन्तु यह वृद्धि उनके जीवन के आनन्द को एकदम समाप्त करदेगी। दोनों का जीवन नीरस होजायगा और दोनों पैसा कमाने की मशीनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहजायेंगे।

२. आज के युग में यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पुरुषों पर स्त्रियों की अपेक्षा अधिक जिम्मेदारियाँ हैं। सामाजिक नियमों और प्रचलन के आधार पर वास्तव में गृहस्थों के पालन-पोषण का भार स्त्रियों पर न होकर पुरुषों पर होता है। कुछ कामों में स्त्रियाँ पुरुषों के समान उन्नति कर सकती हैं परन्तु सबमें नहीं। बहुत से काम तो ऐसे हैं कि जिन्हें स्त्रियाँ कर ही नहीं सकतीं और यदि कर भी सकेंगी तो उनपर उसका अधिक बोझा पड़ेगा, जो कि स्त्री-जाति के लिए सहन करना कठिन है और उसपर डालना भी तो अन्याय है। स्त्रियों को इस प्रकार कुछ सहायक कामों के ही लिए इस्तेमाल कियाजासकता है और उसी के अनुसार उन्हें वेतन भी दियाजासकता है, परन्तु प्रधान जिम्मेदारी के कामों पर उनकी नियुक्ति कर देना मूर्खतापूर्ण है। इन कामों के लिए उन्हें पुरुषों के बराबर वेतन नहीं दिया जा सकता।

३. स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कमवेतन इस लिये दिये जाते हैं कि वे पुरुषों की तरह हर परिस्थिति में काम नहीं कर सकतीं। उदाहरणार्थ रात्रिके समय काम करने की ही बात है, जिस समय पुरुष आसानी से काम करसकते हैं और स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार बहुत से ऐसे खतरे के भी स्थान हैं जहाँ पर पुरुष काम कर सकता है और स्त्री नहीं कर सकती। इसलिए हमेशा इस बात पर ध्यान रखा जाता है कि स्त्रियों से वह काम लियाजाय जो आसान हो और इस आसान काम

के लिए यदि उन्हें कम भी वेतन दियाजाता है तो कुछ अनुचित नहीं ।

अब रही अन्य जाति वालों की बात। सो उनकी योग्यता का प्रश्न सामने रहता है, जाति इत्यादि का नहीं।

४. किसी भी व्यक्ति को नौकरी देते समय जब उसे काम सिखलाया जाता है तो उसपर कुछ व्यय (Investment) करना होता है। इस व्यय की गई पूंजी को मालिक प्रारम्भमें नहीं तो बादमें निकालना अवश्य चाहता है। यह पूंजी एकबार में नही निकाली जा सकती। स्त्रियाँ अधिकांश में विवाह से पूर्व ही नौकरी करती हैं और विवाह होने के पश्चात् नौकरी छोड़ देती हैं। ऐसी दशा में भविष्य का व्यय किया हुआ धन नष्ट होजाता है। इस बातको मालिकलोग पहले से जानते हैं और इसीलिए वे स्त्रियों को उतना वेतन नहीं देते जितना पुरुषों को देते हैं।

फिर स्त्रियों को अपने शारीरिक बनाव के आधार पर भी हर महीने अधिक छुट्टियां लेनी पड़ती हैं। इन छुट्टियों के लेने से काफ़ी नुकसान होता है। इस नुकसान को भी मालिक ही बर्दाश्त करता है और यहां यह भी स्पष्ट ही है कि मालिक लोग अपने पास से कोई हानि कभी बर्दाश्त नहीं करते। इन्हें तो जो हानि जिसके कारण उठानीपड़ती है वह उसी से वसूल करते हैं। वसूल करने के उनके तरीके प्रथक्-प्रथक् हैं। स्त्रियों को इसीलिए स्पष्टतया वे कम वेतन देते हैं।

५. अब रहा बराबर काम करने का प्रश्न, सो यह नितान्त असम्भव है। जीवन की किसी भी दिशा में किसी स्त्री के लिए किसी पुरुष के बराबर काम करना कठिन है। पुरुष में स्त्री की अपेक्षा अधिक काम करने की शक्ति और साहस होता है। रूस में बराबर काम और बराबर वेतन के सिद्धान्त को माना गया है और वहां स्त्री तथा पुरुष दोनों को एक से काम पर एकसा वेतन मिलता है परन्तु वहाँ भी यह वेतन स्त्रियों के साथ विशेष सहायता, सहयोग और संरक्षण की भावना को लेकर दियाजाता है। खुले रूप में न सही परन्तु गुप्त रूप से इसमें स्त्रियों को आर्थिक सहायता देने की ही भावना निहित है।

६. सीधी बात यह है कि स्त्रयों को कम वेतन कम और हलका काम करने के कारण दियाजाता है। यदि देश के किसी भी उद्योग को कुछ उन्नति करनी है और राष्ट्र को उसका लाभ पहुँचाना है तो उसका वेतन-बिल कम से कम होना आवश्यक है। इसलिए यदि स्त्रियों को कम काम करने पर भी पुरुषों के ही बराबर वेतन दिया जायगा तो निश्चित रूप से उद्योग का उत्पादन मंहगा होने लगेगा और व्यापार में हानि होगी। इस साधारण सी भावनात्मक रहमदिली का खमियाजा सारे राष्ट्र को भुगतना पड़ेगा। इससे बेरोजगारी को प्रश्रय मिलेगा और मंहगाई बढ़ेगी। अंत में इसी गलती के फलस्वरूप उत्पादन के क्षेत्र मे भी कमी

आने की सम्भावना है। वास्तव में स्त्रियाँ जब उतना काम नहीं कर सकतीं जितना पुरुष करसकते हैं तो उन्हें उतना वेतन नहीं मिलसकता जितना पुरुषों को मिलता है।

७. स्त्रियों तथा पुरुषों को बराबर वेतन देने से पुरुषों में बेरोजगारी फैलेगी। पुरुषों की बेरोजगारी ट्रेडयूनियनें कभी बर्दाशत नहीं करसकतीं और न सरकारें ही, क्योंकि उनकी बेरोजगारी से देश का आर्थिक ढाँचा ही बिगड़ जायगा। मजदूर पुरुषों के परिवार उनके ऊपर हैं और परिवारों की दशा का राष्ट्र के रहने वालों की दशा पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

परीक्षाओं की व्यवस्था राष्ट्रीय उत्थान में हानिकारक है

पक्ष :

१. आज के युग में परीक्षाओं का जो चलन चल रहा है उसमें योग्यता की एक साधारण सी जाँच होजाती है। कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं कि जिनकी स्मरणशक्ति तीव्र होती है और उन्हें अध्ययन की सुविधाएं प्राप्त रहती हैं। इन दोनों सुविधाओं से वे इमतहान पास करते चलेजाते हैं और कक्षा में अपनी विशेष काबलियत प्रदर्शित करने में सफल होते हैं। परन्तु इस सब का यह अर्थ कदापि नहीं कि उनके पास कोई मौलिक विचार या अपनी कल्पना-शक्ति होती है। विद्यार्थी मौलिक कल्पना और विचार के अभाव में भी परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण होसकता है। परन्तु इससे वह विचारक नहीं बनसकता। जब तक देश में परीक्षाओं का प्रचलन रहेगा तब तक किसी भी काम पर पहुँचने वालों की छाँट में यही परीक्षा का ढंग अपनाया जायगा इस प्रकार की परीक्षा में साधारण बातों को रट कर याद रखने वाला व्यक्ति ही छाँटा जायगा, मौलिक विचारक नहीं छाँटा जायगा। इसका परिणाम उन विचारकों पर भी बुरा पड़ेगा और राष्ट्र का उत्थान भी उतना नहीं हो सकेगा जितना मौलिक विचारकों के हाथों सम्भव है। इस प्रकार परीक्षाएँ राष्ट्रीय उत्थान में योग न देकर उलटी हानिकारक साबित होती हैं।

२. परीक्षाएँ विद्यार्थियों के जीवन में विष-तुल्य होती हैं। विद्यार्थियों की उन्नति में जितनी परीक्षाएँ बाधक सिद्ध होती हैं उतनी अन्य कोई वस्तु नहीं होती। परीक्षाओं को पास करने के लिए विद्यार्थी अपने पाठों को रटते हैं। परेशान होते हैं और कभी कभी उनकी आत्मा निरर्थक अध्यायों को पढ़ और रट कर बहुत परेशान होती है। छोटी उम्र में कच्चे दिमागों पर यह रटाई का बोझा पड़ने से उनकी स्मरण तथा समझ-बूझ की शक्ति ही नष्ट होजाती है और

वे बहुत सी चीजों को बिना दिमाग का सहारा लिए रखते चलेजाते हैं। यह उन बच्चों के जीवन को सर्वमूल नष्ट करदेता है और उनकी योग्यता बढ़ने के स्थान पर उलटी घटने लगती है। इन परीक्षाओं के लिए स्कूलों में जो स्लेबस तय्यार किये जारहे हैं उनकी सीमा के अन्दर बाँधकर ही उनके शिक्षक उन्हें शिक्षा देते हैं और उस सीमा से बाहर निकलना उनके लिए कठिन होजाता है। किसी भी विषय पर विस्तार के साथ स्लेबस से बाहर जाकर ज्ञान बढ़ाने की बात उन विद्यार्थियों के दिमाग में आती ही नहीं। उस सीमा का उल्लंघन करना अच्छे दर्जे में परीक्षा पास करने के मार्ग में बाधा उपस्थित करना है। पहले तो जो कुछ उन्हें आवश्यकता है उससे बाहर जाने से वे व्यर्थ चीजों में फंसजाते हैं और परीक्षा के विचार से एक निश्चित लक्ष्य पर अपना उत्तर संधानने में समर्थ नहीं हो पाते। इस प्रकार परीक्षा और इसे पास करने के स्लेबस विद्यार्थी के ज्ञान की वृद्धि भी एक निशिचत् सीमा में रख कर ही करना चाहते हैं, उहसे बाहर निकलकर नहीं। यह विद्यार्थियों की ज्ञान-वृद्धि के मार्ग में एक बड़ा भारी प्रतिबन्ध है और यदि कोई बाहर निकलता है तो वह परीक्षा में अच्छे नम्बर प्राप्त नहीं कर सकता। अच्छे नम्बर प्राप्त न करने से परीक्षा फल अच्छा न रहने पर वह जीवन में उन्नति नहीं कर सकता। इस प्रकार परीक्षाएँ विद्यार्थियों के लिए हानिकारक हैं।

३. परीक्षा पास करने के लिए विद्यार्थियों को उन सब विषयों में परीक्षा पास करनी होती है जिनके बिना वह परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सके। इनमें कई विषय ऐसे भी स्लेबस में आवश्यक बना दिये जाते हैं कि जिनका उनके जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। विद्यार्थियों का यही समय यदि कुछ ऐसी चीजों में लगे जिनमें उनकी रुचि हो या जो उनके जीवन में कुछ उपयोगी होने वाले हों, तो निश्चित् रूप से उनका लाभ होता। परन्तु परीक्षा तो अपने स्लेबस पर विद्यार्थियों की चलती है। उस पर चल कर विद्यार्थियों का जीवन कभी किसी मौलिक दिशा में उन्नतिशील नहीं हो सकता। परीक्षाओं के लिए भी विद्यार्थी जिस प्रकार की मेहनत करते है उससे उनकी योग्यता का परिचय विशेष नही मिलता, उनकी रटने और याद करने की ही शक्ति का प्रतिबिम्ब मिलता है जिसे विद्यार्थियों की वास्तविक प्रतिभा नहीं कहा जासकता।

४. आज के शिक्षा-संचालकों का विचार है कि सब विद्यार्थी एक ही समय मे उन्नति करके एक ही मानसिकस्तर पर पहुँच जाते हैं। इसमें आयु का कोई भेद नहीं, विषयों का कोई भेद नहीं, बस केवल नम्बरों से सीमा बाँध दी गई हैं। शिक्षा तथा डाक्टरी के नये परीक्षणों ने यह साबित करदिया है कि बात कुछ ऐसी नहीं है। इसी प्रकार लड़के तथा लड़कियों की मानसिक शक्तियों का विकास भी साथ-साथ नहीं होता। इस बात के प्रमाण स्वरूप स्कूलों के रिकार्डों

का मुतालिया करना अधिक लाभदायक होगा बनिस्बत स्कूलों के इमतहानों की छानबीन करने के। वास्तव में मानसिक विकास को इस प्रकार परीक्षाओं की तराजू पर तोलना ही मूर्खता की बात है। मानसिक विकास की तराजू तय्यार करना साधारण काम नहीं।

५. जो लोग बहुत ही प्रतिभा सम्पन्न होते हैं और मौलिक विचरधारा रखते हैं वे प्रतियोगिता तथा परीक्षा इत्यादि को सहन नहीं कर सकते वरन् इन चीजों को वे अपना अपमान समझते हैं। इसका फल यह होता है कि इस प्रकार की जगहों के लिए साधारण योग्यता के ही व्यक्ति आते हैं और उन्हीं में से छांट कर काम चलाया जाता है। यह छाँट का प्रतियोगिता का तरीका राष्ट्रीय उत्थान में हानिकारक सिद्ध होता है और जो विशेष योग्यता के व्यक्ति हैं वह सरकार को उपलब्ध नहीं हो पाते। ठीक यही दशा शिक्षा ही नहीं सरकार के विभिन्न विभागों में देखने को मिलती है। केवल परीक्षा के आधार पर कभी भी सही व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो सकते।

विपक्ष :

१. परीक्षाओं की हमारे विपक्षियों ने काफी निन्दा की है, परन्तु वास्तव में यह किसी भी मनुष्य की एक बहुत ही मूल्यवान तारीफ है। इनके आधार पर योग्यता का एक मापदण्ड सामने आजाता है और उस व्यक्ति की योग्यता को समझने में अधिक देर नहीं लगती। इससे यह पता चलता है कि परीक्षा पास विद्यार्थी में नई समस्याओं को सुलझाने और उनसे उलझने-सुलझने की कितनी योग्यता है। इससे पता चलता है कि वह किसी भी परीक्षा में बिना अपने नित्य के साधनों के उत्तीर्ण हो सकता है और अकस्मात् सामने आनेवाली बातों का सही उत्तर देसकेगा। लिखित परीक्षा की अपेक्षा किसी भी विद्यार्थी की तुरत बुद्धि की जाँच के लिए मौखिक परीक्षा होती है मौखिक परीक्षा में केवल वही विद्यार्थी अपनी योग्यता दिखला सकता है जो विषय को भली-प्रकार समझता है और उसने उस विषय को न केवल रटा है वरन् उसका गहराई के साथ अध्ययन किया है।

२. किसी भी परीक्षा के लिए जो विद्यार्थी पढ़ता और विषय का अध्ययन करता है तो इसका उसके मस्तिष्क पर बहुत ही स्वस्थ्य प्रभाव पड़ता है। इसका कुन्द तथा तीव्र दोनों प्रकार की बुद्धि वाले विद्यार्थियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता और खराब प्रभाव केवल उन व्यक्तियों पर पड़सकता है जो विचित्र प्रकार (Abnormal) के मस्तिष्क वाले व्यक्ति होते हैं। वास्तव में ये परीक्षाओं की व्यवस्था शिक्षा-व्यवस्थाओं ने इन विचित्र प्रकार (Abnormal) के

व्यक्तियों के लिए नहीं की, वरन् यह तो उन्हीं कुन्द तथा तीव्र बुद्धि वाले निन्यानवें प्रतिशत विद्यार्थियों के लिए की है।

शिक्षा की विभिन्न परीक्षाओं के जो स्लेबस तय्यार किये जाते हैं वे विद्यार्थियों की कोमल बुद्धि को विद्या के असीम सागर से पार करने वाली एक किश्ती के समान होते हैं। यों तो यदि देखाजाय तो विद्या के सागर का कहीं ओर-छोर ही नहीं और उस असीम सागर में विद्यार्थियों को यों ही बिना किश्ती के छोड़ देना मूर्खता की बात है। परीक्षाओं के ये स्लेबस विद्यार्थियों के लिए बहुत ही सहायक हैं। स्लेबस विषय के विभिन्न पहलुओं का विद्यार्थियों को उनके मस्तिष्क के स्तर के अनुसार ज्ञान कराते हैं। स्लेबस की उपयोगिता को इस प्रकार निरर्थक नहीं समझा जासकता।

३. विद्यार्थियों के मानसिक विकास में केवल प्राइमरी शिक्षा तक ही अन्तर दिखलाई देता है, उसके पश्चात् नहीं। बड़ी कक्षाओं में बच्चों का विकास लगभग एकसा ही होता है। उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता। आज लड़के और लड़कियाँ एक ही विद्यालय में साथ-साथ बिना किसी परेशानी के शिक्षा ग्रहण करते हैं। उनके मानसिक विकास में कोई फर्क नहीं रहता।

४. जो अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं वे उन बच्चों की योग्यता के विषय में निष्पक्ष राय कायम नहीं करसकते। परीक्षक लोग उनकी योग्यता पर निष्पक्ष होकर राय देते हैं इसलिए उनका मत गलत नहीं होसकता। वे जो कुछ भी किसी विद्यार्थी के विषय में राय कायम करेंगे वह सही होगी। आज के शिक्षा-प्रबन्ध में हमारे देश के अन्दर यह गलती है कि चतुर और मूर्ख विद्यार्थी एक साथ पढ़ते हैं। वास्तव में चतुर विद्यार्थियों की प्रथक कक्षाएँ होनी चाहिएँ और मूर्खों की प्रथक और उन्हें पढ़ाने के लिए शिक्षक भी प्रथक-प्रथक ही होने चाहिएँ। इस प्रकार की छाँट करने का साधन हमारे पास परीक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परीक्षा द्वारा ही चतुर और मूर्ख विद्यार्थियों की प्रथक-प्रथक श्रेणियां बनाई जासकती हैं। चतुर विद्यार्थियों को उनकी चतुराई के लिए परीक्षा द्वारा ही सही दाद मिलती है। यदि उसे यह दाद न दीजाय तो उसका दिल टूट जाता है काम के अधिक परिश्रम का उसे अधिक फल मिलता है। परीक्षा में प्रथम या द्वितीय स्थान प्राप्त करके जो प्रसन्नता होती है वह अमूल्यवस्तु है।

५. आज के परीक्षकों का परीक्षा लेने का ढंग भी बदलता जा रहा है। वे केवल किताबी योग्यता की ओर ही ध्यान नहीं देते। इम्तहान लेते समय वे विद्यार्थी की अन्य प्रकार की योग्यता पर भी ध्यान देते हैं। विशेष रूप से जहाँ कहीं किन्हीं नौकरियों के लिए छाँट होती है वहां

तो मौखिक प्रश्न-पत्र अवश्य होता है और इस मौखिक प्रश्न-पत्र में विद्यार्थी की साधारण योग्यता की ही जाँच होती है। इस प्रश्न-पत्र में उससे विविध प्रकार के ऐसे प्रश्न पूछेजाते हैं जिनका किताबें रटने से बहुत कम सम्बन्ध रहता है। इसके अंतर्गत विद्यार्थी की योग्यता, चतुरता और चरित्र का निरीक्षण कियाजाता है। इस प्रकार की परीक्षा से विद्यार्थी की किताबी तथा अन्य सब प्रकार की योग्यता का अन्दाजा लगजाता है। और यह उसकी योग्यता नापने का एक सुन्दर तथा स्वस्थ्य तरीका है।

आज अंतर्राष्ट्रीय विचारधारा का युग है

पक्ष :

१. राष्ट्रिय विचारधारा (Nationalism) की संकुचित मनोवृत्ति सन् १९१४ और सन् १९३९ के महायुद्धों में समाप्त होगई। राष्ट्रीय विचारधारा का जोर तभी तक रहा जब तक आवागमन के साधन छोटे थे और राष्ट्र भी एक बहुत बड़ी चीज समझा जाता था। इसी समय औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप पूंजीपतियों के विकास ने भी इस भावना को कुछ दिन अपने स्वार्थ के लिए अपनाया और उसके फलस्वरूप यह कुछ दिन और टिकीरही परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात इसका ठहरना असम्भव होगया। आज तो यह बिलकुल निश्चित है कि अब जो विचारों का विरोध संसार में दिखाई देता है उसके मूल में राष्ट्रिय भावना नहीं है। आज जो मतभेद या द्वन्द्व दिखलाई देता है वह या तो वर्ग-भेदों के कारण है या विभिन्न राष्ट्रों की सैद्धान्तिक नीति-भेद के कारण है। राजनीतिक-संस्था के रूप में राष्ट्रियता आज पुरानी चीज पड़चुकी है और राजनीतिज्ञों के दृष्टिकोण से उसका कोई महत्त्व नहीं रहगया है। आज आवागमन के के तीव्रतम साधनों ने समस्त संसार को एक देश, एक आर्थिक इकाई (Economic unit) बनादिया है। आर्थिक दृष्टिकोण से एक राष्ट्र एक आर्थिक इकाई होता था, वही दशा आज विश्व की होजाने से दोनों में कोई भेद नहीं रहगया है।

२. राष्ट्र हमेशा रहनेवाली चीज नहीं। यह केवल कुछ शताब्दियों तक कायम रहा और इस संस्था के अंतर्गत कुछ आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं का विकास हुआ। यह सम्भव है कि भविष्य में यह संस्कृति और रीतिरिवाजों की प्रतिछाया के रूप में वर्तमान रहे हालाँकि ये भी बराबर धीरे-धीरे लोप होते जा रहे हैं। परन्तु आज अंतर्राष्ट्रिय विचारधारा का विकास सामने है और राष्ट्रिय

विचारधारा को आज का मानव एक संकुचित दृष्टिकोण समझता है। आज से कुछ दिन पश्चात देशों की दशा आज के प्रदेशों के समान और राष्ट्रों की दशा विभिन्न जातियों के समान होजायेगी। समस्त संसार एक महान् देश होगा और समस्त संसार के रहने वाले एक राष्ट्र। इस राष्ट्र के सभी रहनेवालों के मानवीय अधिकार एक समान होंगे। उनमें रंग-भेद इत्यादि के लिए कोई स्थान न होगा। इस प्रकार की संकुचित भावनाओं का धीरे-धीरे ह्रास होताचला-जायगा। वर्ग-भेद जो आर्थिक दृष्टिकोण ने पैदा करदिये हैं उनका सामना करने के लिए भी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण आपस में संघर्षोन्मुख हैं।

३. आज यदि संसार के विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक समस्याओं पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि उनमें बहुत से राष्ट्रों की आर्थिक समस्याएँ लगभग समान हैं। इसी सच्चाई के सामने आने पर विश्व के पूंजीपतियों तथा मजदूरों को अपनी-अपनी एक-एक अंतर्राष्ट्रिय संस्था संस्थापित करनी पड़ी। विश्व की पूंजी तथा मजदूरी सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिए इन संस्थाओं का विकास हुआ। राजनीतिक मतभेदों को दूर करने के लिए यू. एन. ओ. की स्थापना हुई आज जो देश भी इससे बाहर है उसे विप्लवकारी घोषित कियाजाता है। चीन की आज यही दशा है। अमरीका उसे यू. एन. ओ. का सदस्य नहीं बनने देना चाहता।

४. आज ऐसी संस्थाओं, सोसायटियों, मुबायदों इत्यादि की कमी नहीं है जिनके द्वारा संसार के विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के निकट आतेजारहे हैं। इनमें से कुछ तो इतनी मजबूत हैं कि युद्धकालीन परिस्थितियों को भी उन्होंने सहन किया है और उस आपत्तिकाल में भी पारस्परिक एकता, सद्भावना और मित्रता को कायम रखा है, शांति के कायम रहने में योग दिया है और आक्रमणकारियों के विरुद्ध मानवजाति को जागरूक किया है। इस प्रकार की संस्थाओं का निकट भविष्य में बहुत बड़ा विकास होगा और इनके द्वारा विभिन्न विचारधाराओं के लोग एक दूसरे के निकट आयेंगे और एक दिन वह आयेगा जब ये सब मिलकर एक विश्वव्यापी राष्ट्र का निर्माण करेंगे जिसकी शासन-व्यवस्था एक होगी और धर्म समाज तथा अन्य मान्यताओं के लिये सबको स्वतंत्रता दीजायगी।

५. आज साम्यवाद की जो रूपरेखा हमारे सामने है वही एक दिन समस्त भू-मण्डल पर छाजायगी और उसी में वर्तमान विचारधाराएँ लीन होजायेंगी साम्यवाद का विकास होकर उसमें संसार की विभिन्न जातियों के लोग मैत्री भाव से मिलजायेंगे और एक अर्थ तथा राज्यव्यवस्था के नीचे पनपकर मानव की एकता और अंतर्राष्ट्रिय क्षेत्र में सफलता पूर्वक विलीन हो जायेंगे। वह संसार का स्वर्णयुग होगा जिसमें राजनीति और अर्थ सम्बन्धी मतभेद मिटजायेंगे और वर्ग-मतभेद कम

हो जायेगा। इस विकास के फलस्वरूप विश्व समृद्धि की दिशा में अग्रसर होगा और विभिन्न राष्ट्रों वाली संकुचित मनोवृत्ति मानव से सर्वदा के लिए कूच कर जायेगी।

६. अंतर्राष्ट्रियतावाद एक पवित्र भावना है, पवित्र सिद्धान्त है और पवित्र विचारधारा है। अंतर्राष्ट्रियता की भावना प्रायः सभी धर्मों में पाईजाती है परन्तु वह धार्मिक अंतर्राष्ट्रियता आज के युग में पनपनेवाली अंतर्राष्ट्रियता से भिन्न है। इसमें शासन-व्यवस्था प्रजातंत्रात्मक होगी, धर्माचार्यों द्वारा शासित नहीं। सभी लोगों के रहन-सहन के स्तर लगभग समान होंगे और इस एकता को कायम रखना आज के उपलब्ध आवागमन के साधनों द्वारा कोई कठिन कार्य नहीं। अणु-शक्ति का प्रयोग यदि आवागमन के साधनों को और तीव्र बनाने की दिशा में हो तो यह एकता और शीघ्र स्थापित होसकेगी।

७. आज यह स्थिति पैदा होचुकी है कि यदि संसार को तीसरे युद्ध से बचाना है तो उसे अंतर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करनी होगी। अंतर्राष्ट्रीयता ही विश्व के फैले हुए मतभेदों को दूर करसकती है। युद्ध की बरबादी और तबाही से बचने का एक मात्र यही उपाय है। आज जो कभी-कभी कहीं-कहीं राष्ट्रिय मतभेद उभरते दिखाई देते हैं ये सब उसी प्रकार के हैं जैसे एक देश में विभिन्न प्रान्तों और बोलियों के झगड़े खड़े होजाते हैं। सहनशीलता और मुस्तकिल मिजाजी से इन सब का हल बड़ी सहूलियत से निकल आता है और पारस्परिक युद्ध का कोई कारण दिखलाई ही नहीं देता। कितनी भी झगड़े या मतभेद की स्थिति चाहे पैदा क्यों न होजाये, परन्तु फिर भी विश्व-शांति को कायम रखने के लिए लड़ाई से दूर रहना चाहिए यही गम्भीर मानव और राष्ट्र की पहचान है।

८. सही या गलत का विचार छोड़कर अपने देश पर मरमिटने वाली भावना को लेकर चलने का युग समाप्त होचुका। आज आवश्यकता विश्व में अपना मत पैदा करने की है। अपने देश की जनता को दूसरे देश के खिलाफ भड़काने से यह अपनी ही अशांति का कारण बनता है। यह स्थिति अन्त में अपने ही लिए खतरनाक साबित होती है। आज पाकिस्तान में हिन्दुस्तान के खिलाफ़ कियाजानेवाला प्रचार उसकी अपने ही देश की अशांति का कारण बन रहा है। इस प्रकार की चीजों में अंतर्राष्ट्रीय विचार को भुलाकर संकुचित बातों की रविश में बहजाना मूर्खता है, कमअक्ली है।

विपक्ष :

१. यह कहना बिलकुल गलत है कि आज के युग में राष्ट्रियतावाद समाप्ति पर है और राष्ट्रिय-भावना का लोप हो चुका है। राष्ट्रिय भावना आज

विश्व के कोने-कोने में पहले से बहुत अधिक दिखलाई देती है। जितनी अधिक-से-अधिक यह पहले कभी विश्व में वर्तमान थी, आज उससे अधिक है। राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता आज वर्ग-प्रतिद्वन्द्विता की सीमा का उल्लंघन करचुकी है और इसी भावना के फलस्वरूप अनेकों अंतर्राष्ट्रीय मुत्रायदे अधिक दिन स्थिर नहीं रहसके। ये मुवायदे बने और बिगड़े; स्थिर न रह सके। राष्ट्रीय भावना की टक्कर में अंतर्राष्ट्रीय भावना न टिकसकी।

२. राष्ट्र जिस प्रकार एक मौलिक तत्व है, मौलिक व्यवस्था है, मौलिक संस्था है इसी प्रकार राष्ट्रीय देश-प्रेम भी स्थायी नैतिक सद्गुण। राष्ट्र ही आज बड़ी से बड़ी आर्थिक इकाई है और राष्ट्र को आर्थिक इकाई न मानकर अंतर्राष्ट्रिय आर्थिक इकाई की ओर नजर फैलाना मूर्खता है। ये सब खयाली बातें हैं जिनका वास्तविकता से कम सम्बन्ध है।

३. हमारे विपक्षियों ने जिन-जिन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का जिक्र किया है वे सब कोई विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में केवल वे ही संस्थाएँ महत्वपूर्ण कार्य करसकती हैं जो अपने-अपने राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रतिनिधियों से बनी हैं। राजनीति और मजदूरों की अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ आज अपना कुछ महत्व रखती हैं, अन्य कुछ नहीं। यह अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ जो कुछ भी पास करती हैं उनकी उसके सदस्य-राष्ट्रों पर कोई पाबन्दी नहीं होती और न हो ही सकती है। उनका मानना-न-मानना फिर भी विभिन्न राष्ट्रों की सत्ताओं के ही हाथ में रहता है। इस प्रकार किसी भी मान्यता को लागू करनेवाली अंतिम सत्ता राष्ट्र ही रही। इससे राष्ट्र का महत्त्व कभी भी कम नहीं होसकता। राष्ट्र ही वास्तव में शक्ति का प्रधान केन्द्र है और इस सत्य को ठुकराकर चलना मूर्खता की बात है।

४. अंतर्राष्ट्रिय क्षेत्र में जो संस्थाएँ और मुवायदे कायम होरहे हैं और जिनके द्वारा हमारे विपक्षी सोचरहे हैं कि शायद कोई अंतर्राष्ट्रिय संस्था ऐसी बन सकती है जो विश्व की अर्थ और राजनीति की व्यवस्थाओं तक को एक जगह केन्द्रित कर दे, वे सब समय की उपज है। उनके स्थायित्व इससे भी आगे बढ़कर इतनी शक्तिशाली संस्था का रूप धारण करलेनेवाली बात की तरफ दिमाग लेजाना शेखचिल्लियों की सी बात प्रतीत होती। ये सभी संस्थाएँ बरसाती मेंढ़कों की तरह पैदा हुए हैं और समय का एक ही रेला इन्हें समाप्त भी करसकता है। इनका स्थिर रहना नितान्त असम्भव है और इनका अव्यवस्थित प्रभाव कभी भी राष्ट्रियता के बुनियादी प्रभाव को नष्ट नहीं करसकता। राष्ट्र की बुनियाद में हमारा इतिहास, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारा साहित्य, हमारा बड़प्पन सब झाँकतेहुए दिखलाईदेते हैं। उन सभी को भुलाकर उनकी तरफ से

हो जायेगा। इस विकास के फलस्वरूप विश्व समृद्धि की दिशा में अग्रसर होगा और विभिन्न राष्ट्रों वाली संकुचित मनोवृत्ति मानव से सर्वदा के लिए कूच कर जायेगी।

६. अंतर्राष्ट्रियतावाद एक पवित्र भावना है, पवित्र सिद्धान्त है और पवित्र विचारधारा है। अंतर्राष्ट्रियता की भावना प्रायः सभी धर्मों में पाईजाती है परन्तु वह धार्मिक अंतर्राष्ट्रियता अज के युग में पनपनेवाली अंतर्राष्ट्रियता से भिन्न है। इसमें शासन-व्यवस्था प्रजातंत्रात्मक होगी, धर्माचार्यों द्वारा शासित नहीं। सभी लोगों के रहन-सहन के स्तर लगभग समान होंगे और इस एकता को कायम रखना आज के उपलब्ध आवागमन के साधनों द्वारा कोई कठिन कार्य नहीं। अणु-शक्ति का प्रयोग यदि आवागमन के साधनों को और तीव्र बनाने की दिशा में हो तो यह एकता और शीघ्र स्थापित होसकेगी।

७. आज यह स्थिति पैदा होचुकी है कि यदि संसार को तीसरे युद्ध से बचाना है तो उसे अंतर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करनी होगी। अंतर्राष्ट्रीयता ही विश्व के फैले हुए मतभेदों को दूर करसकती है। युद्ध की बरबादी और तबाही से बचने का एक मात्र यही उपाय है। आज जो कभी-कभी कहीं-कहीं राष्ट्रिय मतभेद उभरते दिखाई देते हैं ये सब उसी प्रकार के हैं जैसे एक देश में विभिन्न प्रान्तों और बोलियों के झगड़े खड़े होजाते हैं। सहनशीलता और मुस्तकिल मिजाजी से इन सब का हल बड़ी सहूलियत से निकल आता है और पारस्परिक युद्ध का कोई कारण दिखलाई ही नहीं देता। कितनी भी झगड़े या मतभेद की स्थिति चाहे पैदा क्यों न होजाये, परन्तु फिर भी विश्व-शांति को क़ायम रखने के लिए लड़ाई से दूर रहना चाहिए यही गम्भीर मानव और राष्ट्र की पहचान है।

८. सही या गलत का विचार छोड़कर अपने देश पर मरमिटने वाली भावना को लेकर चलने का युग समाप्त होचुका। आज आवश्यकता विश्व में अपना मत पैदा करने की है। अपने देश की जनता को दूसरे देश के खिलाफ भड़काने से यह अपनी ही अशांति का कारण बनता है। यह स्थिति अन्त में अपने ही लिए खतरनाक साबित होती है। आज पाकिस्तान में हिन्दुस्तान के खिलाफ़ कियाजानेवाला प्रचार उसकी अपने ही देश की अशांति का कारण बन रहा है। इस प्रकार की चीजों में अंतर्राष्ट्रीय विचार को भुलाकर संकुचित बातों की रविश में बहजाना मूर्खता है, कमअक्ली है।

विपक्ष :

१. यह कहना बिलकुल गलत है कि आज के युग में राष्ट्रियतावाद समाप्ति पर है और राष्ट्रिय-भावना का लोप हो चुका है। राष्ट्रिय भावना आज

विश्व के कोने-कोने में पहले से बहुत अधिक दिखलाई देती है। जितनी अधिक-से-अधिक यह पहले कभी विश्व में वर्तमान थी, आज उससे अधिक है। राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दिता आज वर्ग-प्रतिद्वन्दिता की सीमा का उल्लंघन करचुकी है और इसी भावना के फलस्वरूप अनेकों अंतर्राष्ट्रीय मुआयदे अधिक दिन स्थिर नहीं रहसके। ये मुआयदे बने और बिगड़े; स्थिर न रह सके। राष्ट्रीय भावना की टक्कर में अंतर्राष्ट्रीय भावना न टिकसकी।

२. राष्ट्र जिस प्रकार एक मौलिक तत्व है, मौलिक व्यवस्था है, मौलिक संस्था है इसी प्रकार राष्ट्रीय देश-प्रेम भी स्थायी नैतिक सद्गुण। राष्ट्र ही आज बड़ी से बड़ी आर्थिक इकाई है और राष्ट्र को आर्थिक इकाई न मानकर अंतर्राष्ट्रिय आर्थिक इकाई की ओर नजर फैलाना मूर्खता है। ये सब खयाली बातें हैं जिनका वास्तविकता से कम सम्बन्ध है।

३. हमारे विपक्षियों ने जिन-जिन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का जिक्र किया है वे सब कोई विशेप महत्त्व नहीं रखतीं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में केवल वे ही संस्थाएँ महत्वपूर्ण कार्य करसकती हैं जो अपने-अपने राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रतिनिधियों से बनी हैं। राजनीति और मजदूरों की अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ आज अपना कुछ महत्व रखती हैं, अन्य कुछ नहीं। यह अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ जो कुछ भी पास करती हैं उनकी उसके सदस्य-राष्ट्रों पर कोई पाबन्दी नहीं होती और न हो ही सकती है। उनका मानना-न-मानना फिर भी विभिन्न राष्ट्रों की सत्ताओं के ही हाथ में रहता है। इस प्रकार किसी भी मान्यता को लागू करनेवाली अंतिम सत्ता राष्ट्र ही रही। इससे राष्ट्र का महत्व कभी भी कम नहीं होसकता। राष्ट्र ही वास्तव में शक्ति का प्रधान केन्द्र है और इस सत्य को ठुकराकर चलना मूर्खता की बात है।

४. अंतर्राष्ट्रिय क्षेत्र में जो संस्थाएँ और मुआयदे क़ायम होरहे हैं और जिनके द्वारा हमारे विपक्षी सोचरहे हैं कि शायद कोई अंतर्राष्ट्रिय संस्था ऐसी बन सकती है जो विश्व की अर्थ और राजनीति की व्यवस्थाओं तक को एक जगह केन्द्रित कर दे, वे सब समय की उपज है। उनके स्थायित्व इससे भी आगे बढ़कर इतनी शक्तिशाली संस्था का रूप धारण करलेनेवाली बात की तरफ दिमाग लेजाना शेखचिल्लियों की सी बात प्रतीत होती। ये सभी संस्थाएँ बरसाती मेंढ़कों की तरह पैदा हुए हैं और समय का एक ही रेला इन्हें समाप्त भी करसकता है। इनका स्थिर रहना नितान्त असम्भव है और इनका अव्यवस्थित प्रभाव कभी भी राष्ट्रियता के बुनियादी प्रभाव को नष्ट नहीं करसकता। राष्ट्र की बुनियाद में हमारा इतिहास, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारा साहित्य, हमारा बड़प्पन सब झाँकतेहुए दिखलाईदेते हैं। उन सभी को भुलाकर उनकी तरफ से

होने में बाधा उपस्थित होती है। जमीन राष्ट्र की सम्पत्ति है। इसलिए इसपर किसी व्यक्ति का भी अखण्ड अधिकार नहीं होसकता। किसी भी व्यक्ति का अखण्ड अधिकार केवल उसी सम्पत्ति पर होसकता है जो उसकी अपनी व्यक्तिगत मेहनत और मजदूरी का फल है। जिस सम्पत्ति की प्राप्ति में दूसरे का सहयोग मिलता है तथा दूसरे के परिश्रम का उसमें कोई हिस्सा होता है उसमें भी राष्ट्र का हिस्सा हो जाता है।

५. आज जिन लोगों के हाथों में जमीनें हैं उन लोगों ने उन्हें प्राप्त करने के लिए कोई परिश्रम नहीं किया। पैतृक सम्पत्ति के रूप में जो जमीनें बाप से बेटे और बेटे से पोते पर चलीजाती हैं वे पुराने जमाने से चलीआनेवाली जमीदारी-प्रथा के ही अनुसार चलीआती हैं। जमीन पर यह इस वर्ग का अनधिकार प्रभुत्व जमा हुआ है जो अब अधिक दिन कायम नहीं रह सकता। आज संसार के बहुत से देशों से जमींदारी-प्रथा समाप्त होचुकी। भारत के भी बहुत से प्रदेशों ने जमींदारी समाप्त कर दी और जहाँ नहीं हुई है वहां होती जा रही है। जमीन उन लोगों को दी जारही है जो उसे जोतकर उसपर मेहनत करके उसमें उपज करते हैं। अब वह उन लोगों के हाथों में नहीं रहसकती जो केवल काश्तकारों को जमीनें देकर उनसे लगान वसूल करते और ऐश करते हैं। यह राष्ट्र के साथ उनका और उनके पूवर्जों का अन्याय होतारहा है और जहाँ अभी तक यही प्रथा चल रही है वहाँ अन्याय आज भी चलरहा है।

६. आज भारत में जमीन की दशा बहुत विचित्र है। न तो पूरी तरह काश्तकारों का ही जमीन पर अधिकार है और न पूरी तरह से बड़े पैमाने पर ही खेती (Largee-scalke faiming) होती है। जमीन परिवारों में बंटते-बंटते बहुत से टुकड़ों में बंटगई है। अब जमीन की चकबन्दी की ओर सरकार का ध्यान है, जिसके परिणामस्वरूप उसकी जो दुर्दशा होरही है वह बहुत कुछ हद तक समाप्त होजायगी। इससे पैदावार बढ़ेगी और काश्तकार जमीन का ठीक से प्रयोग कर सकेगा। अब खेती के मजदूर और काश्तकार को अपने काम और जीवन में विश्वास पैदा होनेलगा है और इसके फलस्वरूप देश में खुशहाली आयगी तथा फसलों की पैदावार बढ़जायेगी। जमीन के राष्ट्रिकरण का देश की खुशहाली पर बहुत ही स्वस्थ्य प्रभाव पड़ेगा और देश समृद्ध होगा।

७. युद्ध-काल में जब शहरों में उद्योग-धंधों की उन्नति हुई तो खेती के अधिकांश मजदूर शहरों को चलेगये। जमीदार लोगों ने जमींनों को कामधेनु गायों की तरह केवल दूहना ही सीखा था, जमीनों की तरक्की की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। इसका यह नतीजा यह हुआ कि खेती के मजदूर तथा काश्तकार अपने काम छोड़-छाड़कर शहरों को भागनिकले और देश अन्न की कमी का शिकार बनगया।

जमीनें खाली होगईं और खेतीपेशे की अवनति हुई। वह तो यह अच्छा हुआ कि युद्ध के कारण अन्न की मंहगाई हुई और वह किसानों के लिए कुछ आकर्षण का साधन बनी रही, नहीं तो खेती का खात्मा ही होजाता।

जमीनों के राष्ट्रियकरण के बाद सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है और जमीनों की तरक्की के लिए पानी, खाद, अच्छा बीज तथा उसकी अन्य आवश्यकताओं की ओर भी ध्यान दिया है। राष्ट्र के इस ओर ध्यान देने से खेती में बहुत उन्नति हुई है। देश की बिगड़ीहुई खाद्य-स्थिति सुधरी है और किसानों की दशा में भी आकाश-पाताल का परिवर्तन है। जिन किसानों के घर में साल भर के लिए अन्न भी नहीं सिकरता था उनके घरों में आज हर प्रकार की मौज है। गाँवों की दशा सुधरी है. यह जमीन के राष्ट्रियकरण का ही फल है।

८. गाँव की आबादी के कम होजाने का नतीजा यह हुआ है कि शहरों की आबादी बढ़ी और शहरों में नई बसने की स्कीमें चालू हुईं, जिसके लिए जमीनों की आवश्यकता हुई। जमींदारों ने इस बढ़ती हुई माँग को देखकर जमीनों के दाम बढ़ा दिये और खूब मनमाने दाम वसूल किये। आज देहली के पास जो नगर बसरहे हैं उनके लिए खरीदी जाने वाली जमीनों की यही दशा है। जो जमीनें पच्चीस रुपया कच्चा बीघा भी कोई नहीं खरीदता था वह आज डेढ़ हजार रुपया बीघा भी जमींदार बड़े नखरे के साथ देते हैं। यह ऊँचे दाम जमींदारों की कमाई नहीं हैं, यह राष्ट्र की सम्पत्ति है और इसे जनताके कोषमें जाना चाहिए। जमीन से इस प्रकार का व्यक्तिगत लाभ उठाना राष्ट्र के साथ अन्याय है। जमीनों के यह ऊँचे दाम जमींदार के परिश्रम का फल न होकर उन मजदूरों और काश्तकारों के शहरों में आकर बसने के का फल है। इसलिए इसका लाभ भी उन्हीं को पहुँचना चाहिए, जमींदारों को नहीं।

९. जमींदार-क्लास समाज का कोई आवश्यक अंग नहीं है और न ही यह समाज के लाभार्थ कोई कार्य ही करता है। यह समाज की झूठी सजावट का दिखावटी रूप है। साथ ही इसके पास जो जमीन पर अधिकार होने के कारण शक्ति है उसका यह हर प्रकार की तरक्की के खिलाफ दुरुपयोग करता है। यह हर सुधार का विरोधी रहता है और अपने पुराने रूढ़िवादी ढंग से लोगों में फैली जहालत के पर्दे को ज्यों-का-त्यों पड़ा रहनेदेना चाहता है। वह नहीं चाहता कि समाज उसे चीर कर उससे बाहर झांके और तरक्की के रास्ते पर आगे बढ़े। इस लिए समाज की दृष्टि से यह तबका उसके किसी लाभ की वस्तु नहीं है और उलटा यह उसकी सम्पत्ति (जमीन) को हथियाये हुए है, जिसका समाज की उन्नति के मार्ग में और अधिक लाभदायक हित होसकता है। भारत से यह तबका समाप्त होरहा है। बड़ी खुशी की बात है कि जमीन भी इसके हाथ से छूट कर राष्ट्र

के हाथों में आरही है, जिसकी उन्नति के लिए राष्ट्र प्रयत्नशील है।

१० जिस प्रकार आज जमीनों की बात है इसी प्रकार एक दिन कानों की समस्या राष्ट्रों के सामने आई थी और तब राष्ट्रिय सरकारों को उन्हें अपने अधिकार में करलेनापड़ा था। उसका लाभ राष्ट्र के लिए बहुत अच्छा हुआ। वहाँ काम करनेवाले मजदूरों की दशा सुधरी और उन कानों की निकासी भी बढ़ी। इसी प्रकार जमीनों का राष्ट्रियकरण होने पर जमीनों की पैदावार भी अधिक होगी और इन पर काम करने वालों की भी दशा सुधरेगी। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भारत में उपलब्ध है और इससे भी अच्छा उदाहरण यदि देखना हो तो इसका पड़ौसी देश चीन मौजूद है जहाँ की जमीन पर काम करने वाले किसानों की दशा में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। राष्ट्र-हित में यह परिवर्तन हर देश में सम्भव है। जो-जो देश भी जमीनों के राष्ट्रियकरण की दिशा में सही कदम उठायेंगे।

११. *आज खेती की जो समस्या सामने दिखलाई देती है* उसका एक यही हल है कि या तो काश्तकार का सीधा सम्बन्ध सरकार से हो या सरकार अपने बड़े-बड़े खेती के फ़ार्म चालू करे और काम करनेवाले लोग उनमें काम करें। इसके अतिरिक्त और कोई तरीका नहीं है जिसके द्वारा राष्ट्र को अपनी जमीन से काफ़ी मात्रा में पैदावार मिलसके और उसकी आवश्यकता की पूर्ति होसके तथा उस जमीन पर खेती का काम करनेवाले इन्सानों की दशा सुधारसके। केवल इसी तरीके पर जमीनों से पूरा-पूरा काम लियाजासकता है और उचित दामों पर अनाज उपलब्ध होसकता है। जिन देशों की सरकारों ने अभीतक इस दिशा में विचार नहीं किया उन्हें शीघ्रातिशीघ्र इस दिशा में विचार करना चाहिए। जमीन को आज पुराने सामंतवादी युग की भांति जमींदारों की कामधेनु बनाकर छोड़ेरहने में राष्ट्र का बहुत बड़ा अहित है और जहाँ यह प्रचलन जारी रहेगा वह राष्ट्र कभी उन्नति नहीं करसकता।

१२. यों साधारणतया देखाजाय तो जमींदारों को कोई मुआवजा जमीनों का नहीं मिलनाचाहिए। ये लोग जो इतने दिन से इन जमीनों को दूहते चले आरहे हैं यही जरूरत से ज्यादा ये लोग पा चुके हैं। कम्यूनिस्ट देशों में इसके मुआवजे की बात सोचना ही हास्यस्पद थी परन्तु जिन देशों की सरकारों में अभी पूँजीवादी मनोवृत्ति अवशेष है वहाँ मुआवजे की बातें चलती हैं। मुआवजा देकर भी जमींदारी को समाप्त करदेना अच्छा है। यह मुआवजा सरकारी बोनस के रूप में देनाचाहिए या दो चार पाँच साल उन्हें और रहने की इजाजत मिल जानी चाहिए। काश्तकारों पर मुआवजे की रकम को लादकर उन्हें कर्जदार बना देने की बात निरर्थक है, उनके साथ धोखा है। इस प्रकार के राष्ट्रियकरण से उन्हें कोई लाभ नहीं और इस से काश्तकार की ज़िन्दगी और भी बदतर होजायगी।

विपक्ष :

१. जमीन की कीमत की बात करना मूर्खता है। जमीन की अपने आप में कोई कीमत नहीं जब तक कि मनुष्य इस पर खेती नहीं करता, मकान नहीं बनाता या और कोई उद्योग-धंधा नहीं खड़ा करता, जिसमें कि उसकी मेहनत और मजदूरी शामिल रहती है। इस प्रकार आज जिस जमीन की हम बात कररहे हैं इसके मूल में मनुष्य की मजदूरी है और इसीलिए यह व्यक्ति की सम्पत्ति है। इसे उस व्यक्ति की सम्पत्ति न मानना जिसकी न जाने कितनी पुश्तें उसी पर जीवन व्यतीत करके समाप्त होगई और उसी की बेहतरी के लिए परिश्रम करते उनका जीवन निकल रहा है, नादानी है।

२. आज केवल जमीन ही राष्ट्र का आधार नहीं है और इसकी आवश्यकता पूंजी तथा भोजन से कम है। जमीन को यदि सीमित (Limited) माना जाय तो असीमित संसार में कौन सी वस्तु है ? सभी तो सीमित हैं। आज तो राष्ट्र की समस्याओं का हल पूँजीपतियों के दफ़्तर में बैठे-बैठे होजाता है। आज की राष्ट्रिय अर्थ-व्यवस्था में भूमि का वह स्थान नहीं जो पहले कभी रहा है। आज इसे प्रधान स्थान नहीं दिया जासकता।

३. जमींदारों के एकाधिकार की बात व्यर्थ सी ही है। भारत के तो अधिकांश भाग में जो जमींदार भी थे या हैं वे काश्तकारों के ही समान हैं। बंगाल, बिहार तथा पूर्वी संयुक्तप्रान्त के कुछ जिलों में जहाँ तक 'परमानेन्ट सैटेलमेन्ट' का प्रभाव था बड़ी-बड़ी जमींदारी मिलती हैं। इन जमींदारियों में काश्तकारों पर जमींदारों का बर्ताव कुछ बुरा नहीं था। ये सभी जमींदार एक से नहीं हो सकते, अधिकांश दयालु ही हैं। जमीनें उनकी रहने पर भी उन्होंने काश्तकारों को उनके घर बनाने की आज्ञा दी हुई थी और उन्हें खेती में भी वे मदद करते थे। फसल बोने और अकाल के समय अन्न भी देते थे और चोर डाकुओं से उनकी हिफाजत भी करते थे। आज के युग में जमींदारों को जितना अत्याचारी और बेकार समझ लियागया है वैसा हम नहीं मानते। हमारे विपक्षियों ने केवल उनके एक पक्ष को ही देखा है।

४. भूमि का राष्ट्रियकरण व्यक्तिगत अधिकारों की महान् अवहेलना है। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति का सरकारी अपहरण है, जिससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता को ठेस लगती है। यह बात गलत है कि जमीन पूर्वजों से यों ही सब जमींदारों के पास चली आई हैं। भारतवर्ष में आधे से अधिक ऐसे जमींदार हैं जिन्होंने अपने स्वयं कमायेहुए पैसे से उन जमींदारियों को खरीदा है। आज भूमि के राष्ट्रियकरण के फलस्वरूप बहुत से ऐसे व्यक्तियों की हानि हुई है जिनकी जीवन भर की कमाई

उन जमीनों में लगगई और वे जमीनें भी आज उनके हाथ से जातीरहीं । इस अत्याचार की कोई सबील सरकार ने नहीं सोची । सरकार ने जो कानून पास किया है वह आँखें मींचकर किया है, व्यक्तिगत अधिकारों पर कुठाराघात करके किया है । जमीदारों के साथ यह घोर अन्याय हुआ है ।

५. जमींदारों के ऐतिहासिक अन्यायों की कहानियों का आज के भारत में पाये जाने वाले छोटे जमींदारों से कोई सम्बन्ध नहीं । विशेष रूप से संयुक्तप्रान्त में जो जमीदार हैं वे तो काश्तकार ही समझेजानेचाहिएँ । ये लोग स्वयं हल जोतते हैं और खेती का सब काम अपने हाथ से करते हैं । इनमें और काश्तकारों में कोई अन्तर नहीं है । फिर उनकी आर्थिक दशा भी कुछ बहुत अच्छी नहीं है । उनसे इस प्रकार जमीनें छीनलेना उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय है और इसे सामाजिक अपराध भी यदि कहाजाय तो अनुचित न होगा ।

६. भूमि के जमींदारों के हाथों से निकल कर सरकार के हाथों में चलेजाने से काश्तकारों और खेती के मजदूरों की दशा नहीं सुधरसकती । काश्तकारों को जो कर पहले जमींदारों को देनाहोता था वह आज उन्हें सरकार को देनाहोगा । सरकारी कर उघाने का तरीका जमीदार के तरीके से कहीं अधिक सख्त होता है । उसमें अमीनों, पटवारियों और पुलिस के जुल्म होते हैं और उन जुल्मों को बेचारे गरीब काश्तकारों को सहन करना होता है । पहले जमीदार उनकी दिक्कतों को देखने के लिए हर समय उनके बीच में रहता था परन्तु आज तो सरकारी अफसर और मंत्रियों को न जाने कितने कितने दिन उनसे सम्पर्क स्थापित किये होजाते हैं । फिर भला वे उनके हित की बात कैसे सोच सकते हैं ? अब रही सरकारी सुधार की बात, सो उनकी कहानी भी सुन लीजिए । सरकार ने बिजली के कुँओं का प्रबन्ध किया है और उनकी आबपाशी का दर इतना अधिक है कि काश्तकार जो कुछ भी कमाता है वह सब केवल आबपाशी और जमीन-कर में ही चला जाता है । उनकी दशा में आज भी कोई सुधार दृष्टिगोचर नहीं होता । यू० पी० में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी द्वारा चालित भूमिकर के विरुद्ध आन्दोलन इस बात का साक्षी है ।

७. गाँवों की जो सुधरती हुई दशा की ओर संकेत कियाजारहा है वह सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप नहीं है वरन् युद्ध-कालीन मंहगाई के फलस्वरूप है । तब से बाद में तो गाँव के लोगों की हालत बराबर खराब ही होतीजारही है । देश की पैदावार बढ़ाने का राष्ट्रियकरण के पश्चात् जो प्रयत्न कियाजारहा है वह उसके लिए खर्च की जाने वाली पूंजी के अनुपात में बहुत कम है । यदि इस राष्ट्रिय उन्नति को अर्थशास्त्र की तराजू पर तौलकर देखते हैं तो यह उन्नति उन्नति न होकर उलटी अवनति ही है ।

८. शहरों में जो आबादी बढ़ती जारही है उसका प्रधान कारण केवल यही नहीं है कि गाँवों के अधिकांश लोगों ने आकर शहरों में रहना प्रारम्भ कर दिया है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि हमारे देश की आबादी बराबर बढ़तीजारही है। इसके अतिरिक्त शिक्षा का प्रचार भी बढ़ा है और जो लोग थोड़ाबहुत पढ़ गये हैं वे तो शहरों में रहना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। कारण वास्तव में यह है कि गाँवों का जीवन उतना मनोरंजक नहीं जितना शहरों का जीवन दिखलाई देता है। इस ओर राष्ट्र को ध्यान देने की आवश्यकता है। जितना ध्यान सरकार अब राष्ट्रियकरण के पश्चात् दे रही है यदि इससे आधा भी पहले देती तो जमींदार लोग सरकार का सहयोग पाकर अपने-अपने गांव की काफी उन्नति करसकते थे परन्तु पहले सरकार ने कभी उस ओर ध्यान नहीं दिया; पहले जैसे जमींदार काश्तकारों से कर वसूल करके खाते थे उसी प्रकार सरकार भी जमींदारों से अपना लगान वसूल करके अपने फर्ज की अदायगी समझती थी। इसलिए उस काल के जमींदारों को ही दोष देना कुछ विशेष युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

९. जमींदार क्लास का ह्रास हो जाने से देश की एक बहुत बड़ी हानि यह होगी कि देश की कला-प्रेमी समाज का अन्त होजायगा। कला की ओर केवल समाज का वही वर्ग ध्यान देसकता है जो खाने-पीने की चिंता से मुक्त हो और उसके पास कला के लिए समय हो। कला शांत संलग्नता चाहती है और यह उसी व्यक्ति के पास उपलब्ध होसकती है जो सांसारिक झंझटों अर्थात् आर्थिक दुविधा से मुक्त हो और साथ ही कला की सेवा में समय तथा धन दोनों अर्पित कर सके।

१०. जमींदार समाज में जो खराबियाँ थीं वे दूर होसकती थीं। आज आवश्यकता इस बात की नहीं थी कि इस वर्ग का सर्वनाश ही करदिया जाता बल्कि आवश्यकता थी कि इसके मुक्त अधिकारों को रोककर इससे समाज के उत्थान में योग लियाजाता। जो व्यवस्था आज सरकार ने जमींदारी समाप्त करके की है इससे एक दम देश भर के जमींदार-वर्ग को बेकार कर दिया उसकी दशा खराब होगई और जो काम वे करते थे वह काम उनके हाथ से बिना नये काम की व्यवस्था किये छीनलियागया। सरकार इस प्रकार का अव्यवस्थित चलन, चाहे वह जन-साधारण के लिए कितना भी लाभदायक क्यों न हो, व्यवस्था के नाते सराहना की दृष्टि से नहीं देखा जासकता।

११ ब्रिटेन में कानों का राष्ट्रियकरण होने के बाद भी आज जनता के इस्तेमाल के लिए कोयले के दाम कुछ गिर गये हों ऐसी स्थिति दिखलाई नहीं देती। अन्य देशों में भी स्थिति लगभग ऐसी ही रही है। जहां तक जमीदारों द्वारा कानों से कोयला निकलने की बात थी उन्होंने सर्वदा ही इस बात का ध्यान रखा

कि कहीं किसी दिन देश को बिलकुल ही कोयले से महरूम न हो जाना पड़े, परन्तु जब से उसका राष्ट्रियकरण हुआ है तब से तो स्थिति बिलकुल ही बदलगई। तब से कानों की कोयला देने की स्थिति की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। अब वहाँ काम करनेवालों का इस बात की ओर तो ध्यान है कि कानों से अधिकाधिक कोयला निकाला जाय परन्तु इस ओर ध्यान नहीं दियाजाता कि भविष्य में उन कानों की क्या दशा होगी।

१२. आज जो जमींदारी की दशा होगई है उसे देखते हुए हम भी यह चाहते हैं कि उसमें परिवर्तन हो और सुधार हो, परन्तु हम इस बात से सहमत नहीं कि भूमि का राष्ट्रियकरण हो जाना चाहिए। राष्ट्रियकरण के स्थान पर उसे छोटे-छोटे भागों में विभाजित करके छोटे-छोटे जमींदार बना देने चाहिएँ। छोटे जमींदार आसानी से और अधिक देखभाल के साथ अपनी जमीनों को सुरक्षा तथा उनमें पैदावार करसकते हैं। राष्ट्रियकरण में यदि जमीन का प्रबन्ध सरकारी नौकरों के हाथों में आगया तो बस फिर तो पैदावार का अल्लाह ही बेली है। इस राष्ट्रियकरण के फलस्वरूप अनाज की पैदावार कम हो जायेगी और जमीनों की भी कमाई उतनी नहीं हो सकेगी जितनी व्यक्तिगत मालिक लोग कर सकते हैं।

१३. सरकार का काम राज्य का प्रबन्ध करना है न कि खेती करना या व्यापार करना। यदि राज्य खेती का काम अपने हाथों में लेगा तो उसका प्रबन्ध ठीक नहीं होसकेगा। जमींदारों के हाथों से जमीन लेकर सरकार ने गलती की है। इससे सरकार का काम बढ़ जायगा और उसकी आमदनी कम होजायगी। इस प्रकार जमींदारों के साथ जो व्यवहार होगा उससे उनके साथ अन्याय भी होगा; और राष्ट्र को आर्थिक हानि भी उठानी पड़ेगी।

आरामतलबी की चीजों पर कर लगना चाहिए

पक्ष

१. आरामतलबी की बहुत सी चीजें ऐसी खराब और बुरा प्रभाव डालने वाली हैं कि उनके प्रयोग पर कर लगने की आवश्यकता है। आरामतलबी के मनोरंजनों में भी उत्पादक शक्ति नष्ट होती है। यदि यह शक्ति इन व्यर्थ के आरामतलबी के मनोरंजनों में नष्ट न हो तो निश्चय ही इसका इस्तेमाल जनता की कुछ बहुत आवश्यक जरूरतों के लिए कियाजासकता है। आरामतलबी की चीजों पर लगाया गया टैक्स इस प्रकार राष्ट्र-हित की वस्तु है जो उत्पादक-शक्ति के व्यर्थ नष्ट होने पर रुकावट पैदा करता है और उस शक्ति को जन-हित में उपयोग करने का अवसर प्रदान करता है।

२. इस प्रकार के करों से सरकार को काफ़ी लाभ होगा; और धीरे-धीरे जनता में से हानिकारक और आरामतलबी की आदतें हटती जायेंगी। सरकार को चाहिए कि इस कर को भी उघाने का काम अपनी वर्तमान मशीनरी से ही ले, इसके लिए कोई प्रथक से आदमी न रखे और इस रुपये का उपयोग जन-लाभकारी कार्यों में करे।

३. इस प्रकार के टैक्सों का भार उन लोगों पर पड़ता है जिन्हें उसके अदा करने में कोई परेशानी नहीं होती और उनकी कोई किसी प्रकार की आवश्यकता रुक नहीं जाती। ये लोग इन करों की अदायगी को भी वैसे ही समझते हैं जैसे आरामतलबी में रुपया खर्च करना। इन करों को किसी वर्ग पर अन्याय नहीं कहा जासकता।

४. अमीर आदमियों के प्रति गरीब लोगों में जो एक प्रकार की जलन सी रहती है और उन्हें देखकर मनमें बेचैनी सी पैदा होती है उन्हें इस कर के लगने से शांति मिलेगी। औद्योगिक विकास के कारण जो एक बेचैनी आज हम अमीर और ग़रीब आदमियों में पाते हैं वह इन करों के लगजाने पर दूर हो जायगी और अमीर आदमियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं होगा। जिस प्रकार खरीदारी टैक्स के लगजाने से अमीर आदमियों के दिलों को तसल्ली होती है कि सरकार गरीबों पर टैक्स लगाती है ठीक उसी प्रकार गरीब आदमियों को इस प्रकार के करों से तसल्ली होती है। फिर इस प्रकार के करों से राष्ट्रिय अर्थ-व्यवस्था को बल मिलता है और देश की शांति बनी रहती है।

विपक्ष :

१. आरामतलबी की चीजों पर कर लगाने की बात बड़ी ही हास्यपद सी है। कौन सी चीजें आरामतलबी की हैं और कौनसी बेआरामतलबी की, यह जानना कठिन समस्या है। एक वस्तु जो एक आदमी के लिए आवश्यकता की है वही दूसरे के लिए आरामतलबी और उससे भी आगे बढ़कर तफरीह की भी होसकती है। कर चीजों के आधार पर लगाया जाय या चीजों की कीमत के आधार पर, यह बातें भी सोचने की हैं। बहुत सी चीजें जो कीमत में बहुत कम ही हैं उन्हें आरामतलबी या तफ़रीह की कहा जा सकता है। फूलों की माला, कागज़ के फूल तथा अन्य इसी प्रकार के सजावट के सामान ये सब चीजें दामों में अधिक नहीं हैं परन्तु साधारण आदमी के इस्तेमाल की चीजें भी उन्हें नहीं कहा जासकता। दूसरी दिशा में बहुत सा ऐसा फ़रनीचर है जो दफ्तरों की आवश्यकता का समान है और इसी प्रकार लकड़ी, लोहे इत्यादि का सामान है जो बड़ी-बड़ी इमारतों की आवश्यकता है, परन्तु वह बहुत मूल्यवान है। यदि कीमतों के आधार पर टैक्स लगाया

जाय तो ये चीजें टैक्स से नहीं बच सकतीं। इस प्रकार आरामतलबी की चीजों का निश्चय करना ही कठिन होजायगा।

२. आय के विचार से भी आरामतलबी की चीजों पर कर लगाना व्यर्थ है। यह सोचना, कि सरकारी विभागों के वही कार्यकर्त्ता इस कर की भी उगाही और प्रबन्ध कर लेंगे जो अन्य बहुत से करों की करते हैं, मूर्खता की बात है। इसके लिए जो प्रबन्ध करना होगा उसका व्यय इतना होगा कि सरकार को कोई विशेष लाभ नहीं होगा। इस प्रकार के करों का दूसरे करों पर भी प्रभाव पड़ता है और उनकी भी आय कम होजाती है। इसका परीक्षण सर्वप्रथम फ्रांस में कियागया था और वहाँ पर इसका परिणाम आशाजनक नहीं निकला। यह सोचना, कि अमीर और आरामतलब लोग इसका स्वागत करेंगे और बुरा न मानेंगे, व्यर्थ है। अपनी आराम-तलबी में रुपया खर्च करना और बात है और टैक्स के रूप में रुपया देना और बात है। टैक्स और आरामतलबी में खर्च करने का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि आरामतलबी के जो सीधे साधन हैं उन पर टैक्स लगाना साधारण काम नहीं।

३. आरामतलबी की चीजों पर टैक्स लगाने से गरीब लोगों के दिल को तसल्ली होगी, यह सोचना मूर्खता की बात है। किसी को देखकर प्रसन्नता होगी इसलिए कोई टैक्स लगाना बेवकूफ़ी बात है। यदि अच्छे सामानों के खरीदने पर टैक्स लगादियाजाय तो उनका बनना ही बन्द होजायगा। इससे उन सब चीजों की दस्तकारी पर असर होगा और उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में हानि होगी। इस हानि का असर न केवल उद्योग और तिजारत पर होगा वरन् उनमें काम करनेवालों के अन्दर बेरोजगारी फैलजायगी। इसका परिणाम राष्ट्र पर बहुत बुरा होगा।

४. आरामतलबी के नाम पर इस प्रकार बहुत सी कलापूर्ण चीजों का उत्पादन बन्द होजायगा। इनमें बहुत सी चीजें ऐसी होती हैं कि जिनका उत्पादन एक बार रुकजाने से देश फिर उस कला से महरूम होजाता है और यह देश की बहुत बड़ी हानि है।

अनिवार्य सैनिक शिक्षा आवश्यक है

पक्ष :

१. किसी राष्ट्र को देश की पूरी-आबादी पर अपने देशकी सुरक्षा के लिए आधारित रहना चाहिए, न कि वेतनिक जवानों पर, जो कि स्थायी फौज के सैनिक होते हैं। यह देश के हर इन्सान का इख़लाक़ी फर्ज है कि वह अपने देश और राष्ट्र की सुरक्षा में पूरा पूरा भाग ले। देश के हर इन्सान को चाहिए कि वह अपने

के अपने देश की रक्षा के योग्य बनाये और अवसर पड़ने पर देश की रक्षा में सबसे आगे सीना तानकर मौजूद हो। जो लोग यह समझते हैं कि विदेश की रक्षा का भार सरकार के ऊपर है और यह सरकार का ही फर्ज है कि वह तनख्वाह पर रखी हुई अपनी फौज से देश की हिफाजत करे और उन्हें सुरक्षा प्रदान करे, वे संकुचित विचार के व्यक्ति हैं। उन्हें समझना चाहिए कि सैना में भर्ती होनेवाले लोग अधिकांश में गरीबी के कारण या अन्य कारणों से जाते हैं। केवल देश-प्रेम या देश-रक्षा के लिए जाने वालों की संख्या बहुत कम है। इसलिए सिर्फ उन्हीं लोगों पर देश की रक्षा का भार सौंप कर निश्चिन्त पैर फैलाकर सोने की प्रवृत्ति निन्दनीय है, अक्लमन्द आदमियों को चाहिए कि वे इसे प्रश्रय न दें। देश के हर बच्चे को हर समय अपनी सुरक्षा के लिए उद्यत रहना आवश्यक है। इसके बिना देश की स्वाधीनता कायम नहीं रह सकती।

२. आमतौर पर देखा गया है कि प्रायः सभी देश केवल युद्ध सिरपर आने पर ही राष्ट्रीय सुरक्षा की बातें सोचते हैं और ज्यों ही युद्ध सिर से टल जाता है त्यों ही उसे फिर भुला देते है। इसका नतीजा यह होता हैं कि जब दुबारा युद्ध सामने आता है और देश को उसी खतरे में से गुजरना होता है, तो देश उसके लिए तय्यार नहीं होता और उसे फिर नये सिरे से तय्यार होना होता है। इस नई तय्यारी में देश का फिर उतना ही समय बर्बाद होता है और आवश्यकता का फिर से नया सामान जुटाने में उतना ही समय खर्च हो जाता है। इस तरह इसमें राष्ट्रीय धन का भी अपव्यय होता है और सुरक्षा भी वैसी और समय पर नहीं हो पाती जैसी होनी चाहिए। यह खेद का विषय है कि सरकारें आपत्ति सिर पर से टलते ही अपने उत्तरदायित्व को भुला देती हैं और उसका नतीजा राष्ट्र को भुगतना पड़ता है। आपत्ति-काल के खतरे को टालने और उसका डट कर सामना करने का एक मात्र यही उपाय है कि समस्त राष्ट्र हर समय अपनी सुरक्षा के लिए तय्यार रहे और जब आवश्यकता पड़े खुलकर मैदान में आजाय।

३. देश के नौजवान लोग सैनिक शिक्षा प्राप्त करके नियमबद्ध हो जाते हैं और यह नियमबद्धता उन्हें बेहतर नागरिक तथा कर्मचारी बना देती है। नियम से बँधा हुआ व्यक्ति जितना अच्छा काम कर सकता है और जितना अच्छा नागरिक नियमों का पालन कर सकता है उतना वह नियमबद्ध व्यक्ति नहीं कर सकता जिसने सैनिक शिक्षा प्राप्त नहीं की। एक सैनिक को आज्ञा और फर्ज दो बातें विशेष रूप से समझाई और पढ़ाई जाती हैं। सैनिक शिक्षा आदमी के स्वास्थ्य और उसकी नैतिकता पर प्रभाव डालती हैं। स्कूल और कालेजों के खेलकूद की भाँति सैनिक शिक्षा को भी प्रश्रय मिलना चाहिए और बड़े बूढ़ों की ट्रेनिंग के स्वयंसेवक-केन्द्र खुलजाने चाहिएँ, जिनमें वे लोग अपनी इच्छानुसार काम सीखें।

४. सैनिक ट्रेनिंग साथ-साथ पाने से विद्यार्थियों का वर्ग-भेद दूर होजाता है और उनमें पारस्परिक प्रेम और सद्भावना पैदा होती है । वे समझते हैं कि जीवन में एक स्थान ऐसा भी है जहाँ सबको साथ-साथ कंधे-से-कंधा भिड़कर एक होना होगा, कर्तव्य निभाना होगा । विद्यार्थियों के जीवन पर इस ट्रेनिंग का जो असर पड़ेगा वह वैतनिक सिपाहियों पर नहीं पड़ सकता । इस प्रारम्भिक जीवन की ट्रेनिंग का फल यह होगा कि बाद में उनके जीवन के अन्दर कटुता समाविष्ट नहीं होगी ।

५. आज जो बलात भर्ती की आपत्तिकाल में व्यवस्था है उसके द्वारा एक दम देश की बड़ी फौज तो एकत्रित की जासकती है परन्तु यह फौज ट्रेनिंग पाई हुई नियमित और सुशिक्षित फौज नहीं होगी । इस प्रकार बिना ट्रेनिंग के आदमियों को इकट्ठा करने से एक तरफ तो वे उद्योग तथा व्यापार हानि उठायेंगे जिनके अन्दर से उन्हें बुलाया जायगा और दूसरी ओर वे सैना के लिए उतने लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकेंगे जितने होने चाहिएँ । यदि देश में अनिवार्य सैनिक शिक्षा हो जाय तो फिर इस प्रकार की बलात भर्ती की जरूरत ही मिट जाय और शिक्षित लोग अपना कर्तव्य समझकर समय आने पर सेना में भर्ती होने लगें ।

६. आज का युद्ध प्राचीन काल की भांति केवल सैनिक संख्या को बढ़ाने से ही नहीं जीता जा सकता । आज कल जो युद्ध होता है उसमें विस्तृत हथियारों की योजना रहती है, जिनका ज्ञान बाकायदा ट्रेनिंग द्वारा ही होता है । इस ट्रेनिंग में समय लगता है । यदि अनिवार्य सैनिक शिक्षा हो जाय तो विद्यार्थी अपने पढ़ने के समय में ही बहुत सी बातें सीख जाते हैं । आवश्यकता पड़ने पर यह विद्यार्थी-काल की ट्रेनिंग बहुत शीघ्रता से दी जा सकती है और इन सीखे हुए जवानों की व्यवस्थित सैना तय्यार करने में कुछ भी समय नहीं लगेगा । देश में कितना ही अच्छा फौजी सामान क्यों न हो, वह उस समय तक उपयोगी नहीं हो सकता जब तक कि उसका सही इस्तेमाल करनेवाले सीखे हुए सैनिक देश में न हों । सरकारों को चाहिए कि वे अपने देश के अन्दर रहने वालों को अपनी रक्षा के सभी हथियारों का चलाना सिखलाएँ जिससे कि वे अवसर पड़ने पर देश के लाभदायक नागरिक और सैनिक सिद्ध हो सकें ।

७. शांति के समय में यह जन-सैना कायम रखने में सरकार को जो खर्च करना होता है उसे इन्शोरेंस का खर्च समझना चाहिए । बड़े मालगोदामों का खतरा सिर से टालने के लिए भी इन्शोरेंस कराया जाता है । फिर क्या राष्ट्र की हिफाजत के लिए इन्शोरेन्स आवश्यक नहीं ? व्यर्थ का भार समझकर इससे बचने का प्रयास करना सरकारों की नासमझी का सबूत है । यदि दूरदर्शिता से सोच-विचार कर देखाजाय तो इस सैना का संगठन करना नितान्त आवश्यक है ।

८. प्रजातंत्रिक तरीके पर सैनिक शिक्षण और ट्रेनिंग देश में सद्भावना को फैलाती है और इससे सामाजिक अशांति तथा पारस्परिक मतभेद कम होता है। यह सैना हजारों मर्तबा शांति-काल में अपने अन्दरूनी झगड़ों को दूर करके शांति स्थापित करने में भी कामयाब होती है। हड़तालों के समय में सरकार इसका उपयोग जनता की भलाई के लिए करती है। उदाहरणार्थ यदि किसी सरकारी ट्रांसपोर्ट के ड्राइवर हड़ताल करते हैं और उसके कारण आने-जाने वाली जनता को तकलीफ़ हो तो सरकार इस सीखी हुई सेना के सैनिक ड्राइवरों को उतने काल के लिए कामपर लगा सकती है जितने काल तक उस हड़ताल का कोई फैसला नहीं होजाता। गैर जिम्मेदाराना हड़तालें, जो राष्ट्र के लिए निहायत नुकसानदेह हैं, इस प्रकार इस सैना द्वारा सरकार की सहायता होने पर राष्ट्र का अहित नहीं कर पातीं, और नाकामयाब हो जाती हैं। देश की इस प्रकार की अशांति में ये शांतिपूर्ण वातावरण पैदा करती हैं और राष्ट्र का उससे महान् हित होता है।

९. यदि देश की सारी जनता को अनिवार्य सैनिक शिक्षा दे दीजायगी तो देश की जनता युद्ध की खतरनाक स्थिति से भिज्ञ होजायगी और फिर वह सरकार की युद्ध-नीति का समर्थन नहीं करसकती। यह जनता मूर्ख जनता नहीं होगी और इसका इस्तेमाल भी भेड़-बकरियों की तरह नहीं किया जासकेगा। इससे राष्ट्र की नीति स्थिर होजायगी और देश शांति के साथ अपनी उन्नति की राह पर अग्रसर होगा।

१०. अनिवार्य सैनिक शिक्षा देश की जनता में नागरिकता की जिम्मेदारी पैदा करती है। जो लोग किसी प्रकार शारीरिक तरीके से अयोग्य होते हैं उनसे उनकी योग्यता के अनुसार आसान काम लेलिया जाता है। जो लोग सैनिक कार्य न कर सकें और युद्ध-नीति के विरोधी हों उन्हें हस्पतालों का काम दिया जासकता है। काम सबके लिए उनके चलन के अनुसार मिल सकते हैं और उसी के अनुसार उन्हें काम बाँटा भी जाता है।

११. यदि किसी देश में जमीन की एक बड़ी सैना होती है तो उसका उपयोग पानी तथा हवा की फौज के तुरन्त बाद होता है। किसी भी देश की जीती भूमि पर कब्जा करने और उसपर अधिकार कायम रखने के लिए भूमि-सैना की ही आवश्यकता होती है। वही जाकर वहाँ की स्थिति को संभालती है और जल तथा हवाई सैना को आगे बढ़ने का मौका देती है। स्थल-सैना के पहुँचने पर जल-सैना और हवाई-सैना अपने दूसरे निशाने की ओर अग्रसर होजाती हैं।

१२. अच्छे सैनिक अफसरों और सैनिकों पर विजय और पराजय निर्भर करती है। यों ही अनाड़ी आदमियों की भर्ती करके कोई देश कामयाब नहीं हो सकता। गत महायुद्धों ने इस बात को हर प्रकार से प्रमाणित कर दिया है। आज

भारत को आवश्यकता है कि वह इस प्रकार की सैना का संगठन करे और देश की सुरक्षा का ध्यान रखे।

विपक्ष :

१. आज के युग में हमारे विपक्षियों ने मनुष्य के नैतिक आदर्शों में जिस चीज को शामिल किया है उसे नहीं किया जा सकता। राष्ट्र की वास्तविक सैना यह है कि हम अपने दैनिक नियमों का सचाई के साथ पालन करें। अपने कर्तव्यों का पालन करके ही हम अधिकाधिक कामयाबी के साथ अपने देश को मजबूत बना सकते हैं। इसी से हमारी सैन की नैतिक शक्ति बढ़ती है और इसी के द्वारा हमारे राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुधरती है। देश की आर्थिक स्थिति पर व्यर्थ सैनिक दबाव नहीं पड़ता और समय पड़ने पर राष्ट्र का हर सच्चा नैतिक ज्ञान रखने वाला व्यक्ति देश की सेवा के लिए उद्यत रहता है।

२. युद्ध-काल में तुरन्त सैना की भर्ती करना देश की सुरक्षा लिए काफ़ी हैं। सन् १६३६-१६४० के महायुद्ध में जिस-जिस देश को जितनी-जितनी सैना की आवश्यकता हुई उतनी उसे मिली और उनके देश की जनता ने सैनिक भर्ती में पूर्ण सहयोग दिया; यह सब देखते हुए स्पष्ट होजाता है कि पहले से देश की जनता पर सैनिक भार डालना सरकार की कुशल नीति का द्योतक नहीं। इस भार का देश की जनता कभी भी समर्थन नहीं करेगी और इससे एक बहुत बड़ी जमायत देश में ऐसी पैदा होजायगी जिसके पास काम कुछ नहीं होगा और उसका खर्च काफ़ी रहेगा। शांति-काल में पुलिस के काम के लिए स्थायी सैना रखना मूर्खता की बात है। आज हर देश की स्थायी सैना और साथ में यू० एन० ओ का सहयोग बस ये दोनों देश की रक्षा के लिए काफ़ी हैं।

३. सामाजिक व्यक्तियों को उस समय उनके काम से उठा कर सैनिक शिक्षा के लिए लेजाना जब कि उन्हें अपने काम की उन्नति करनी चाहिए, उनके काम और व्यक्तित्व के लिए हानिकारक है। सामाजिक व्यक्तियों के अलावा औद्योगिक व्यक्तियों का सैनिक शिक्षण के लिए चलाजाना तो राष्ट्र के लिए और भी हानिकारक है। इसका उनके उद्योग तथा औद्योगिक कर्मठता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी तो यह भी होता है कि उन औद्योगिक कर्मचारियों की फिर अपने कामों पर लौटने की इच्छा ही नहीं होती। इससे राष्ट्र का बहुत बड़ा अहित होता है। शांति-काल में फौजी शिक्षा के लिए घिरे हुए आदमियों का अधिकांश समय निरर्थक काहिली में व्यतीत होता है, जिसका प्रभाव उनके भविष्य पर अच्छा नहीं पड़ता और उनकी फुटकर काम करने की आदत ही जाती रहती है।

इस प्रकार की फौजी शिक्षा केवल पुरुषों को ही देना राष्ट्र के लिए और

भी हानिकारक है। यदि यह शिक्षा देनी ही है तो स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप में देनी चाहिए। बहुत से काम ऐसे हैं जिनमें स्त्रियाँ पुरुषों से कम उपयोगी नहीं। सैनिक शिक्षा केवल पुरुषों को ही देकर स्त्रियों को उससे वंचित रखने से परिणाम यह होता है कि युद्ध में केवल पुरुष-ही-पुरुष मर जाते हैं और लावारिस स्त्रियों की संख्या अधिक रह जाती है। अनिवार्य सैनिक शिक्षा की बात सोचने वाली सरकार यदि इस ओर ध्यान नहीं देगी तो वह अपने राष्ट्र का बहुत बड़ा अनर्थ करेगी।

४. जिन देशों में बलात भर्ती की प्रथा प्राचीन काल से चली आरही है वहाँ अफ़सरों के चुनाव में उनके वर्ग का ध्यान रखने की प्रथा है। यह मानव की हीन वृत्ति है जिसका अनिवार्य सैनिक-शिक्षा से विकास ही होगा और उच्च-वर्ग कहलाने वाली क्लास अपने वर्ग के नौजवान तबके को अफ़सर बनाकर देश की गरीब जनता के सिर पर लाद देगी। इसका परिणाम यह होगा कि एक दिन यह उच्चवर्गीय अफ़सर-क्लास ही देश की समस्या बनजायगा और वह भी समय दूर नहीं रहेगा जब केवल इन्हीं अफ़सरों के लिए सरकार को युद्ध-नीति अपनानी होगी। यह सोचना कितना मूर्खतापूर्ण है कि अनिवार्य सैनिक-शिक्षा देश की युद्ध-नीति में असहयोग करेगी। अपनी प्रवृत्ति के खिलाफ भला किसने चलना सीखा है।

५. देश के लाखों नौजवानों को हर समय सैनिक रूप में बेकार कर देने से देश के उद्योग और व्यापार पर बहुत बुरा असर होगा। इसके फल स्वरूप देश की पैदावार तथा और औद्योगिक उत्पादन कम होजायगा और सरकारी कोष से तनखाएँ पानेवाला अनुत्पादक वर्ग जब अपनी तनखाओं के रुपये को बाजार में फैलायेगा तो रुपये का अवमूलन होगा और देश की स्थिति बिगड़ेगी। देश का उद्योग तथा व्यापार घटेगा और बजाय इसके कि विदेशों को अपने यहाँ का बनाया हुआ सामान भेजा जाय अपने यहाँ बाहरी सामान मंगाने की जरूरत महसूस होगी। नतीजा यह होगा देश की आर्थिक दशा बिगड़ेगी। इस प्रकार देश की यह सैनिक-नीति किसी भी प्रकार देश के नैतिक उत्थान तथा शांति-रक्षा के साथ-साथ उद्योग खेती और व्यापार में सहायक सिद्ध नहीं होसकती। राष्ट्र इस नीति पर चलकर अवनति करेगा और गरीबी की दिशा में क़दम बढ़ायेगा। शांति की अपेक्षा अशांति की ही सम्भावना बढ़ेगी और युद्ध प्रतिक्षण नज़दीक आताहुआ दिखलाई देगा।

६. स्वेच्छा से जो फ़ौजी तालीम की बात हमारे विपक्षियों ने कही वे व्यर्थ हैं। स्वेच्छा से कौन मौत के मुँह में क़दम रखता है? गत महायुद्धों में जो लोग फ़ौजों में भर्ती हुए उन्हें सरकार ने काफ़ी लाभ पहुँचाया तथा सरकार की ओर से उनका सम्मान भी कम नहीं हुआ, परन्तु उसे देखकर भी स्वेच्छा से फ़ौजी भर्ती की ओर बढ़ने वाले शायद विरले ही निकलेंगे।

७. आज के युग में फ़ौजी हथियारों की दिशा में वैज्ञानिक लोग दिन प्रतिदिन तरक्की करतेजारहे हैं। इसलिए विद्यार्थी-काल की हथियारों की शिक्षा समय आने पर कोई विशेष लाभदायक सिद्ध नहीं होगी। हथियारों का सही उपयोग केवल वही जानता है जो नित्यप्रति जीवन में उनका प्रयोग करता रहा है। शांतिकाल में सैनिक शिक्षा के अंतर्गत जो लोग कुछ सीख सकते हैं वह चुस्ती और नियम बद्धता है और इन दो चीजों को बिना स्थायी शहरी-सैना (Citizen army) निर्माण किये भी सिखलाया जासकता है। स्कूलों में तथा उसके पश्चात् भी हर दिशा में इस प्रकार के ट्रेनिंग कैम्प खोले जासकते हैं और उनके द्वारा वही कार्य सिद्ध होसकता है जो स्थायी सैना विभागों से होगा। इस प्रकार के सीखे हुए लोगों को युद्ध काल में व्यवस्थित सैनिक के रूप में बहुत शीघ्र तैयार किया जासकता है।

८. किसी भी देश के सिर पर बलात भर्ती की हुई सेना का बोझा रख कर चलना एक कठिन समस्या है। आज प्रायः हर देश की आबादी बढ़ती जारही है और इसके कारण हर देश का खर्चा भी बढ़ रहा है। ऐसी दशा में देश के इतने नौजवानों को उद्योग और व्यापार के क्षेत्र से निकालकर सैना में भर्ती कर लेना देश को भूखों मारने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपने देश की अर्थ-व्यवस्था को यदि किसी सरकार को जरजरित करना है तो उसे इस प्रकार की सैनिक नीति अपनानी चाहिए।

९. आज विश्व एक विचित्र प्रकार की परिस्थिति में से होकर चल रहा है। ऐसी दशा में यदि देश की सारी जनता को सैनिक शिक्षा दे दी जाय तो हो सकता है कि वही सैनिक-शक्ति बजाय विदेशी आक्रमण को सहन करने के पारस्परिक झगड़े के लिए भी प्रयोग में लाई जाने लगे। इसका परिणाम बहुत खतरनाक भी निकल सकता है और हो सकता है कि यह वर्तमान सामाजिक ढाँचे को तितर-बितर करने तक में कामयाब साबित हो। ऐसी स्थिति में राष्ट्रों की दशा और भी गम्भीर होउठेगी। फिर सरकार को उन परिस्थितियों का सामना करने के लिए उद्यत रहना होगा और यह स्थिति उनके लिए और भी गम्भीर होउठेगी। सरकारों द्वारा मजदूरों की हड़तालों को तोड़ने के लिए जो फ़ौजों का प्रयोग कियाजाने लगा है वह भी कोई स्वस्थ्य स्थिति नहीं है। इससे मजदूरों और सरकार के बीच वैमनस्य की भावना बढ़ती जारही है। इसका बढ़ना राष्ट्र-हित की बात नहीं हो सकती।

१०. जब सरकार के पास इतनी बड़ी सैना होती है कि वह हर प्रकार की बगावत को दबा सके तो वह जनता की आवाज को कुचलने की ही दिशा में प्रवृत्ति रखने लगती है। ऐसे समय में सरकार की नीति बिलकुल ही निरंकुश हो जाती है और उसे अन्य लोगों की भावनाओं तथा विचारों की कद्र करने की अक्ल

ही नहीं रहती। ऐसे समय में वह जो कुछ भी करती है चाहे वह वास्तव में सही हो या ग़लत, उसे ईश्वर का आदेश समझती है।

इस प्रकार के सैनीकरण को पड़ौसी देश भी अपने लिए खतरा ही समझेंगे। उनकी नीति पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा और उन देशों में भी हो सकता है इसी प्रकार की नीति को अपनाया जाय। इसका परिणाम यह होगा कि उन देशों की अधिकांश शक्ति सैनिक सामान बनाने में व्यय होगी और जनता की आवश्यकता के सामान के बनने में कमी आजायगी। इससे इन सभी देशों में अशांति फैलेगी जो कि किसी भी दिन पारस्परिक कलह और युद्ध का कारण बनसकती है।

११. आज के जमाने में देश की सैनिक उन्नति केवल आदमियों की बलात भर्ती और अनिवार्य सैनिक शिक्षा पर ही आधारित नहीं है। आज देश की औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति की आवश्यकता है, जिसके लिए अनिवार्य सैनिक भर्ती की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। देश की हर दिशा में उन्नति की आवश्यकता है। औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ खेती की उन्नति भी अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। देश को हर प्रकार से अपने योग्य होना चाहिए और उसे अपनी रोटी कपड़े की समस्या के लिए अन्य देशों का मुँह ताकने की जरूरत महसूस नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार की उन्नति के लिए देश में सैनिककरण की जरूरत नहीं। आज के युग में, सैनिककरण की बात करना, समस्या के केवल एक पहलू पर विचार करने के समान है, जिससे समस्या का हल नहीं निकल सकता।

भारत को औद्योगिक संरक्षण की आवश्यकता है

पक्ष :

१. भारत स्वाधीन होने से पूर्व विदेशी माल की बिक्री की एक बड़ी मंडी होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। फिर भी देश के अन्दर कुछ उद्योग पनपे और उन्होंने काफी उन्नति की। परन्तु सरकार विदेशी होने के कारण उन्हें वे सहूलियतें उपलब्ध न हो सकीं जो विदेशी उद्योगपतियों को थीं। इसका परिणाम यह निकला कि भारत के अन्दर भी जो कल-कारखाने विदेशी पूँजी से चले वे अच्छे रहे और जो देशी पूंजी से चले उन्हें वह सहूलियतें न मिल सकीं जो विदेशी लोगों को उपलब्ध थीं। इसके फलस्वरूप भारतीय पूंजीपति लोगों का ध्यान केवल देशी और विदेशी पूंजीपतियों की एजेन्सी लेने की ओर ही रहा और जो उद्योग उन्होंने अपनाये वे भी कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण न होसके।

२. परन्तु फिर भी भारत के उद्योगपति साहस के साथ काम कर रहे थे। यह सच है कि विदेशी मंडियों तक पहुँचना उनके लिए कठिन था, परन्तु देशी माल उन्होंने खूब बनाया और पूंजी भी एकत्रित की। यह बात नहीं थी कि ये लोग बड़े उद्योगों को संभालने और चलाने की सामर्थ्य नहीं रखते थे, या इनमें साहस नहीं था, वरन् आवश्यक बात यह थी कि इनका कम साधनों वाला उद्योग विदेशी साधन सम्पन्न उद्योग के सामने ठहर नहीं सकता था। सरकार इनके उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने में अपनी व्यापारिक हानि समझती थी। ऐसी दशा में इतने लोगों का साहस पस्त हो जाता था।

३. भारत ने स्वतंत्र होते ही भारतीय उद्योगों की इस प्रधान आवश्यकता को अनुभव किया और उन्हें संरक्षण प्रदान किया। विदेशी माल जो भारत की मंडियों में बिना किसी प्रतिबन्ध के आता था उसकी तरफ सरकार ने ध्यान दिया और जो माल भारत की औद्योगिक उन्नति में बाधक था उसपर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस प्रतिबन्ध के कारण विदेशी माल भारत में आना बन्द होगया और देश की आवश्यकता का लाभ उठाकर यहाँ के उद्योगपतियों ने उन चीजों का निर्माण किया। इस प्रकार सरकारी संरक्षण से देश की औद्योगिक उन्नति हुई।

४. देश की जिम्मेदार सरकार का यह फर्ज है कि वह देश की आवश्यकता के लिए काम करने वाले देशी उद्योगों को हर प्रकार का संरक्षण प्रदान करे विशेष रूप से भारत जैसे पराधीनता के चंगुल से निकले हुए देश के उद्योगों के लिए यह संरक्षण और भी आवश्यक है। यदि देशी उद्योगों को यह संरक्षण न मिले तो भारत की मंडियाँ विदेशों के अधिक उन्नत उद्योगों की सुन्दर और सस्ती चीजों से भर जाये। और उनके मुकाबले में हिन्दुस्तान की बनी भद्दी और मंहगी चीजें बिकनी बन्द होजायें। विलायती माल के निर्यात पर सरकारी कंट्रोल यदि न रहे तो देश के औद्योगिक क्षेत्रों में तबाही मच जाय और देशी माल बिकना कम होने पर यहाँ के उद्योग बन्द होने लगें, तथा उनमें काम करने वाले मजदूरों में बेरोजगारी फैलने लगे। सरकार को इस औद्योगिक संरक्षण की दिशा में पूरी जिम्मेदारी के साथ ध्यान देना चाहिए।

५. औद्योगिक संरक्षण न केवल भारत के ही लिए लाभदायक है, वरन् हर उस देश के लिए आवश्यक है जिसका उद्योगीकरण अभी संसार के अन्य देशों के मुकाबिले में पिछड़ा हुआ है। यदि आज समस्त संसार में स्वतंत्र रूप से बिना राष्ट्रीय संरक्षण के व्यापार की स्वतंत्रता देदीजाय तो इसका नतीजा यह निकलेगा कि गरीब और छोटे देशों का व्यापार तथा वहाँ के उद्योग ठप्प हो जायंगे और बड़े देश, जिनमें उद्योगों का विकास बहुत ऊँचे पैमाने का हो चुका है, उनके व्यापारी उन देशों पर छा जायेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि वे छोटे निर्धन

देश सर्वदा दूसरों पर आश्रित होकर निर्धन ही बने रहेंगे। भारत में बर्तानिया सरकार की यही नीति रही और इसीके द्वारा उन्होंने हिन्दुस्तान को खोखला कर दिया। आज हर देश की सरकार अपने देश के अन्दर विदेशों की बनी हुई चीजों को किसी भी देश से तभी अपने देश के आने की आज्ञा देती है जब अपने देश के उद्योग उसे पूरा करने में असमर्थ रहते हैं और जनता को उस वस्तु की बहुत अधिक आवश्यकता रहती है। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरकार विदेशी माल का अपने देश में आने के आज्ञा-पत्र व्यापारियों को दे देती है, इस प्रकार जिन देशों में किसी चीज का अधिक उत्पादन होता है वह कम उत्पादन होने वाले देश मंगा लेते हैं। स्वतंत्र प्रतिद्वन्दिता (Free competition) से यह संभव है कि आवश्यकतावाले देश तो आवश्यक वस्तु पा न सकें और जिन्हें आवश्यकता नहीं है वहां खराब होने या वहाँ के व्यापार और उद्योगों को बर्बाद करने के लिए पहुँच जाय।

६. भारत के उद्योगों को आज संरक्षण की बहुत अधिक आवश्यकता है। ये अभी अपनी प्रारम्भिक दशा में हैं और यदि इन्हें स्वतंत्र प्रतिद्वन्दिता की लपेट में आजाना पड़ा तो इनका विकास रुक जायेगा। भारत की खेती को भी संरक्षण चाहिए। विदेशी अनाज, चाहे सस्ता भी क्यों न हो, मंगाकर भारत में सस्ते मूल्य पर बेचना भारत के किसानों को बर्बाद और बेरोजगार करना है और यहाँ की सुधरती हुई खेती की दशा को एक बार फिर रसातल को पहुँचाने के समान है। अभी भारत की न तो खेती और न उद्योग-धन्धे ही, किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता सहन करने योग्य हैं। सरकारी संरक्षण की विदेशों से प्रतिद्वन्दिता के लिए ही आवश्यकता है। उदाहरणार्थ मिलों और छोटी दस्तकारी के उत्पादनों का अनुपात कायम रखना भी इसीके अन्तर्गत आता है। एक उद्योग के कारीगर खिचकर दूसरे में न चले जायें और पहला ठप्प न होजाय, इस बात की ओर आज सरकार को ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार उद्योगों और खेती के बीच मजदूरों की दौड़भाग पर भी दृष्टि रखना सरकार का काम है। सरकार को चाहिए कि वह ऐसी परिस्थिति पैदा न होने दे कि जिससे एक काम के मजदूर उसे छोड़कर दूसरे को अपनाने की आवश्यकता महसूस करें। उन्हें अपने जीवन, अपनी कला, अपनी दस्तकारी, अपनी योग्यता का विकास अपने ही काम में करने का क्षेत्र दिखलाई देना चाहिए। यह सब सरकारी संरक्षण चाहता है। सरकारी संरक्षण द्वारा ही एक ओर का खिचाव दूसरी ओर से रुकता है और हर काम अपनी धुरी पर सही तरीके से चलित रहता है।

इंग्लैंड में खेती की यही दशा हुई। वहाँ के उद्योगों की बढ़ती हुई प्रगति ने खेती के सब मजदूरों को अपने अन्दर समाविष्ट करलिया। शांतिकाल में तो

इससे कोई कठिनाई पैदा नहीं हुई, क्योंकि अनाज अन्य देशों से आता रहा, परन्तु गत दो महायुद्धों ने सरकार की इस नीति का खोखलापन उसके सामने प्रकट करदिया खेती को सरकारी संरक्षण प्राप्त न होने से वह बर्बाद होगई और नतीजा यह हुआ कि युद्ध के संकट-काल में अन्य देशों से आने वाले अनाज की गम्भीर स्थिति ने देश की जनता को खतरे में डालदिया।

भारत खेती प्रधान देश है। यहाँ की आबादी भी बहुत है। यदि यहां आज सरकार ने ब्रिटेन की तरह भूल की तो देश का पतन होगा और जनता तबाह व बर्बाद होगी। सरकार को चाहिए कि वह अपनी संरक्षण की नीति द्वारा देश की खेती, उद्योग धंधों, कल-कारखानों इत्यादि को नष्ट न होने दे। वास्तव में सरकारी संरक्षण की आज हर दिशा में आवश्यकता है।

७. संरक्षण की दिशा में सरकार को सबसे अधिक ध्यान अपनी आयात-नीति पर देना चाहिए। आयात-नीति में ढील आने से देश के सभी उद्योगों पर असर पड़ता है। देश की निर्यात-नीति की सफलता ही केवल निर्यात नीति की ढिलाई के प्रभाव को नष्ट नहीं कर सकती है। इस ढिलाई का सीधा प्रभाव देश के उत्पादन पर पड़ता है क्योंकि विदेशी माल देश में आते ही देशी माल की खपत कम होने लगती है। और उस कमी का प्रभाव तुरन्त देश के उद्योगों पर पड़ता है। कल-कारखानों का काम मन्दा पड़जाता है और इससे कारखानों के काम में शिथिलता आजाती है। इस शिथिलता के फलस्वरूप बहुत से कारखाने के काम करने वाले बेकाम होजाते हैं।

सरकार को चाहिए कि वह विदेशों से आने वाले माल पर अधिकाधिक कर लगाये। जो देश इस नीति को अपनायेगा उसकी आर्थिक स्थिति सुधरेगी और उसके निजी व्यापार तथा उद्योगों में वृद्धि होगी। आज अमरीका में विदेशों से जाने वाले माल पर अमरीका ने सबसे अधिक कर लगाया हुआ है। और वहाँ की आर्थिक स्थिति संसार में सबसे अच्छी है। भारत आज यदि इसी नीति को अपना-येगा तो इसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा और उद्योगों तथा खेती में उन्नति होगी। देश के व्यापार, खेती, उद्योग धंधे इत्यादि की उन्नति के साथ-साथ देश में बेरोजगारी कम होगी रोजगारोंकी उन्नति होने से जनता का रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठेगा, देश उन्नति करेगा तथा विद्या, कला-कौशल और अन्य दिशाओं में तरक्की होगी। किसी भी देश की उन्नति के लिए वहाँ के उद्योगों इत्यादि का सरकारी संरक्षण होना नितान्त आवश्यक है।

विपक्ष :

१. आज भारत के उद्योगों की दशा पहले जैसी नहीं है। और ज्यों-ज्यों यह और अधिक उन्नति करेंगे त्यों-त्यों यहां के माल को विदेशी मंडियों की आवश्यकता होगी। जब भारत अपना माल विदेशी मंडियों में भेजेगा तो इसे अपनी मंडियों में विदेशी माल को भी स्थान देना होगा। यदि यह अपनी मंडियों में विदेशी माल का आयात न खोलेगा तो अन्य देश भी इसके माल को अपनी मंडियों में नहीं जाने देंगे। इसका नतीजा यह होगा कि देश का उन्नति करता हुआ उद्योग केवल अपने देश तक ही सीमित रहजायगा और उसे अंतर्राष्ट्रीय बाजार में पहुँचने का अवसर नहीं मिलसकेगा।

२. जब भारत को अपने माल के लिए विदेशी मंडियों की आवश्यकता है और इसे अपना माल विदेशी मंडियों में बेचना है तो इसका गुजारा विदेशी माल के निर्यात पर भारी कर लगाने से नहीं चलसकता। भारी कर लगाने से उनके दाम इतने बढ़जावेंगे कि भारत का खरीदार उन पर हाथ ही नहीं रखेंगे। और जो व्यापारी उस माल को देश में मंगा लेगा वह माथे पर हाथ रखकर रोयेगा। उसका माल पड़ा-पड़ा सड़ जायगा। और वह तीन काल में भी बिक नहीं पायेगा। इसका फल यह होगा कि वह भविष्य में उस व्यापार में हाथ नहीं डालेगा और उस वस्तु का आयात एक दम बन्द होजायगा। इससे एक तो उस वस्तु का देश मे मिलना कठिन हो जायगा और दूसरे जिस देश का वह माल है उस देश में भारत के माल की भी यही दुर्दशा होगी। इससे दोनों देशों के व्यापारियों तथा उद्योगों की हानि होगी। यह नीति केवल तभी तक कामयाब साबित होसकती है जब तक भारत को अपने माल के लिए विदेशी मंडियों की जरूरत नहीं। ज्यों ही उसे अपना माल विदेशी मंडियों में भेजना होगा त्योंही उसे दूसरों का माल भी अपने देश में खपाना होगा।

३. आज किसी भी देश का व्यापार केवल उसके अपने ही भरोसे पर नहीं चल सकता। हर देश को संसार के सभी देशों की सद्भावना और सहयोग की आवश्यकता है। यह सहयोग की भावना एक दिशा से नहीं पनप सकती। इसके लिए दोनों ओर से एकसी ही नीति का अनुशीलन करना होगा। यदि संसार के सभी देश आयात पर ऊँचे कर लगाने की नीति को अपनायेंगे तो निश्चित् रूप से कुछ ही दिनों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार समाप्त हो जायगा और इससे विश्व के प्रायः सभी उद्योगों को हानि पहुँचेगी। सभी देशों में समान रूप से खिंचाव पैदा हो जायेगा और सब स्वार्थप्रिय मनोवृत्ति के शिकार बनजायेंगे। परास्परिक सहयोग के

नष्ट होजाने का प्रभाव न केवल व्यापार और उद्योग पर ही होगा वरन् संसार के विभिन्न राष्ट्रों के रहने वालों में भी खिंचाव पैदा होजायगा, एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखना प्रारम्भ हो जायगा और सद्भावना कहीं पर भी दिखलाई न देगी।

४. आयात पर ऊँचे करों की नीति का प्रभाव छोटे और कम समृद्ध देशों पर अधिक पड़ता है। बड़े देशों का तो अपना ही बाजार इतना बड़ा होता है कि वहाँ के उद्योगों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और वे अपनी आर्थिक दशा को सभाल लेते हैं परन्तु जिन छोटे देशों को अपनी बहुत सी आवश्यकताओं के लिए दूसरे बड़े देशों पर निर्भर रहना होता है उन्हें वे चीजें बाहर से मंगानी ही होती हैं और वे उनपर अधिक कर भी नहीं लगा सकते। इसके विपरीत उनके यहाँ की उत्पादित वस्तु के लिए विदेशी बाजार में कोई स्थान नहीं रहता क्योंकि वहाँ उन पर लगे ऊंचे टैक्सों के फलस्वरूप उनका दाम बढ़ जायगा और उनकी खपत उन देशों में वहाँके माल की प्रतिद्वन्दिता में नहीं टिकपायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि ये कम समृद्ध देश न तो अपना ही माल अन्य देशों में बेच सकेंगे और न वहाँ के माल को अपने देश में आने पर अधिक टैक्स ही लगा सकेंगे; फलतः इन देशों की आर्थिक व्यवस्था दिन-प्रतिदिन बिगड़ती चली जायेगी और एक दिन वह आयगा जब ये और भी निर्धन, कम उन्नत और असभ्य बन जायेंगे। ऐसी दशा में इनके पास बाहरी लूटमार के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रहेगा, इन्हें आस-पास के समृद्ध देशों की दशा देख कर हसद होगी, जलन होगी और उसके फलस्वरूप संसार में अशांति का बीजारोपण होगा। विश्व-इतिहास पर एक हलकी सी दृष्टि डालने से पता चल जाता है कि जितनी भी सभ्यताओं का ध्वंस हुआ है, जितने भी आक्रमणकारियों के आक्रमण हुए हैं, जितने भी महायुद्ध ठने हैं वे सब इसी हसद के फलस्वरूप ठने हैं।

५. योरोपीय देशों ने आयात पर भारी टैक्स की इस नीति का अध्ययन करके देखा कि यह पारस्परिक हित की वस्तु नहीं है और पारस्परिक मतभेद को गढ़ावा देने वाली है। ब्रिटेन ने सबसे पहले इसे महसूस किया। इसके परिणाम स्वरूप सबने इन टैक्सों की लगी हुई दीवालों को, जहाँ तक सम्भव हो सका, अपने देशों की सीमाओं में गिराने का प्रयत्न किया और विदेशी मालों को अपने देशों में आने और बिकने के लिए अधिकाधिक सहूलियतें देने का प्रयास किया।

भारत को भी उन वस्तुओं के विषय में उन देशों की यही नीति अपनानी होगी जिनके साथ वह अपना विदेशी व्यापार बढ़ाना चाहता है। इससे दोनों देशों की जनता तथा सरकारों को लाभ होगा। दोनों देशों के व्यापारों में उन्नति होगी और दोनों ही देशों की वह पैदावार

जो उस देश के लिए अधिक है और दूसरे देश में उसकी आवश्यकता है, उन्हें प्राप्त हो सकेगी। इससे पारस्परिक प्रेम-भाव और सद्भावना बढ़ेगी और दोनों में यह विचार पैदा होगा कि दोनों एक दूसरे की उन्नति और समृद्धि से प्रसन्न हैं। वे एक दूसरे को हानि पहुँचाकर उनके यहाँ शोषण के लिए व्यापार-नीति नहीं अपना रहे वरन् पारस्परिक उन्नति के लिए यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कर रहे हैं। गत शताब्दी और उससे पहली शताब्दी में जो व्यापार भारत में ब्रिटेन द्वारा हुआ उसमें भारत का शोषण होताथा। वह स्थिति आज समाप्त हो चुकी है। आज जो व्यापार की स्थिति है उसमें कोई राजनैतिक दबाव नहीं और न ही अधिकारों की ही नीति का अवलम्बन दिखलाई देता है। यह नीति अपनी तथा अन्य देशों की पारस्परिक समृद्धि की नीति है।

६. किसी भी उद्योग या खेती के संरक्षण के माने यह कदापि नहीं होते कि देश की आर्थिक दशा को ही खराब करदियाजाय और देश की जनता को किसी वस्तु का अभाव होने पर भी आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धों को ढ़ीला न किया जाय। संरक्षण एक हद तक ही सम्भव है। यह अपने उद्योगों तथा खेती की साधारण सहायता की बात है कि इसे इनकी उन्नति में बाधा स्वरूप ग्रहण कर लिया जाय। आज भारत की खेती की ही उन्नति के लिए बहुत सी चीजों के आयात विदेशी टेकनीकल जानकार, खेती के नये किसम के औजार इत्यादि की आवश्यक्ता हुई और ये काफी मात्रा में आये। उनपर भी यदि अधिक कर लगा दिया जाता तो इनका उपयोग देश की खेती में होना कमहोजाता और इसके फलस्वरूप इतने कम समय में भारत की खेती ने जो उन्नति की वह असम्भव होजाती।

वास्तव में देश को यह संरक्षण की नीति बहुत ही सोच-समझकर बरतनी चाहिए। इसके लिए देश का स्वार्थी उद्योगपति समुदाय हमेशा ही चिल्लाया करता है क्योंकि इस संरक्षण में जनता और मजदूरों के स्वार्थ से अधिक उसका अपना पूँजीवादी दृष्टिकोण निहित होता है। इसके द्वारा वह देशमें अपनी उत्पादित वस्तु पर एकाधिकार प्राप्त करके देश की उस दिशा में आनेवाली पूंजी को समेट कर उसका एक मात्र अधिकारी बनजाता है। कभी-कभी इससे देश की जनता का महान अहित होता है। बाहर की आनेवाली चीज के न आने या मंहगा बिकने पर देश की जनता को मजबूरन देश की बनी खराब वस्तु का ही इस्तेमाल करना होता है और पूँजीपति इसका गलत उपयोग करके अपनी चीज को खराब और सस्ता-से-सस्ता बनाता जाता है। खेती की चीजों में ऐसी स्थिति होने पर कालाबाजार गर्म होजाता है और अनाज दबाकर अधिक मूल्य उठाने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप जनता का बहुत बड़ा अहित होता है। गरीब जनता इस

नीति से पिसजाती है। यही नीति जहाँ समाजवादी प्रजातंत्रिक शासन के हाथ में देश और उसकी जनता के लिए लाभकर हो सकती है वहाँ यही पूंजीपति सरकार द्वारा अपनाई जाकर देश की जनता का रक्त चूसने वाली बनती है। अमरीका की यह नीति ठीक इसी प्रकार की है। आज यदि कोई व्यक्ति यह समझे कि अमरीका का हर रहने वाला पूँजीपति है तो यह भ्रम मात्र है। देश का हर आदमी पूंजीपति बन ही नहीं सकता।

७. बाजार में स्वस्थ प्रतिद्वन्दिता का प्रभाव देश के व्यापार पर अच्छा ही पड़ता है। यदि प्रतिद्वन्दता नहीं रहती तो उद्योग कभी उन्नति कर ही नहीं सकते। प्रतिद्वन्दिता का भय ही उद्योगपतियों को अपने उद्योगों में नित्य नयी उन्नति करने का प्रोत्साहन और दबाव देता है। यदि यह न हो तो उद्योगों की उन्नति के साथ-ही-साथ व्यापार में भी उन्नति रुकजाय। वास्तव में यदि देखा जाय तो बेरोजगारी, रद्दी खेती, रद्दी उत्पादन, रद्दी व्यापार, रद्दी रहन-सहन, रद्दी कला-कौशल और अविद्या ये सब साथ साथ चलते हैं। सरकार को संरक्षण की नीति का सोच-समझ कर प्रयोग करना चाहिए और प्रारम्भ से ही संतुलन के साथ उसे निभाने की आवश्यकता है।

अध्याय १०

व्याख्यानमाला ३

गत अध्याय में हमने कुछ ऐसे विषयों का अध्ययन किया, जिनके दोनों पक्ष बहुत प्रबल हैं। यों तो यदि ध्यानपूर्वक देखाजाय तो सभी विषयों के दोनों पक्ष होते हैं और उनमें प्रगति या अवनति के सभी साधन उपलब्ध होते हैं। किसी भी चीज की अच्छाई या बुराई उसके अन्दर उतनी नहीं होती जितनी उसके प्रयोग के अन्दर निहित होती है।

गत अध्यप्य में वाद-विवाद के ढंग से विषयों का संक्षेप में सारांश निकाल कर पाठकों के सम्मुख रखा गया है। इस पुस्तक में अधिकाधिक विषयों को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा सके इसलिए किसी भी विषय की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की गई। गत अध्याय में लिया गया कोई भी ऐसा विषय नहीं कि जिसपर एक अच्छे खासे ग्रन्थ की रचना न हो सके। सभी विषय अपने में काफ़ी महत्त्व-पूर्ण हैं। अब इस अध्याय में हम कुछ विषयों पर वाद-विवाद के ढंग से विवेचन प्रस्तुय न करके केवल उसके सम्बन्ध में अधिकाधिक जानकारी के लिए ही कुछ संकेत प्रस्तुत करेंगे। इन संकेतों के आधार पर उन विषयों पर निबन्ध भी लिखे जासकते हैं और सुन्दर व्याख्यान भी दिये जासकते हैं।

गाँधीवाद और साम्यवाद

१. आज का युग वादों का युग है, जिसमें गाँधीवाद, प्रजातंत्रवाद, साम्य-वाद; मार्कसवाद, पूंजीवाद, कम्यूनिज्म, एकतंत्रवाद इत्यादि धाराओं में संसार की शासन-व्यवस्थाएँ चल रही हैं। जिस प्रकार संसार के प्राचीन इतिहास में धार्मिक संघर्षों के कारण मानव सुख चैन से नहीं सो सकता था और मध्ययुग में साम्राज्यवादियों की उथल-पुथल ने विश्व-शांति को संकट में डाल दिया था, उसी प्रकार आज के युग में भी वादों का संघर्ष चल रहा है। धर्म की व्यवस्था संघर्ष के लिए न होकर शांति के लिए हुई थी परन्तु परिमाण स्वरूप कितना रक्तपात संसार में हुआ उन सबका उल्लेख करना यहाँ कठिन है। ठीक उसी प्रकार आज

ये वाद भी अपने-अपने मूल में मानव-जीवन की शांति के ही उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति का सिद्धान्त लेकर चलने का प्रदर्शन करते हैं परन्तु उनका फल पारस्परिक विषमता, द्वेष, कलह और संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई नहीं देता।

२. इन दोनों वादों का जन्म कुछ देश और कालों की परिस्थियों के फल-स्वरूप हुआ है। दो वाद न तो एक देश में पनपे ही हैं और यदि दो वादों ने एक देश में जन्म भी लिया है तो काल और परिस्थितियों का परिवर्तन होना अनिवार्य है। जब-जब इन वादों ने किसी देश में जन्म लिया है उस समय उनका जन्म किसी भी प्राचीन-व्यवस्था में सुधार के रूप में ही हुआ है। यह वाद सुधारात्मक होने से उस देश के नेताओं ने यह समझ लिया कि बस क्योंकि उस वाद ने उनके देश की समस्याओं का हल निकाल दिया, इसलिए वही वाद समस्त संसार की समस्याओं का हल है, उसी मार्ग पर चलकर संसार को शांति प्राप्त होसकती है। बस यहीं से शान्ति के स्थान पर संघर्ष की भावना का उदय होता है। आज संसार में जो कुछ भी संघर्षात्मक वातावरण मिल रहा है वह केवल इसलिए कि दो वादों में पारस्परिक तनाव है और प्रत्येक वाद अपने को संसार भर की समस्याओं का हल समझता है। रूस कम्यूनिज्म को मानव-समाज के लिए हितकर समझ कर संसार भर में प्रचारित और प्रसारित करना चाहता है और अंग्रेज तथा अमरीकन प्रजातंत्रवाद को मानव-समाज की समस्याओं का हल समझते हैं।

३. भारत की परिस्थिति इन तीनों देशों से भिन्न रही है। अमरीका अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त होकर प्रगति की ओर अग्रसर हुआ और रूस को अपने ही जार से संघर्ष लेना पड़ा, परन्तु भारत को विदेशी शासन से संघर्ष लेना पड़ा और उस संघर्ष में उसने जिस नीति को अपनाया उसे आज के राजनीतिज्ञ गाँधी-वाद के नाम से पुकारते हैं। गाँधीवाद में महात्मा गांधी के विचार और उनके सिद्धान्तों का दिग्दर्शन है। गाँधीवाद के मूल में अहिंसा की भावना है और इसी अहिंसा के आधार पर गाँधी जी ने अपने वाद का निर्माण किया है। अहिंसा की आत्मिक शक्ति द्वारा ही महात्मा गाँधी ने संसार की प्रबलतम शक्ति से टक्कर ली। वह राजनीति में मन, कर्म और वचन की अहिंसा का समावेश करना चाहते थे और यही उन्होंने जीवन-भर किया। उनकी राजनीति में छल के लिए स्थान नहीं था, कूटनीति के लिए स्थान नहीं था। उनका मत था कि हिंसा मानव को कायरता की ओर लेजाती है और अहिंसा प्रबलता तथा आत्म शक्ति की ओर। उनका दृढ़ विश्वास था कि स्वराज्य केवल अहिंसा की आत्मिक शक्ति द्वारा ही प्राप्त कियाजासकता है।

४. गाँधीवाद का प्रधान गुण यह है कि वह बुराई करने वाले का शत्रु

नहीं, उस मूल बुराई का शत्रु है। पापी को पाप से मुक्त करके गाँधीवाद उसे सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। अंग्रेजों से संघर्ष लेते हुए भी अंग्रेज-जाति के प्रति महात्मा गाँधी के मन में कभी कटुता नहीं आई। गाँधीवाद में विश्व-प्रेम की भावना निहित है। अहिंसापूर्वक असहयोग करना ही गाँधीवाद का प्रधान अस्त्र है, जिसके सम्मुख न तोप चल सकती है और न किसी प्रकार की शारीरिक तथा भौतिक शक्ति।

५. गाँधीवाद में राजनैतिक और आध्यात्मिक तत्वों का समन्वय मिलता है, बस यही इस वाद की विशेषता है। आज संसार में जितने भी वाद प्रचलित हैं वह आध्यात्मिक तत्त्व से मुक्त होकर कोरे राजनीति के क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके हैं। आत्मा से उनका सम्बन्ध विच्छेद होकर केवल बाह्य संसार तक ही सीमित हो गया है। भगवान से प्रेरित होकर आत्मा की शुद्धि करना गाँधीवाद के लिए नितांत आवश्यक है। गाँधीवाद में साम्प्रदायिकता के लिए कोई स्थान नहीं। इसी समस्या का हल करने में महात्मा गाँधी ने अपने जीवन का बलिदान दे दिया।

६. गाँधीवाद में घरेलू धंधों का पक्षपात और बड़ी-बड़ी कलों के प्रति उदासीनता मिलती है। गाँधी जी का मत था कि मशीनें मानव को बेकारी की ओर घसीटती हैं। गाँधी जी ने कहा भी है, "लाखों जीवित मशीनों को बेकार बनाकर निर्जीव मशीनों का प्रयोग करना मानव-जाति के प्रति अनर्थ करना है।" इसीलिए गाँधी जी ने चर्खा संघ की स्थापना करके खद्दर को प्रोत्साहन दिया। गाँधी जी हस्त-कला और ग्रामोन्नति के पक्षपाती थे। वह भारत की आर्थिक उन्नति के मूल में ग्रामोद्योग को मानते थे।

७. गाँधीवाद में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के विपरीत भावना प्रबल रूप से मिलती है। गाँधी जी पूंजीपतियों द्वारा भोगविलास और जनता के धन का अपव्यय करना सहन नहीं कर सकते थे। इस प्रकार के आचरण को वह 'चोरी' कहते थे। गाँधीवाद पूंजीवाद को मिटाना नहीं चाहता था परन्तु उनको केवल कोषाध्यक्ष के रूप में देखना चाहता था।

८. शिक्षा के क्षेत्र में गाँधीवाद के अन्तर्गत मौलिक शिक्षा (Basic Education) आती है। मौलिक शिक्षा द्वारा गाँधी जी भारत से अविद्या और दरिद्रता को भगाना चाहते थे। साथ ही गाँधीवाद में छुआ-छूत और पारस्परिक घृणा के लिए कहीं पर भी स्थान नहीं है। गाँधी जी ने हरिजन आंदोलन किया और उसके द्वारा हिन्दू जाति को खंड-खंड होने से बचाया। गाँधीवाद ने पाश्चात्य सभ्यता का विरोध और भारतीय-सभ्यता के मूल में भारत और भारतीय समाज की मुक्ति का समावेश किया है। गाँधीवाद में राजनीति, धर्म, समाज सभी कुछ आ जाते हैं। भारत के सभी क्षेत्रों पर गाँधीवाद का प्रभाव हुआ है।

९. साम्यवाद या मार्क्सवाद किसी-न-किसी रूप में आज संसार भर में फैला हुआ है। इटली, जर्मनी, और जापान में इसका घोर विरोध हुआ परन्तु इसकी प्रगति को वह न रोक सके। साम्यवाद समाजवाद की तीव्र प्रगति का दूसरा नाम है। भारत में भी आज इसका प्रभाव स्थान-स्थान पर दिखाई देता है। सम-भावना गाँधीवाद में भी मिलती है परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि गाँधी-वाद का मूल स्रोत अहिंसा से जन्म लेकर चलता है और साम्यवाद में बोलशेविज्म और हिंसा को भी अपनाया जा सकता है। समाजवाद में शासक का कर्तव्य है कि राष्ट्र की सम्पत्ति का सम-विभाजन करे और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ काम पर लगाये। साम्यवाद में व्यक्ति का राष्ट्र में एकीभाव होना आवश्यक है। साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति को उस की योग्यतानुकूल कार्य दिया जाता है। इस व्यवस्था में कोई निठल्ला नहीं बैठ सकता। राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र के किसी भी व्यक्ति को भूखा, नंगा या किसी अभाव को अनुभव करता हुआ न देखे। कार्लमार्क्स ने सर्वप्रथम पूंजीवाद के विरुद्ध इस वाद को जन्म दिया। मार्क्स ने संसार भर के श्रमजीवी समुदायों को संगठित करनेका प्रयत्न किया। साम्यवाद पूंजीपतियों और निठल्लों का कट्टर शत्रु है और हड़ताल इसका प्रधान अस्त्र है। साम्यवाद के इस हड़तालवाले प्रधान अस्त्र को कुछ अवसरों पर गाँधीवाद ने भी अपनाया है और उससे गाँधीवादी आंदोलनों को बल भी मिलता है। भारत में साम्यवादी नेताओं ने गाँधीवादी अस्त्रों को भी अपनाया है और उसके द्वारा अपने आन्दोलनों में बल प्राप्त किया है। इस वाद का प्रधान प्रचार संसार में लैनिन और ट्राटस्की द्वारा किया गया। पूंजीपति सत्ताओं ने इस शक्ति को रोकने का भरसक प्रयत्न किया है परन्तु वह इसे रोकने में बराबर असफल रही हैं और वही संघर्ष आज भी चल रहा है। साम्यवाद की समस्या मानव-जीवन के मूल में निहित है इसलिए इसका हल इतनी सुगमता से नहीं हो सकता। योरुप में रूस के अतिरिक्त अन्य देशों में भी साम्यवाद का प्रचार हुआ। प्रारम्भ में इटली में मुसोलिनी और चीन में च्यागकाईशेक ने इसे कुचल दिया परन्तु आज चीन में साम्यवाद का आधिपत्य है। फ्रांस में १९३९ के महायुद्ध के पश्चात् साम्यवाद का लीडर मानशब्लम एक बार वहां का शासक बन गया।

१०. कुछ व्यक्ति साम्यवाद को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका मत है कि साम्यवाद के मूल में ईर्ष्या और द्वेष की भावना निहित है। प्रतिशोध लेने के लिए यह पागल मनोवृत्ति से काम लेता है। इसमें संदेह नहीं कि साम्य-वाद श्रेणी युद्ध को जन्म देकर मानव-संघर्ष की ओर अग्रसर करता है। गाँधी-वाद संघर्ष से मानव को खींच कर शाँति की ओर ले जाता है, तृप्ति की ओर ले जाता है और साम्यवाद मानव में आवश्यकताओं का उदय

करके उसे संघर्षमूलक बनाता है। साम्यवाद मानव की और स्वतंत्र प्रवृत्तियों के मार्ग में बाधक बन जाता है। मानव मानव न रह कर एक मशीन का पुर्जा बन जाता है और अपनी स्वतंत्र सत्ता का सर्वनाश करके रोटी और कपड़े के ही चक्कर में फँस जाता है। वहाँ आत्मा निष्ठुर हो जाती है, मस्तिष्क स्वार्थी हो जाता है और बल द्वारा अपहरण की भावना से प्रेरित होकर मानव युद्ध और संघर्ष की ओर अग्रसर हो जाता है। साम्यवाद की भावना अपने पूर्ण विकास पर पहुँच कर एकतंत्रवाद का ही दूसरा रूप बनजाती है। इस प्रकार गाँधीवाद और साम्यवाद के मूल तत्त्वों में आकाश पाताल का अन्तर है। यहाँ दोनों के मूल तत्त्वों का स्पष्टीकरण हमने इसलिये किया है कि विद्यार्थी दोनों को न समझ कर एकता की भावना का कभी-कभी समावेश दोनों में करने लगते हैं। गाँधीवाद बुद्धि-पक्ष के साथ हृदय-पक्ष का सामंजस्य करके चलता है और साम्यवाद कोरा बुद्धि-पक्ष-वादी है। गाँधीवाद में प्राचीन केप्रति सद्भावना, सहानुभूति और सम्मान है तथा साम्यवाद में प्राचीनता के प्रति घृणा, असम्मान और उपेक्षा है। साम्यवाद कलवादी है और गाँधीवाद मानव-वादी; बस यही दोनों का मूल अन्तर है। आने वाले भविष्य में जनता की रुचि साम्यवाद की ओर है, इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु भारत की वर्तमान परिस्थितियों में साम्यवाद कहाँ तक उसकी समस्यायों का हल निकाल सकता है यह प्रश्न विचारणीय है। पराधीनता के गहन गर्त से भारत को उभार कर जो वाद वर्तमान परिस्थिति तकलाया है वही भारत की समस्याओं का सही हल खोज सकताहै क्योंकि भारत-राष्ट्र की गिरावटों के मूल तत्त्वों को उसी ने भली प्रकार अध्ययन किया और समझा है।

भारत की पंचवर्षीय योजना

१. कोई कार्य करने से पूर्व उसकी योजना तय्यार करनी होती है, तभी उस कार्य के संचालन में उचित व्यवस्था आसकती है। उदाहरण के लिए यदि हमें कोई मकान बनाना है तो योजना तय्यार करने से पूर्व चार बातों पर विचार करना होता है। प्रथम तो हमें देखना होगा कि उस मकान को बनाने के लिए कितने धन की आवश्यकता है और वह धन अपने पास उपलब्ध है अथवा नहीं, दूसरे उस मकान को बनाने के लिए धन होने पर भी क्या वह सामग्री उपलब्ध है कि नहीं जिससे वह मकान बनता है, तीसरे उस मकान को कितना बड़ा होना चाहिए कि जिससे वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और चौथे स्थान पर हमें उसकी सौन्दर्य प्रियता पर ध्यान रखना होगा। इस प्रकार हमारी भवन निर्माण की इस योजना के यह चार प्रमुख अङ्ग बने।

२. भारत की पंचवर्षीय योजना पर विचार करने से पूर्व हमें चाहिए कि

हम इन्ही चार बातों पर ध्यान पूर्वक दृष्टि डालें। यह योजना भारत-सरकार के सन्मुख है और इसकी सभी देश और विदेश के प्रमुख व्यक्तियों ने प्रशंसा की है देश की उन्नति के प्रायः सभी उपलब्ध साधनों को इस योजना के अन्तर्गत रखा गया है। देश की जनता, उनके परिश्रम की क्षमता, उनकी बुद्धि और कलाकौशल तथा प्रवीणता इत्यादि पर भी ध्यान दिया गया है। भारत के प्राकृतिक साधनों पर विशेष रूप से यह योजना आधारित है और इन्हें हम इस योजना का रीड की हड्डी (Back-bone) कह सकते हैं। उक्त दो प्रधान वस्तुओं के अतिरिक्त पूंजीगत साधन भी कुछ कम महत्त्व नही रखते। पूंजीगत साधनों के ही अन्तर्गत हम देश की उपलब्ध फैक्ट्रियों, कारखानों, बिजलीघरों, जहाजों, रेलों, सड़कों, मोटरों, मकान-इमारतों और औजारों इत्यादि को भी लेते हैं। उक्त तीन प्रकार के साधनों में प्रथम दो प्रकार के साधन भारत में बहुतायत के साथमिलते हैं। व्यक्ति-धन और प्राकृतिक-धन से भारत भरा पड़ा है और यदि इन दोनों का संगठन के साथ नियोजन करलियाजाय तो तीसरे साधन की वृद्धि तो निरंतर होती ही चली जायगी। इसमें कोई संदेह नहीं। इसी दूर-दृष्टि को ध्यान में रखकर यह पंचवर्षीय योजना बनाईगई है और इसके कार्य रूप में संचालित करने के लिए विभिन्न प्रादेशिक सरकारों ने अपने पृथक-पृथक कार्य-क्रम तय्यार किये हैं। योजना की प्रमुख प्रमुख धाराओं पर नीचे हम संक्षेप में विचार करेंगे—

३. सिंचाई—भारत कृषि-प्रधान देश है, इसलिए देश की प्रथम आवश्यकता कृषि की उन्नति है। कृषि-क्षेत्र में उन्नति के लिए देश को प्रधान आवश्यकता फसल की समय पर सिंचाई होना है। विभिन्न प्रान्तों में सिंचाई की कई प्रकार की योजनाएँ तय्यार कीजारही हैं। नदियों से नहरें निकाल कर भूमि की सिंचाई करना तो पुरानी बात होगई। अब नदियों में स्थान-स्थान पर बाँध बना कर, उनसे बिजली निकाल कर बिजली से कुएँ बनाकर सिंचाई की महान योजना तय्यार की जा रही है और यह योजना अनेकों स्थानों पर सुचारू रूप से कार्य भी कर रही है। सरकारी योजनाओं के अतिरिक्त इस दिशा में विभिन्न प्रांतों की सरकारें किसानों को उनके व्यक्तिगत प्रयासों के लिए सहायता भी दे रही हैं।

४. बिजली—देश में सिंचाई योजना के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े उद्योग-धंधे चालू किए जा सकें और अधिकाधिक नगरों तथा ग्रामों को प्रकाश केलिए बिजली दीजासके, इस अभिप्राय से बिजली का अधिकाधिक उत्पादन करने का प्रयास किया जा रहा है। इस योजना के अंतर्गत देश में कई बड़ी-बड़ी योजनाओं पर कार्य हो रहा है और उनके फलीभूत होने पर देश में नवीन चमत्कार देखने को मिलेगा। बिजली की शक्ति ने आधुनिक युग में जो क्रांतिकारी परिवर्तन किया है वह किसी की दृष्टि से छुपा हुआ नहीं है। भारत में इस शक्ति

के उत्पादन के लिए प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं है और आज भारत सरकार उन साधनों का शीघ्रातिशीघ्र प्रयोग करने की ओर विशेष ध्यान देरही है।

५. **खेती और पशु-धन की उन्नति**—खेती के क्षेत्र में नवीन प्रकार के यंत्रो का प्रयोग किया जा रहा है। सरकार इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील है। अच्छे बीज के लिए सरकारी सोसाइटियों से किसानों को बीज दिया जाता है। अच्छे खाद का भी प्रबन्ध सरकार ने अपनी ओर से किया है और सिंधरी में खाद का एक बहुत बड़ा कारखाना सरकार ने तय्यार किया है, जो कि एशिया का अपने ढंग का सबसे बड़ा कारखाना है। इस दिशा में सरकारी और गैर सरकारी प्रयत्नों से जनता के हित को ध्यान में रखकर कार्य-संचालन हो रहा है। अच्छे और स्वस्थ्य जानवरों के लिए भी सरकार की ओर से प्रबन्ध किया जा रहा है। बड़ी-बड़ी डेरियां खोलीगई हैं और इन्डियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल-रिसर्च के अन्तर्गत अमरीकी सहयोग द्वारा भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य हो रहा है। इस दिशा में सरकारी प्रयत्नों की अपेक्षा जनता का सहयोग सराहनीय है। अच्छी फसलों की नुमाइशें होती हैं और अच्छे पशुओं के मेले लगायेजाते हैं। इनमें सरकार की ओर से विशेष उन्नति करने वाले किसानों को पुरस्कृत करके उन्हें उत्साहित किया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत देश के पशु-धन और खेतों को उन्नत करने का कार्य-संचालन हो रहा है।

६. **यातायात**—हमारे देश में यातायात की व्यवस्था बहुत खराब है। देश छोटे-छोटे ग्रामों में बँटा पड़ा है जहाँ से माल को मंडियों तक लेजाने और अन्य प्रकार के छोटे-बड़े उद्योग-धंधों को उन्नत करने के लिए उचित यातायात-साधनों की आवश्यकता है। इस दिशा में भी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कार्य प्रारम्भ हो गया है। यातायात के साधनों में वृद्धि होने पर देश की आर्थिक उन्नति होगी और व्यापार को सहायता मिलेगी।

७. **जन-स्वास्थ्य**—उक्त साधनों के उपलब्ध होने या उन्हें उपलब्ध करने के लिए हमारे देश की जनता का स्वास्थ्य ठीक होना परमावश्यक है। जन-बल हमारे देश की महान् शक्ति है जिसका सही उपयोग करने के लिए उसे स्वस्थ्य रखना होगा। इस दिशा में भी पंचवर्षीय योजना के अतर्गत एक व्यवस्थित योजना तय्यार की गई है। देश की जनता को हृष्ट-पुष्ट, शक्तिशाली, और परिश्रम करने योग्य बनाने के लिए पौष्टिक भोजन का मिलना, समय पर औषधियों का मिलना और शहर तथा नगरों में सफाई और स्वच्छता का रहना नितान्त आवश्यक है। समय-समय पर फैलने वाली बीमारियों की रोक-थाम करना भी इस योजना का एक अंग है।

८. **शिक्षा**—जनता की योग्यता की उन्नति के लिए उक्त सब बातों के साथ

शिक्षा का प्रबन्ध होना भी नितान्त आवश्यक है। इस योजना के अन्तर्गत बच्चों तथा प्रौढ़ों को सुशिक्षित बनाने के लिए नई-नई प्रकार की शिक्षा-योजनाओं का का प्रसार किया जा रहा है। इसमें सामाजिक-शिक्षा का विशेष स्थान है जिसके अंतर्गत भारत की प्रौढ़ जनता को नागरिक ज्ञान करानेका प्रयत्न सराहनीय है शिक्षा की उन्नति से ही हमारा देश उन्नति कर सकेगा यह अटल सत्य है परन्तु यह शिक्षा आज अंगरेजी-शासन-काल की ही भाँति चलरही है, यह खेद है। कुछ परिवर्तन इस दिशा अवश्य हुआ है परन्तु बहुत कम। विभिन्न प्रकार के कारीगरी के स्कूलों की स्थापना की जा रही है जिनमें किताबी ज्ञान के साथ ही साथ दस्तकारी भी सिखलाई जाती है।

९. **पिछड़े और सुविधा रहित लोगों की उन्नति**—पंचवर्षीय योजना के अन्दर हरिजन तथा देश की अन्य पिछड़ी हुई जातियों के उत्थान की ओर भी पूर्ण ध्यान रखाजारहा है। इसके लिए निःशुल्क शिक्षा छात्र- वृत्तियों की व्यवस्था, हुनर और पेशे संबन्धी प्रशिक्षण के केन्द्र खोलना, खेती के काम में लगाना, उनकी बस्तियों को उन्नत बनाना, बस्यिों में सड़कों तथा रास्तों का सुधार करना, कुएँ बनवाना इन सब ओर ध्यान दियाजायगा।

१०. **बहुधंधी सामूहिक योजनाएँ**—बहुधंधी सामूहिक योजनाओं के अन्तर्गत गाँव वालों को उनकी उन्नति के अनुकूल वातावरण बनाने के लिए आवश्यक साधन जुटाए जाँयगे। नये अनुसंधानों और आधुनिक ढंग के विशेष ज्ञान का लाभ गाँव वालों को प्राप्त हो इस प्रकार का भी प्रबन्ध इस योजना के अंतर्गत किया जायगा। इन सामूहिक योजनाओं में नई सड़कें बनाना, अधिक अन्न उपजाना, बच्चों तथा प्रौढ़ों को शिक्षित करना, पशु-धन की उन्नति करना इत्यादि कार्यवाहियों पर बल दियाजायगा।

११. **समाज सेवा के लिए प्रशिक्षण**—ग्राम-सुधार का ठोस कार्य-सम्पादन करने के लिए कार्य-पटु-व्यक्तियों के प्रशिक्षण के लिए भी नियोजन किया गया है। काम के हर स्तर पर ऐसे योग्य और प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता है। इन व्यक्तियों में सेवा की भावना और लगन होनी आवश्यक है। लगन के साथही उनका योग्य और अनुभवशील होना भी नितान्त आवश्यक है। इन व्यक्तियों को खेती, पशु-पालन, स्वास्थ्य, सफाई, सामाजिक शिक्षा आदि के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

१२. इस प्रकार उक्त विभिन्न धाराओं के अन्तर्गत भारतीय सरकार की पंचवर्षीय योजना संचालित हो रही है। इस योजना से देश और विदेश के प्रायः सभी लोग प्रभावित हुए हैं और भारत के भविष्य का बहुत ही चमत्कृत रूप में हमें स्वप्न सदृश देखने को मिलता है। यह योजना केवल सरकार के कन्धों पर बन्दूक

चलाने से कभी भी फलीभूत नहीं हो सकती है। सरकारी आयोजनों के साथ-साथ जनता के सहयोग की इसमें नितान्त आवश्यकता है और यदि सरकार तथा जनता सहयोग करके इस क्षेत्र में अग्रसर हों तो कोई कारण नहीं है कि यह योजना सफलतापूर्वक पूर्ण न हो।

ब्रिटेन, अमरीका तथा रूस की शासन-प्रणालियाँ

आज संसार की राजनीति में ब्रिटेन, अमरीका और रूस का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूस और अमरीका राजनीति संचालन के दो प्रधान केन्द्र ब्रिटेन अमरीका के साथ है। इस निबन्ध में हम इन तीनों देशों की शासन-प्रणालियों पर विचार करेंगे।

१. **ब्रिटेन**—ब्रिटेन में वंश-परम्परा के आधीन राजा गद्दी पर बैठता अवश्य चला आ रहा है परन्तु उसके अधिकार सीमित होते हैं। ब्रिटेन का राजा प्रोटैसटैन्ट ही हो सकता है, रोमनकैथोलिक नहीं। राजा जो कुछ भी करता है वह पार्लियामेंट की अनुमति से करता है, और वह पार्लियामेंट की इच्छा को अस्वीकार नहीं कर सकता। मंत्रियों के परामर्श द्वारा राजा पार्लियामेंट को भंग कर सकता है और किसी भी प्रस्ताव को पार्लियामेंट के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकता है। राजा के पास अपने कार्य-संचालन के लिए हाउस आफ कामन्स—जनता-गृह और हाउस आफ लार्ड्स—राजकीय-गृह होते है। जनता-गृह का नेता प्रधान-मंत्री कहलाता है। प्रधान-मंत्री अन्य मन्त्रियों का चुनाव करता है और राजा फिर उन्हें स्वीकार कर लेता है। राजा को निजी व्यय के लिए एक लाख दस हजार पौंड वार्षिक मिलता है।

ब्रिटेन के जनता-ग्रह में ६३५ सदस्य होते हैं और यह सभी मतदाताओं के चुने हुए होते हैं। ब्रिटेन में हर २१ वर्षीय व्यक्ति को जिसका मस्तिष्क ठीक है, मत देने का अधिकार होता है। वार्षिक बजट इसी गृह में स्वीकृत होता है जनता-गृह के अधिकार हर क्षेत्र में बहुत व्यापक हैं और राजकीय-गृह के सीमित। राजकीय-गृह में यदि कोई प्रस्ताव स्वीकृत न भी हो तो वह दुबारा जनता-गृह में स्वीकृत होने पर स्वीकृत समझा जायगा। जनता-गृह के सदस्यों को ६०० पौं० वार्षिक वेतन मिलता है। प्रत्येक पांचवें वर्ष इस गृह का चुनाव होता है। राजकीय-गृह में ७४० सदस्य होते हैं। इन सदस्यों का चुनाव नहीं होता, बल्कि वंश-परम्परा से अधिकार प्राप्त होते हैं, और कुछ सदस्य राजा द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यह गृह भी आजकल राजा की ही भाँति सम्मान का ही सूचक रह गया है क्योंकि इस के अधिकार कुछ नहीं हैं।

देश का शासन-प्रबन्ध मन्त्रिमण्डल द्वारा होता है और मंत्रिमण्डल का

चुनाव प्रधान-मन्त्री करता है । प्रधानमंत्री जनता-गृह की बहुमत वाली पार्टी का नेता होता है । राजा मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति देता है । इस मन्त्रिमण्डल में तीन मन्त्री राजकीय-गृह से और शेष जनता-गृह से लिये जाते हैं । पार्लियामेंट में बहुमत न रहने पर मन्त्रि-मण्डल को त्याग-पत्र देना होता है । प्रधानमन्त्री को वार्षिक वेतन १०,००० पौंड मिलता है । यह शासन प्रणाली जनतंत्रात्म कहलाती है क्योंकि इसमें जनता के प्रतिनिधियों द्वारा कियेजानेवाले शासन में राजा हस्तक्षेप नहीं कर सकता ।

२. अमरीका—पहिले अमरीका ब्रिटेन का एक उपनिवेश था परन्तु आज वह ४६ स्वतंत्र राज्यों का एक संघ है। यह राज्य अपने आँतरिक कार्यों में स्वतन्त्र है। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका का एक प्रधान होता है और शासन का अधिकतर कार्य-भार प्रधान पर ही रहता है। यह चार वर्ष के लिए चुना जाता है और चार वर्ष पश्चात् फिर नया चुनाव होता है। यह प्रधान कम से कम १४ वर्ष से संयुक्त राष्ट्र का निवासी होना चाहिए और उसकी आयु भी ३५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए प्रधान की मृत्यु अथवा उसके त्याग-पत्र देने पर उपप्रधान कार्य को सँभालता है । ४६ राज्यों के प्रतिनिधि मिल कर प्रधान और उपप्रधान का चुनाव करते हैं। प्रधान का वार्षिक वेतन उसके जेबखर्च सहित एक लाख डालर मिलता है। उप-प्रधान को १५ हजार डालर मिलता है और यह सीनेट का प्रधान होता है। प्रधान कांग्रेस के प्रस्ताव को पुनर्विचार के लिए भेज सकता है। प्रधान केवल सीनेट की सम्मति से विदेशों से सन्धि कर सकता है। राष्ट्र की सेना का अध्यक्ष भी प्रधान ही होता है। अमरीका के मंत्रिमण्डल में १७ मंत्री होते हैं जिनकी नियुक्ति सीनेट की स्वीकृति से प्रधान ही करता है। इस मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक मन्त्री का वार्षिक वेतन १५ हजार डालर होता है।

संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में एक प्रतिनिधि-गृह होता है और दूसरा सीनेट। प्रतिनिधि-ग्रह से सदस्य दो वर्ष केलिए चुने जाते हैं। प्रतिनिधि-कोर्ट यदि किसी पर अभियोग लगाता है तो वह अभियोग सीनेट में सुना जाता है। इस शासन-प्रणाली में शासक वर्ग, सुप्रीमकोर्ट और कांग्रेस के अधिकार पृथक हैं। सीनेट में प्रत्येक राज्य के दो प्रतिनिधि रहते है जो कि वहाँ की जनता चुनकर भेजती है। इनकी अवधि ३ वर्ष की होती है। सीनेट का सदस्य बनने वाले व्यक्ति के लिए यहआवश्यक है कि वह उस राज्य का नौ वर्ष से नागरिकरहा हो और उस की आयु तीस वर्ष हो। सीनेट के हर सदस्य को १० हजार डालर प्रतिवर्ष वेतन मिलता है। इसका प्रकार अमरीका का शासन-प्रबन्ध चलता है।

३. सोवियत रूस—सोवियत रूस ११ स्वतंत्र राज्यों में विभाजित है। ११ स्वतन्त्र राज्यों का यह संघ यूनियन आफ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक (U

S. S. R.) कहलाता है। इस संघ के प्रत्येक राज्य को स्वतंत्रता है कि वह जब चाहे संघ से प्रथक होकर अपनी स्वतंत्रता स्थापित कर सकता है। रूस की वर्तमान शासन-प्रणाली निम्नलिखित रूप से चलती है —

१. सुप्रीम कौंसिल या प्रैजीडियम।

२. व्यवस्थापिका सभा।

(क) कौंसिल आफ यूनियन।

(ख) कौंसिल आफ नेश्नेलेटीज--प्रतिनिधि-गृह।

रूस के प्रतिनिधि-गृह में सब राज्यों के चुने हुए सुप्रीम कौंसिलों के प्रतिनिधि आते हैं। कौंसिल आफ यूनियन के और कौंसिल आफ नेश्नेलेटीज—दोनों गृह मिलकर एक बड़ी कौंसिल का चुनाव करते हैं। प्रेजीडियम के अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। शासन मन्त्रिमण्डल सम्भालता है परन्तु उसकी नियुक्ति इसी प्रेजिडियम द्वारा होती है। सुप्रीमकोर्ट की नियुक्ति भी इसी के द्वारा होती है। मन्त्रिमण्डल के निश्चयों पर विचार करना और युद्ध आदि विशेष महत्वपूर्ण मामलों पर अंतिम निर्णय प्रेजीडियम द्वारा ही होता है। यह मन्त्रिमण्डल के प्रस्तावों को भी रद्द कर सकती है। इस सभा में प्रधान, उपप्रधान, मन्त्री और इनके अतिरिक्त ३१ और सदस्य रहते हैं।

रूस में कम्यूनिस्ट शासन है साम्यवादी सिद्धान्त से अनुप्राणित शासन-व्यवस्था द्वारा आज रूस का राज्य-कार्य-संचालन हो रहा है। रूस में साम्यवादी दल का संगठन उसी प्रकार है जैसे भारत में काँग्रेस का। साम्यवादी पार्टी का संगठन रूस में उसकी शाखाओं और उपशाखाओं द्वारा जालकीतरह देश भर में बिछा हुआ है। संघ की केन्द्रीय कार्यकारिणी से कुल पांच सदस्य हैं और यही पाँचों राज्य की केन्द्रीय कार्यकारिणी को चलाते हैं। इसका प्रमुख नेता प्रधानमन्त्री कहलाता है और राष्ट्र की समस्त शक्ति उसी के हाथों में रहती हैं। सरकारी मन्त्रियों की नीति का निर्देशन यह साम्यवादी कार्यकारिणी करती है। इस प्रकार साम्यवादी दल का प्रधानमन्त्री ही रूस में अंततोगत्वा सबसे बड़ी शक्ति का केन्द्र हुआ।

रूस आज ६० विभिन्न राष्ट्रों और जातीय समूहों का साम्यवादी संघ है। मत देने के क्षेत्र में पूंजीपति का श्रमिक पर किसी प्रकार का दबाव नहीं। जाति और रंग का भेदभाव रूस में नहीं मिलता। अमरीका में बहुत से अंग्रेजी न जानने वाले नीग्रो मताधिकार से वंचित हैं। परन्तु रूस में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हैं। प्रत्येक १८ वर्ष के नर-नारी को मताधिकार है और प्रत्येक २३ वर्ष का नर-नारी सर्वोच्च-सोवियत का प्रतिनिधि चुना जा सकता है। रूस के प्रत्येक प्रतिनिधि को लैनिन के आदर्शों पर चलने की प्रतिज्ञा लेनी होती है। साम्यवादी शासन-प्रणाली के अन्तर्गत रूस ने गत वर्षों में आशातीत उन्नति की है। इस समय ३

करोड़ ४० लाख छात्र १०० से अधिक भाषाओं में बिना शुल्क विद्या अध्ययन कर रहे है। इस प्रकार रूस की शासन-व्यवस्था का ढांचा सुचारू रूप से चल रहा है। इस शासन-व्यवस्था में रूस उन्नति कर रहा है और यही शासन-व्यवस्था अब चीन में भी पहुँच गई है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मोनविज्ञान के क्षेत्र में आज फ्रायड, जङ्ग और एडलर (Freud, Junj, Adler) की विचारधारायें प्रधान रूप से सामने आती हैं। यह भी हम कह सकते हैं कि ये तीन स्कूल (School) प्रचलित हैं। और जो बाद के विचारक आये हैं उन्होंने इन्हीं तीनों महानुभावों के विचारों के कुछ संकेतों को इधर-उधर करके काम चलाया है, कोई नई विचारधारा लेकर वे आये हों ऐसा नहीं है। जिस सिद्धान्त पर तीनों व्यक्ति सहमत हैं वह यह है कि यदि सब नहीं तो बहुत सी हमारे मस्तिष्तक की स्थितियां और बहुत से हमारे काम व्यापक रूप से अचेतन (Unconscious) मस्तिष्क की इच्छाओं और यादगारों द्वारा निर्धारित होती हैं। फ्रायड (Freud) ने जीवन में प्रेम (Love) और सेक्स-सम्बन्ध (Sex-relationship) की प्रधानता पर जोर दिया है। जङ्ग (Junj) और उसके शिष्य वर्ग ने मनुष्य की जीवन-शक्ति (Libido or Life force) पर बल दिया है एडलर (Adler) ने मनुष्य की सुरक्षा (Self preservation of expression) और भाव-व्यंजना जिसके द्वारा आदमी में हीनता की भावना (Inferiority Complex) पैदा होती है, को बल दिया है। मनोविज्ञान का विषय काफी जटिल और टेक्नीकल (Technical) है यहां हम इस विषय की प्रधान बातों पर प्रकाश डालेंगे।

१. हमारी बहुत सी भावनाएँ और बहुत से काम ऐसे होते हैं जिनका कारण खोजना हमारे लिए कठिन है। वे काम हो जाते हैं और हम नहीं जानते कि वे किस कारण हुए। उन कामों पर इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ कारणों का प्रभाव अवश्य होगा परन्तु उन कारणों का परिचय हमारे चेतन-मस्तिष्क से नहीं होता। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से पता चलता है कि हमारे मस्तिष्क का एक क्रिया-शील भाग होता है जिससे कि हम अपरिचित हैं। यह हमारे उनकामों पर भी प्रभाव डालता है जिन्हें कि हम अपने चेतन मस्तिष्क से खूब सोच समझ कर करते हैं। मस्तिष्क कि यह अचेतन क्रिया-शीलता एक उलझे हुए ढंग से हमारे स्वप्नों इत्यादि में प्रकट होती है और फिर हम उसकी पिछली गति-विधि पर विचार कर सकते हैं कि इसका किस प्रकार प्रभाव पड़ता है।

२. अचेतन इच्छाएँ मस्तिष्क की अस्थिरता और यहां तक कि पागलपन-के सबल कारण हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से इन अचेतन मस्तिष्क की इच्छाओं को चेतन मस्तिष्क की इच्छाओं में परिणित किया जा सकता है। इस प्रकार ये इच्छाएँ अस्थिर न होकर स्थिर हो जाती हैं और उनका मुकाबिला किया जा सकता है। इच्छाओं की इस अनिस्थर गुत्थी को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा सुलझाया जासकता है। इस तरीके से बहुत से केस बहुत कामयाबी के साथ ठीक किये जा चुके हैं।

३. नियतिवाद का सिद्धान्त (Principle of Determinism) अर्थात् जो कुछ भी मौजूद है या क्रियान्वित होता है वह बहुत से कारणों का परिणाम है और उन कारणों को खोजाजासकता है यह भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में एक बहुत ही कामयाब अनुमान है। मनोवैज्ञानिक घटनाओं के आधार पर यह सत्य भी साबित हो चुका है। यदि यह सत्य नहीं है तो मनोविज्ञान कोई विज्ञान ही नहीं है। फिर हम यह कह ही नहीं सकते कि यदि एक घटना होती है तो उसका अनुकरण दूसरी द्वारा होगा और इस प्रकार सिलसिला बंधता ही जायेगा।

४. मनोविज्ञान के प्रधान सिद्धान्त की मान्यता विश्व भर के आदि और वर्तमान मानव पौराणिक उपाख्यानों, रीतिरिवाजों, विश्वासों और व्यवहारों का विश्लेषण करके प्रमाणित की जा चुकी है। उन सभी में कभी हमें मस्तिष्क की अचेतन अवस्था का प्रभाव उनके सब कामों पर दिखलाई देता है।

५. मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा मनुष्य अपने विचार और चरित्र पर पूरी तरह विश्वास करसकता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा मनुष्य की नासमझी दूर होजाती है।

६. मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क की तीन स्थितियाँ मानते हैं—चेतन, अवचेतन और अचेतन (conscious, subconscious and unconsious)। मस्तिष्क इन तीनों ही स्थितियों में फर्क करता रहता है। मस्तिष्क की चेतन स्थिति बहुत स्पष्ट है जिसे समझने की आवश्यकता नहीं। वह खाना खाने का विचार करता है और खाना खाने लगता है, पानी पीने का विचार करता है और पानी पीने लगता है ये सब चेतन अवस्थाके काम हैं। परन्तु यदि एक व्यक्ति घूमनेके लिए निकला है और घूमता-घूमता दूर निकलगया है। कभी-कभी ऐसा होता है कि आदमी एक तरफ जाने के लिए निकलता है और चलता-चलता न जाने कहाँ निकल जाता है। कुछ सोचता जाता है और चलता जाता है। इस दशा में वह अचेतन भी नहीं है और चेतन जैसा निश्चित् कार्य भी नहीं कररहा। इस स्थिति में विचार स्थिर न रहकर बराबर बदलता जाता है और इच्छा भी वैसी ही बनती जाती है। यह कार्य इतना चेतन अवस्था का नहीं होता कि ठीक दस बजे दफ्तर

पहुँचना है और उसकी ठीक समय पर तय्यारी करके व्यक्ति साढ़े नौबजे खाना खाकर साइकिल उठाता है और दस बजने में पांच मिनट पर दफ्तर में दाखिल हो जाता है। यह मस्तिष्क की निश्चित स्थिति है। इन दो स्थितियों के अतिरिक्त मस्तिष्क की तीसरी स्थिति अचेतन की रहती है जिसमें मानलिया कोई व्यक्ति घूमने जाता है और उस स्थान पर पहुँच जाता है जहां वह अपनी स्त्री के साथ जायाकरता था। दुर्भाग्यवश आज उसकी स्त्री जीवित नहीं है। उस स्थान पर पहुँचते ही उसके अचेतन मस्तिष्क से दबी हुईं वे सब प्राचीन स्मृतियां जाग्रत हो उठती हैं जिनका सम्बन्ध उस स्थान, उसकी स्त्री और उससे है। उसे प्राचीन सभी घटनाएँ स्मरण हो आती हैं। मस्तिष्क की यह तीसरी स्थिति है।

इन्हीं तीनों स्थितियों में मनुष्य का मस्तिष्क काम करता है और इन्हीं के आधार पर सिलसिलेवार मनुष्य के कामों का विश्लेषण कियाजासकता है। कामों की एक श्रंखला होती हैं जिनका प्रभाव एक का दूसरे पर पड़ता चला जाता है। मनुष्य का मस्तिष्क इन तीनों स्थिति में से किसी एक, दो या तीनों में ही हर समय काम करता रहता है।

हमारे ज्ञान-प्राप्ति के साधन

१. ज्ञान प्राप्ति के तीन प्रधान साधन हैं (१) इन्द्रिय-जन्य ज्ञान (२) तर्क-जन्य ज्ञान (३) और अनुभूति-जन्य ज्ञान।

२. इन्द्रिय-जन ज्ञान सबसे साधारण है और वह मोटी से मोटी बुद्धि वाले व्यक्ति को भी प्राप्त हो सकता है। आँखों से देखने, कानों से सुनने, हाथों से छूने इत्यादि का ज्ञान इस श्रेणी के अन्तर्गत आयगा।

३. तर्क-जन्य ज्ञान का मूल स्रोत बुद्धि हैं। पश्चिम के मनीषी तर्क-बुद्धि और विज्ञान का आश्रय लेकर ज्ञान की चरम-सीमा को प्राप्त करनाचाहते हैं। परन्तु पूर्वी विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं। यह तर्क और बुद्धि से ऊपर भी कुछ मानते हैं। जहाँ तक तर्क का क्षेत्र है उसका नाम आपने दर्शन इसीलिए रखा है कि उसके द्वारा ज्ञातव्य विषय का केवल दर्शन भर ही होसकता है उसके रहस्यों का उद्घाटन नहीं हो सकता।

४. किसी भी वस्तु के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस वस्तु को एकात्मा स्थापित करने की आवश्यकता है और यह एकात्म स्थापित करना अनुभूति-जन्य ज्ञान के अन्तर्गत आता है। हिन्दू-शास्त्रों में इस प्रकार के ज्ञान को 'प्रज्ञान', 'प्रतिमा', 'आर्ष-ज्ञान', 'सिद्ध-दर्शन', 'योगी' प्रत्यक्ष इत्यादि नाम दिये गये हैं।

५. पश्चिमी-विचारकों में जड़ तत्व की प्रधानता मिलती है और पूर्वीय विचारकों में अध्यात्म तत्व की ।

६. ज्ञान-प्राप्ति के इन तीनों साधनों में तर्क-जन्य और अनुभूति-जन्य प्रगाढ़ विषयों पर विचार करने के लिए प्रधान साधन हैं। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में भी किसी को प्रधानता दी जाय ?

७. ऋषियों ने विद्या को 'परा' और 'अपरा' दो शब्दों में रखा है। 'परा' के अन्तर्गत ऋग वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, और ज्योतिष-ज्ञान आते हैं। ऋषियों ने इस अक्षर-ज्ञान को परम-ज्ञान माना है और यह भी माना है कि इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। अपरा ज्ञान के अन्तर्गत आत्मानुभूति आती है।

८. 'परा' और 'अपरा' दोनों ज्ञान में से किसे पूर्ण कहें और किसे अपूर्ण, यह प्रश्न विचारणीत है। वास्तव में पूर्ण एक भी नहीं है। यह प्रश्नों के स्पष्टी-करण मात्र हैं, प्रश्नों के हल नहीं। सभी प्रधान विचारकों ने अपने-अपने ज्ञान को पूर्ण माना है, ज्ञान वह है जो पकड़ में आजाय और सत्य ज्ञान ध्यापक होते हैं इसी लिए पकड़ में नहीं आते।

९. केवल सत्य-साधन द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और जो प्रश्न असाध्य हैं उनका सत्य-साधन द्वारा स्पष्टीकरण हो सकता है।

१०. अन्त में पूर्वीय और पश्चिमीय ज्ञान की साधारण समीक्षा प्रस्तुत करनी चाहिए ।

समाज और राजनीति में धर्म का स्थान

१. मानव जीवन में यदि संसार के इतिहास पर दृष्टि डालें तो तीन प्रधान तत्वों के अधीन विश्व काकार्य क्रम चलता आया है। कभी धर्म की प्रधानता होती है, कभी अर्थ की और कभी राजनीति की।

२. सृष्टि के प्रारम्भिक युगों में मानव की आस्था ईश्वर में अधिक होने के कारण प्रत्येक देश में और शासन-व्यवस्था में धर्म की प्रधानता रहती थी, धर्माचार्यों का प्रभुत्व रहता था। प्रारम्भ में यह धर्माचार्य निस्वार्थ भाव से मानव, जाति और देश के उत्थान के लिए त्यागी बन कर सेवाभाव से इस प्रधान आसन को ग्रहण करते थे और यही कारण था वि राजे महाराजे भी उनके चरण छूते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे।

३. इसका फल यह हुआ कि धर्माचार्यों का महत्त्व बढ़ गया, और जनता पर उनका प्रभाव हो गया। राजगद्दियों की भाँति धर्म की भी गद्दियाँ बन गई और उसमें शक्ति को संगठित करने की भी भावना प्रधान हो गई । प्रारम्भ म

राजे, महाराजे; सरदार और प्रजा जो धर्माचारियोंका आदर करतेथे वह उनके उच्च आचरण, पाँडित्य और निस्वार्थ सेवा के लिए करते थे। परन्तु अब उसके स्थान पर धार्मिक मठों में रांजाओं से भी अधिक ठाठ-बाट थे, शृंगार था और यदि यह भी कह दिया जाय कि यह व्यभिचार के अड्डे बन गये थे तो अनुचित न होगा। भगवान के नाम पर धन, भोग-विलास और ऐश्वर्य मठाधीशों को प्राप्त होता था।

४. इन आचरणों के कारण धर्म से आस्था उठने लगी। राजपद और धर्मपद के बीच संघर्ष छिड़ गया। कुछ विश्वासी जनता ने धर्म का साथ दिया और राजा ने अपनी शक्ति का उपयोग किया। यह संघर्ष यूरोप में प्रधान रूप-से चला और फलस्वरूप धार्मिक पोप की महत्ता नष्ट हो गई।

५. स्वाधीन देशों में धर्म की प्रधानता राजनैतिक क्षेत्र से समाप्त हो गई परन्तु पराधीन देशों में वह जनता के बीच बराबर चलती रही। भारत जैसे देशोंमें जहाँ कई धर्मों के व्यक्ति रहते हैं वहाँ शासकों ने इस अस्त्र को पारस्परिक फूट पैदा करने के लिए भी अपनाया। परन्तु मानव प्रगतिशील है और मानव के साथ समाज और शासन व्यवस्थाएँ चलती है। शासन व्यवस्थाओं में परिवर्तन होने पर राजपद, और अन्त में साम्राज्यवाद का भी अन्त-सा हो गया। जिसके फलस्वरूप भारत जैसे देश स्वतंत्र हुए और यहां भी साम्राज्यवाद के अन्तिम चरण में धर्म ने अपना काँड दिखाया जिसके फलस्वरूप लाखों मुसलमान और हिन्दू दानव बनकर मानवों पर टूटपड़े। देशका विभाजन हुआ और उसने एक ऐसी अव्यवस्था को जन्म दिया जिससे भारत और पाकिस्तान की शासन-व्यवस्था आज तक नहीं सम्भल सकी।

६. आज धर्म स्वार्थ के लिए है, पाखंड के लिए है, शक्ति छीनने के लिए है—मानव उत्थान के लिए नहीं, आत्म-बल के लिए नहीं, शुद्धाचरण के लिए नहीं। वर्तमान धर्म पर प्रारम्भिक धर्माचार्यों का प्रभाव न होकर मध्ययुग के धर्माचार्यों का प्रभाव है और जनता चल रही है बुद्धिवाद की ओर। धर्म बुद्धिवाद की ओर से रूढ़िवाद की ओर चला है। इसलिए आज मानव और धर्म में टक्कर हो रही है। और जब तक धर्म अपने रूढ़िवाद को छोड़ कर बुद्धिवाद की तरफ़ चलना प्रारम्भ नहीं कर देगा उस समय तक यह टक्कर बराबर चलती रहेगी। यह टक्कर दोनों भावनाओं के समन्वय-क्षेत्र में ही जाकर रुकेगी।

हिन्दू-समाज में विवाह-बंधन

१. यौन-व्यवहार पर प्रतिबन्ध का नाम विवाह है जिसके मूल में परिवार की भावना निहित है। मानव जाति के प्रारम्भिक-काल में जब विवाह की व्यवस्था

नहीं थी तो सभी नर-नारी पारस्परिक यौवन-व्यवहार के लिए स्वतन्त्र थे। आज संसार की किसी भी सभ्य अथवा असभ्य जाति में यह नहीं है।

२. स्त्री पर संदेह और अधिकार, वात्सल्य प्रेम, भ्रातृ स्नेह, पारस्परिक सद्भाव और सहयोग इत्यादि मनोवृत्तियों ने विवाह की भावना को जन्म दिया। विवाह के मूल में यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

३. विवाह से परिवार बना। परिवार तीन प्रकार का हो सकता है। पुरुष और स्त्री का एक विवाह-मूलक; पुरुष का एक से अधिक विवाह-मूलक तथा स्त्री का एकसे अधिक विवाह-मूलक।

४. भारतीय संस्कृति में पहले प्रकार का परिवार सबसे अच्छा माना जाता है और फिर दूसरे प्रकार का परिवार आता है। तीसरे प्रकार का तो समाज और धर्म से गिरा हुआ माना जाता है। दूसरे प्रकार के विवाह पर भी कुछ प्रान्तीय सरकारों ने प्रतिबन्ध लगा दिया है।

५. परिवार के इस विधान ने सामाजिक और धार्मिक रूप ग्रहण करके अपनी महत्ता को बढ़ाया और धीरे-धीरे समाज का यह सब से आवश्यक और महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध बनकर मानव-जीवन का नियामक बन बैठा। आज विवाह जीवन आवश्यकता है, मानव की आवश्यकता है, समाज की आवश्यकता है और धर्म तथा राजनीति की आवश्यकता है। बिना विवाह के मनुष्य का जीवन अधूरा है और वह जीवन के वास्तविक सुख-दुखों वंचित हैं।

६. व्यवस्था-पूर्ण मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए समाज ने विवाह की प्रथा को स्वीकार किया। आज समाज का आधार परिवार है। आज विवाह और परिवार की व्यवस्था पर समाज के रहन-सहन शिक्षा-दीक्षा इत्यादि का भार रहता है और समाज को इन सब प्रारम्भिक आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करनी होती। प्रत्येक परिवार अपने-अपने बच्चों का पालन-पोषण, पढ़ाना-लिखाना और योग्य बनाने का कार्य स्वयं करता है और वात्सल्य-प्रेम के कारण अपनी पूर्ण कर्तव्य परायणता से काम लेता है।

७. विवाह में मिलन है, व्यवस्था है, संगठन है, प्रगति है, उत्साह है और अबाध यौन-संगम में उच्छृंखलता है, कलह है, अनुत्तरदायित्व है, कठोरता है और प्रगति का अंत है। समाज की एक निश्चित भित्ति का आधार पा कर मानव को जीवन में उन्नति करने का सहारा मिलता है। इसलिए संसार की जितनी भी प्रगति है-उसके मूल में विवाह और पारिवारिक निश्चिन्तता आती है।

८. आजके नवीन युग में नारी को मुक्त करने की भावना पर बल दिया जा रहा है। यह अवस्था परिवार की व्यवस्था से पूर्व अवश्य रही होगी परन्तु मानव उस समय पशुओं से किसी प्रकार कम नहीं था। आज यदि मानव को पारिवारिक

बन्धन से मुक्त कर दिया जाय तो वह जड़ हो जायगा और उसकी चेतना समाप्त हो जायगी। न उसमें प्यार रहेगा, न क्रोध, न उत्साह रहेगा और न महत्वकांक्षा। मानव-मुक्त होकर भलाई-बुराई का ज्ञान भी त्याग देगा और स्वार्थी बन जायगा। मानव का विकास रुक जायगा, समाज की प्रगति नष्ट हो जायगी और राष्ट्र पतन को प्राप्त होने लगेगा।

९. स्त्री के प्रति प्रेम और सम्मान की भावना नष्ट होकर वासना का उदय होगा और वही भावना नारी शब्द का पर्यायवाची शब्द बनकर रह जायगी कि दुःख-दर्द में कोई पानी देने वाला और नाम लेने वाला भी उपलब्ध न होगा। जीवन नीरस होकर रह जायगा। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में विवाह को इतना महत्वपूर्ण स्थान देकर धार्मिक प्रतिबन्धों में इस प्रकार जकड़ दिया गया है कि मानव बन्धन में मुक्ति का आनन्द प्राप्त कर सके। धर्म-विहीन विवाह में न तो मर्यादा ही है और न स्थायित्व ही। वही जिस प्रकार सुगमता से रजिस्ट्रार के सम्मुख जाकर स्थापित किया जा सकता है उसी प्रकार उसी के सम्मुख जाकर समाप्त भी किया जा सकता है।

१०. स्त्री और पुरुष की प्रतिष्टा विवाह में है या तलाक में, अन्तिम प्रश्न यही सोचने का रह जाता है। विवाह की स्वतंत्रता समाज की कमजोरी है, उच्छृंखलता है, मानव का ह्रास है, हतन है। वहां उन्नति के लिए स्थान नहीं। विवाह की आस्था समाप्त होते ही वात्सल्य, भ्रातृत्व, पितृत्व, गृह इत्यादि की सब भावनाएँ समाप्त होजायँगी।

मुद्रा-प्रसार का मँहगाई पर प्रभाव

१. युद्ध काल में लोगों का सरकार पर से विश्वास उठा, सरकार ने अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए मनमाने नोट छापे और फलस्वरूप मुद्रा-प्रसार के कारण चीजों के मूल्य बढ़ने प्रारम्भ हो गये।

२. जनता मुद्रा-प्रसार का जैसा-जैसा अनुमान लगाती गई वैसे-वैसे चीजों के मूल्य बढ़ने लगे और वैसे-वैसे ही रुपये का मूल्य गिरता गया।

३. लोगों का विश्वास था कि यह सरकार बहुत शीघ्र इस मुद्रा-प्रसार को रोक कर चीजों की कीमत घटा देगी परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मुद्रा-प्रसार तो कम अवश्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु मँहगाई ज्यों की त्यों है और यह दशा पहले की अपेक्षा भी अधिक कठिन हो गई है।

४. मुद्रा-प्रसार के क्षेत्र में यह दशा (Inflation) की है और मँहगाई क्षेत्र में अनियन्त्रित दर-व्यवस्था की मूल्यों पर नियन्त्रण कभी-कभी दर को ऊँचा

ले जाता है और बाजारों में वस्तु का मिलना ही कठिन हो जाता है, जिसके फल-स्वरूप काला-बाजार चलता है और जनता को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी काले बाजार की शरण में जाना होता है।

५. यह मुद्रा-प्रसार आकस्मिक नहीं था बल्कि थोड़ा अधिक संसार के सभी देश में हुआ था। युद्ध और युद्ध के पश्चात् निर्माण-कार्य में सरकार अपना खर्चा बढ़ जाने पर मुद्रा-प्रसार की शरण लेती है।

६. १९१४ के महायुद्ध में जर्मनी में २ लाख मार्क की एक रोटी बिकी। गत महायुद्ध में मुद्रा-प्रसार का सबसे अधिक प्रभाव चीन पर पड़ा। साठ साठ-लाख मुद्रा में एक जोड़ा जूता बिका।

७. गत महायुद्ध से पूर्व भारत में २ अरब पचास करोड़ रुपये की मुद्रा थी। युद्ध के अन्त में २५ अरब ३५ करोड़ रुपये की होगई। युद्ध-काल में भारत से अंगरेजों ने अपना ८ अरब रुपये का ऋण वसूल कर लिया और ७ अरब का अपने ऊपर उधार चढ़ालिया। यह सात अरब भी सरकार को नया मुद्रा-प्रसार करके ही देना पड़ा।

८. मुद्रा- अवमूल्यन से वैतनिक कर्मचारी वेतन बढ़ाने की माँग करते हैं। किसानों ने अपने मूल्य बढ़ा दिये और हर वस्तु के दाम बढ़ गये। देशों में इसके कारण अशांति फैली क्योंकि मँहगाई से कोई भी प्रसन्न नहीं रहता।

९. मुद्रा-प्रसार के साथ-साथ उत्पादन नहीं बढ़ता, यही अशांति का मूल कारण है। देश का विभाजन, देश के हड़ताल करानेवाले नेता और उत्पादन की की सभी बाधाएँ देश के उन्नति के मार्ग में बाधक हैं।

१०. अन्य वस्तुओं का मूल्य अन्न के मूल्य पर आधारित है। सन् १९५२ में १०८ करोड़ रुपये का अन्न बाहर से आया। सन् १९५३ में १४० करोड़ रुपये का अन्न बाहर से आया। यह परिस्थिति मुद्रा प्रसार और मँहगाई में सहायक ही है। आज भारत की खाद्य-स्थिति सुधरने पर मुद्रा प्रसार भी घट गया।

११. आज की परिस्थिति में सरकार की पूंजीवाद-विरोधी नीति उत्पादन में बाधक है और उस के कारण मँहगाई तथा मुद्रा-प्रसार को भी प्रश्रय मिल रहा है, परन्तु संसार के राजनैतिक गति-चक्र के सम्मुख उसे भुला कर भी नहीं चला जा सकता है। आज उत्पादन बढ़ाने से ही मँहगाई और मुद्रा-प्रसार कम हो सकता है, अन्य किसी साधन द्वारा नहीं।

भारत के संविधान की रूपरेखा

१. २६ जनवरी १९५० को भारत का नवीन संविधान लागू हुआ, जिस के अनुसार भारत धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है और इस संविधान में सब लोगों के समान अधिकार हैं।

२. यह संविधान भारत के सब प्रान्तों, रियासतों, तथा कुर्ग, अंडेमान और नीकोबार द्वीप पर लागू होता है।

३. भारत की संसद् को कानून बनाकर किसी राज्य का क्षेत्रफल बढ़ाने अथवा घटाने का अधिकार है।

४. वह प्रत्येक व्यक्ति जिसका भारत में जन्म हुआ है, या उसके माता पिता भारत-निवासी हैं, भारत का नागरिक है। बर्मा, मलाया और लंका के हिन्दुस्तानी जिन्होंने वहाँ नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं किये हैं, भारत के नागरिक हो सकते हैं। पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थी भी भारत के नागरिक गिने जायेंगे।

५. यह संविधान समता, धार्मिक-स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार का हामी है, न्याय सब की रक्षा करेगा, कोई दास नहीं होगा, सरकारी नौकरियों में कोई भेद-भाव नहीं होगा, बच्चों को खानों और कारखानों में नौकर नहीं रखा जायगा।

६. संविधान की शासन-प्रणाली में एक राष्ट्र का प्रधान होगा और दूसरी राजकीय परिषद् (कौंसिल आफ स्टेट) इसमें २५० सदस्य होंगे। इनमें से १५ प्रधान नियुक्त करेगा और शेष निर्वाचित होंगे। तीसरा जनता-गृह होगा, जिस में ५०० सदस्य होंगे, जो सीधे मत-दाता चुनेंगे।

७. २१ वर्ष का प्रत्येक नर नारी मत देने का अधिकारी होगा।

८. प्रधान का चुनाव राजकीय परिषद, जनता-गृह और प्रान्तों की धारा-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा होगा। हमारे वर्तमान प्रधान डा० राजेन्द्र प्रसाद हैं। प्रधान की एक बार की अवधि ५ वर्ष है। वही प्रधान दुबारा भी चुना जा सकता है, परन्तु तिबारा नहीं।

९. प्रधान को संकट-कालीन अधिकार प्राप्त हैं। वह युद्ध अथवा आंतरिक अशांति में ६ महीने के लिए विशेष आज्ञा (Ordinance) का प्रयोग कर सकता है। वैधानिक शासन टूट जाने पर सब अधिकार प्रधान को प्राप्त होजाते हैं।

१०. शासन मंत्रि-मंडल द्वारा होगा और मंत्रि-मंडल का नेता प्रधान मंत्री कहलायगा। प्रधान मंत्री का चुनाव राष्ट्र का प्रधान करता है और अन्य मंत्रियों का चुनाव प्रधान मंत्री की सहायता से होता है। हमारे वर्तमान प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू हैं। मंत्रिमण्डल का उत्तरदायित्व संसद् में सामूहिक होग

और मंत्रि-मण्डल उसी समय तक कार्य करेगा जब तक प्रधान की इच्छा होगी।

११. प्रधान अपनी कानून-सम्बन्धी सलाह के लिए एटोर्नी जनरल और अर्थ-सम्बन्धी सलाह के लिए आडीटर-जनरल नियुक्त कर सकता है।

१२, उपप्रधान राजकीय परिषद् का प्रधान होगा और राजकीय परिषद् कभी भंग नहीं होगी, बल्कि दो वर्ष बाद इसके एक तिहाई सदस्य स्वयं स्थान रिक्त कर देंगे।

१३. जनता-गृह की अवधि पाँच वर्ष है और उसके पश्चात् फिर नया चुनाव होगा। बजट जनता-गृह में ही पेश होगा, राजकीय परिषद् में नहीं।

१४. संघ का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा, जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश और सात न्यायाधीश होंगे। यह सीधे अभियोग न लेकर अपीलों पर विचार करेगा। न्यायाधीश की अवधि ६५ वर्ष की आयु तक है।

१५. गवर्नर की अवधि ५ वर्ष होगी। यह दुबारा भी चुना जा सकता है परन्तु तिबारा नहीं। इसका चुनाव भी जनरल एलेक्शन के समय ही होगा। राज्य की धारा-सभा के भेजे हुए चार नामों में से प्रधान किसी भी एक को नियुक्त कर सकता है। राष्ट्र के प्रधान और मुख्य न्यायाधीश का वेतन ५५००) और गवर्नर तथा न्ययाधीशों का ४५००) रुपये मासिक होगा।

१६. गवर्नर के अधिकार अपने राज्य में प्रधान से मिलते-जुलते ही होंगे। वह भी आवश्यकता पड़ने पर छै महीने के लिए विशेष आज्ञा (Ordinance) का प्रयोग कर सकता है।

१७. राज्य का शासन मंत्रिमण्डल द्वारा होगा और प्रधान मंत्री मुख्य मन्त्री कहलाये। यह मंत्री गवर्नर द्वारा नियुक्त किया जायगा और अन्य सब मन्त्री मुख्य-मन्त्री की सलाह से बनाये जायेंगे।

१८. पिछड़ी हुई जातियों के हितों के संरक्षण के लिए बिहार, उड़ीसा और मध्य-प्रांत में एक-एक अतिरिक्त मन्त्री रखने का विधान है।

१९. प्रत्येक राज्य में एक व्यवस्थापिका सभा होगी, जिसके सदस्यों का चुनाव मतदाताओं द्वारा होगा। इसके सदस्यों की संख्या ६० से ३०० तक है।

२०. कहीं-कहीं पर राज्यों में व्यवस्थापिका परिषद् का भी विधान है। इसकी संख्या व्यवस्थापिका सभा से चौथाई होगी। बजट यहाँ पर भी व्यवस्थापिका सभा में ही रखा जायगा।

२१. दिल्ली, अजमेर, मारवाड़, कुर्ग, अण्डेमान, निकोबार इत्यादि का शासन सीधे राष्ट्र के प्रधान अथवा उनके अधिकारियों द्वारा होगा। वहाँ पर चीफ़ कमिश्नर अथवा लेफ्टीनेन्ट गवर्नर नियुक्त किये जायेंगे।

२२. अल्पसंख्यकों के संरक्षण की सिद्धांत रूप से आवश्यकता नहीं समझी गई। परन्तु संविधान लागू होने के १० वर्ष तक सरकारी नौकरियों में उनका अधिकार उनकी जन गणना के अनुसार होगा।

२३. इस प्रकार संविधान के अनुसार मुसलमानों, हरिजनों और परिगणित जातियों के लिए नौकरियों में स्थान पहिले से रिजर्व होंगे। बम्बई तथा मद्रास प्रांत में भारतीय ईसाईयों को भी विशेष सुविधा दी गई है।

२४. केन्द्र तथा राज्यों में पृथक पृथक सर्विस-कमीशन होंगे। ये नौकरियों पर आनेवाले उम्मीदवारों की परीक्षा लेंगे।

२५. संविधान में कोई परिवर्तन केवल उस समय होसकता है जब केन्द्र के दोनों गृहों के दो तिहाई सदस्य और प्रधान सहमत हों।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की आवश्यकता

१. संयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations Organisation) गत महायुद्ध की प्रतिक्रिया का वही रूप है जो League of Nations १९१४ वाले महायुद्ध की प्रतिक्रिया का रूप था। संघर्ष के विनाश से बचने के लिए यह प्रयास है परन्तु मानव की स्वार्थ्य-लिप्सा कहाँ तक इसे फलीभूत कर पायगी। यह प्रश्न विचारणीय है।

२. League of Nations की स्थापना इस दृढ़ निश्चय को लेकर हुई थी कि फिर विश्व में युद्ध न होगा, परन्तु विश्व ने हिटलर को जन्म देकर उस आशा पर पानी फेर दिया। इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस प्रकार के प्रयास समय-समय पर होते रहे हैं और कुछ समय के लिए मानव को उन प्रयासों ने संघर्ष से मुक्त भी रखा है परन्तु वे स्थाई नहीं बन सके। इसका मूल कारण यही है कि मानव स्वयं स्थाई नहीं है।

३. वर्त्तमान संयुक्त-राष्ट्र संघका विधान-पत्र (Charter) सॉन फ्रांसिसको में जून १९४५ के पश्चात् ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने प्रकाशित किया था। १० जनवरी १९४५ को इसी प्रथम बैठक लन्दन में हुई, जिसमें जिनेवा में इसका प्रधान कार्यालय रखना निश्चित् हुआ और यह भी पास हुआ कि इसमें तटस्थ अथवा शत्रु-देशों को नहीं मिलाया जायगा।

४. संयुक्त राष्ट्र-संघ का प्रधान ध्येय समस्त देशों में शांति स्थापित करना तथा उनकी आर्थिक स्थिति पर नियंत्रण रखना है। संघ के ये प्रधान उद्देश्य हैं (१) सब के मानवीय अधिकारों की सुरक्षा तथा उनके प्राप्त करने में सहयोग देना—जाति और रंग के भेद-भावों का समूल नाश करना (२) मानव का स्तर

ऊँचा करके उसकी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं की देख-भाल करना (३) संकट पैदा करनेवाली परिस्थितियों को सुलझाना और विभिन्न राष्ट्रों में मित्र-भाव बनायेरखना (४) पराधीन और निर्बल देशों का संरक्षण करना। इस प्रकार संसार की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा; स्वास्थ्य तथा शांति का निरीक्षण तथा आपसी प्रेम-भाव को बढ़ाना इस संघ का कार्यक्षेत्र है।

५. संघ की सुरक्षा-परिषद् के १२ सदस्य बने, जिनकी पहली बैठक १५ मार्च १९४६ को न्यूयार्क में हुई।

६. इस संघ के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय न्यायालय है, जो संघ के सदस्यों के विवाद-ग्रस्त मामलों का निर्णय करता है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधीशों को संख्या १५ होती है।

७. आर्थिक, सामाजिक और विज्ञान विभाग की देख भाल करनेवाली सभा के १८ सदस्य हैं।

८. भारत के दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सम्मुख अब तक दक्षिणी अफ्रीका और काश्मीर के महत्त्वपूर्ण प्रश्न आये हैं; परन्तु दोनों को अभी तक सुलझाने में वह असमर्थ रहा है।

९. इनके अतिरिक्त फ़िलिस्तीन, इंडोनेशिया, बर्लिन, चीन, कोरिया इत्यादि के प्रश्न भी आये

१०. संघ की स्थापना बहुत महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों को लेकर की गई है। लोक-हित और विश्व-शान्ति की भावनाएँ इसके उद्देश्यों के प्रधान तत्त्व हैं।

११. आज संसार की शक्ति का सन्तुलन दो प्रधान शक्तियों के बीच हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय संघ दो विचार-धाराओं के लड़ने का अखाड़ा बना हुआ है। यह अखाड़ा बनाने की भावना संघ के लिए घातक है। यदि इस भावना का अन्त न हुआ तो संघ का भविष्य आशा-जनक नहीं।

एक सदनीय शासन होना चाहिए

१. आधुनिकतम शासन-व्यवस्थाओं में दो सदनों की अपेक्षा एक सदन में शक्ति को केन्द्रित करने की प्रवृत्ति दिखलाई दे रही है। जहाँ दूसरे सदन हैं भी वहाँ भी उनके पास कोई विशेष शक्ति नहीं रहगई है। आज दूसरा सदन जहाँ भी है वहाँ वह पहले सदन के कामों में केवल कुछ रुकावटें पैदा करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। ऊपरी सदन के सदस्य अधिकांश में रूढ़िवादी (Conservative) होते हैं और प्रथम सदन द्वारा अपनायी जाने वाली हर प्रगतिशील नीति का इनके द्वारा विरोध कियाजाता है। इन लोगों की सहानुभूति इन्हीं

रीति-रिवाजों, प्रचलनों, सरकारी नियमों और शासन व्यवस्थाओं तथा व्यवस्थापकों से होती है जिनके बीच कि वे अपने जीवन के आदि काल से पलते, पनपते और उनका लुत्फ़ उठाते हुए चले आरहे हैं। ब्रिटेन में यही है और भारत में भी दशा इसके विरुद्ध नहीं मिलती।

२. एक सदन की व्यवस्था में यह जनता का सही प्रतिनिधि सदन होगा और इसपर सर्वदा जनता का ही अधिकार होगा। यह केवल कुछ गिने-चुने विशेष परिस्थितियों के सदस्यों तक ही सीमित नहीं रहेगा। एक सदन की व्यवस्था में कोई भी कार्य जितना शीघ्र संचालित होसकता है उतना दो सदनों की व्यवस्था में नहीं होसकता। इस प्रकार शासन-व्यवस्था में ढिलाई आती है और हर काम देरतलब होजाता है। किसी भी काम के देरतलब होजाने से वह मंहगा होजाता है और उसका भार जनता को सहन करना होता है। हमारी सरकार की वर्तमान प्रगति भी देरतलब ही है और इसीलिए जनता पर भार बन रही है। दो सदनों की व्यवस्था जनता पर व्यर्थ का भार है जिसे जनता को सहन न करके उसके विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए।

३. कोई भी शासन-व्यवस्था, जिसका कार्य रूढ़िवादी सदन द्वारा संचालित होगा, वह कभी भी आम जनता का हित नहीं कर सकती। उसके सदस्यों की दृष्टि अपनी ही परिस्थिति के लोगों से टकराकर रुकजायगी। अपने से नीचे तबके के लोगों तक उनकी दृष्टि का पहुँचना कठिन है। उससे आम जनता के प्रति न्याय की आशा नहीं की जासकती।

४. ऊपरी सदन के सदस्य जन-सदन के आगे बढ़ने वाले सदस्यों की ख्याति को देखकर हसद करते हैं और उनके साथ सहयोग न करके उनके मार्ग में रुकावटें पैदा करते हैं। इससे कभी-कभी राष्ट्र का बड़ा भारी अहित होता है। संसद के सदस्य होने के नाते वे सरकारी अफ़सरों पर प्रभाव तो रखते ही हैं। उस प्रभाव का वे जनता के हित में प्रयोग न करके अहित में प्रयोग करते हैं। देश की शासन-व्यवस्था में इस प्रकार के सदस्यों के आजाने से देश की प्रगति रुक जाती है। जनता को चाहिए कि वह इस प्रकार के सदस्यों का विरोध करे और उन्हें अपना सहयोग न दें। ब्रिटेन और भारत में इस प्रकार के सदस्यों की कमी नहीं है। ऊपरी सदन एक सुफेद हाथी है, जो जनता की छाती पर बंधा हुआ उसके रक्तमांस पर पलता है। इसके सदस्य भी समाज के ऊपर भार स्वरूप ही हैं जो काम करने के नाम पर मौन और ऐश के क्षेत्र में सबसे आगे दिखलाई देते हैं। देश में इस सदस्य-समुदाय का एक बड़ा भारी वर्ग है जिसका भार जनता के ऊपर से तुरन्त उतरने की आवश्यकता है।

५, ऊपरी सदन के मूर्ख सदस्यों को कभी-कभी सरकार ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य

सौंप देती है कि जिन्हें पूरा करने के वे सर्वथा अयोग्य होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उस कार्य को वे कर नहीं पाते और इससे देश का महान् अहित होता है। इन लोगों में ऊपरी टीप-टाप अधिक होती है और जीवन की वास्तविक गहराई कम। जनता की वास्तविक आवश्यकताओं से इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। जनता की आवश्यकताओं से अपरिचित व्यक्तियों को किसी भी सदन में बैठने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

६. कोई भी संस्था जब तक किसी क्रियात्मक कार्य में योग न दे, उसका क़ायम रहना व्यर्थ है। आज की शासन-व्यवस्था में ऊपरी सदन का किसी भी क्रियात्मक कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं। यह केवल एक गुलदस्ते के मानिन्द है जिसे यों ही खूबसूरती के लिए सजाया गया है। ब्रिटिश-काल की खूबसूरती को स्वतंत्र भारत का विचारवान नेता-समुदाय भी आवश्यक समझकर जनता की छाती पर सजायेहुए है, यह खेद का विषय है। महात्मा गांधी जिस राष्ट्रपति भवन को जनता की सेवा के लिए एक हस्पताल में तब्दील करदेना चाहते थे उसे आज किसी ऐसे कार्य के लिए प्रयोग में लाने से हमारी सरकार को अपनी शानो-शौक़त में कमी आती हुई दिखलाई देती है। ठीक यही दशा ऊपरी सदन की भी है।

७. ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में ऊपरी सदन और नीचे के सदन की कशमकश काफ़ी दिन चली है और परिणाम यही निकला है कि शासन की सम्पूर्ण शक्ति नीचे के सदन के ही हाथों में चली गई। यही दशा आज विश्व भर की है। भारत एक चन्द दिन का स्वतन्त्र हुआ राज्य है जिसने परतंत्रता के खिलाफ़ विद्रोह किया है। परन्तु खेद है कि इस विद्रोह की ज्वाला को आज रूढ़िवादी समुदाय दबाने का प्रयास कर रहा है और जिस जनता के बल से उसने यह स्वतंत्रता प्राप्त की है उसीके सीने पर स्वार्थी समुदाय का भार लादता जारहा है। ऊपरी सदन जनता के ऊपर भार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

साम्यवाद और भारत

१. मानवजीवन का मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य एक दूसरे के संसर्ग में आना चाहता है। मानव की इस प्रवृत्ति का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए साम्यवादी समाज की स्थापना आवश्यक होजाती है। इस बात से इंकार नहीं किया जासकता कि भूत काल में व्यक्ति और धर्म विशेषों की स्वार्थप्रिय मनोवृत्ति भी कभी-कभी प्रधान हो उठी है, परन्तु मानव-इतिहास अनेकानेक तब्दीलियों की एक शृंखला है जिसमें व्यक्ति और समाज के हितों का कहीं न कहीं पर जाकर समन्वय हो ही जाता है।

२. मनुष्य पूरी तरह स्वार्थी और अपना हितचिंतक ही नहीं होता । भूत काल में समाज ने जहाँ एक ओर आक्रमणकारी, बेरहम और मक्कारी के दर्शन किये हैं वहाँ दूसरी ओर नैतिकता के क्षेत्र में भी सैद्धान्तिक नियंत्रण कुछ कम ऊंचे स्तर का दिखलाई नहीं देता । यदि व्यक्ति के कार्यक्षेत्र पर समाज प्रतिबन्ध लगाता है तो इससे पूरे समाज का उस कार्य को करने का उत्साह बढ़ता है और इस प्रकार उस व्यक्तिगत स्वतंत्रता का क्षेत्र और व्यापक बन जाता है और इस दिशा में एक स्थान पर अनेकों का उत्साह बढ़ जाता है ।

३. यदि साम्यवाद न हो तो उसके स्थान पर अस्तव्यवता या दासत्व की शासन-व्यवस्था होगी । विश्व के शासन की आधुनिकतम व्यवस्था नैतिकता, अर्थ व्यवस्था, सभ्यता और कार्यकुशलता के क्षेत्र में बिगड़ती जारही है । व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थप्रियता ने सामाजिक उत्तरदायित्व को पीछे छोड़कर अपना उल्लू यहाँ तक सीधा किया है कि उन्होंने विश्व की शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करके आम लोगों का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया है । ऐसी परिस्थिति में साम्यवादी समाज की आवश्यकता मानव-कल्याण के लिए और भी आवश्यक हो उठी है ।

४. पूंजीवादी उत्पादन के आर्थिक उत्थान ने उत्पादन करनेवाले मजदूर और किसान-वर्ग को उनकी उत्पादित सम्पत्ति से प्रथक कर दिया है । इसके फल स्वरूप एक ओर तो उद्योगपति वर्ग का उत्थान हुआ और दूसरी ओर धन सम्पत्ति के मालिक पूंजीपति वर्ग का । इनके अतिरिक्त कुछ स्वतंत्र कारीगरों का भी उदय हुआ परन्तु वे इन दोनों वर्गों से प्रथक थे । इन लोगों को अपना गुजारा करने के लिए अधिक मेहनत करनी होती थी । किसान-वर्ग की दशा खराब ही हुई, क्योंकि उसकी उत्पादित सम्पत्ति का अधिकांश भाग जमीदारों और आड़तियों की जेबों में चला जाता था । किसान-वर्ग अपने इतिहास को केवल अपने परिवारों का शोषण करके ही उस जमाने से आज तक लिखता चला आरहा है । इस आर्थिक गिरावट के साथ-साथ इनका नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पतन भी स्वभाविक ही था । दूकानदारों को भी स्वतंत्रत नीति अपनाने का अवसर नहीं मिला क्योंकि उनका व्यापार थोक व्यापारियों की नीति पर आधारित रहा, जिनके कि आमतौर पर ये लोग वेतनिक नौकर के ही समान थे । इस प्रकार स्वतंत्र नीति का यदि कहीं पर कोई स्थान था तो वह उद्योगों के ही अन्दर रह गया था । इसका फल यह हुआ कि विश्व का सारा समाज एक प्रकार से आर्थिक दासता की शृंखला में बँध गया और एक के स्वार्थ से दूसरे के स्वार्थ की कड़ी गुँथ गई । व्यापारिक ईमानदारी से ही एक दूसरे की बेईमानी को छिपाने का काम हुआ और अन्त में इसका सम-झौता उद्योग, व्यापार और सरकार के बीच यों खुले आम नहीं, परन्तु दिखावटी पर्दे

के साथ होगया। समाज अपनी गिरावट की इस पराकाष्ठा पर पहुँचकर केवल नये ढाँचे की ओर नज़र कर सकता था। और वह ढाँचा साम्यवाद का ढाँचा है।

५. आज उद्योगों की पैदावार का विभाजन इस प्रकार होता है कि उद्योग में काम करनेवाले मज़दूरों तथा कारीगरों को उनकी आवश्यकता के अनुसार वेतन दिया जाता है और उसी में उन्हें अपनी तसल्ली करनी होती है। प्रबन्ध करने वाले अफसर-वर्ग को उनकी आवश्यकता के वेतन के अतिरिक्त कुछ अधिक भी दिया जाता है। उनका वेतन भी केवल आवश्यकता का न होकर आरामतलबी का होता है और पूंजी लगाने वाला उसकी पूर्ण आय का मालिक होता है। यह आय काम करने वालों की मज़दूरी पर पूंजीपति का टैक्स ही कहा जा सकता है, जिसे उगाने का उसे कोई अधिकार नहीं। पूंजी के सूद के अतिरिक्त जो कुछ भी वह वसूल करता है वह मजदूरों की मज़दूरी में से ही कटा हुआ भाग है। इस प्रकार उद्योग में मेहनत करनेवाले की जिन्दगी से इसमें धन लगाने वाले की दशा अच्छी है और उद्योग का अधिकांश लाभ उसी की जेबों में पहुँचता है, यह साम्यवादी समाज को असहनीय है।

६. व्यक्तिगत सम्पत्ति का मापदण्ड व्यक्ति द्वारा किया गया उसका काम है। यदि यह मापदण्ड प्रयोग में लाना असम्भव हो तो यह तो "From each according to his ability, to each according to his need" हो ही सकता है। आज के उद्योगों में उत्पादित सम्पत्ति का विभाजन उक्त दोनों प्रकार से नहीं होता। आज की दशा में पूंजिपति शारीरिक और मस्तिष्कधारी, दोनों ही प्रकार के उत्पादन करने वाले वर्ग का शोषण करता है। मैनेजर से लेकर बिना लिखे-पढ़े मजदूर वर्ग तक का शोषण होता है। यह शोषण वह अपनी योग्यता के बल पर नहीं करता, वरन् इसलिए करता है कि वह धन-सम्पत्ति उसे अपने पूर्वजों से विरासत में मिली है, जिससे वह पैदावार पर अधिकार कर सकता है, उसकी बिक्री रोक सकता है, कीमतों को रोक सकता है,— सच यह है कि किसी भी पैदावार और उसके वितरण में रुकावट पैदा करने के सिद्धान्त को इस्तेमाल करके उत्पादित वस्तु को आवश्यकता वाले समाज तक पहुँचने में बाधा बन सकता है। आज की वर्तमान नीति में एकत्रीकरण की नीति द्वारा अधिक धन पैदा किया जासकता है बनिस्बत बहुत बड़ी योग्यता और प्रतिभा दिखलाने के।

७. जिस शासन-व्यवस्था में उसके अन्दर रहनेवालों को करने के लिए काम और गुजारे के लिए पर्याप्त आय का भी आश्वासन न हो वहाँ एक प्रकार से पारस्परिक द्वेष को बढ़ावा मिलेगा और स्वार्थप्रियता फले फूलेगी। पारस्परिक सहयोग और सद्भावना के साथ सहयोगी कार्यक्रमों का विकास नहीं हो

सकता। शासन-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि जिसके अन्दर रहनेवाले एक व्यक्ति को अपने खाने, पहिनने और रहने की चिंता न हो। और यह साम्यवाद या कम्युनिज्म ही प्रदान कर सकता है।

८. अमीर आदमी के ऐशोंआरामों के बढ़ने की रफ्तार से गरीब आदमी के आराम के बढ़ने की रफ्तार मन्दी रहती है। आज के मजदूर की स्थिति उसके पूर्वजों से कुछ बेहतर अवश्य है परन्तु राष्ट्र जो सम्पत्ति पैदा करता है उसमें से उसका पूरा पूरा हिस्सा उसे नहीं मिलता। आज के युग में प्राचीन सिद्धान्त, "wages should sink to the level of bare subsistence" मजदूरों के लिए नहीं कायम रह सकते। पूंजीवाद का अन्तिम वैज्ञानिक (latest) सिद्धान्त "the workers should receive only enough to keap them efficient" भी आज के मजदूर-वर्ग को मान्य नहीं हो सकता। इससे पूंजी वादी लोग ऊँचे वेतनों की अर्थ व्यवस्था (the economy of high wages) कहते हैं। इससे आगे जितना भी संसार का मजदूर-वर्ग बढ़ा है, वह सब अपने संघर्ष और ट्रेडयूनियनों के संगठित प्रयासों द्वारा ही बढ़ा है, मेहरबानी के फलस्वरूप नहीं।

९. आज की साम्यवादी और कम्युनिज्म की विचारधारा में व्यक्तिवाद की बात सही (Fit) नहीं बैठती। हमारे देश में जितने भी बड़े बड़ेउद्योग धंधे हैं वे सब व्यक्तिवादी व्यवस्थाओं के ही हाथों में चल रहे हैं। बहुत से बड़े-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण भी होचुका है, जिनमें मजदूरों की दशा कुछ सुधरी है। आज की शासन-व्यवस्था में हमारे देश के अन्दर साम्यवाद या कम्यूनिज्म के पनपने की कोई विशेष सम्भावना दिखलाई नहीं देती। हमारी सरकार की नीति सबको तसल्ली देकर चलने वाली है, जिसके फलस्वरूप किसी भी प्रकार के विद्रोह की आग भड़कउठने की उम्मीद कम दिखलाई देती है।

१०. व्यक्तिवादी उद्योगों में या तो एक ही मालिक होता है या लिमिटेड कम्पनियों में दो तीन मैनेजिंग डाईरेक्टर्स के हाथों में ही सारा काम होता है। कम्पनी के हिस्सेदारों को डाइरेक्टरी पर आँख मींचकर विश्वास करना होता है देश के पूंजीपति और औद्योगिक प्रतिभाशाली व्यक्ति, उत्पादित और कच्चे माल का रुख अपने लाभ की ओर घुमाते रहते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि राष्ट्र का भाग्य कुछ पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों के हाथों में आजाता है। ये लोग अपने हितों पर सारे राष्ट्र की इच्छा-आकांक्षाओं का बलिदान चढ़ाते रहते हैं। इससे वास्तविक उत्पादन करने वाले वर्ग को अधिक लाभ नहीं होसकता।

११. पूंजीवाद बेरोजगारी को बढ़ावा देता है। पूंजीवादी ढंग के अस्त व्यस्त उतार-चढ़ाव एकदम औद्योगिक सम्पत्ति के समाप्त तथा एकत्रित होने के

कारण बनते हैं। औद्योगिक माल की भरमार को रोकने में पूंजीवाद असमर्थ है। इस व्यवस्था में मजदूर जितनी भी तेजी के साथ काम करते हैं उतनी ही बेरोजगारी बढ़ती है। इसका प्रभाव न तो काहिल लोगों पर पड़ता है और न भिखमंगों पर। इसका प्रभाव पड़ता है उन मेहनतकश लोगों पर जो मेहनत और मजदूरी द्वारा अपनी जीविका कमाना चाहते में। केवल युद्ध-काल में जब कल-कारखाने वह युद्ध-कालीन सामग्री बनाते हैं, जो तुरन्त ही नष्ट हो जाती है, या युद्ध-काल के पश्चात् जब-युद्ध काल की बर्बादी की पूर्ति के लिए सामान बनाने की आवश्यकता होती है, काम करने वालोंको अनस्थायीरूप से काम मिल सकता है। साम्यवादी समाजमें केवल उन लोगों को जुल्म सा प्रतीत होता है जो काम करने के आदी नहीं हैं और काम करना नहीं चाहते तथा सरकार उन्हें काम करने पर मजबूर करती है। साम्यवादी समाज के निर्माण के लिए आज हृदय परिवर्तन (change of hearts) की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता केवल इस बात की है कि हर इन्सान अपने हित को समझनेलगे।

१२. आज के समाज को यदि विस्तृत दृष्टिकोण से देखाजाय तो वह क़ायदे के साथ चल रही है। सरकारी अफसरों का जो कभी उसपर दबाव रहता था वह धीरे-धीरे कम हो रहा है परन्तु पूंजीपतियों का दबाव अभी कम नहीं हुआ। साम्यवाद में अफसरी तबका बिलकुल समाप्त हो जायगा, जनता कुछ समूहों में बँट कर अपने प्रबन्ध को स्वतंत्रतापूर्वक स्वयँ संभालेगी। साम्यवाद के माने सरकारी महकमों को बढ़ाना नहीं है। रूस के अन्दर फैला हुआ साम्यवाद इसका ज्वलंत उदाहरण है। आज भी जो सरकारी अफसर ईमानदारी के साथ अपनी ड्यूटी बाजा रहे हैं, उन्हें साम्यवाद का नाम सुनकर कोई खतरा पैदा नहीं हो सकता और वे साम्यवाद होने पर जन-हित में अधिक कार्य कर सकेंगे।

१३. व्यापारिक क्षेत्र में कोई भी ऐसी तबदीली आने पर कि जब व्यापार की स्थिति भयानक (Crises) हो उटे, पूंजीवादी शासन-व्यवस्था में अधिक भयानक स्थिति पैदा होने की सम्भावना है। जब उद्योगों की पैदावार अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्षेत्रों के लिए की जाती है तो बाहर के बाजारों का सही मापदण्ड स्थापित करना असम्भव होजाता है। साथ ही बराबर बढ़ती हुई व्यक्तिगत सम्पत्ति ने उसकी सीमाओं के विस्तार पर काफी तनाव पैदा कर दिया है। आबादी के सम्बन्ध में माल्थस लॉ (Malthus's Law) भी अब पुराना पड़ चुका है। आज निर्वाह के साधनों पर आबादी का बोझा नहीं, वरन् उन साधनों का ही दबाव राष्ट्र के ऊपर है। बिलकुल यही दशा उत्पादित सामान की निकासी के नये बाजार, नये इस्तेमाल करने वालों और लाभदायक चीजों पर पूंजी लगाने की भी है। बिलकुल यही दशा खरीदारी की शक्ति कम होजाने पर अधिक उत्पादित वस्तुओं को

इसलिए नष्ट करने की भी है जिससे कि उनकी क़ीमतें अधिक नीचे न गिर सकें। साम्यवाद में इस प्रकार की अनिस्थर स्थिति (Crises) पैदा होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वहाँ जितनी पैदावार होती है वह राष्ट्र के इस्तेमाल में आजाती है और किसी भी राष्ट्र की आवश्यकता के सही आंकड़े निकाल लेना कोई कठिन कार्य नहीं। जहाँ व्यक्तिगत लाभ के लिए व्यक्तिगत संस्था और कम्पनियों की प्रतिद्वन्दिता चलती है वहीं पर इस प्रकार की अव्यवस्थित स्थिति पैदा होसकती है और वहीं पर अकाल की भी सम्भावना पैदा होसकती है। किसी भी राष्ट्र के उत्थान का लक्षण उसका उत्पादन नहीं है बल्कि उस उत्पादित सम्पत्ति का वितरण है; जिससे राष्ट्र के रहनेवालों के जीवन पर वास्तविक असर पड़ता है।

१४. यदि किसी देश में विभिन्न प्रकार की पैदावारों को नियंत्रित कर दिया जाय तो इसके माने यह कदापि नहीं होते कि वहाँ के काम करनेवालों को काम करने की स्वतंत्रता नहीं है। जब यह देखा जाय कि लोग किसी विशेष प्रकार के काम के प्रति विशेष ध्यान रखते जारहे हैं और उनका रुख किसी अन्य दिशा में मोड़ने की आवश्यकता है तो उन दूसरे कामों में काम करनेवालों को अधिक सहूलियतें देकर उनकी ओर उनका ध्यान बढ़ाया जा सकता है। साम्यवाद में यही तरीक़ा अपनाया जाता है। जिन कामों में अधिक मेहनत होती है वहाँ कम घंटे काम के होते हैं, महावारी छुट्टियाँ भी अधिक होती हैं और उससे अधिक और भी सुविधाएँ दी जाती है।

१५. आज के युग का सभ्य पुरुष अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लायक कमा सकता है और कमाता है। इसलिए उसके इस्तेमाल की आवश्यकताओं पर कोई बन्दिश लगाने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त साम्यवाद इस्तेमाल के दायिरे को और विस्तृत करके आज की ग़रीब जनता को भी बहुत सी सहूलियतें देगा; परन्तु उनकी व्यक्तिगत इस्तेमाल की चीजों पर कुछ बन्दिश लगानी होंगी।

१६. साम्यवाद में प्रतिद्वन्दिता समाप्त करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु वह प्रतिद्वन्दिता नौकरी के लिए नहीं होगी, वह होगी तरक्की के लिए, ऊँचे वेतनों के लिए, पदों के लिए और आराम के लिए। साम्यवादी रूस में भी यह प्रतिद्वन्दिता विद्यमान है। पूंजीवाद में मजदूरों के अन्दर अपनी जीविका कमाने के लिए प्रतिद्वन्दिता होती है और पूंजीपतियों की पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता के फलस्वरूप सहयोग की भावना का दिन प्रतिदिन ह्रास होरहा है।

१७. उत्पादन ज्यों-ज्यों बड़ी कम्पनियों के हाथों में जाता जा रहा है त्यों-त्यों ये लोग आपस में साँठ-गाँठ करके उत्पादित वस्तुओं के मूल्य बढ़ा डालते हैं। इन कम्पनियों के व्यक्तियों के इन छुपे हुए अहदनामों को कोई क़ानून नहीं रोक सकता।

१८. पूंजीवादी मनोवृत्ति में केवल लाभ की भावना प्रमुख रहती है और उसी के फलस्वरूप व्यापार और उद्योगों में बनावट और मिलावट का बोल बाला है। लाभ की इस भावना ने पूंजीवादी मनुष्य को मनुष्यता के स्तर से नीचे उतार कर खड़ा कर दिया है। बनावट और मिलावट से बाजार गन्दे हुए पड़े हैं। कोई भी चीज यदि आज भारत के बाजारों में खालिस ढूँढने की कोशिश की जाय तो उसका मिलन कठिन है। घी, दूध, मक्खन, तेल, दवाइयाँ, यहाँ तक कि सभी में मिलावट है। आज जो सस्ती चीजें बाजार में मिलती भी हैं वे इसलिए कि वे मिलावट की हैं। सस्ती चीजें खरीदने वाली देशकी ग़रीब जनता पर उसका कितना अस्वस्थ प्रभाव पड़ता है यह कुछ कहने की बात नहीं। प्रतिद्वन्दिता वास्तव में यदि देखा जाय तो बेईमानी की जड़ है।

१९. अभी तक भारत में औद्योगिक राष्ट्रीयकरण की जो नीति अपनायी जा रही है उसके अन्तर्गत व्यक्तिगत सम्पत्ति के बदले सरकारी बौंड दिये जाने की व्यवस्था की जा रही है। इसके अनुसार जो पूंजी व्यक्तियोंको मिलती है वह मिलती तो अवश्य है, परन्तु उससे राष्ट्र को दो लाभ होते हैं, प्रथम तो उद्योग राष्ट्र के लिए हो जाता है और उसके अन्दर से लाभ की भावना का लोप हो जाता है। दूसरे उस पूंजी से सामाजिक आवश्यकता की वस्तुओं को एकत्रित करके समाज को उससे महरूम करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। उद्योगों की उत्पादित सामग्री पर ये अधिकार करके नहीं बैठ सकते। साम्यवादी व्यवस्था में ये सरकारी बौंड देने की आवश्यकता नहीं रहेगी क्यों कि वहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का इस रूप में कोई स्थायित्व ही नहीं रहता, जिस रूप में यह आज भारत में दिखलाई दे रहा है।

२०. समाज में काहिल आदमियों का रहना एक सामाजिक खराबी है; चाहे वह अमीर आदमी का निकम्मापन है या ग़रीब आदमी का। किसी भी निकम्मे पैसे वाले आदमी की समाज की यदि कुछ सेवा कही जा सकती है तो वह यह कि वह कला-प्रेमी हो सकता है, जिसका कि प्रभाव आम जनता पर स्वस्थ कभी नहीं पड़ता। जब वे लोग सही तरीके से कला की सेवा करने भी चलते हैं तब भी वे कला का जो रूप सामने रखते हैं वह गलत होता है। इन लोगों के कला-प्रेम में भाग्यवाद, खूंखारपन (शिकार इत्यादि) इत्यादि का समावेश होता है, जिनके फलस्वरूप उनका शीघ्र नैतिक पतन आवश्यम्भावी है। जब देशकी राजनैतिक बागडोर पूंजीपति वर्ग के हाथों आ जाती है तो वह अपने ही वर्ग की उन्नति का ध्यान रखता है, जिससे देश का गरीब गरीब होता है, तथा अमीर अमीर। इन लोगों की रहमदिली से कला नहीं, अमीरों की अय्याशी पनपती है और देश का नैतिकस्तर नीचे गिरता है। इस वर्ग द्वारा दियागया कला को संरक्षण वास्तव में कला का स्तर गिराना होता है। इसमें कोई शक नहीं कि कला के क्षेत्र

में इस वर्ग ने भूतकाल में सेवा की है परन्तु उसका परिणाम भी गलत ही हुआ है और आज तो उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहगई।

२१. सामाजिक उन्नति और क्रमिक विकास प्राकृतिक छाँट और प्राकृतिक क्रमविकास से भिन्न है। समाज के आधुनिक तरीके ने अच्छी नस्लों में से खराब नस्लें पैदा की हैं। इस युग में चालाक और व्यापारी वृत्ति का व्यक्ति ही अधिक कामयाब हुआ है। बढ़िया क़िस्म का आदमी तभी सामने आसकता है जब हर इन्सान को आर्थिक और सामाजिक समानता प्रदान की जाय। वह इन्सान जिसमें दूसरों की मेहनत पर फलने-फूलने की प्रतिभा है, वास्तव में सबसे अच्छा (Fittest) इन्सान नहीं है।

२२. आधुनिक विवाह-संस्कार भी संपत्ति-व्यवस्था (Property system) का ही प्रतिबिम्ब है। साम्यवाद यह निश्चयकरेगा कि अया एक पत्नी रखने की प्रथा(Monogamy)ठीक है रूस में शादी और तलाक़ के क़ानूनों को दृढ़ बनाकर यह सिद्ध किया गया है कि मानव के लिए एक पत्नी रखने (Monogamy) का सिद्धान्त ही अधिक हितकर है। दूसरी तरफ अमेरिका में एक पत्नीव्रत (Monogamy) को पूंजीवादी का आवश्यक सिद्धांत नहीं माना। साम्यवाद वास्तव में एक आर्थिक सिद्धान्त है जो सेक्स के मामले को तभी हाथ में लेता है जब उसका सम्बन्ध आर्थिक क्षेत्र की समस्या बनने लगता है। साम्यवाद बुर्दाफ़रोशी और वेश्यागमिता को बन्द करदेगा, क्योंकि इनका सम्बन्ध सम्पत्ति और आर्थिक कमी बेशी से है।

२३. साम्यवाद के अंतर्गत जब सब आदमियों को काम करना आवश्यक होजायगा तो उन निकम्मे और काहिल आदमिलों को भी काम करना होगा जो आज बिना काम किये खाते या ऐश करते हैं। इससे उन मजदूरों को आराम के लिए अवकाश मिलेगा जिन्हें आज अधिक काम के कारण आराम के लिए अवकाश नहीं मिलता। इससे उनमें सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा का विकास होगा। अपना सामाजिक स्तर ऊँचा करने का उन्हें अवकाश मिलेगा। साम्यवाद के अन्दर आराम केवल एक मुट्ठी भर लोगों का अधिकार बनकर नहीं रह सकता।

२४. आज के समाज में अच्छा काम करनेवाला मजदूरों को प्रतिद्वन्दिता-पुरस्कार केवल स्वप्निल कहानी प्रतीतहोते हैं। काम करनेवाले को कभीभी उसकी मेहनत के आधार पर वेतन नहीं दिया गया। उसे उसकी मेहनत का जो पारिश्रमिक मिलता है वह बाजार-दर के अनुसार मिलता है और यह बाजार-दर उन तत्वों के आधार पर निश्चित् कियाजाता है कि जिनपर उन मजदूरों का कोई अधिकार नहीं। साम्यवाद में हर आदमी को अपनी क़ारीगरी और मेहनत का असली जोहर दिखाने और उसका सही फल प्राप्त करने का मौक़ा मिलेगा और आर्थिक गुलामी का उसपर

कोई प्रभाव नहीं होगा।

२५. साम्यवाद का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म व्यक्तिगत मान्यता और विश्वास है। इसी प्रकार पूंजीवाद का भी धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। साम्यवादियों का विशेष रूप से धार्मिक लोगों से कम सम्बन्ध रहा है क्योंकि उनके विकास में पूंजीवादियों के साथ मिलकर धर्माचार्यों ने रोड़े अटकाये हैं और उनकी प्रगति में बाधा उपस्थित की है। धर्म आज एक रूढ़िवादी संस्था है, जिसके लिए साम्यवाद में कोई मान्यता नहीं और इसी प्रकार धर्म के भाग्यवाद को भी साम्यवाद अपनाकर गरीब को गरीब और अमीर को अमीर सहन नहीं कर सकता।

२६. पूंजीवाद के विदेशी बाजारों पर अधिकार करने की भावना का अन्त करके, व्यर्थ की झूठी राष्ट्रीय (Nationalism) भावना की पोल खोलकर साम्यवादी विचारधारा विश्व-व्यापी युद्ध की भावना को समाप्त कर देगी। साम्य-वादी समाज की राष्ट्रीय भावना इन्साफ और उदारता के साथ चलेगी। वर्ग-संघर्ष को कोई भी साम्यवादी बढ़ावा नहीं देगा, हालांकि कुछ इसके दूर होने को असम्भव समझते हैं। साम्यवादियों का विचार है कि जब तक आर्थिक प्रजातंत्रवाद क़ायम रहेगा तब तक हर व्यक्ति अधिकाधिक प्राप्ति के लिए संघर्ष करेगा, जिसके फल स्वरूप वर्ग-संघर्ष न्यूनाधिक रूप में पनपता रहेगा। यह तभी समाप्त होगा जब धार्मिक प्रजातंत्रवाद के स्थान पर राजनैतिक प्रजातंत्रवाद क़ायम होजायगा।

२७. विप्लववादी लोग ही आदर्श साम्यवादी नहीं हैं और न रूस ही संसार के लिए आदर्श हो सकता है। सन् १९१७ के अंत में रूस की दशा और विश्वव्यापी शत्रुता, जिसका कि उसे सामना करना पड़ा, वे ही रूसी साम्यवाद के विशेष लक्षण हैं। इसी प्रकार हर देश की साम्यवादी विचारधारा पर उस देश की आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ेगा। भारत में भी साम्य-वाद अपने ढंग पर पनप सकता है। यह आवश्यकता नहीं कि यहाँ पर रूस की ही तरह विप्लववादी (Bolshevik) दल पैदा हो और देश की उन्नति के कामों में उथल-पुथल पैदा करके यहाँ की होनेवाली थोड़ी बहुत उन्नति को भी समाप्त करदे।

अध्याय ११

व्याख्यानमाला ४

पुस्तक का यह अंतिम अध्याय है जिसमें हम साहित्य-सम्बन्धी चार वक्तव्य प्रस्तुत करेंगे। ये लिखित वक्तव्यों की प्रणाली का रूप है, जो इनमें प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रकार के व्याख्यान ज़बानी नहीं दिये जा सकते। गत अध्यायों में हमने देश और समाज की बहुत सी व्यापक सभ्याओं को लिया है और उनके पक्ष तथा विपक्षों की जानकारी देने का प्रयास किया है। इस अध्याय के चार वक्तव्यों में प्रथम वक्तव्य 'साहित्य का संक्षिप्त विवेचन' है और फिर तीन वक्तव्य हिन्दी नाटक-साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर हैं। ये चारों ही वक्तव्य ऐसे हैं जिनके लिए अध्ययन और बोलने से पूर्व लिखित वक्तव्य लिखकर तय्यार करने की आवश्यकता है। साहित्यिक गोष्ठियों और यूनीवर्सिटी इत्यादि की परिषदों में इसी प्रकार के व्याख्यान पढ़े जाते हैं।

साहित्य का संक्षिप्त विवेचन

चेतना और कला

चेतनासम्पन्न मानव ने ज्यों-ज्यों जीव-जगत के अधिकाधिक सम्पर्क में आकर सभ्यता का विकास किया त्यों-त्यों उसकी चेतना व्यापक, विस्तृत और परिमार्जित रूप धारण करती चली गई। स्मृति, इच्छा, कल्याण, भावना, उद्गार और विचार का आविर्भाव हुआ और विवेकशील बुद्धि में स्वप्न के साथ एक विकास का स्थिर रूप साक्षातकार होउठा। बुद्धि और कल्पना का आधार लेकर मानव-चेतना दृश्य और अदृश्य दोनों क्षेत्रों में घुस गई और उसने गहरे पानी में पैठ कर मुक्ताओं की खोज करना प्रारम्भ कर दिया। मानव की अविकसित और अव्यवस्थित विचारधाराएँ निश्चित् रूपरेखाएँ निर्धारित करने लगीं और जीवन के विविध पहलुओं का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से निरीक्षण करके उनके गुप्त रहस्यों को खोज निकालना प्रारम्भ करदिया। आवश्यकता और उपयोगिता की कसौटी पर

मानव ने अपने मार्ग में आनेवाली प्रत्येक विचारधारा को कसा और अपने उन्हीं परीक्षणों के आधार पर कुछ नियम आधारित किये जिन्होंने धीरे-धीरे मानव-संस्कारों का रूप धारण करलिया। मानव की बोध-वृत्तियों ने उसके संस्कारों को जन्म दिया और संस्कारों के आधार पर मानव की बोध-वृत्तियों के विकास का क्षेत्र तय्यार होगया मानव-चेतना ने उन्हीं बोध-वृत्तियों द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क पर जीव-जगत और प्रकृति के दृश्य और अदृश्य चित्रों को अंकित करना प्रारम्भ कर दिया। यह चित्रांकन कलानुक्रम से बोध-वृत्तियों का वह विकास है कि जिसके फल-स्वरूप मानव के ज्ञान और दृष्टिकोणों का क्रमशः विकास होना प्रारम्भ हो जाता है। मानव की अभिव्यंजना के इसी क्रमिक विकास को हमकला कहकर पुकारते आरहे हैं।

आज की विकसित अभिव्यंजना-शक्ति के आधार पर प्रभाव-चित्रों के ग्रहण और अभिव्यंजन में कोई भेद नहीं रहगया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि अभिव्यंजना कला की पर्यायवाची संज्ञा बनगई। कला मुक्त है, नियमबद्ध नहीं। वह रूप की अभिव्यक्ति है और उसका सम्बन्ध भी व्यष्टि तक ही सीमित है। दर्शन, सिद्धान्त और तर्क के क्षेत्र में अभिव्यंजना का पदार्पण होसकता है, कला का नहीं। मानव की अभिव्यंजना-शक्ति केवल कला तक ही सीमित न रहकर मानव की विविध बोध-वृत्तियों के क्षेत्रों में भी मार्ग सुझाती है। कला नियम और सिद्धान्त के क्षेत्र में घुसकर अपने को सीमित करना कभी सहन नहीं करसकती। कला का विस्तार-क्षेत्र मानव की अनुभूति, कल्पना और विवेक हैं। इस प्रकार मानव की भावनाओं का सीमा रहित विराट क्षेत्र कला का वह उद्यान है जिसमें वह अपनी कल्पना और अभिव्यंजना के ऐसे पुष्प खिला सकती है जिनसे संसार महक उठे, जीवन में आनंद और उमंगों का नव-संचार हो, और दुर्गम से दुर्गम मार्ग भी सुगम बनता हुआ दृष्टिगोचर हो जाय।

कला और वृत्तियाँ :

मानव के मानसिक क्रियाकलाप ज्ञान (Knowledge) भावना (Feeling) और इच्छा (will) तीन भागों में विभक्त हैं। विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर कला के मूल में भावना-तत्व की ही प्रधानता दिखलाई देती है परन्तु ज्यों-ज्यों समाज का विकसित रूप सामने आया और मानव-जीवन जटिल परिस्थितियों से होकर गुजरा तो समाज को नियम और शासन से बाँधना प्रारम्भ कर दिया। समाज में हित और अहित की भावना दृढ़ होनी आरम्भ होगई और उसी के साथ-साथ भावना पर इच्छा शक्ति का भी प्राधान्य दिखलाई देने लगा। कालांतर में भावना के क्षेत्र पर इच्छा-शक्ति का अधिकार हो गया और

आज के जीवन में तो हम मानव के मानस-पटल पर प्रधानता ही सर्वथा इच्छा शक्ति की पाते हैं। मानसिक क्रिया का उक्त विभाजन पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर है। संस्कृत के पंडित भावनाशक्ति को नहीं मानते। उन्होंने भावना की शक्ति-को आधा-आधा करके ज्ञान और इच्छा में ही मिला दिया है। भावना तथा ज्ञान के समन्वय से कला अपने वर्तमान रूपको प्राप्त करसकी है और भावना तथा इच्छा के समन्वय से कला उच्छृंखल न होकर क्रमबद्धता को प्राप्त होजाती है। इच्छा और भावना तथा भावना और ज्ञानके समन्वय द्वारा आदि मानव की आहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि प्रवृत्तियों का समन्वय भी भावना की लोकोपकारी प्रवृत्तियों से हुआ और इस प्रकार मानव की विचार शक्ति ने केवल अपने को केन्द्र न मान कर समाज के व्यापक क्षेत्र पर दृष्टि फैलाई। कला का क्षेत्र व्यापक बनने लगा और उसमें लोकहित की भावना का समावेश हुआ। कला-क्षेत्र में पहले ज्ञान आया, फिर भावना जाग्रत हुई और अन्त में कर्म की प्रवृत्तियों ने कला को साकार रूप दे दिया। इस प्रकार कला अपने विभिन्न क्षेत्रों में अग्रसर होकर विश्व में व्यापक होगई।

साहित्य-कला का रूप :

साहित्य-कला-क्षेत्र में भी हम मानव की इन्हीं तीन वृतियों का क्रमिक विकास पाते हैं। साहित्य-कला का अस्तित्व शाब्दिक संकेतों पर है। चक्षुरिंद्रिय और वर्णेन्द्रिय द्वारा मानवके मानस पटल पर साहित्य-कला के चित्र अंकित होते हैं। कुछ साँकेतिक शब्दों द्वारा प्राकृतिक दृश्यों और जीवन की घटनाओं को काल्पनिक और साक्षात् दृश्य चित्रण-इन्द्रियों की सहायता से मानसपटल पर उतारे आते हैं। यह चित्रण भावनामय होते हैं और इन भावनाओं का प्रस्फुटन सांकेतिक शब्दों पर आधारित रहता है। इन्हीं मानसिक चित्रों के आधार पर साहित्यकार अपने मन का सम्बन्ध गत, वर्तमान और भविष्य के बहिंजगत् और अन्य व्यक्तियों की विचारधाराओं, चिंतनों और भावनाओं से स्थापित करता है। इस सम्बन्ध-स्थापन का माध्यम भाषा है और भाषा के आधार पर कवि तथा साहित्यकार काव्य की रचना करता है। साहित्य-कला भी अन्य कलाओं की भाँति सौंदर्य का निर्माण करती है और उसी सौंदर्य के आधार को लेकर मानव के मानस पर अपना साम्राज्य स्थापित करती है। कला की सृष्टि में आदर्श और रूखा-पन नाम मात्र के लिए भी है ही नहीं।

साहित्य-कला के प्रकार :

जहाँ तक आनंद और सौंदर्य के आदर्श की स्थापना का सम्बन्ध है वहाँ तक साहित्य-कला और अन्य कलाओं के उद्देश्य में पूर्ण रूप से साम्य मिलता है, परन्तु जब हम कला की उपयोगिता और अनुपयोगिता के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं तो विद्वानों के मतों में भेद उत्पन्न होजाता है। विद्वानों का एक मत कला के केवल आनंदप्रद गुण को ही कला की सार्थकता मानकर संतुष्ट होजाता है परंतु दूसरा मत कला में उपादेयता खोजने से नहीं चूकता। पहला मत कला में उपादेयता खोजने को कला के लिए अनिष्टकर समझता है और दूसरा मत बिना उपादेयता वाली कला को व्यर्थ या छिछोरापन मान बैठता है। विद्वानों का दूसरा मत कला को जीवन का एक अंग मानकर उसकी परख करता है, जीवन से प्रथक रख कर उसकी पूजा करना नहीं चाहता। मानवजीवन के प्रायः सभी क्रिया-कलापों और अनुभवों के साथ कला को लेकर चलनेवाला यह दूसरा मतधारी वर्ग यह सोचता है कि हमारा जीवन कला को किस प्रकार प्रभावित करता है और कला हमारे जीवन के किन-किन अंगों को छूकर चलती है।

उक्त दोनों ही सिद्धांतों के माननेवाले विद्वानों की कमी नहीं और न ही हम इस विषय में कुछ निर्णयात्मक विचार ही प्रकट कर सकते हैं कि इनमें कौन मत ठीक और कौन गलत है, परंतु इतना सच है कि मानव-मस्तिष्क केवल इस सिद्धान्त को मान लेने से कि 'कला कला के लिये है' कला के प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता। मनोविज्ञान कहता है कि मस्तिष्क में वर्तमान अनुभवों पर चाहे कैसी भी कला क्यों न हो उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहसकता और इस प्रकार हर प्रकार की कला के प्रदर्शन से मानव की विचारधाराओं में थिरकन पैदा होगी, झंकार उठेंगी, और उनकी दिशाओं में भी हो सकता है कि अन्तर आ जाय। कला को यदि केवल आनंद तक ही सीमित कर दिया जाय तब भी यह संभव नहीं कि वह अछूती रहकर हमारे मानस-पटल पर विचरण करे। कला का प्रभाव यह हो नहीं सकता कि किसी न-किसी रूप में हमारी कल्पना और भावनाओं पर न पड़े। इसलिये कला को मानव-जीवन से प्रथक करके नहीं परखा जा सकता और जिस प्रकार यह व्यक्ति के जीवन में अपना स्थान रखती है उसी प्रकार समाज से भी इसका सम्बन्ध प्रथक करके आँकना भूल होगी। 'भारत में कला जातीय जीवन के अनुभवों का एक चित्र मात्र रही है। वह मानव जीवन से उसी प्रकार सम्बन्ध रखती है और जीवन में उसी प्रकार काम आती है जिस प्रकार हमारा दिन रात का भोजन।'

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति और व्यापकता :

बाबू गुलाबराय जी साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानते हैं—"साहित्य शब्द का अर्थ है सहित होने का भाव—'सहितस्य भावः साहित्यं । अब प्रश्न होता है कि सहित शब्द का क्या अर्थ है ? सहित शब्द के दो अर्थ हैं—(१) सह अर्थात् साथ होना (२) 'हितेन सह सहितं; अर्थात् हित के साथ होना अथवा जिससे हित सम्पादन हो । सह (साथ) होने के भाव को प्रधानता देते हुए हम कहेंगे कि जहाँ शब्द और अर्थ विचार और भाव का परम्परानुकूलता के साथ सहभाव हो, वही साहित्य है । शब्द और अर्थ का सहित होना स्वाभाविक रूप से माना गया है । कविकुल चूड़ामणि कालिदास ने अपने रघुवंश के मंगलाचरण में शब्द और अर्थ के संयोग को अपने इष्ट पार्वती-परमेश्वर के संयोग का उपमान माना है :

वागर्थाविव सम्पृक्तो वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥

गोस्वामी जी ने भी वाणी और अर्थ का सम्बन्ध जल और उसकी तरंग की भांति एक दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनों ही माना है:

गिरा अर्थ, जलवीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।
बन्दौं सीता राम पद, जिन्हें सदा प्रिय खिन्न ।।"

साहित्य का व्यापक क्षेत्र :

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति के रूप में चाहे हम उक्त विचारधारा के अंतर्गत अपने को बाँधलें परन्तु आज का साहित्यकार इस शब्द का प्रयोग बहुत ही व्यापक रूप में करने लगा है । काव्य शब्द को सीमित समझकर ही साहित्य शब्द का प्रयोग करना आवश्यक होउठा और इसके अंतर्गत भाषा, भाव और विचारों से संबंध रखनेवाली प्रत्येक रचना ने कहीं-न-कहीं अपना स्थान निर्धारित कर लियाहै । आज के युग में साहित्य-शब्द की सीमा केवल ललित काव्य की परिधि बाँध कर ही संतुष्ट नहीं होसकती वरन् भाषा में बंधी हुई लेखनी की प्रत्येक कृति इसके क्षेत्र में आजाती है । अंग्रेजी शब्द (Literaltnre) की व्यापकता इसमें आज सन्निहित है। अरबी शब्द 'अदब' में 'काव्य' की संकुचित विशेषता वर्तमान है। साहित्य शब्द उससे मुक्त होकर व्यापक विचारधारा के साथ लेखनी का सहगामी बनता हुआ मानव की मानसिक वृतियों और प्रवृत्तियों को भावना और विचार की स्फूर्ति द्वारा कल्पना, अभिव्यंजना और परीक्षणों के बल पर अपने संपूर्णाग के

साथ प्रसारित करता चला जा रहा है। आज मानव के विविध क्रियाकलापों, विचार धाराओं, वैज्ञानिक खोजों, ऐतिहासिक चित्रणों, दार्शनिक चिंतनों, मानसिक विवेचनों, काल्पनिक उड़ानों, रहस्यमय उद्घाटनों का एक मात्र केन्द्र साहित्य है और इसके अंतर्गत जीवन के विविध पहलू विविध दृष्टिकोणों द्वारा साहित्यिकों ने इस प्रकार खोल-खोल कर सुन्दर सुव्यवस्था के साथ सजाये हैं कि पाठक और दर्शक उन्हें देख और पढ़कर मंत्रमुग्ध हो उठता है। साहित्य ने जीवन और प्रकृति के रहस्यों का वह समन्वय स्थापित किया है कि जिसके दर्पण में मानव जब चाहे अपने-अपने सही रूप को निरख और परख सकता है। केवल साहित्य में ही भूत और वर्त्तमान की साक्षात् रूपरेखा प्रस्तुत करने की क्षमता है और साहित्य ही मानव के भविष्य-निर्माण की ओर निश्चयात्मक रूप से अपने अनुभवों के आधार पर वह संकेत करसकता है कि जो मानव मात्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो। इसलिए साहित्य का क्षेत्र संसार में इतना व्यापक है कि इसकी तुलना में विज्ञान को भी पीछे रहजाना पड़ता है। मानव-मंगल के भविष्य की रूपरेखा प्रस्तुत करने की क्षमता केवल साहित्य में ही है और साहित्य ही उसकी विश्वस्थ योजना प्रस्तुत करसकता है।

साहित्य की परिभाषा :

साहित्य की संक्षिप्त परिभाषा हम इस प्रकार देसकते हैं,— साहित्य समाज के हृदय और मस्तिष्क की भावनाओं तथा विचारों को मुखरित करने वाली वह भाषा है जिसमें व्यक्ति का जीवन झाँक रहा है, समाज के प्राण छुपे हुए हैं, राष्ट्र की संवेदना व्यापक है, मानव की कल्पनाएँ सन्निहित हैं, और व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा मानव मात्र के भूत, वर्तमान एवं भविष्य आदर्श और यथार्थ की चादर ओढ़े विराजमान हैं। साहित्यकार अपनी सहृदयता और विचित्र अनुभव-शक्ति-द्वारा दूरदर्शिता के साथ उन रहस्यों का उद्घाटन करता है जिन तक साधारण मनुष्य की दृष्टि नहीं पहुँचपाती और यदि पहुँच भी पाती है तो उसके पास वह भाषा और भावव्यंजना नहीं होती, जिसके द्वारा वह उसे साहित्य के रूप में प्रस्फुटित करसके। साहित्य व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानव मात्र की छाया है और वह उसी प्रकार उन्हें नहीं छोड़ सकता जिस प्रकार किसी चलते फिरते व्यक्ति की छाया उसे नहीं छोड़ सकती; परन्तु यहाँ अन्तर केवल इतना ही है कि व्यक्ति की छाया सर्वदा व्यक्ति का अनुकरण मात्र ही करती है, व्यक्ति से छाया अपना अनुकरण नहीं कराती, परन्तु साहित्य कभी-कभी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानव मात्र से अपना अनुकरण भी कराता है। साहित्य कभी इनके पीछे चलता है, कभी साथ और कभी पथ-प्रदर्शक बनकर बागडोर अपने हाथ में सम्भाल लेता है। अपने सन्निहित

ज्ञान और अनुभवों द्वारा प्रकाश की किरणें बिछाता हुआ साहित्य प्रतिभासम्पन्न साहित्यकारों की ज्योति से संसार का पथ आलोकित करता है । साहित्य व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, मानव और प्रकृति की भावना है; विचार है, कल्पना है, अनुभूति है, इतिहास है, दर्शन है, बौद्धिक विकास की आधारभूत शिला है, आदर्श की कसौटी है और आत्मा की वह अमर पुकार है जिसके शब्द-शब्द में मानव-मंगल की योजनाएँ नृत्य करती हैं, जिसकी प्रत्येक स्वरलहरी में आनंद की झंकार मुखरित होउठी है और जिसके प्रत्येक चित्रांकन में नेत्रों की पुतलियों को स्थिर कर देने की क्षमता वर्तमान है ।

साहित्य के व्यापक क्षेत्र का अध्ययन करलेने के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि विभिन्न ललित कला, दर्शन, विज्ञान, इतिहास, भूगोल इत्यादि में जो कुछ भी ज्ञान भाषा-बद्ध कियाजाता है वह साहित्य है । इस साहित्य की विभिन्न श्रेणियाँ और विभिन्न प्रकार हैं, परन्तु यहाँ हम साहित्य के इस व्यापक रूप को न लेकर केवल भावना और विचार से ही सम्बन्ध रखनेवाले भाषा-बद्ध ज्ञान तक सीमित रहेंगे । संकुचित दृष्टिकोण से यही साहित्य है । प्रारम्भ में साहित्य के वर्ग, उनका व्यक्ति, समाज और राष्ट्र से सम्बन्ध स्थापित करके फिर वर्गों से रूपों की व्याख्या उपस्थित करेंगे ।

व्यक्ति और समाज :

'साहित्य पर संक्षिप्त दृष्टि डाललेने के पश्चात् व्यक्ति और समाज को मूल रूप से परख लेना आवश्यक है । समाज और व्यक्ति का अध्ययन कियेबिना साहित्य से इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित करना कठिन ही नहीं, असम्भव है । मानव एक मननशील प्राणी है और यह आदि युग से विकासमय तथा परिवर्तन-शील रहा है । विश्व के इतिहास और मानव-जाति के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमें कोई भी अन्य प्राणी इतना परिवर्तनशील दिखलाई नहीं देता जिसकी तुलना मनुष्य से कीजासके । मानव की मनन-शक्ति ने ही आजतक नवीन-तम आविष्कारों को जन्म दिया है और उसने अपने अन्तर्जगत तथा बहिर्जगत में अनुभव किया है, अध्ययन किया है, विचार किया है और परखा है तथा उसे बहिर्-जगत में साहित्य के माध्यम द्वारा प्रचारित किया है । इस दिशा में मानव का जो स्पष्टीकरण भाषा द्वारा हुआ है वह साहित्य बना और वही उसके अन्तर्जगत का कलात्मक साहित्य अथवा इतिहास है ।

मानव को हम व्यक्ति के रूप में लेते हैं और व्यक्ति के विकास का नाम समाज है । व्यक्ति ने अपनी उच्छृंखल प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने के लिए समाज का ढाँचा तय्यार किया और धर्म तथा समाज के नियमों से जकड़ कर समाज और

मानव की रक्षा के लिए एक कटघरा तय्यार किया। प्रारम्भ में व्यक्ति ने यह कटघरा अपनी सुरक्षा और व्यवस्था के लिए बनाया था और उसके मूल में प्रगति की भावना सजीव रूप से वर्तमान थी। रूढ़िवादी विचारधारा उस समय जन्म नहीं ले सकती थी। परन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ ज्यों-ज्यों वह समाज का वृक्ष पनप कर मोटा होता चला त्यों-त्यों वह धार्मिक तथा सामाजिक कटघरा जो कि प्रारंभ में उसे सहारा देने और सुरक्षा प्रदान करने के लिए बनायागया था उसने उसे जकड़ना और उसकी प्रगति को रोकना प्रारम्भ करदिया। व्यक्ति की प्रगति रुकने के साथ-ही-साथ समाज की प्रगति में बाधा उपस्थित हुई। परन्तु यह कटघरा समाज और व्यक्ति के विकास को न रोक सका और उसे एक दिन टूट कर नीचे गिरजाना पड़ा। जिस प्रगतिशील व्यक्ति ने उसका निर्माण किया था उसी ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया और नवीनतम दृष्टिकोणों के साथ न्यूतन प्रगतियों के आधार पर फिर एक नई व्यवस्था को सामने लाया गया। भगवान् राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, स्वामी दयानंद इत्यादि समाज की महान् आत्माओं और व्यक्ति के इने-गिने उदाहरणों ने समाज को नया दृष्टिकोण दिया और नवीन विकास की योजनाएँ उसके सामने रखीं। पुराने प्रतिबन्धों को तोड़कर नवीन मार्ग निर्धारित किये।

कटघरा टूट कर गिरगया और समाज को प्रगति के लिए मार्ग मिला, यह सच था, परन्तु समाज की सुरक्षा का वह सहारा उसके हाथ से जातारहा और समाज में अनेकों प्रकार के उच्छृँखल विकार आने प्रारम्भ हो गये। बड़े-बड़े विद्वानों को इस समस्या पर फिर विचार करनापड़ा। इसके पश्चात समाज की सुरक्षा के लिए एक और बड़ा कटघरा तय्यार किया गया। परन्तु एक समय फिर ऐसा आया जब यह बड़ा कटघरा भी छोटा पड़कर टूटगया इस प्रकार इन कटघरों के बनने और टूटने का इतिहास ही समाज का इतिहास है। इसकी लम्बी चौड़ी-किश्ती है जिसे हम मानव-समाज की रूपरेखा मानते हैं। इन कटघरों को तोड़ने और बनाने का कार्य साहित्य के हथौड़े और छैनियों द्वारा हुआ है, कभी हल्की चोटें पड़ीं और कभी भारी। यह क्रम न केवल भारत मे ही हमें दिखलाई पड़ता है वरन् विश्व भर के इतिहास को देखने से पता चलता है कि संसार के प्रत्येक देश में इस प्रकार का इतिहास वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार अदल-बदल के साथ इसी क्रम के अन्तर्गत चला है। इंग्लैंड, अमेरिका रूस के साहित्यक विकास पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमारे सम्मुख ऊपर दीगई व्यक्ति और समाज के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत होजाती है।

साहित्य और व्यक्ति अथवा व्यक्तिगत साहित्य :

कुछ विद्वान् तो साहित्य को साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति मानकर यहाँ तक कह डालना भी सत्य समझते हैं कि साहित्य कुछ नहीं है केवल लेखक के जीवन के विविध दृष्टिकोणों और अनुभवों का कलात्मक स्पष्टीकरण मात्र है और क्योंकि वह लेखक समाज का एक अंग है इसलिए उसका साहित्य अनायास ही समाज के व्यापक क्षेत्र को कहीं कहीं पर छूजाता है। परन्तु यह मत संकुचित है। लेखक के साहित्य में उसकी आत्माभिव्यक्ति की झलक न मिले यह संभव नहीं, परन्तु लेखक का साहित्य केवल उसके अपने कार्यकलापों का लेखा-जोखा मात्र ही होता है, यह कहना उचित नहीं। लेखक का व्यक्तित्व उसके साहित्य में कभी प्रधान और कभी गौण रूप से मुखरित होता है, परन्तु अनेकों स्थानों पर लेखक को अपने व्यक्तित्व से प्रथक होकर भी जाति, समाज और राष्ट्र की उलझनों में फँसजाना होता है। लेखक केवल अपने तक ही सीमित नहीं रहसकता। व्यक्ति और समाज को ही ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने साहित्य के व्यक्ति-प्रधान और समाज-प्रधान अथवा सहपक्षी और विपक्षी दो रूप माने है। सहपक्षी साहित्य का सम्बन्ध उस साहित्य से है जहाँ लेखक समाज की मान्यताओं पर ध्यान न देकर उसकी रूढ़ियों और आडम्बरों से अपने को मुक्त मानता हुआ मानव-जीवन की समस्याओं को अपने तरीके से निरखता और परखता है। वह अपने निरीक्षणों, और परीक्षणों को अपने हृदय और मस्तिष्क की छान-बीन करने वाली शक्तियों पर ही आधारित करके लेखनी उठाता है। इस प्रकार का लेखक प्रगतिवादी होता है जिसके सामने कोई भी मान्यता अपने इतिहास के बल पर सार्थक सिद्ध नहीं होसकती। जीवन की प्रत्येक समस्या को कसौटी पर कसना वह अपना कर्तव्य समझता है। उसके जीवन में विस्फोटक-ज्वाला वर्तमान रहती है और उसके बल से वह समाज की रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करता हुआ नवीन मान्यतायें निर्धारित करता है, नये उदाहरण प्रस्तुत करता है, नया संदेश लेकर चलता है, भविष्य की विचारवादी रूप रेखा पाठकों के सम्मुख रखता है। वह अपने को समय और समाज का प्रथ-प्रदर्शक मानता है, राष्ट्र का पथ-द्रष्टा बनकर उसमें प्रगति के प्राण फूँकना चाहता है, उसे नव-युग का संदेश देता है, वह कभी भी वर्तमान परिस्थितियों से संतुष्ट नहीं होता, धीमीगति से चलने वाली प्रणाली को वह सहन नहीं कर सकता, वह एक क्षण में कूद कर आकाश के तारे तोड़लाने की क्षमता अपने अन्दर अनुभव करता है और उसके साहित्य में निर्माण की अपेक्षा खंडन की प्रवृत्ति अधिक रहती है। विनाशकारी प्रवृत्तियों के आधार पर यह व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करता है और उसी की छायास्वरूप उसका साहित्य होता है, उसीकी प्रेरणा उसकी लेखनी से वह निकलती है और उसी

संदेश लेकर वह अपनी प्रतिभा का प्रस्फुटन करता है।

यह व्यक्तिप्रधान लेखक अथवा व्यक्तित्व प्रधान साहित्य समाज की कुरीतियों को सहन नहीं करसकता, उसकी बड़ी से बड़ी आलोचना करता है। वह एक नई दुनियाँ बसाने का स्वप्न देखता है जिसमें समाज का नया ढाँचा, नये नियमों के आधार पर संगठित किया गया हो। टीप-टाप इसे सहन नहीं है,पुराने 'प्रासाद' पर प्लास्टर करके उसे नया कहना इसने नहीं सीखा; यह तो नयी नींवें खोदकर उसमें नये पत्थर रखना और नयी इमारत बनाना जानता है। यह नव-निर्माण की योजनाओं से खेलने वाला क्रांतिकारी कलाकार होता है, जिसका सुधार में विश्वास नहीं, जिसने नाते रिश्ते निभाने का कभी प्रयत्न नहीं किया, जिसके शब्द-शब्द में निखरी और खरी, तीखी और प्रखर, तीव्र और आशामय भावना और विचारधारा का व्यापक स्वरूप वर्त्तमान रहता है।

व्यक्तिगत साहित्य और समाज अथवा सहपक्षी साहित्य और समाज :

इस साहित्य का समाज विरोध करता है। समाज की मान्यताओं को संचालित करनेवाली समाज के रूढ़िवादी आचार्य अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से इस साहित्य और साहित्यकार का विरोध करते हैं, पग-पग पर उसके सामने रुकावटें उपस्थित करते हैं, समाज के पाठकों में उसके विरुद्ध भांति-भांति की झूटी अफ़वाहें प्रचारित करते हैं और वश में होने पर नीति और गुंडागर्दी करने से भी नहीं चूकते जब-जब समाज में भ्रष्टाचार हुआ है और समाज ने अपनी रूढ़ियों द्वारा व्यक्ति के प्रगति-मार्ग को अवरुद्ध करदेना चाहा है तब-तब इस प्रकार के खंडनात्मक साहित्य का प्रादुर्भाव दृष्टिगोचर होता है। व्यापक रूप से जैन-साहित्य, बौद्धधर्म का साहित्य, शंकराचार्य का साहित्य और अन्त में कबीर, स्वामी दयानन्द और राजा राम मोहनराय इत्यादि के साहित्य भी इसी कोटि में आजाते हैं। उक्त सभी व्यक्तियों के जीवन-काल में इनका कट्टर विरोध समाज में हुआ परन्तु समय की प्रगति के साथ-ही-साथ समाज को नीचा देखना पड़ा और इन व्यक्तियों की विचार-धाराएँ अपने-अपने कर्त्तव्य की पूर्ति में फलीभूत हुईं। व्यक्तिगत साहित्य में चापलूसी और लीपा पोती के लिये कोई स्थान नहीं। इस साहित्य का लेखक अपने उद्देश्यों मे कहीं पर भी किसी के साथ समझौता करने को उद्यत नहीं। वह जो कुछ भी विचार करता और कहता है वह संतुलित होता है और उसकी आत्मा इतने प्रबल वेग से उस विचार-धारा को प्रस्तुत करती है कि उसके सम्मुख कहीं पर भी रुकने या सोचने का अवसर ही नहीं रहता। समाज की कुरीतियों और

प्रतिबन्धों का वह सहन नहीं करसकता, वस इसीलिए समाज भी उसे आदर प्रदान करने में असमर्थ रहजाता है। इस विचारधारा के अन्तर्गत कहीं पर भी अंध-विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं, ऊँच-नीच-बड़ा, छोटा इत्यादि की भावनाओं को भी ठहरने नहीं दिया जा सकता। समाज की कठोरतम परिस्थितियों को भुलाकर इस साहित्य ने चलना नहीं सीखा।

समाजगत साहित्य और समाज :

व्यक्तिगत साहित्य के ठीक विपरीत समाज़गत साहित्य है जिसमें लेखक और उसका साहित्य दोनों समाजगत मान्यताओं को ध्यान में रखकर चलते हैं। यह साहित्य सुधारवादी प्रवृत्तियों से सर्वथा शून्य नहीं रहता परन्तु सुधारों की प्रणाली इस प्रकार की रहती है कि जिससे पाठकों के विश्वास और प्राचीनकाल से चले आने वाले सम्बन्धों को धीरे-धीरे ठेस लगे। एकदम तीखी आलोचना करके यह साहित्य समाज के नियमों की काट-छाँट करना पसंद नहीं करता और न ही यह भी कहता है कि वह कोई नया संदेश अथवा नई बात कहने के लिए उसके सम्मुख आया है। वह तो वही पुरानी बात केवल अपने रूप से कहजाना चाहता है। उसके कहने में मिठास रहता है, सादगी रहती है, विश्वास रहता है, प्राचीन के प्रति आदर रहता है, समाज में आस्था रहती है और जीवन के प्रधान केन्द्रों और उनके प्रति प्रचलित विचारों को वह ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। वह न तो अपने को विद्वान् गिनने वालों का अहम ही खंडित करना चाहता है और न मूर्खों को उठाकर उनके आसमान पर बिठलादेना चाहता है। वह तो जो जहाँ पर है उसे वहीं पर आनन्द और रसमय जीवन का संदेश पहुँचादेना चाहता है। उथल पुथल करके मानव-जीवन के सामाजिक क्षेत्रों में असंतोष की भावना भरदेना उसका उद्देश्य नहीं रहता, वरन् असंतोष में संतोष की भावना भर देना रहता है। ऐसा यह लेखक अथवा यह साहित्य मानव-जीवन में शांति पैदा करने और उसके आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए करता है, परन्तु सहपक्षी साहित्य इसे अकर्मण्यता, निर्बलता, असहायता और जीवन की वह दुर्बलता कहकर पुकारता है कि जिसने मानव के उत्थान को प्रगति-पक्ष की ओर उन्मुख होने से सर्वदा रोका है। सहपक्षी साहित्य विपक्षी साहित्य की इन प्रवृत्तियों को प्रगतिशील, स्वार्थ प्रिय और धोखा तक कहने में संकोच नहीं करता। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास इत्यादि का साहित्य इसी प्रकार का साहित्य है।

विपक्षी साहित्य को सहपक्षी साहित्य चाहे कितना भी हेय क्यों न समझे परन्तु समाज ने इसका सर्वदा आदर किया है। समाज ने इसे अपना साहित्य मान-

कर अपनाया है, इसे अपना इतिहास माना है, अपना धर्म-साहित्य गिना है और वेद तथा पुराणों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझा। गोस्वामी तुलसीदास का राम-चरित् मानस इसका ज्वलंत उदाहरण है जिसे भारतीय समाज ने अपने धर्म-ग्रन्थों में प्रधान स्थान दिया है। सामाजिक साहित्य समाज के रंग में सराबोर होकर प्रसारित होता है।

साहित्य का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप :

व्यक्तिगत और समाजगत साहित्य को समझलेने पर साहित्य के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप को भी समझ लेना चाहिए। साहित्य पर व्यक्ति तथा समाज दोनों का प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप, दोनों प्रकार से पड़ता है। समाज और व्यक्ति का जहाँ प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाई दे वहाँ साहित्यकार उन्हें लक्ष मानकर साहित्य की रचना करता है, परन्तु जहाँ विपक्ष के स्पष्टीकरण में अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति अथवा समाज की छाया मिलती है वहाँ साहित्यकार का दृष्टिकोण अप्रत्यक्ष ही रहा है। साहित्यकार स्वयं एक व्यक्ति है और समाज का प्राणी भी इसलिए यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं कि उसकी रचना इनके प्रभाव से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वंचित रहसके। साहित्य का व्यक्ति और समाज की छाया से इस प्रकार मुक्त रहना असम्भव है।

समय का साहित्य पर प्रभाव अथवा समाज और राष्ट्र का साहित्य पर प्रभाव :

साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि डाललेने से यह स्पष्ट होजाता है कि साहित्य सर्वदा ही समाज और राष्ट्र की परिस्थितियों से प्रभावित होता रहा है। यहाँ पर हम जब विश्व के विभिन्न देशों के साहित्य पर दृष्टि डालेंगे तो ज्ञात होगा कि स्वतंत्र और परतंत्र देशों की साहित्यिक प्रगति में कितना अंतर रहा है। स्वतंत्र देशों का साहित्य सहपक्षी विचारधारा को अपने में प्रधानता रखता हुआ राष्ट्र में प्रगति और तीव्रता का संचार करने में समर्थ हुआ है परन्तु वही साहित्य परतंत्र देशों में विशेष सफल नहीं हो पाया। सहपक्षी साहित्य के लेखकों के लिए परतंत्र देश में विचारों के प्रतिपादन की उतनी स्वतंत्रता नहीं रही जितनी स्वतंत्र देशों में प्राप्त थी। इसी लिए परतंत्र देशों में सहपक्षी साहित्य की अपेक्षा विपक्षी साहित्य ही अधिक पनप सका है।

समय की प्रगतियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ना अवश्यम्भावी था। हिन्दी साहित्य का इतिहास आद्योपांत इस सत्य का ज्वलंत उदाहरण है। हिन्दी साहित्य

प्रधान रूप से विपक्षी ही साहित्य है। वर्तमान युग में कुछ सहपक्षी साहित्य की धाराएँ प्रवाहित अवश्य हुई हैं परन्तु वह भी अभी उस स्तर पर नहीं पहुँचपाई कि समाज अथवा राष्ट्र का पथ-निर्देशन करसकें। इसका प्रधान कारण यही है कि हिन्दी साहित्यकार और साहित्य अभी बहुत पिछड़ा हुआ है, वह साहित्य की दौड़ में बहुत पीछे है और यहाँ का राजनीतिक खिलाड़ी जहाँ पहुँच चुका है उस स्थान तक पहुँचने में उसे समय लग रहा है। हिन्दी के आदिकालों का साहित्य आज वैज्ञानिक युग में ऐतिहासिक विशेषता अवश्य रखता है परन्तु जीवन की वह स्फूर्ति उसमें वर्तमान नहीं जिसे आज का पाठक अपनाकर पढ़ सके। वह साहित्य साहित्यिक खोजों की सामग्री अवश्य है और वह हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए रिसर्च करने का व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हैं। प्राचीन साहित्य पर संक्षेप में दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होजाता है कि वह समय और परिस्थितियों का साहित्य है जिसमें वीरगाथा काल में वीर गाथाएँ मिलती हैं; भक्ति-काल में भक्ति का साहित्य उपलब्ध है और पराधीनता की स्वप्निल छाया में राजकीय केन्द्रों के रत्न कवियों की वासना मय मनोवृत्तियों का उद्घाटन हमें रीतिकालीन कविता में मिलता, जहाँ न हृदय ही रहा और न विचार ही, न समाज ही रहा और न राष्ट्र ही, न व्यक्ति ही रहा और न नव चेतना ही; केवल रह गई मस्तिष्क की अय्याशी जिसमें नायक और नायिका के भेद और उपभेदों में उलझकर साहित्कार की कल्पना, अभिव्यंजना, विचारधारा भावना और जीवन की परीक्षण-शक्ति एक युग के लिए बन्दर की कलाबाजियों में परिवर्तित होगई। आकाश अन्धकारपूर्ण होगया और साहित्य समाजगत चापलूसी को भी छोड़कर उस चापलूसी पर केन्द्रित होगया जिसका व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों में से किसी से भी कुछ सम्बन्ध नहीं था। परन्तु समय ने फिर पलटा खाया और साहित्य में स्वतंत्र विचार-शक्ति का संचार हुआ। विश्व-साहित्य की झांकी परतंत्रता में भी अंग्रेजी की खिड़की से किसी प्रकार भारत में उतर आई और शासन कर्त्ता इच्छा न रहने पर भी भारत में उसके आविर्भाव को न रोकसके। भारत के समाज और राष्ट्र ने करवट ली, साहित्य में नव स्पन्दन हुआ और मानव की प्रगति-शील प्रवृत्तियों ने नव चेतना को जन्म दिया। नव चेतना का साहित्य धीरे-धीरे समय और परिस्थितियों के सहयोग द्वारा पनप रहा है और आज स्वतंत्र राष्ट्र के नव-निर्माण में हमें पूर्ण आशा है कि निकट-भविष्य में यह समाज और राष्ट्र का पथ-द्रष्टा सिद्ध होगा।

मानव-विकास और साहित्य :

मानव आदि काल से विकासोन्मुख रहा है। मानव की भावना, कल्पना और विचार-शक्तियों ने निरंतर परीक्षण किये हैं और जीवन एक के पश्चात् दूसरी

क्रांतियाँ ला-लाकर नवीनतम दृष्टिकोणों और विचारों को जन्म देता रहा है। मानव के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि मानव ने स्वयं अपनी प्रवृत्तियों का बहुकालव्यापी संघर्ष देखा है जिसके अंतर्गत उसकी दानव प्रवृत्तियों और मानव प्रवृत्तियों का घमासान संग्राम पाया जाता है। मानव के पशुबल ने मस्तिष्क-बल पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और मस्तिष्क-बल ने पशु-बल पर। मानव की इन्हीं दो शक्तियों के संघर्ष ने आज तक उसके इतिहास की रचना की है। पशु-बल और मस्तिष्क बल ने सम्बल स्वरूप कभी राजा में दैविक अधिकारों की स्थापना की है और कभी पोप और धर्म-गुरु ने अपने को भगवान् का पुत्र मानलिया है; कभी डिक्टेटर की शक्ति का उदय हुआ और कभी पूंजी ने अपने बल से शक्ति को क्रय कर लिया, कभी साम्राज्यवाद की भावना ने जोर पकड़ा और कभी देशभक्ति के गीतों की मधुर ध्वनि से भूमंडल गुंजायमान होउठा। आज एक ओर मजदूर की समस्या है तो दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतंत्रता कायम रखने के लिए एटमबम के कारखाने तैयार किये जा रहे हैं। परन्तु यह सब शक्ति को हस्तगत करने का रहस्य मात्र है, और कुछ नहीं। मानव के इसी विकास में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के आधीन विश्व का साहित्य पनपा और ढला है। मानव का यह क्रमिक विकास किसी-न-किसी रूप में साहित्य द्वारा प्रस्फुटित हुआ है और उसमें विविध विचारावलियों को लेकर यह विविध धाराएँ बनाता हुआ इतना व्यापक होगया है कि आज मानव ने अपने जीवन और अपनी प्रवृत्तियों का जितना भी विकास किया है वह सब साहित्य की एक शाखा मात्र बनकर रह गया है। जिस प्रकार वैज्ञानिकों का मत है कि कोई भी किसी समय किया हुआ नाद वायुमंडल में व्याप्त होकर अमर होजाता है उसी प्रकार हमारा भी आज मत है कि मानव अपनी प्रवृत्तियों का जिस दिशा में भी प्रसार करता है साहित्य उसे सहानुभूति द्वारा अपनाकर अपने सुझाव उसके सम्मुख रखने में नहीं चूकता। हिन्दी साहित्य अभी मानव के उस विकास-क्रम तक नहीं पहुँचपाया है परन्तु साहित्य की वर्त्तमान प्रगति उसे बहुत शीघ्र उस लक्ष्य पर पहुँचा देगी इसमें संदेह का कोई कारण नहीं।

मौखिक और भाषा-बद्ध साहित्य :

आधुनिक काल में हमें लिखित साहित्य ही दिखलाई देता है। परन्तु हो सकता है कि एक काल ऐसा भी रहा हो जब कुछ साहित्य को केवल मौखिक ही रखा गया हो। ग्रामीण जनता में आल्हा काव्य के कंठस्थ व्यक्ति आज भी अगणित मिल जाएँगे, गीता और कुरान शरीफ़ तथा बाइबिल के कंठस्थ तो न जाने कितने हैं। प्राचीन काल में दोनों प्रकार की प्रणाली प्रचलित रही होगी और अधिक

लोकप्रिय काव्यों की प्रसिद्धका भी यही मौलिक चर्चा के रूप में साधन न रहा होगा। भाषा को पहिले बोलने योग्य बनाया गया, फिर लिपि का निर्माण किया गया और फिर लिपि तथा भाषा के सम्मिलित प्रयास द्वारा साहित्य का क्षेत्र अधिक व्यापक बना। विद्वानों का मत है कि 'भाषा की उत्पत्ति भी आत्माभिव्यक्ति के रूप में हुई होगी। पवित्र मानव ने अपने आकर्षण और निकर्षण की वस्तुओं के सम्बन्ध में क्रियात्मक अभिव्यक्ति के साथ कुछ शाब्दिक अभिव्यक्ति की होगी, वह चाहे कितनी भी अस्पष्ट क्यों न हो। धीरे-धीरे वह अभिव्यक्ति निश्चित् होती गई और भाषा का रूप धारण करती गई।' यहाँ केवल यही जानलेना आवश्यक है कि मनुष्य की केवल संरक्षणीय अभिव्यक्तियाँ ही साहित्य का स्वरूप धारण करसकती है अन्य अभिव्यक्तियाँ नहीं। इस काल के मतानुसार मानव के आनंद और मनोहरता का सम्मिश्रण ही सुन्दर कला थी। यह जीवन का सुखमय स्वरूप था। इस प्रकार मानव ने अपने आनंदमय मनोरम रूप से साहित्य को जन्म दिया, फिर इस साहित्य को उस भाषा के रथ पर सुसज्जित किया कि जिसने समाज में सहकारिता की भावना को भरने का ठेका ले लिया था। साहित्य धीरे-धीरे मानव के जीवन में प्रवेश कर गया और साहित्य द्वारा ही मानव आज अपने इस सुसंगठित रूप को लिए वैठा है कि जिसमें अनेकों सभ्यताओं का सम्मिश्र होने पर भी विश्व के सभी जीवों से वह बहुत ऊँचा है। मानव को ज्ञान की इस स्थिति तक लाने वाला साहित्य ही है और इसी साहित्य के बल पर मानव आगे भी उन्नति करेगा। मानव की उन्नति के साथ समाज, राष्ट्र और विश्व की उन्नति होगी। आज तक साहित्य के साथ मानव और मानव की उन्नति के साथ साहित्य और सभ्यता का निर्माण हुआ है। विभिन्न कालों की सभ्यता और परिस्थितियों से टक्कर लेता, सहयोग और असहयोग करता, उनके अन्तर से अपनी रूपरेखा निर्धारित करता, मार्ग बनाता और कभी ठहर कर उनकी प्रगतियों को आँकता हुआ साहित्य आदि काल से आज तक इतना व्यापक होगया है कि जीवन के प्रत्येक दृष्टिकोण का समावेश उसमें होगया है। साहित्य के इस विस्तार में भाषा ने बहुत बड़ा सहयोग प्रदान किया है, अन्यथा भाषा के अभाव में समय समय पर भावना और विचार के गठबन्धन से जन्म लेनेवाला साहित्य न जाने कितनी बार जन्म ले-लेकर समाप्त होगया होता। मौखिक रूप से कुछ सूत्र-ग्रंथ ही अमरत्व प्राप्त करसकते हैं अन्य ग्रंथ नहीं।

साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति और पाठक का भाव-साम्य :

किसी भी साहित्यकार के साहित्य की सच्ची परख उसके जीवन से उसके साहित्य को प्रथक करके नहीं की जासकती। साहित्यकार अपनी मनोवृत्तियों को

एक ओर रखकर साहित्य का निर्माण नहीं करता। यह सब उसकी साहित्य-रचना में सहयोग प्रदान करती हैं और इसीलिए उस साहित्य पर इनका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्तियाँ तो मानव-मात्र में बहुत प्रबल रूप से विद्यमान रही हैं परन्तु साहित्यकार की आत्मा में इसका वह कलात्मक रूप पनपता है कि जो अपनी आत्माभिव्यक्ति द्वारा मानव मात्र के जीवन से सम्बन्धित रहस्यों का उद्घाटन करने में समर्थ होता है। कष्ट में रोना, हर्ष में नाचना, गाना और परेशानी में झुँझलाना इत्यादि यह सब अभिव्यक्ति ही हैं और इनसे मुक्त रहना संसार के प्रत्येक जीव के लिए असम्भव है। साहित्यकार अपनी इसी अभिव्यक्ति को अपनी अनुभूति और कल्पना का आश्रय देकर भावना और विचार की तूलिका से भाषा के पटल पर चित्रित कर डालता है। यही उसका साहित्य है जिसमें उसके अपने अनुभवों के साथ-साथ अपने जीवन का सच्चा इतिहास भी मिला हुआ है। पारखी समालोचक किसी भी साहित्यकार की रचना से साहित्यकार के जीवन की झाँकी प्रस्तुत कर सकता है। साहित्यकार के स्वभाव, उसकी इच्छाएँ, उसकी प्रवृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ उसके साहित्य में इतनी निखर कर आती हैं कि पाठकके सम्मुख साहित्य आनेपर उसी प्रकार स्पष्ट होजाती है जिस प्रकार दर्पण में मुख-मुद्रा। साहित्यकार एक मानव है और वह अपनी अभिव्यक्ति में मानव-मात्र की अभिव्यक्ति का वह साकार रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है जिससे उसका साहित्य मानव की मानसिक-प्रतिक्रिया अपने में सन्निहित करसके। इससे उसके साहित्य में मानव-मात्र के विचारों, कल्पनाओं, भावनाओं और संकल्पों की सुन्दर और आनन्दमय भाषा-बद्ध अभिव्यक्ति होती होती है और जो साहित्यकार इस अभिव्यक्ति को जितना भी अधिक सजीव और व्यापक कर पाता है वह उतना ही महान् कलाकार होता है। इसीलिए पाठक और साहित्यकार के भावों में साम्य भावना उपस्थित होजाती है।

संकुचित और व्यापक कला-अभिव्यक्ति साहित्य का संकुचित और व्यापक रूप अथवा साहित्य का क्षणिक और सर्वकालीन रूप :

साधारण विचारधारा के अन्तर्गत साहित्य के संकुचित और व्यापक रूप का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं परन्तु जहाँ संकुचित साहित्य और व्यापक साहित्य का प्रयोग साहित्य के रूपों के दृष्टिकोण से न करके उसके गुणों के दृष्टिकोण से करना होता है वहाँ साहित्य का संक्षिप्त रूप वह है जो किसी काल विशेष में, किन्हीं विशेष समस्याओं के आधीन साहित्य की रचना होती है, वह व्यापक नहीं बन सकता। व्यापक साहित्य वही है जिसकी रचना कलाकार ने मानवमात्र के सर्व-

कालीन हितों को ध्यान में रखते हुए की है। संकुचित साहित्य चाहे किसी काल विशेष में प्रसिद्धि पा जाये परन्तु वह सर्वकाल के लिये व्यापक नहीं बन सकता। सब काल के लिए व्यापक साहित्य-रचना उसी समय कलाकार कर सकता है जब वह मानव की मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों का पंडित हो। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस में साहित्य की व्यापक प्रवृत्तियाँ कलाकार ने सन्निहित की हैं और इसीलिए यह संकुचित साहित्य न होकर सर्वकालीन और व्यापक साहित्य की श्रेणी में आता है।

विज्ञान और साहित्य :

विज्ञान किसी वस्तु का निरीक्षण अपने बाह्य साधनों द्वारा करके उसका (Matter of fact) वर्णन करता है। जो वस्तु जैसी है उसका वैसा लेखा-जोखा वह पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर सकता है। उसका सम्बन्ध पाठक की रुचि अथवा अरुचि से कुछ नहीं होता। वह तो कोरे यथार्थवाद की दीवारों पर अपना भवन निर्मित करता है। अन्य निर्जीव वस्तुओं की भांति मानव भी उसके परीक्षण का एक खिलौना है, जिसकी आत्मा, भावना और इच्छाओं का सहानुभूतिपूर्ण निरीक्षण करना उसका काम नहीं। परन्तु साहित्य विज्ञान के इस भौतिकवाद से दूर हटकर मानव के हृदयपक्ष को छूता और अपनाता है। साहित्य प्रकृति का भी निरीक्षण केवल पंचतत्त्वों के ही आधार पर नहीं करता वरन् मानव की आत्मा का उनमें छुपे हुए कलात्मक सौंदर्य के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। एक वैज्ञानिक एक पुष्प और उसपर बैठी हुई तितली को देखकर जड़ समान बैठा रह जाता है और उसे दोनों वही प्रकृति के पंचतत्व दिखलाई देते हैं जिन्हें कुचल कर वह उन्हें उन तत्वों में परिणित कर सकता है, परन्तु साहित्यकार के हृदय में, मस्तिष्क में और जीवन में एक आनन्द का संसार होता है, उसके नेत्रों में सौंदर्य की मूर्ति स्थापित होउठती है और अपनी कल्पना-अभिव्यक्ति से वह कला का वह स्वरूप खड़ा कर देता है कि जिसे पढ़कर प्रत्येक भावुक हृदय आनन्दविभोर हो उठता है। इसीलिए कलाकार निर्माता है और वैज्ञानिक केवल दर्शक और वह भी स्वार्थप्रिय संकुचित मनोवृत्तियों को लेकर। वैज्ञानिक का परीक्षण वस्तु का नाश करके होता है और साहित्यकार का परीक्षण वस्तु का निर्माण करके होता है। वैज्ञानिक उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालता है और साहित्यकार उसके सौंदर्य में अपनी अभिव्यक्ति का बल मिलाकर उसे अमरत्व प्रदान करता है।

साहित्य अध्ययन और साहित्यकार के प्रति सहानुभूति

किसी भी साहित्य का अध्ययन तभी सम्भव होसकता है जब पाठक उसे पढ़ने से पूर्व यह धारणा बनाले कि वह साहित्यकार और उसकी रचनाओं के प्रति सहानुभूति का व्यवहार करेगा। रचना हाथ में आने से पूर्व ही यदि पाठक ने रचना के प्रति अपनी धारणा बना ली तो रचना की वास्तविकता उस धारणा के प्रभाव में बहकर पाठक के मस्तिष्क और हृदय पर अपना सही चित्र उपस्थित करने में असमर्थ हो जायेगी। यों कुछ विद्वानों के मतानुसार साहित्य स्वान्तः सुखाय होता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि लेखक अपनी रचना करके, अपने मन तथा भावना को संतुष्ट करके सुखमय हो जाता है। साहित्य की सार्थकता उसी में है जब वह साहित्य लेखक और पाठक के बीच इसका वह रस बन जाये कि जिसे पान करके पाठक आनन्द-विभोर हो उठे। साहित्य में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह सुहृदय पाठक को अपने प्रवाह में बदल जाये और इस प्रकार अपनी धारा में बहने वाले पाठकों का एक ऐसा विस्तृत तथा व्यापक समुदाय पैदा करले कि जो उसी के रूप में विचारने लगे, उसी के रूप में अनुभव करने लगे और उसी में अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करने लगे। जो साहित्य पाठक की आनन्दमय प्रवृत्तियों को प्रवाहित करने की क्षमता अपने में रखता है वह सरल साहित्य है और उस साहित्य का लेखक भी पाठकों के हृदयों पर राज्य करने लगता है। महाकवि 'सूर 'तथा' मीरा का सूर' साहित्य और गोस्वामी तुलसीदास का राम-साहित्य इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। मुंशी प्रेमचन्द के साहित्य में भी पाठकों को अपने साथ ले जाने की प्रतिभा विद्यमान है और बंगला-साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिम बाबू ने भी इसी प्रकार के सफल-साहित्य की रचना की है। इसी प्रकार अंग्रेजी कवि शेक्सपीयर, मिल्टन, बर्नाडशाह, संस्कृत-कवि बाल्मीकी, कालीदास, भवभूति इत्यादि के साहित्य ने भी पाठकों के साथ तादात्म्य स्थापित किया और पाठकों के हृदय-साम्राज्य पर शासन करने का अधिकार उन्हें पाठकों ने प्रदान किया। लेखक की रचना को पाठक जब तक उसी की विचार धारा में बहकर पढ़ने और समझने का प्रयत्न नहीं करेगा तब तक वह उसकी आत्मा को नहीं पहिचान सकता और जब तक काव्य की आत्मा पाठक नहीं पहिचान पायेगा तब तक काव्य की सूक्ष्म कलामय प्रवृत्तियों में पैठने की क्षमता उसमें नहीं आ सकती। इसीलिए काव्य की गहराई मापना पाठक के लिए उसी समय सम्भव हो सकता है जब कि वह लेखक के साथ पूर्ण सहानुभूति से काम ले और उसकी रचना को केवल तोड़-फोड़ के विचार से उसमें दोष खोजने के निमित्त न पढ़े वरन् उसमें आनन्दपूर्ण सुन्दर स्थानों को खोजकर यह परखे कि कलाकार अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हो

पाया है। कलाकार के दोषों को मापने के पश्चात् भी पाठक और समालोचक को चाहिए कि उन्हें वह सुधारवादी मनोवृत्ति से ही लेखक के सम्मुख उपस्थित करे कि जिससे वह अपनी आगामी रचनाओं में उस समालोचना का उपयोग कर सके। कोमल भावनाओं से सम्पन्न कलाकार व्यर्थ और अनर्गल समालोचना पढ़कर खिन्न हो उठता है और उसपर फिर उस समालोचना का कोई प्रभाव नहीं होता। वह उसे एक मूर्खता-पूर्ण बकवास मान कर अपने पथ पर आगे बढ़ जाता है। और समालोचक का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसलिए जहाँ कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह पाठक की रुचि-वैचित्र्य पर ध्यान रखे वहाँ पाठक के लिए भी यह कर्त्तव्य बन जाता है कि वह लेखक के साथ सहानुभूति का प्रमाण दे। पाठक को किसी भी रचना के पढ़ते समय उसमें केवल अपनी ही रुचि खोजने का असफल प्रयास नहीं करना चाहिए वरन् काव्यगत रुचि पर भी ध्यान देना चाहिए।

साहित्यकार का जीवन और उसका काव्य

संसार के प्रत्येक प्राणी की भांति साहित्यकार का जीवन भी समय की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। ऊपर हम लिखे चुके हैं कि संसार के किसी भी देश का साहित्य ऐसा नहीं है जो समय की प्रगतियों से अपने को मुक्त रखकर चल सका हो। साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी होने के नाते कभी भी समाज की हलचलों से अपने को मुक्त कर सकता है। उस पर समाज का प्रभाव होता है, जातीय बन्धनों तथा राष्ट्र-गत समस्याओं से भी वह प्रथक नहीं रह सकता, फिर इनके पश्चात् उसके अपने जीवन की कठिनाइयाँ और सुगमताएँ हैं जिनका दिग्दर्शन उसके साहित्य में मुखरित हो उठना आवश्यकीय है। संसार का एक प्राणी होने के नाते साहित्यकार के जीवन में संसार की सभी समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में आती हैं और उन्हीं का स्पष्टीकरण उसका साहित्य बनता है। मैथ्यू आरनल्ड ने तो कविता को जीवन की व्याख्या ही कह डाला है। (Poetry is at bottom criticism of life.) यहाँ इतना तो सत्य ही है कि साहित्यकार के व्यक्तिगत-मत-निरूपण से मानव मात्र की प्रवृत्तियों के संचार को प्रथक नहीं किया जा सकता। इसलिए व्यक्ति में विश्व और विश्व में व्यक्ति की भावनाओं और समस्याओं का समावेश अनिवार्य रूप से आ ही जाता है। साहित्यकार अपनी आकांक्षाओं में मानव-मात्र की आकांक्षाओ, इच्छाओं और भावनाओं को चित्रित करता है, उनके विकास का क्रम उपस्थिति करता है और इस प्रकार मानव-मात्र के जीवन के एक क्रमबद्ध इतिहास की रचना करता है। मानव के इस इतिहास का जन्म कवि के अपने ही जीवन से होकर मानव मात्र के जीवन में सन्निहित हो जाता है और यह सब एक रूप बन जाता है। साहित्कार पर बाह्य कारणों

का प्रभाव पड़ना ही नहीं चाहिए, उसे संसार से ऊपर की वस्तु बनकर संसार में विचरण करना चाहिए। यह मत हम आज के वैज्ञानिक युग में मानने वाले नहीं। मानव पर परिस्थितियों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता और साहित्यकार मानव होने के नाते अपने को इन प्रभावों से मुक्त रख सके, इतनी भी क्षमता उसमें नहीं। केवल कल्पना के आधार पर जो साहित्य आदर्शवाद के जीवन का दिग्दर्शन करायेगा वह वास्तविकता से ऊपर उठ कर उपहास की सामग्री बन जायेगा।

साहित्य में पाठक की अभिरुचि का कारण

लेखक और पाठक के बीच भाव-साम्य की स्थापना ही लेखक के साहित्य में पाठक की अभिरुचि का कारण बनता है। जो लेखक जितनी भी सुन्दर, सरल और हृदयग्राही शैली में जीवन की समस्याओं का उद्घाटन और उनका प्रकृति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होगा उतना ही वह पाठक के समीप पहुँच सकेगा और पाठक उसकी रचनाएँ अपनत्व को खोजने में सफल और चमत्कृत हो उठेगा। जब पाठक किसी साहित्य में अपने जीवन की छाया देखेगा तो, अपनी मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन पायेगा, अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं के प्रति संकेत ही नहीं उनकी मनोरम कल्पना और कलामय चित्र भी उसके नेत्रों की पुतलियों में उतर आयेगा तो वह अनुभव करेगा कि यह उसके अपने ही जीवन का साहित्य है। उस साहित्य में मानो साहित्यकार ने पाठक के जीवन का वह कलात्मक स्पष्टीकरण किया है कि जिससे अधिक कहने अथवा समझने के लिए पाठक के पास और कुछ नहीं है तो उसकी आत्मा को तो उस साहित्य के पटन-पाठन से शांति मिलती है, आनंद प्राप्त होता है। और जीवन में एक सरस सुख की अनुभूति होती है। यही उसका साहित्यानन्द है जिसमें डूब कर यह आत्मविभोर हो उठता है और साहित्य को आनंद प्रदान करने की शक्ति पाठक को अपने बन्धन में जकड़ कर अपना बना लेती है, उसे साहित्य का प्रशंसक ही नहीं वरन् उपासक बना देती है। पाठक उस साहित्य दर्पण में अपनी छाया देखकर उसके वशीभूत हो जाता है।

साहित्य में अनुभूति और कला

साहित्य का निर्माण साहित्यकार ने अपने अनुभूति-पक्ष की कालात्मक अभिव्यक्ति द्वारा किया है। इसलिए विद्वानों ने काव्य के अनुभूति और कला दो प्रथक-प्रथक पक्ष निर्धारित कर दिये हैं। संसार के अन्य प्राणी किसी वस्तु का रसास्वादन करके अपनी आत्मा की सन्तुष्टि तक ही सीमित रह जाते हैं, परन्तु साहित्यकार उस रस को विश्व-व्यापी बनाना चाहता है और अपने साहित्य के माध्यम द्वारा

दूसरों तक पहुँचाने का कलात्मक प्रयास करता है। अनुभूति एक दार्शनिक को भी होती है परन्तु वह एक साहित्यक की भाँति वह आनंद में भिगोकर कलात्मक रूप से दूसरों के सम्मुख उसे प्रस्तुत करने में असमर्थ रहता है। पाश्चात्य विद्वान साहित्य को चार भागों में विभाजित करके उसके रागात्मक-पक्ष, कल्पना-पक्ष, बुद्धि-पक्ष और शैली-पक्ष को मानते हैं परन्तु यह चारों अनुभूति और कला-पक्ष के अन्दर पूर्ण रूप से समा जाते हैं। अनुभूति का सम्बन्ध राग, कल्पना और विचार तीनों से है और शैली-पक्ष कला के अन्तर्गत विलीन हो जाता है। कलात्मक साहित्य में सर्वदा रागात्मक-पक्ष की प्रधानता रहेगी। कल्पना-शक्ति के आधार पर राग और विचार-पक्ष बलवान होकर शैली के सहारे अपनी अभिव्यक्ति के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं। साहित्यकार की इस सम्मिश्रित अभिव्यक्ति का नाम साहित्य है। बुद्धि अनुभूति और अभिव्यक्ति में सामंजस्य स्थापित करके संतुलन के साथ दोनों को कलात्मक रूप से साहित्य बन जाने में सहायक होती है।

काव्य की आत्मा अथवा प्राण :

काव्य अथवा साहित्य के भारतीय समीक्षकों ने प्रधानतया जिस प्रकार शब्द और अर्थ को काव्य का देह स्वरूप माना है उसी प्रकार इसको काव्य की आत्मा अथवा उसका प्राण कहा है। भरत मुनि और पंडित विश्वनाथ जी ने अपने ग्रन्थों में उक्त मत का प्रतिपादन किया है। परन्तु एक मत भारतीय विचारकों में ही दण्डी, भामह इत्यादि आचार्यों का है जो अलंकार को काव्य की आत्मा मानता है। यह मत हिन्दी-साहित्य में मान्यता प्राप्त न कर सका। आचार्य केशवदास को हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वान पं० रामचन्द्र शुक्ल केवल इसी कारण वश रीतिकाल का प्रवर्तक मानने में असमर्थ रहे और वास्तव में यह विचारधारा साहित्यकारों में बल भी प्राप्त न कर सकी। आचार्य कुन्तक अथवा कुन्ताल ने वक्रोक्ति, वामन ने रीति (ओज तथा माधुर्य के आधार पर रचित काव्य) और ध्वनिकार तथा आनंदवर्धनाचार्य ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा। रस और ध्वनि के सिद्धान्तों में कुछ दिन तक बहस चलती रही परन्तु अन्त में विजय रस सिद्धान्त को ही प्राप्त हुई। रस सम्प्रदाय के काव्य में अनुभूति-पक्ष को प्रधानता देते हुए रस को काव्य की आत्मा मानकर अभिव्यक्ति को अनुभूति का पोषक अंग माना। रीति, अलंकार वक्रोक्ति इत्यादि के प्रतिपादक विचार साहित्यानंद की अनुभूति में सफल न हो सके और इसीलिये भावुक साहित्यकारों तथा पाठकों ने उन्हें सम्मानित करने में सहयोग नहीं दिया।

भारतीय विद्वानों की ही भाँति योरोपीय विद्वानों में भी उक्त काव्य के चार प्रधान अंगों में किसी एक की मान्यता को मानने के विषय में मत भेद रहा है।

भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली में किसे प्रधानता दी जाये, यह काफ़ी वाद-विवाद का विषय बना। साहित्य के क्षेत्र में काव्य के एक-एक गुण को लेकर उसी को प्रधानता देने वाले व्यक्ति भी रहे हैं और सभी पक्षों में समन्वय स्थापित करके एक सम्मिलित रूप देने की प्रणाली भी पाई जाती है। कॉलरिज ने जहाँ अभिव्यक्ति को प्रधानता दी है तो वहाँ वर्डसवर्थ ने भाव-पक्ष पर ही विशेष बल दिया है। शेक्सपीयर ने कल्पना पक्ष को अपनाया और आज के साहित्य में बुद्धितत्व का विशेष गुण गान मिलता है। डा० जान्सन ने काव्य के उक्त चारों ही पक्षों में समन्वय स्थापित किया और वही मत विशेष रूप से साहित्यकारों तथा पाठकों को मान्य हुआ। साहित्य के शरीर में किसी भी एक अंग के विशेष बल प्राप्त हो जाने से वह साहित्य के सौंदर्य को नहीं बढ़ा सकता। पूर्ण सौंदर्य की स्थापना करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी अंगों को संतुलन के साथ कलाकार बल प्रदान करे। असंतुलन में कभी भी सौंदर्य की सृष्टि का होना सम्भव नहीं गिना जा सकता। काव्य के सभी अंगों की पुष्टि होनी चाहिए।

इसी समन्वय की भावना को लेकर जो साहित्यकार क्षेत्र में उतरेगा वही पाठकों के अधिकाधिक निकट पहुँच सकेगा। वही अपने साहित्य में उन तत्वों का निरूपण और पोषण कर सकेगा कि जिनके आधार पर मंगल, सौंदर्य और आनंद की कल्पना की जा सकती है और जिसके प्रवाह में पाठक तथा श्रोता बह कर अपनत्व को खो सकते हैं। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य के प्रधान रूपों में कोई विशेष भेद नहीं है और आज के युग का जो साहित्य पनप रहा है उसमें तो एक दम साम्य स्थापित होता जा रहा है। आज जिस प्रकार संसार का मानव अपनी समस्याओं को एक रूप होकर विचार करने का प्रयत्न कर रहा है उसी प्रकार संसार के साहित्य की प्रगतियाँ भी प्रवाहित हो रही हैं। साहित्य मानव की अभिव्यक्ति है और इसके अन्दर उसके मन, हृदय और मस्तिष्क में वह निचोड़ भरा हुआ है कि जिसे कलाकारों ने बहुत ही परिश्रम तथा मानव-मंगल की भावना से एकत्रित किया है। संसार के साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस साहित्य में मानव-जाति के उदय से आज तक का वह कलात्मक इतिहास छुपा पड़ा है कि जो स्वयं इतिहास नहीं जानता।

समय-समय पर साहित्य ने विविध रूप धारण किये हैं और उसकी अभिव्यक्ति-शैलियाँ भी पृथक-पृथक रही हैं। हिन्दी-साहित्य में आज का साहित्य-किन-किन धाराओं में किन-किन नामों के साथ प्रवाहित हो रहा है और उनके क्या-क्या रूप हैं इसकी संक्षिप्त रूपरेखा हम दूसरे वक्तव्य में प्रस्तुत करेंगे। आज केवल उनके नाममात्र गिनाये जाते हैं।

दृश्य काव्य— रूपक, नाटक, एकांकी ।
श्रव्य काव्य—(पद्य) प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य, खंड काव्य)
मुक्तक [पाठ्य(नीति, शृंगार, इत्यादि), प्रगीत]
(गद्य) उपन्यास, कहानी, जीवनी; निबन्ध, पत्र, गद्य काव्य, रिपोर्ताज, यात्राएँ ।

नाटक के पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, अभिनय तथा भेदों पर संक्षिप्त विचार

नाटक पात्रों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिनकी संख्या कथावस्तु के आधार पर नाटककार निर्धारित करता है। नाटक की कथावस्तु के संचालित करने के लिए कुछ प्रधान और गौणपात्रों की आवश्यकता रहती है। प्रधान पात्रों में विशेष स्थान नायक-नायिका का रहता है।

नायक—नायक नाटक का नेता होता है और उसी के रूप में लेखक अपनी बात कहने का प्रयत्न करता है। नेता शब्द की व्युत्पत्ति 'नी' धातु से हुई, जिसका अर्थ है ले चलना। कथावस्तु को अभीष्ट अर्थ की प्राप्त की ओर ले चलने वाला नेता ही नाटक का नायक कहलाता है। लेखक की किसी भी रचना में नायक खोजने के लिए ऐसे पात्र को खोजना आवश्यक है जो कथा की प्रगति में अग्रसर हो। जिसके विकास और जिसकी उन्नति में दर्शकों का हृदय उछलने लगे और आनन्द की प्राप्ति हो, वही नाटक का नायक है। भारतीय आदर्श के अनुसार नायक में सभी अच्छे गुणों का होना आवश्कीय है। उसे सुन्दर, सुडौल, सुशील, सुदृढ़, सुगठित, बलवान, पराक्रमी, यशस्वी, धीर, वीर, चतुर, दानी, बुद्धिमान, गम्भीर, स्थिर-विचार, उच्च वंशज, युवा, सुन्दर, वक्ता, अच्छी स्मृति-सम्पन्न, स्वाभिमानी, शास्त्र ज्ञाता अर्थात् सर्व-कार्य कुशल होना चाहिए। भद्र पुरुषों के सभी गुणों का वह भंडार हो।

आधुनिक युग में पाश्चात्य नाटकीय परम्परा के सम्पर्क में आने से जन्म जात गुणों की ओर ध्यान न देकर नाटककार चरित्रों के विकास की ओर ध्यान देता है। भारतीय परम्परा में नाटकों में वीर, शृंगार और करुण रस की प्रधानता रखने का उद्देश्य रहता था। इसी के लिए धीर और उदार वृत्ति वाला नायक होना चाहिए। यह गुण नाटक में जन्म से माने हैं, जिनका उद्घाटन परिस्थितियाँ पाकर

होता है। नैतिक विचारों पर कोई आघात न पहुँचे इस लिए नायक में मानवीय दुर्बलताओं का आरोप भारतीय परम्परा में नहीं आता। परन्तु ऐसा न करने से नायक संसार से ऊपर उठ जाता है और दर्शक उसमें श्रद्धा भले ही कर ले अपनापन अनुभव नहीं कर सकते।

नायक के चार प्रकार :

१. **धीरोदात्त**—यह नायक शोक तथा क्रोध में विचलित नहीं होता। गाम्भीर्य, क्षमा, आत्माभिमानी, व्रतधारी, सौम्य और वचन का पालन करने वाला होता है। उदारता इसके जीवन का प्रधान गुण है। शक्ति और क्षमा का यह भंडार है। अभिमान उसे छू तक नहीं जाता। उसके विनयपूर्ण जीवन में आत्म गौरव की ज्योति जाग्रत रहती है। अपने कर्त्तव्य पर वह दृढ़ रहता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

२. **धीरललित**—धीर ललित स्वभाव के नायक में कोमल वृति का होना अनिवार्य है। चिन्ता-मुक्त, कला-प्रेमी तथा आनंद भोगी होना इसके प्रधान गुण हैं। इन नायकों में शृंगार की प्रधानता रहती है। महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक शाकुन्तल के नायक दुष्यन्त धीरललित नायक हैं। उनके अन्दर उक्त सभी गुण वर्तमान हैं।

३. **धीर प्रशान्त**—इस नायक का प्रधान गुण सन्तोष है। संतोष ब्राह्मण का लक्षण है इसलिए यह नायक अधिकांश में अन्य न रह कर ब्राह्मण ही होता है। वैश्यवृत्ति का व्यक्ति भी इस प्रकार का नायक बन सकता है। धीरललित नायक के गुणों के साथ-ही-साथ इसमें संतोष की प्रधानता रहती है, परन्तु क्षत्रियोचित लक्षण इस नायक में विद्यमान नहीं रहते।

४. **धीरोद्धत**—यह नायक मायावी होता है। धोखेबाजी और चालाकी इसमें कूट-कूट कर भरी रहती है। अपनी प्रशंसा इसे बहुत प्रिय लगती है और इसमें अहंकार की मात्रा बहुत अधिक होती है। रावण, मेघनाद इत्यादि इसी प्रकार के नायक हैं।

नोट—अपने प्रथक-प्रथक गुणों में न्यूनाधिक होने पर धीरता का गुण चारों में वर्तमान रहता है। धीरता नायक में न रहने से वह न तो वीर हो सकता है और न प्रेमी ही कहला सकता है।

पत्नी को कसौटी मान कर भी नायकों को [१] अनुकूल [२] दक्षिण [३] शठ तथा [४] धृष्ट चार प्रकारों में बांटा गया है।

अनुकूल—यह एक पत्नीव्रत नायक होता है, जैसे महाराज रामचन्द्र जिन्होंने राजसूय यज्ञ की पूर्ति के लिए भी सीता की स्वर्ण-मूर्ति का आश्रय लिया।

७. दक्षिण—यह नायक कई पत्नी रखने पर भी प्रधान महिषी का ही सम्मान करता है। दुष्यन्त, कृष्ण, दशरथ इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

शठ—यह नायक अन्य स्त्रियों से सम्बन्ध रखता है और स्पष्ट सा ही रहता है परन्तु लज्जा का आवरण दूर नहीं कर देता। उन पर स्त्रियों के साथ एक दम निर्लज्ज होकर व्यवहार करना यह उचित नहीं समझता।

धृष्ट—यह धूर्त नायक पर-स्त्रियों से खुलकर सम्पर्क स्थापित करता है और दुराचरण करता हुआ भी लज्जा का अनुभव नहीं करता। अपनी प्रधान महिषी का हृदय विदीर्ण कर देने में भी उसे कष्ट नहीं होता।

प्रतिनायक—प्रतिनायक नायक का प्रतिद्वन्द्वी होता है। गुणों के विचार से यह धीरोद्धत रहता है। प्रतिनायक का चरित्र ही वास्तव में नायक-चरित्र के विकास का प्रधान कारण बनता है और उसी के संघर्ष से यह विकसित होता है।

पीठमर्द—प्रधान कथा के साथ जो प्रासंगिक कथा चलती है उसका नायक पीठमर्द कहलाता है।

विदूषक—विदूषक पात्र की स्थापना नाटक में हास्य-रस का संचार करने के लिए नाटककारों ने की है। यह प्रणाली, संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य दोनों में, समान रूप से मिलती है। अंग्रेजी में विदूषक को क्लाउन कहते हैं। यह पात्र देखने में बेडौल सा रहता है कि जिससे इसे देखते ही दर्शक हँसना प्रारम्भ कर दें। अधिकाँश में यह विदूषक भैंडा, मोटा, हँसमुख और चतुर होता है। नायक का यह मित्र अथवा विश्वासपात्र सलाहाकार रहता है। संस्कृत-नाटकों में यह ब्राह्मण होता था। विदूषक नायक के नायिका-विषयक कार्य-संचार का मंत्री होता है। यह नायक का अभिन्न मित्र होने के नाते उसकी अन्तःपुरी में भी जा सकता है और नायिका भी उससे स्वतंत्रता पूर्वक बातचीत कर सकती है। प्राचीन नाटकों में विदूषक का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है और इन्हीं के द्वारा नाटककार बड़े-बड़े रहस्यों को उद्घाटित कराता है। इसी पात्र के द्वारा नाटक में रूखापन नहीं आने पाता और गम्भीर वातावरण के मध्य में हास्य की पुट आजाने से सरसता का भी संचार होता है। क्लाउन का प्रयोग अंग्रेजी-नाटककार शेक्सपीयर ने अपने नाटकों में विशेष चातुर्य के साथ किया है।

अन्यपात्र—उक्त पात्रों के अतिरिक्त नायिका, सहनायिका, सहनायक तथा अन्य प्रधान और गौण पात्र भी होते हैं। इन्हीं पात्रों के विकास से कथा प्रारम्भ से फल प्राप्ति तक चलती है। नायक की ही भाँति नायिका के भी शास्त्रों में गुणों का बखान किया गया है। प्रधान नायिका अष्टाङ्गवती होती है।

चरित्र चित्रण—नाटकों में उपन्यासकार की स्वतंत्रता नहीं होती। आज उपन्यासों में भी नाटकीय चरित्रचित्रण ही विशेष कला पूर्ण समझा जाता

है। विश्लेषणात्मक ढंग से किया गया चरित्र-चित्रण उतना प्रभावात्मक नहीं हो सकता जितना परोक्ष या अभिनयात्मक रीति से चित्रित किया हुआ चरित्र चित्रण होता है। लेखक स्वयं सामने आकर दर्शकों के सम्मुख पात्रों के गुणों और अवगुणों का चित्रण नहीं कर सकता। नाटक में पात्र ही दूसरे पात्रों के चरित्रों पर प्रकाश डालते हुए अपने कथनोपकथनों और अभिनय द्वारा उनके रहस्यों को उद्घाटित करते हैं। नाटककार के लिए यह कार्य कठिन है, परन्तु यह अधिक कलात्मक भी है। स्वगत कथन द्वारा अपने चरित्र पर स्वयं प्रकाश डालने वाली प्राचीन प्रणाली को भी आज के युग में नाटककार सुन्दर और प्रभावात्मक न मान कर अपनाने में सकोच करते हैं। स्वगत कथन में स्वाभाविकता न आकर अस्वाभाविकता आजाती है।

कथोपकथन और आंगिक अभिनय के अतिरिक्त पात्रों के क्रियाकलापों से भी चरित्र का विकास होता है और उसके रहस्यों का सहज उद्घाटन भी हो जाता है। जिस पात्र के कार्यकलापों का संचार जिस दिशा में होता है उसकी मनोवृत्तियाँ भी उसी में मुखरित होती हैं! उच्चादर्शों वाले व्यक्ति के कार्यकलाप उच्चादर्शों की ओर प्रसारित होते हैं और हीन मनोवृत्ति वाले व्यक्ति का झुकाव उसी प्रकार हीन कार्यों की ओर होगा। वास्तव में किसी भी व्यक्ति के कार्यों को उसके चरित्र का दर्पण माना जासकता है। कभी-कभी कुछ परिस्थिति विशेषों में भी पड़कर व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जो उसके स्वभाव के बिल्कुल प्रतिकूल होते हैं, परन्तु ऐसी परिस्थिति में तनिक ध्यान पूर्वक स्थिति का ज्ञान कर लेने से रहस्य उद्घाटित हो जाता है। मानव के जीवन का कार्यकलाप उसकी अन्तरात्मा की प्रेरणा पर आधारित रहता है। कुशल नाटककार कथोपकथन और कार्य-व्यवहारिक संचालन द्वारा पात्रों के चरित्रों का निर्माण करता है। कथोपकथन कथा-वस्तु के विकास और चरित्र-चित्रण दोनों में सहायक होते हैं।

कथोपकथन—कथोपकथन नाटक का प्रधान अंग है। इसके बिना न तो पात्रों के चरित्रों का ही विकास सम्भव है और न कथावस्तु का ही प्रसार हो सकता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण और कथावस्तु के प्रसार के ही लिए कथोपकथनों की रचना नाटककार करता है। उपन्यास में लेखक अपनी ओर से भी बहुत कुछ कह सकता है और पात्रों के चरित्रों पर प्रकाश डालकर कथावस्तु को विस्तार दे सकता है परन्तु नाटक में यह सम्भव नहीं। नाटक क्योंकि ग्रन्थकाव्य न होकर दृश्य काव्य है इसलिए रंगमंच पर पात्रों को आकर अपने ही मुख से उच्चारण किये शब्दों द्वारा कथा को प्रसारित करना होता है।

अव्ययासर्व श्राव्य—यह वह कथोपकथन हैं जिनका उच्चारण रंगमंच पर पात्र इतने जोर से करते हैं कि सभी दर्शक उन्हें सुनकर आनंद लाभ कर सकें

और कथा प्रसंग को समझकर नाटक में रस ले सकें।

अश्राव्य—इसे स्वगत या आत्मगत भी कहते हैं। यह कथोपकथन अन्य पात्रों को सुनाने के लिए नहीं होते। आधुनिक युग का नाटककार अश्राव्य कथोपकथनों का प्रयोग करना स्वभाव-विरुद्ध समझता है। अस्वाभाविक होने के नाते यह अधिक प्रभावात्मक नहीं होते। कभी-कभी भावावेश में स्वगत बोलना कुछ व्यक्तियों में पाया जाता है परन्तु बहुत कम। विश्लेषणात्मक विचार उपन्यास का प्राण रहता है परन्तु नाटक में उसे प्रकट करने के लिये वक्ता यदि अपने किसी अभिन्न को मंच पर साथ ले आये तो उसमें स्वाभाविकता आजाती है।

नियत श्राव्य—कभी-कभी ऐसे कथोपकथनों का प्रयोग होता है कि जिन्हें कुछ पात्रों से छुपाकर दूसरों को सुनाना अभीष्ट रहता है। आज रंगमंच के वर्तमान वैज्ञानिक उत्कर्ष में यह सब उपहासास्पद सी बातें लगती हैं परन्तु प्राचीन काल में इनके प्रयोग किये बिना काम नहीं चलता था। नियत श्राव्य कथोपकथन **अपवारित** और **जनांतरित** दो प्रकार का होता है। अपवारित में जिस व्यक्ति को कोई बात न सुनानी हो उसकी ओर पीठ करली जाती है और **जनांतरित** में पीठ न करके केवल तीन उँगलियाँ मुँह के सम्मुख कर ली जाती हैं।

आकाशभाषित—यह भी एक प्रकार का कथोपकथन ही है। इसमें पात्र आकाश की ओर मुख करके किसी कल्पित व्यक्ति से बातें करता है। **भाण** रूपक में आकाश भाषित कथोपकथनों का ही प्रयोग किया जाता है। आत्मविश्लेषण के लिए यह कथोपकथन सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं।

सफल कथोपकथन—सफल कथोपकथन लिखने के लिए नाटककार को चाहिए कि वह जो कुछ भी कहे बहुत संक्षेप में कहे। कथोपकथनों के वाक्य बहुत छोटे और गुत्थीदार नहीं होने चाहिए। इनमें प्रयुक्त भाषा भी इतनी सरल होनी आवश्यक है कि जिसे दर्शक भली प्रकार ग्रहण कर सकें। गागर में सागर भर देने वाला ही नाटककार सबसे सफल नाटककर है। नाटककार की इसी कुशलता को नाटकीय लाघव (Dramatic Economy) कहते हैं। चन्द शब्दों में जीवन के रहस्य को भर देने वाला कलाकार ही सबसे सफल कलाकार है।

अभिनय :

अभिनय अनुकरण का नाटकीय नामकरण है। अभिनय की मनोवृति मानव में बाल-काल से पाई जाती है। बच्चे बड़ों का अनुकरण करते हैं। गाँवों के बच्चे गाय, बैल, भैंस इत्यादि मिट्टी या पत्तों के बनाकर उनसे खेती करने, कुए जोतने, कुदाली चलाने इत्यादि का अनुकरण करते हैं। इसी प्रकार शहरों के बच्चे रेल का खेल खेलते हैं, अन्य छोटे बड़े कारबार खेलों में अभिनीत करते हैं। यह एक प्रकार का नाटक ही है जो बच्चों में मनोरंजन के लिए अपनाया जाता

है। बड़े व्यक्तियों में भी अनुकरण की प्रकृति विद्यमान रहती है। उसका प्रस्फुटन नाटकीय कला के अन्तर्गत आता है।

नाटक में अभिनय का प्रधान स्थान है और यह रूपक का प्रधान अङ्ग है। नाटक-कला के विकास में रंगमंच और अभिनय का विशेष हाथ रहा है। जिस समय सिनेमा का आविष्कार नहीं हुआ था उस समय रंगमंचों का विशेष महत्व था, परन्तु आज सिनेमा का आविष्कार होजाने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अभिनय का महत्व किसी प्रकार कुछ कम हो गया है। अभिनय की सहायता के बिना पात्र कथावस्तु और कथोपकथनों की सहायता से जो अपने अभीष्ट अर्थ पर पहुँचते हैं वह अपूर्ण है। यह चार प्रकार का होता है (१) आंगिक (२) वाचिक (३) आहार्य और (४) सात्विक।

वृत्तियाँ—१. वृत्तियाँ (१) कौशिकी (२) सात्वती (३) आरभटी तथा (४) भारती; चार मानी गई हैं। इनका विशेष सम्बन्ध पात्रों के अभिनय और नाटक की गतिविधि से रहता है।

कौशिकी वृत्ति—यह बहुत मनोहर होती है जिसमें हास्य और शृंगार का विशेष महत्व रहता है। इस प्रकार की वृत्ति वाले नाटक में संगीत और नृत्य को प्रधानता दी जाती है। इसमें भोगविलास की प्रचुरता तथा गायन और मनोहर दृश्यों का बहुल्य रहता है। इसमें शृंगार-रस की प्रधानता रहती है। इसकी उत्पत्ति सामवेद से हुई है।

सात्वती—इस वृत्ति में विशेष रूप से दया, दान, वीरता, शौर्य इत्यादि का महत्व वर्णित किया गया है। सात्वती वृत्ति में वीरोचित कार्यों के अन्दर आनंद की प्राप्ति होती है। इसके अन्तर्गत अभिनय, वाणी तथा कथा किसी में भी उत्साह की न्यूनता नहीं पाई जाती। इसमें वीर रस की प्रधानता और कहीं-कहीं पर वीर तथा अद्भुत रस भी रहता है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से हुई है।

आरभटी वृत्ति—में क्रोध, संघर्ष, संग्राम, माया, इन्द्रजाल, आघात प्रतिघात इत्यादि के साथ-साथ रौद्र-रस प्रधान नाटक की रचना रहती है। इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से मानी जाती है।

भारती वृत्ति—इस का सम्बन्ध पुरुष नटों से रहता है। इसके अन्दर स्त्रियाँ वर्जित हैं। भरतमुनि इसका सम्बन्ध केवल करुणा और अद्भुत रस से मानते हैं, परन्तु साहित्य-दर्पणकार के मतानुसार भारती-वृत्ति का प्रयोग सभी रसों में रहता है। इस वृत्ति की उत्पत्ति ऋगवेद से मानी जाती है।

रूपकों के भेद—भारतीय नाट्यशास्त्र में रूपक शब्द का प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में किया जाता है। रूपक शब्द के अंतर्गत नाटक और इसके दसों प्रकार आजाते है। रूपक से भी अधिक व्यापक अर्थों में नाट्य शब्द का प्रयोग

किया गया है जिसके अन्तर्गत रूपक और रूपक के भेद तथा उपरूपक भी आजाते हैं। रूपकरस-प्रधान कहते हैं और उपरूपक नाट्य प्रधान। उपरूपकोंमें प्रधानतया भाव-नृत्य और नृत्य की विशेषता रहती है। नृत्य में सम और ताल के पद संचालन के साथ-साथ भाव-प्रदर्शक को विशेष महत्व दिया गया है, परन्तु नृत्य केवल सम और ताल के साथ पद संचालन तक ही सीमित रहता है। कथावस्तु, नायक के गुण तथा रस विशेषों की प्रधानता को लेकर रूपकों के भेद किये गये हैं। रूपक के दस भेद आचार्यों ने माने हैं, जो निम्नलिखित हैं :

१. **नाटक**--नाटक रूपक का प्रधान भेद है, जिसने आज रूपक शब्द का व्यवहार-क्षेत्र से लोप करके स्वयं में ही उसके सम्पूर्ण अर्थ को सन्निहित कर लिया है। रूपक के स्थान पर आज नाटक-शब्द का ही प्रयोग व्यवहार में प्रयोग किया जाता है। वह जातिवाचक संज्ञा बन गया है। नाटक की कथावस्तु पाँच संधियों, चार वृत्तियों, चौंसठ सांध्य के योग से बनती है। इसमें पाँच अंक से लेकर दस अंक तक होते हैं। पाँचों संधियों का उसमें पूर्ण रूप से समावेश रहता है। नाटक का विषय कल्पना के आधार पर नहीं गढ़ा जा सकता, उसमें ऐतिहासिक अथवा पौराणिक तथ्य का होना आवश्यक है। नाटक का नायक धीरोदात्त होता है, जो कि कोई अवतार, राजर्षि अथवा राजा हो सकता है। उदाहरणस्वरूप भवभूति-कृत उत्तररामचरित नाटक, जयशंकर प्रसाद कृत स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त इत्यादि को ले सकते हैं।

२. **प्रकरण**—प्रकरण की कथावस्तु नाटक के ही समान रहती है, परन्तु इसमें वस्तु का विषय कल्पित रहता है। इतिहास अथवा पुराण की कथा को आधार मानकर इसकी कथावस्तु तय्यार नहीं की जा सकती। इसकी कथावस्तु नाटक के समान प्रभावशाली और उन्नत नहीं रहती। यह रूपक श्रंगार-प्रधान होता है। इस रूपक का नायक कोई धनी वैश्य मंत्री या ब्राह्मण भी रह सकता है। मालतीमाधव इसके उदाहरण-स्वरूप-ग्रहण कर सकते हैं।

३. **भाण**—भाण में एक ही अंक रहता है और इसमें अभिनय करने वाला पात्र भी एक ही होता है। कथोपकथन सब आकाश-भासित होते हैं। एक ही पात्र आकाश की ओर मुख उठाकर आकाश में किसी कल्पित पात्र से बातें करने का अभिनय करके अपने हृदय के उद्‌गारों को निकालता है। इस रूपक में धूर्त चरित्र की प्रधानता रहती है और हास्य-रस का संचार किया जाता है।

४. **व्यायोग**—भाण की ही भांति इसमें भी एक ही अंक और एक ही अङ्क की कथा रहती है। स्त्री-पात्रों का इसमें अभाव होता है। मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियों का समावेश कथावस्तु में मिलता है। विशेष रूप से यह रूपक वीर-रस प्रधान होता है।

५. समवकार—समवकार रूपक के बारह तक नायक हो सकते हैं और सभी को पृथक-पृथक रूप से बल की प्राप्ति होती है। यह रूपक तीन अंकों में समाप्त हो जाता है और इनमें देव अथवा दानवों की कथा को लेकर ही कथावस्तु का निर्माण करना होता है। इस प्रकार के रूपक में विशेष रूप से युद्ध का प्रसार ही दिखलाया जाता है। अमृत-मंथन और भास-रचित पंचरात्र इसके उदाहरण हैं।

६. डिम—डिम रूपक की कथावस्तु में माया जालिकता और जादू तथा तिलस्म की कथा रहती है। देवता और दैत्य इसके नायक रहते हैं और उनके पारस्परिक संघर्ष और रौद्र-रस-प्रधान अभिनय की प्रधानता रहती है। शृंगार और हास्य-रस के लिए इसमें कोई स्थान नहीं। इसमें चार अङ्क और सोलह तक नायक हो सकते हैं।

७. ईहामृग— ईहामृग में शृंगार-प्रधान प्रेम की कहानी रहती है जिसमें धीरोदत्त नायक किसी कुमारी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। कुमारी मृग की भांति लुप्त हो जाती है। रूपक में जो प्रतिनायक रहता है वह नायक से कुमारी को छीनने का प्रयत्न करता है। नायक और प्रतिनायक में युद्ध होता है। नायक को कुमारी नहीं प्राप्त होती, परन्तु युद्ध में किसी की मृत्यु भी नहीं होती। इस रूपक में चार अङ्क होते हैं।

८. अङ्क—यह एक अङ्क का नाटक होता है जिसमें करुण-रस की प्रधानता रहती है। इसकी कथा किसी प्रधान आख्यान के आधार पर नाटककार द्वारा अपनाई जाती है। इसका नायक गुणी होता है। इस रूपक में मुख और निर्वहण-संधियों को निभाया जाता है।

९. वीथी—शृंगार-रस-प्रधान यह कल्पित कथावस्तु वाला एक अङ्क का रूप होता है। इसमें कौशिकी वृत्ति रहती है।

१०. प्रहसन—यह हास्य-रस प्रधान एकांकी रूपक होता है। इसमें मुख और निर्वहण-संधियां होती हैं।

उपरूपक : उपरूपकों के शास्त्रकारों ने अठारह भेद माने हैं; जिनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या न करके यहाँ केवल नाम मात्र गिनाये जाते हैं। १. नाटिका, २. त्रोटक, ३. गोष्ठी, ४, सट्टक, ५. नाट्य रासक, ६. प्रस्थानक, ७. उल्लाप्य, ८. काव्य, ९. प्रेंखण, १०. रासक, ११. संलापक, १२. श्रीगदित, १३. शिल्पक, १४. विलासिका १५. दुर्मल्लिका १६. प्रकारणिका, १७. हल्लीश, और १८. माणिका।

प्राचीन भेद और आज के नाटककार :

आज का नाटककार रूपक के उक्त सभी भेदों और उपभेदों से अपने को मुक्त कर चुका है। हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों की रचना में उक्त शास्त्रकारों की किसी भी मान्यता को मानने के लिए अपने को बाध्य नहीं किया। आज के नाटककार तो जयशंकर प्रसाद से भी आगे बढ़कर विचारों और भावों की स्वतंत्रता लेकर नाटक-साहित्य की रचना कर रहे हैं। आज का नाटककार केवल विषय भेद को मानता है और उसी के आधार पर नाटकों की श्रेणियाँ भी बन गई हैं, जैसे ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक। प्राचीन सुखान्तवाद के भी प्रतिबन्ध को तोड़ कर यथार्थवाद के आदर्शों का आधार मानते हुए दुखान्त नाटकों की भी रचना हुई है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन के अन्त में अच्छे कर्म करके सुख और आनंद की प्राप्ति कर ही लेता है इस सिद्धांत को आज का यथार्थवादी विचारक मानने में संकोच करता है और इसीलिए वह आदर्श वाद की उपदेशात्मक प्रवृत्ति लेकर दर्शक को जीवन के कठोरतम सत्य की अवहेलना करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त वस्तु-प्राधान्य और भावना प्रधान्य के भी आधार पर दो विचारकों के भेद स्थापित किये जा सकते हैं। गीतनाट्य एकांकी और नाटक यह आकार के विचार से भी प्रचलित भेद स्थापित हो गये हैं परन्तु इनमें प्रबन्धों की वह दृढ़ता नहीं है कि साहित्य केवल शास्त्रों की ही वस्तु बनकर रह जाये। मानव-जीवन के उद्घाटन करने वाले माध्यम के रूप में जब साहित्य आता है तो उसमें कला आपसे आप प्रस्फुटित हो जाती है।

रस, उद्देश्य, अभिनय, संकलन त्रिय, सिनेमा और रेडियो के विचार से नाटक की समीक्षा

रस और उद्देश्य :

जहाँ पाश्चात्य नाटककार नाटक-रचना में उद्देश्य की ओर अपना ध्यान विशेष रूप से ले गये हैं वहाँ भारतीय शास्त्रकारों तथा संस्कृत नाटककारों ने रस को नाटक के प्राणस्वरूप स्वीकार किया है। हमारे यहाँ रस का विवेचन नाटक से प्रारम्भ होकर साहित्य के प्रत्येक अंग में प्राण बनकर समा गया है। वस्तु, पात्र और रस यही नाटक के प्रधान अवयव हैं और इन्हीं के आधार पर नाटकों को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया गया है। रूपक में रस का होना

आवश्यकीय है और इसी लिए प्रत्येक रूपक में कोई रस अंगीरूप में वर्तमान् रहता है। उदाहरणस्वरूप भवभूति के उत्तररामचरित नाटक में करुण रस अंगी रूप में हैं। इस रस के अतिरिक्त जितने अन्य रस समय-समय पर आते हैं वह प्रधान रस के आश्रित होकर आते हैं। रस-मैत्री और रस-विरोधों का उचित निर्वाहन सफल कलाकार पर आश्रित रहता है। जिस प्रकार भारतीय नाटकों में कोई-न-कोई रस व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से हर समय नाटक में वर्तमान रहता है उसी प्रकार पाश्चात्य नाटककार किसी उद्देश्य विशेष को हर समय अपना लक्ष बना कर सामने रखते हैं। यह उद्देश्य जीवन की व्याख्या से लेकर किसी भी उद्देश्य विशेष तक व्यक्त और अव्यक्तरूप में नाटक का प्राणस्वरूप उसमें निवास कर सकता है। नाटक में आने वाले आंतरिक और बाह्य संघर्ष इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होते हैं। जिस प्रकार भारतीय नाटककार किसी रस विशेष को परिपक्व अवस्था में लाने के लिए पात्रों के विरोधी व्यवहारों का समावेश नाटक में करता है उसी प्रकार पाश्चात्य नाटककार अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पात्रों के विरोध से अपने उद्देश्य की सफलता का मार्ग खोज निकालता है।

दुखान्त नाटक और उनका भारत में प्रभाव :

नाटकीय विभाजन पर हम ऊपर भी प्रकाश डाल चुके हैं, परन्तु पाश्चात्य देशों में नाटकों का विभाजन-फल प्राप्ति अथवा अप्राप्ति के आधार पर भी किया है। जिन नाटकों का विषय लेखक गम्भीर चुनता था, उन्हें दुखान्त नाटक बनाने का प्रयास किया जाता था; क्योंकि दुःख में गाम्भीर्य की मात्रा अधिक रहती है और जिन नाटकों का विषय हलका और साधारण मनोरंजनपूर्ण तथा प्रसन्नतापूर्ण वातावरण का चुनता था उन्हें वह सुखान्त नाटक बनाता था क्योंकि सुख में गाम्भीर्य की मात्रा कम रहती है। भारतीय नाटककारों ने गाम्भीर और आद्योपांत दुःख के वातावरण से पूर्ण नाटकों को भी अन्त में सुखान्त ही करने का प्रयास किया है। भारतीय नाटककारों ने अपनी कला को मंगलमय रूप देना ही स्वीकार किया है, अमंगलमय रूप नहीं। जीवन की दुर्गम परिस्थितियों में पात्रों को न लेजाकर उन्हें सुगम मार्ग सुझाना ही अपना अभीष्ट समझना है और कला के इसी रूप में उन्होंने राष्ट्र तथा मानव-जाति दोनों के हित की कल्पना की है।

मानव-मनोवृत्ति में ईर्ष्या का आधिक्य ही आनंद में बाधक होता है। काव्यगत पात्रों की समुन्नत दशा पर ईर्ष्या होने का कारण नहीं। इसीलिए सामाजिकता का अभाव किसी भी व्यक्ति के काव्यानंद प्राप्त करने में बाधक नहीं होसकता। जिस व्यक्ति में ईर्ष्या का बहुत आधिक्य हो जायेगा उसे नाटक, उपन्यास और काव्य में भी आनंदानुभूति नहीं होगी। साहित्य व्यक्ति को लौकिक-बंधनों से मुक्त

करके मधुर जीवन के धरातल पर लेजाता है। बस यही वह स्थान है जहाँ आत्मा को काव्यानंद प्राप्त होता है, जिसे आचार्यों ने ब्रह्मानंदसहोदर की संज्ञा दी है। दुखान्त नाटकों का कष्ट क्या दर्शक को इस आनंद की प्राप्ति से दूर ले जाता है ? प्रश्न सामने यह आता है, ऐसा नहीं है। पाश्चात्य दुःखान्त नाटक (Tragedy) के अंतर्गत वहाँ के नाटककारों ने मानव-जीवन की गम्भीर समस्याओं की व्याख्या की है, इसीलिए उनमें दर्शकों की सुखान्त नाटकों की अपेक्षा अधिक सहानुभूति हो जाती है। यही सहानुभूति जीवन का वास्तविक सुख है और इसीसे हमारी आत्मा का विस्तार भी होता है। सुखान्त नाटकों में दर्शक के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होने के लिए स्थान रहता है, परन्तु दुखान्त नाटक में तो उसकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती। पात्रों की दुर्गम परिस्थितियों में पैठ कर दर्शक अपने जीवन के तुच्छ विचारों और संकीर्ण मनोवृत्तियों को फाड़कर गर्व का अनुभव करता है और उसे जीवन में कुछ क्षण के लिए वास्तविक जीवनानंद की प्राप्ति होती है।

भारतीय कलाकारों ने ईश्वरीय न्याय की रक्षा करने के लिए जीवन के इस दुखान्त पहलू को भुलाकर चलने का प्रयास किया है, परन्तु उनका यह प्रयास मानव की यथार्थवादी मनोवृत्ति को तृप्ति प्रदान न कर सका। उसने इस कठोर सत्य की अवहेलना की कि सुख में ही जीवन कुमार्गों की ओर अग्रसर होता है और दुःख में उसे अपनी परिस्थितियों से झगड़ते-ही-झगड़ते अवकाश नहीं रहता। भारतीय नाटककारों के सम्मुख ईश्वरीय न्याय की सुरक्षा के अतिरिक्त नाटकीय सिद्धांतों की मान्यता भी रही है। हमारे यहाँ रंग-मंच पर मृत्यु इत्यादि का दिखलाना वर्ज्य था। दुखान्त नाटकों में इस प्रकार की वर्ज्य परिस्थितियों का रंग-मंच पर लाना अनिवार्य था। इसीलिए भारतीय नाटककारों ने इस प्रणाली को अपनाना उचित नहीं समझा। उनका मत था कि दुःख के देखने से कभी उसकी मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और वह मनोवृत्ति आत्मा के विकास में बाधक है। इसलिए उस मनोवृत्ति के उदय में सहायक होने वाली दुखान्त साहित्य-रचना की प्रवृत्ति को रोकना उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझा। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में दुखान्त नाटकों का नितान्त अभाव है।

नाटक का अभिनयत्व :

ऊपर सांकेतिक रूप में स्पष्ट किया जा चुका है कि नाटक दो प्रकार के होते हैं, एक काव्य-नाटक और दूसरे अभिनय प्रधान नाटक। परन्तु नाटक, रूपक इत्यादि शब्दों के अर्थ से ज्ञात होता है कि इनका अभिनय से अन्योन्याश्रित सम्बंध है। इससे समझना चाहिए कि नाटक का प्रारम्भिक रूप अभिनय-प्रधान नाटक ही

रहा होगा और कालान्तर में नाटककारों ने नाटकों की रचना में काव्यत्व, कथावस्तु शैली इत्यादि का विकास करके काव्य-नाटक की रचना की होगी। परंतु नाटक का विकास हमें उसे अभिनय से पृथक करके दिखलाई नहीं दे सकता। अभिनय-योग्य नाटकों की रचना के लिए नाटककार को रंग-मंच का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि उसका ज्ञान हुए बिना वह न तो रंग-मंच की आवश्यकताओं को ही समझ सकता है, और न यह ही जान पाता है कि प्रदर्शित होने पर दर्शक उससे किस प्रकार प्रभावित हो सकते हैं।

नाटक के दोनों ही रूपों का साहित्य में समान रूप से विकास हुआ है और इनमें से किसी भी रूप को गौण या प्रधान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों से ही दर्शकों तथा पाठकों को काव्यानंद की प्राप्ति होती है। काव्य-नाटकों को अंग्रेजी में (Closet Drama) कहते हैं। स्वान्तः सुखाय सिद्धान्त के प्रतिपादक नाटककारों ने इस प्रकार के नाटकों की रचना की है। रंग-मंच अथवा प्रदर्शन का उन कलाकारों के सम्मुख कोई महत्व नहीं, बल्कि प्रदर्शन करके वह समझते हैं कि कला की गिरावट होती है। पैसा कमाना उनका उद्देश्य नहीं रहता, और रंगमंच की स्थापना जहाँ नाटक का प्रदर्शन करने के लिए की गई है, वहाँ यह नहीं भुलाया जासकता कि उसे व्यवसाय बनाकर उससे पैसा कमाना भी उसका उद्देश्य रहा है। परन्तु दूसरा पक्ष अभिनय को नाटक का प्राण समझता है और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने नाटक में उस भाषा का प्रयोग करता है कि जो रंग-मंच पर सफल हो सके। उसकी नाटक-रचना का संगठन अभिनय कर्त्ताओं तथा दर्शकों की सुविधाओं पर आधारित रहता है। इस प्रकार का नाटककार चाहे सुन्दर साहित्यक शैली का सृजन करने में समर्थ न हो सके परंतु अभिनेयत्व की कमी उसके नाटकों में नहीं आसकती और प्रदर्शन के क्षेत्र में भी उनकी प्रभावात्मकता पूर्ण रूप से प्रभावशाली ही रहेगी। समय और परिस्थिति के अनुकूल वातावरण और दृश्य-विधान उपस्थित करनेमें यह दक्ष रहता है। यहाँ यह बात तो माननी ही होगी कि साधारण दर्शकों के क्षेत्र में काव्य-प्रधान नाटकों की अपेक्षा अभिनय-प्रधान नाटक ही अधिक सफल सिद्ध होंगे, परन्तु साहित्य कारों की मंडली में श्रेय काव्य नाटकों को ही प्राप्त रहेगा। इसी धारणा के आधार पर कुछ विद्वानों का तो यह स्पष्ट मत हो गया है कि यह दोनों प्रकार के नाटक पृथक-पृथक ही रहेंगे और इनका कोई साम्य उपस्थित नहीं किया जासकता, परन्तु हमारा विश्वास है कि भारत में ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार होगा और साधारण जनता साहित्य तथा भाषा के निकट आयेगी त्यों-त्यों नाटकों के ये दोनों रूप साम्यता की ओर अग्रसर होंगे।

नाटक और उपन्यास :

उपन्यास और नाटक के दृष्टिकोण तथा रचना में अनेकों साम्य होने पर भी रूप में प्रधान भेद उपस्थित हो जाते हैं। साहित्य के ये दोनों ही अंग मानव-जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या उपस्थित करने वाले हैं, परन्तु उनके व्याख्या करने के क्षेत्र तथा प्रणालियाँ एक दूसरे से बहुत पृथक हैं। उपन्यास के कथानक को पाठक गत कथाओं के रूप में पढ़कर ग्रहण करता है और नाटक के कथानक को दर्शक अपने नेत्रों के सम्मुख देखता है। उपन्यास का आनंद-लाभ पाठक को जहाँ अपनी अनुभूति और कल्पना का आश्रय लेकर करना होता है वहाँ नाटक का आनंद-लाभ दर्शक को अपने नेत्रों और कानों के ही सहयोग से प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार उपन्यास का क्षेत्र जहाँ केवल शब्दों तक ही रहकर सीमित हो जाता है वहाँ नाटककार उन शब्दों की पूर्ति अभिनय द्वारा करके उसका साकार रूप नेत्रों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। कथानक और पात्रों का जैसा प्रयोग उपन्यास में रहता है उसका नाटक में भी समावेश रहता है परन्तु नाटक की रूप रचना में बहुत बड़ा भेद है और इसी भेद के आधार पर नाटक के तत्त्वों में भी भेद उत्पन्न हो जाता है। उपन्यास जहाँ आराम के साथ अपने पलंग पर बैठकर पढ़ने की वस्तु है वहाँ नाटक के दर्शक को थियेटर अथवा सिनेमा जाने का कष्ट करना पड़ता है। परन्तु साथ ही जिस उपन्यास में कई दिन सिर खपाना पड़ता है वहाँ उसीका नाटक दो ढाई घण्टे में देखकर वाह-वाह करते हुए घर लौटा जासकता है। साथ ही नाटक अथवा उपन्यास में आये हुए नृत्य, संगीत इत्यादि का जो मनोहर वातावरण नाटक में उपस्थित होता है वह उन्यास में कहाँ?

नाटक में नाटककार को अपने पात्रों के विषय में कुछ कहने का अधिकार नहीं रहता। इसीलिए कभी कभी नाटक देखते समय बहुत से दर्शक नाटक और उसके आनंद की प्राप्ति में अधूरे ही रह जाते हैं परन्तु उपन्यासकार स्थान-स्थान पर अपनी ओर से पाठक के भ्रम को हटाता हुआ चलता है और उसके फलस्वरूप पाठक को कथानक और उसके पात्रों के समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती। जहाँ नाटककार विश्लेषणात्मक आश्रय नहीं लेसकता वहाँ उपन्यासकार उसके आधार पर अपने मूर्ख-से-मूर्ख पाठक को भी आनंदानुभूति करा सकता है। उपन्यास के कथोपकथन नाटक की अपेक्षा लम्बे रहते हैं, क्योंकि उन्हें मंच पर बोलने के लिए नहीं लिखा जाता। उपन्यास का इस प्रकार अभिनय-नाटक की अपेक्षा काव्य-नाटक से अधिक साम्य ठहरता है।

संकलन त्रिय (Three Unities) :

नाटक-रचना पर प्रकाश डालने के अन्त में संकलन त्रिय को भी संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है। इनका आधार प्राचीन यूनानी नाटकीय शास्त्रों पर है परन्तु इनका समावेश आधुनिक युग में आकर कुछ-कुछ हमारे नाटकों में भी हुआ और इनका विवेचन करना भी इसीलिए हमारे सिद्धांतकारों ने उचित समझा है। संकलन त्रिय का मूल अर्थ यह है कि इनके द्वारा स्थल, काल और कार्य में एकता की स्थापना की जाती है। रंग-मंच के विचार से इनका प्राचीन काल में विशेष महत्त्व रहा है परन्तु आज के युग में सिनेमा के आविष्कार ने इस प्रतिबन्ध को निर्मूल सा ही टहरा दिया है। संकलन त्रिय का अभिप्राय था कि नाटककार को एक सी स्थल की घटनाओं को रखकर स्थल की एकता (Unity of place), एक ही समय की घटनाओं को लेकर समय की एकता (Unity of time), एक ही समस्या को लेकर कार्य की एकता (Unity of action) को स्थापित करके नाटक की रचना करनी चाहिए। यूनानी रंग-मंच की यह आवश्यकताएँ थीं क्योंकि वहाँ के नाटकों में दृश्य नहीं बदलते थे। यह प्रतिबंध आज के नाटककार के लिए मान्य नहीं है, आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों में रंग-मंच को इतना व्यापक बना दिया है कि उन पर बहुत ही व्यापक स्थान, समय और समस्याओं को सुगमता पूर्वक प्रदर्शित किया जासकता है।

एकांकी नाटक :

रूपक की विवेचना करते समय उसके कई रूपों को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि वह प्राचीन एकांकी नाटकों की विशुद्ध परिभाषा बन सकते हैं। परन्तु आधुनिक एकांकी नाटकों का उदय इसी युग में हुआ, यह बात वर्त्तमान एकांकी नाटकों पर समालोचनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात हो जाती है। नाटक देखने के लिए समय से पूर्व आजाने वाले दर्शकों के मनोविनोदार्थ प्रारम्भ में एकांकी नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई थी। जब दर्शकों ने इन्हें अपनाना प्रारम्भ कर दिया तो इनकी व्यापकता और इनका प्रचार बढ़ना प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार एकांकी नाटकों के मूल में ही समय बचाने वाली मनोवृत्ति विद्यमान रही है। भारतेन्दु जी के काल में जो एक दो एकांकी लिखे गये उनमें भारतीय नाटकादर्शों का पालन अवश्य मिलता है परन्तु आधुनिक एकांकी नाटक-साहित्य तो पूर्ण रूप से पाश्चात्य नाटय-कला की देन है और उनकी रचना में रस, पात्र तथा संधियों का वह संगठन नहीं जो भारतीय नाटकों में आवश्कीय माना गया है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि हिन्दी-एकांकी नाटकों में पाश्चात्य कला को अवश्य अपनाया गया है, परन्तु उनमें पूर्णरूप से भारतीय प्रवृत्तियों का चित्रण मिलता है।

भारतीय थियेटर :

रंग-मंच की स्थापना प्रारम्भ में नाटक-साहित्य की जनता में लोकप्रियता प्राप्त कराने के लिए की गई होगी और इसमें उसे सफलता भी मिली। ज्यों-ज्यों रंग-मंच का विकास हुआ त्यों-त्यों नाटकों के अभिनय में भी आकर्षण आने लगा। और जब थियेटर कम्पनियों का भारत में उदय हुआ तो उनके रंग-मन्च पर विद्युत के प्रकाश तथा मंच के चलते फिरते आविष्कारों ने दर्शकों को विद्युत-गति के ही साथ अपनी ओर आकर्षित किया।

सिनेमा :

थियेटर कम्पनियाँ अपनी नवीनताएँ लेकर दर्शकों के सम्मुख आईं और एक बार को भारत भर में उनकी धूम मच गई। अनेकों कम्पनियाँ बनीं और अपने अपने चमत्कारों से उन्होंने दर्शकों को रिझाया, परन्तु इसी समय सिनेमा का आविष्कार होगया। प्रारम्भ में चुपचाप रहने वाली तस्वीरें सिनेमाओं में आईं और उनका जनता ने स्वागत किया, परन्तु उनमें वह आकर्षण कहाँ था कि जो थियेटरों की बढ़ती हुई ख्याति और लोकप्रियता को रोक पाते? थियेटरों की रंगीनियों से टक्कर लेने के लिए सिनेमा रंग-मंचों पर नृत्य और संगीत के आयोजन किये गये, परन्तु यह संगीत और नृत्य क्योंकि सिनेमा के कथावस्तु से कोई सम्बंध नहीं रखते थे इसलिये इनका बिखरा-बिखरा प्रभाव दर्शकों पर पड़ता था और इसीलिए यह दर्शकों का मन थियेटरों की ओर से हटाकर पूर्णरूप से अपनी ओर आकर्षित करने में अधिक सफल न हो सके।

बोल-चित्र आविष्कार :

सिनेमा क्षेत्र में जहाँ तक दृश्यों के प्रदर्शन का सम्बंध था वह थियेटरों से बहुत आगे बढ़ चुका था। अच्छे-अच्छे अभिनेताओं को अधिक वेतन देकर भी फ़िल्म कम्पनियों ने अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इसलिए दृश्य और अभिनय के क्षेत्र में सिनेमा थियेटरों पर बाज़ी मार चुके थे। सिनेमा में ध्वनि संचार होते ही चलती-फिरती तस्वीरें में प्राणपन प्रतीत होने लगा और नेत्र सौंदर्य के साथ ही-साथ कानों में भी संगीत और कथनोपकथनों का रस घुलना प्रारम्भ होगया। कला ने उन्नति की, बड़े-बड़े मधुर कंठ वाले गवैयों ने सिनेमा व्यवसाय में जाकर ख्याति प्राप्त की और दर्शकों के लिए वह अमर चित्र प्रदान किये कि जिनका रंग-मंच पर प्रस्तुत करना असम्भव है।

सिनेमा में अभिनय और शब्द-ध्वनि की न्यूनताओं को सही करके दर्शकों के

सम्मुख लाने का पूर्ण अवकाश रहता है, जो कि थियेटर में नितांत असम्भव है। इसीलिए सिनेमा नाटक की उच्चतम से उच्चतम सीढ़ी तक पहुँच सकता है।

प्लेबैक :

अभिनय और शब्द में साम्य पैदा करके आधुनिक सिनेमा-चित्र निर्माताओं ने इस प्रकार सुन्दर मधुर शब्द और सुन्दर अभिनय में सामंजस्य स्थापित कर दिया है। आज के युग में यह भी आवश्यक नहीं रह गया है कि जो व्यक्ति मंच पर अभिनय कर रहा है वह बोल भी रहा हो। अभिनय दूसरा व्यक्ति करे और कथोपकथन तथा संगीत किसी दूसरे व्यक्ति के हों—यही प्रधानतया आज हो रहा है। इस दिशा में चित्र-निर्माताओं को बहुत सफलता मिली है और वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण रूप से सफल रहे हैं।

सिनेमा और नाटक साहित्य में अंतर :

नाटक-साहित्य की रचना केवल रंग-मंच पर प्रस्तुत करने के ही अभिप्राय से नहीं की जाती वरन् वह काव्य साहित्य की भांति पढ़े भी जाते हैं। शाकुंतल और उत्तररामचरित के पढ़ने में अभिनय देखने की अपेक्षा पाठक को कुछ कम आनंद-लाभ नहीं होगा। परन्तु सिनेमा के लिए जो कथानक लिखे जाते हैं उनका महत्त्व केवल प्रदर्शन तक ही सीमित रहता है। साहित्य में उनका कोई स्थान नहीं बन पाता। नाटक में जहाँ रचना पर विशेष ध्यान रहता है वहाँ सिनेरियो लेखक का ध्यान दृश्यों के आकर्षक बनाने तक ही सीमित रह जाता है। प्राचीन नाटकों में कविता का भाग पर्याप्त मात्रा में मिलता है परन्तु आधुनिक नाटकों मे यह प्रवृत्ति विकास नहीं पा रही। सिनेमा-नाटकों में तो रस को प्रश्रय दिया ही नहीं जासकता क्योंकि ऐसा करने से खेल में अस्वाभाविकता आजायेगी और दर्शक उससे ऊब उठेंगे। वास्तव में सिनेमा पांडित्य-प्रदर्शन का क्षेत्र नहीं है, वह तो जनता के मनोरंजन की वस्तु है। सिनेमा द्वारा जनता में जाग्रति पैदा की जासकती है, उसे सुशिक्षित बनाया जासकता है, उसे उसके कर्तव्य का ध्यान दिलाया जासकता है, और इसी प्रकार राष्ट्र के उत्थान में आज के सिनेमा नाटक का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सरकार को चाहिए कि वह इस दिशा में नियंत्रण से काम ले और चित्र निर्माताओं की बागडोरों को इतना ढीला न छोड़दे कि वे अपने व्यवसाय को जनता की कुत्सित मनोवृत्तियों के उद्घाटन द्वारा केवल रुपया कमाने तक ही सीमित कर दें।

११८/ल

रेडियो रूपक :

रेडियो-रूपकों के प्रदर्शन में सिनेमा की अपेक्षा प्रदर्शन करने वालों पर बहुत अधिक प्रतिबन्ध हैं । यहाँ नेत्रों के कार्य करने के लिए कोई क्षेत्र नहीं है। केवल कानों से सुन भर लेने से ही श्रोता को पूर्ण ज्ञान और आनंद की प्राप्ति हो जानी चाहिए। इसलिए रेडियो-रूपक के अभिनय कर्त्ताओं को विशेष रूप से साध कर अपने कंठ-स्वर को निकालना होता है। रेडियो-रूपक में समय का प्रतिबंध सबसे अधिक रहता है। थोड़े से समय में गिने-चुने शब्दों के अन्दर कुछ वाद्य-ध्वनियों के साथ कार्य सम्पूर्ण कर देना होता है। हाँ इनमें इतना आश्रय अवश्य लिया जाता जितना आवश्यक है। कथोपकथनों के बीच मे सूत्रधार कुछ शब्द कहकर कथावस्तु को आगे बढ़ा लेजाता है। अंग्रेजी में इस प्रकार के एकांकी (Features) कहलाते हैं। रेडियो-रूपक एक प्रकार से उपन्यास और नाटक के बीच की वस्तु हैं जिनमें सूत्रधार को भी समझाने के लिए अवकाश रहता है।

रेडियो-श्रोताओं के लिए रेडियो रूपकों ने विशेषसुविधा प्रदान की है और उन्हे सिनेमा घरों की भीड़ में जाकर परेशान होने से बचा दिया है। रेडियो ने नाटक के इस नवीन रूप को प्रस्तुत करके साहित्य को एक नवीन दिशा प्रदान की है। यहाँ यह निश्चयात्मक रूप से कहा जासकता है कि रंग-मंच पर खेले जाने वाले नाटकों की अपेक्षा लेखक को इन नाटकों में अपने गहन गम्भीर विचारों के प्रदर्शन के लिए अधिक क्षेत्र है। आज के भारतीय रंगमंच और सिनेमा की शत प्रतिशत जनता की अभिरुचि का मुँह ताकना पड़ता है और इसीलिए साहित्य का विशुद्ध रूप उस क्षेत्र में अभी तक प्रस्फुटित नहीं हो पाया, परन्तु रेडियो-विभाग ने हिन्दी के अच्छे साहित्यिकों को अपनाकर इस दिशा में आशातीत प्रगति की है।

हिन्दी में नाटक-साहित्य का क्रमिक विकास :

इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि हिन्दी-नाटक-साहित्य का प्रारम्भ काव्य-नाटक (Dramatic poetry) से हुआ। **हनुमन्नाटक** और **समय सार** नाटक इसी कोटि के अंतर्गत आते हैं। कलात्मक दृष्टि से **प्रबोध चंद्रोदय नाटक** (र० का० लगभग १६४३ ई०) हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक है। यह संस्कृत का अनुवाद ब्रजभाषा में है। इसके पश्चात लगभग १७०० ई० में **आनन्द-रघुनन्दन** नामक मौलिक नाटक की रचना रीवाँ नरेश महाराज शिवसिंहजू ने की। यह हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक है। इसकी रचना भी ब्रजभाषा में ही हुई। इस प्रकार हिन्दी-नाटक-साहित्य ने अनुवाद और मौलिक क्षेत्र में प्रगति की।

इसी परम्परा में हमें आगे चलकर राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद **शकुन्तला** नाटक तथा गोपाल चन्द्र कृत **नहुप** नाटक मिलते हैं। इनके अतिरिक्त इस प्रारम्भिक काल में रंग मंचीय नाटकों की भी रचना हुई। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के मतानुसार **जानकी-मंगल** (र० काल० १८६२ ई०) हिन्दी का सर्वप्रथम रंगमंच पर खेला जाने योग्य नाटक है, परन्तु वह नाटक उपलब्ध नहीं। रंग मन्चीय नाटकों में सर्वप्रथम नाटक **इन्द्र-सभा** (र० काल १८५३ ई०) मिलता है जिसकी रचना सैयद आगा हसन अमानत ने की। इस नाटक के लिए विशेषतौर पर लखनऊ के कैसरबाग में रंगमंच बना और स्वयं नवाब वाजिद अली शाह ने उसमें इन्द्र का अभिनय किया। **इन्द्र-सभा** गीत नाट्य है। इस प्रकार गीत नाट्य से ही हिन्दी की रंगमंचीय नाटकों की प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी साहित्यिक नाटककारों का रंगमंच की ओर ध्यान नहीं गया और वे जनता के निकट नहीं पहुँच सके। यही कारण है कि हिन्दी का नाटक-साहित्य और उसका लेखक जनता में विशेप ख्याति प्राप्त न कर सका। बिल्कुल यही दशा हमें साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी मिलती है। केवल उपन्यास और कहानी-क्षेत्र में मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्य को जनता तक लाने का प्रयास किया और इसमें उन्हें आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई। उक्त कथन से यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दी नाटक प्रारम्भ में चार धाराओं से बहता हुआ सामने आया (१) नाटकीय कविता (२) अनुवादित नाटक (३) मौलिक साहित्यिक नाटक और (४) रंगमंचीय नाटक।

द्वितीय विकास :

नाटक साहित्य के प्रथम विकास-काल में हमें कोई विशेष क्रमबद्धता दिखलाई नहीं देती परन्तु फिर भी धाराएँ विशुद्ध रूप से पृथक-पृथक दिखलाई देती हैं। द्वितीय विकास का श्रेय प्रधानतया भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र जी को पहुँचता है। यह काल १८६७ से १८८५ ई० तक का था, जब एक प्रकार से समस्त भारत को पदाक्रान्त कर अंग्रेज यहाँ की समाज, संस्कृति और राजनीतिक विचार-धाराओं को कुचल कर पूर्णरूप से भारत को अपना दास बनाने पर उतारू हो चुके थे। ऐसे गम्भीर काल में जहाँ एक ओर ईसाई मिशनरियों के बढ़ते हुए प्रभाव को स्वामी दयानंद सरस्वती, राजाराम मोहनराय और केशव चन्द्रसेन इत्यादि महापुरुषों ने रोका वहाँ दूसरी ओर भारतीय साहित्यकारों ने भी अपना मार्ग प्रशस्त किया। अंग्रेजों के संपर्क में आकर बंगाल में **रामनारायण तर्करत्न** (१८२२-१८८६ ई०), **माईकेल मधुसूदन दत्त** (१८२४-१८७३ ई०) तथा **दीनबंधु मित्र** (१८३०-१८७४) इत्यादि प्रमुख लेखकों में नाटक-साहित्य-रचना में नवीन प्रवृत्तियों का

संचार किया और भारतीय संस्कृति का अपने साहित्य द्वारा पाठकों में धारावाहिक प्रवाह बनाये रखने में भरसक सहयोग दिया। अपने समकालीन इन्हीं लेखकों के साहित्य पर दृष्टि डालते हुए **भारतेन्दु बाबू** ने (१) अनुवादित (२) रूपान्तिरित और (३) मौलिक रचनाएँ हिन्दी साहित्य और भारतीय राष्ट्र को प्रदान कीं।

रत्नावली-नाटिका पाखण्ड-विडम्बन, धनंजय-विजय, कर्पूर-मंजरी, मुद्राराक्षस, दुर्लभबंधु आपके अनुवादित नाटक हैं। इन नाटकों के अनुवाद का प्रयास बहुत ही सराहनीय है। अनुवाद बहुत ही स्वतंत्र प्रकृति को लेकर किये गये हैं। भारतेन्दु जी संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के अद्वितीय विद्वान थे। भारत की प्राचीन संस्कृति और काव्य के उत्थानार्थ आपने यह नाटक-रचना की, यह स्पष्ट ही है। इसी काल में बाबू बालेश्वर प्रसादजी ने मर्चेन्ट आफ़वेनिस का अनुवाद **वेनिस का सौदागर** नाम से किया। यह हिन्दी में अंगरेजी नाटक का सर्वप्रथम अनुवाद है। भारतेन्दु जी के रूपान्तरित (Adaptations) नाटकों में **विद्यासुन्दर** और **सत्य हरिश्चन्द्र** इत्यादि नाटक आते हैं। **प्रेमजोगिनी, चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी** सती प्रलाप और **वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, विषमस्य विषमौषधम्,** तथा **अंधेर नगरी** प्रहसन आपकी मौलिक रचनाएँ हैं।

भारतेन्दु जी का हिन्दी का नाटक-साहित्य उनकी रचनाओं के कारण तो आभारी है परन्तु आपने जो अपने समकालीन लेखकों को साहित्य-रचना के लिये प्रोत्साहित किया वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। आपने कई नाटक-कम्पनियों की स्थापना कराके जनता को पारसी कम्पनियों के कुप्रभाव से बचाने का सफल प्रयास किया। आपने नाटकों में गद्य और पद्य का रूप स्थिर करके भाषा को प्रांजल बनाया, समय की आवश्यकताओं के अनुसार प्राचीन संस्कृत परिपाटी को परिवर्तित और परिवर्धित किया। नाटकों को आचार्यों के नियमित किये व्यर्थके आडम्बरोंसे मुक्त किया, नाटकोंके नये रूप सामने लाये, दुखान्त नाटक भी लिखने प्रारम्भ किये और इस प्रकार साहित्य तथा रंग-मंच दोनों दिशाओं में आपने नाटक साहित्य का नेतृत्व किया।

श्री सोमनाथजी गुप्त ने भारतेन्दु-काल के नाटकों में भारतेन्दु द्वारा प्रतिष्ठित शैलियों और विचार-धाराओं का विकास निम्नलिखित धाराओं में विभाजित किया है।

(अ) पौराणिक धारा :

इसके अंतर्गत तीन उपधाराएँ हैं—एक रामचरित को लेकर चलती है और दूसरी कृष्ण-चरित को। अतएव इनके नाम क्रमशः **रामचरित-धारा** और

कृष्ण-चरित-धारा ही उपयुक्त प्रतीत होते हैं। तीसरी धारा अन्य पौराणिक आख्यानों से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों और घटनाओं को अपना आधार मानकर चलती है।

(आ) ऐतिहासिक धारा :

यह ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं से सम्बन्ध रखती है।

(इ) राष्ट्रीय धारा :

इसमें देश-प्रेम सम्बन्धी नाटक सम्मिलित हैं।

समस्या प्रधान-धारा :

धार्मिक और सामाजिक उद्धार की प्रेरणाओं को लेकर इसका जन्म हुआ।

(उ) प्रेम-प्रधान-धारा :

प्रेमपूर्ण आख्यान ही इसकी विशेषता है।

(ऊ) प्रहसन धारा :

इसमें विनोद और व्यंग्य पूर्ण छोटे-छोटे प्रहसनों की प्रधानता है। ये प्रहसन कभी-कभी नाटक भी कहलाते हैं।

उक्त धाराओं के अंतर्गत इस काल का नाटक-साहित्य विकसित हुआ। इन धाराओं की उल्लेखनीय रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

[१] शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत रामचरितावली—[२]—देवकी नंदन त्रिपाठी कृत पौराणिक धारा—(रामचरित प्रधान) सीताहरण—(१८७६) रामलीला (१८७६)—[३] रामगोपाल विद्यान्त कृत रामाभिषेक (१८७७)-[४] बलदेवजी कृत रामलीला विजय १८८७—[५]दामोदर सप्रेम शास्त्री कृत रामलीला सात काँड (१८८६)—[६] शिवशंकरलाल कृत रामयश दर्पण (१८९२)—[७] जयगोविन्द कृत राम चरित्र (१८९४)—[८] नन्दी दीन दीक्षित कृत सीताहरण (१८९५) सीता स्वयंवर (१८९६)—[९] ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत सीतावनवास (१८९५), रामलीला रामायण (१९०४)-[१०] वामनाचार्यगिरि कृत वारिदनाद-वध-व्यायोग (१९०४)।

कृष्ण चरित प्रधान :

[१] शिवनंदन सहाय कृत कृष्ण सुदामा (१८७०)—[२] देवकीनंदन त्रिपाठी कृत रुक्मणी-हरण (१८७६), कंस-वध, नन्दोत्सव (१८८०)—[३]

अम्बिकादत्त व्यास कृत ललिता (१८८४)—[४] हरिहरदत्त दुबे कृत महारास (१८८८) —[५] खड्गबहादुर मल्लकृत महारास (१८८५), कल्पवृक्ष (१८८६)–[६] गजराज सिंह कृत द्रोपदी-वस्त्र-हरण (१८८५)—[७] चन्द्र शर्मा कृत उषाहरण (१८८७)–[८] विद्याधर त्रिपाठी कृत उद्धव-वशीठ नाटिका (१८८७)–[९] दामोदर शास्त्री कृत बाल खेल या ध्रुव चरित्र (१८८९)—[१०] कार्तिक प्रसाद कृत उषाहरण (१८९१)—[११] अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत प्रद्युम्न-विजय (१८९३), रुक्मणी परिणय (१८९४)—[१२] कृष्णदत्त द्विज कृत श्री युगल विहार (१८९६)—[१३] प्रभुलाल कृत द्रोपदी वस्त्र हरण (१८९६)—[१४] सूर्यनारायणसिंह कृत श्यामानुराग नाटिका (१८९९)—[१५] बलदेव प्रसाद मिश्र कृत नंदविदा (१९००), प्रभास-मिलन (१९०३)–[१६] बिहारीलाल चटर्जी एवं काली कृष्ण मुकर्जी कृत प्रभास-मिलन (१९००)–[१७] राधाचरण गोस्वामी कृत श्री दामा (१९०४)—[१८] वामनाचार्य गिरि कृत द्रोपदी चीरहरण।

मिश्रित पौराणिक धारा :

इस धारा के अन्तर्गत गोपीचंद, भर्तृहरि, मोरध्वज, भक्त प्रह्लाद, भक्त ध्रुव इत्यादि महापुरुषों को लेकर चरित्र प्रधान नाटक लिखे गये। प्रारम्भिक नाटककारों में अन्नाजी, इनामदार, सखाराम बालकृष्ण सरनायक, श्रीमती लालीजी, पंड्या मोहन लाल विष्णुलाल, लाला श्री निवासदास और जगन्नाथ शरण के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त श्यामसुन्दर लाल दीक्षित कृत महाराज भर्तृहरि नाटक (१८७५); विष्णुगोविंद शिर्वादेकर कृत कर्ण-पर्व (१८७६); देवकीनंदन त्रिपाठी लखमी सरस्वती मिलन; बालकृष्ण भट्ट कृत दमयन्ती-स्वयंवर (१८८५); मंसाराम कृत ध्रुव तपस्या (१८८५); जीवानंद शर्मा कृत मंगल नाटक (१८८७); चुन्नीलाल रचित श्री हरिश्चन्द्र (१८८९); शालिग्राम कृत मोरध्वज (१८९०); अभिमन्यु वध (१८९६), अर्जुन मद-मर्दन; भवदेव उपाध्याय कृत सुलोचना सती (१८९३), अम्बाप्रसाद कृत वीरकलंक (१८९६); कैलाश नाथ वाजपेयी कृत विश्वामित्र (१८९७); दुर्गाप्रसाद मिश्र तथा कालो प्रसाद मिश्र कृत सरस्वती (१८९८); कन्हैयालाल का शील सावित्री (१८९९), लाला देवराज कृत सावित्री (१९००), कन्हैयालाल कृत अंजना सुन्दरी (१९०१) तथा सी० एल० सिन्ध का विपया चन्द्रहास (१९०२)।

भारतेन्दु जी की पौराणिक धारा के अंतर्गत उक्त रचनायें हिन्दी साहित्य में आईं और इनका रंग मंच पर भी स्वागत हुआ परन्तु इनमें कोई विशेष उल्लेखनीय रचना बनकर विशेष ख्याति प्राप्त न कर सकी। अनेक दोषों और अपूर्णताओं

के रहते हुए भी रामचरित धारा में आनंद रघुनन्द, कृष्ण चरित धारा में अयोध्यासिंह उपाध्याय के नाटक तथा मिश्रित पौराणिक धारा में शालिग्राम जी के नाटक उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक धारा :

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के सर्वप्रथम हिन्दी में नील देवी नाटक की रचना की और उसी परम्परा में श्री राधाकृष्णदास ने १८८२ में पद्मावती तथा १८९७ में महाराणा प्रताप नाटक लिखा इसी काल के काशीनाथ खत्री कृत तीन नाटक; बैकुंठनाथ दुग्गल कृत श्रीहर्ष; श्री निवासदास कृत संयोगिता स्वयंवर; गोपाल राम कृत यौवन-योगिनी; राधाचरण गोस्वामी कृत अमरसिंह राठौर (१८९५), बलदेव प्रसाद मिश्र कृत मीराबाई(१८९७), सैयद शेर अली कृत [illegible]ल हकीकत राय (१८९७) तथा गंगाप्रसाद गुप्त कृत वीर जयमल (१९०[illegible]) नाटक उपलब्ध हैं।

उन नाटकों में काशीनाथ खत्री की रचनाओं ने विशेष प्रसिद्धि पाई। राधाकृष्णदास कृत महाराणा प्रताप भी सुन्दर रचना है।

राष्ट्रीय धारा :

नाटकीय क्षेत्र में राष्ट्रीय-धारा की परम्परा भारतेन्दु जी ने भारत दुर्दशा नाटक लिखकर डाली। इसके पश्चात शरत कुमार मुकर्जी ने भारतोद्धार (१८८३); बद्रीनारायण 'प्रेमघन' ने भारत सौरभ (१८८७); खड्ग बहादुर मल्ल ने भारत आरत; (१८८५); अम्बिका दत्त व्यास कृत भारत-सौभाग्य (१८८७); दुर्गादत्त ने वर्त्तमान-दशा (१८९०); गोपालराम गहमरी ने देश-दशा (१८९२); जगतनारायण ने भारत-दुर्दिन (१८९५); देवकीनंदन त्रिपाठी ने भारत-हरण (१८९६) तथा प्रतापनारायण मिश्र ने भारत-दुर्दशा (१९०२) नाटकों की रचना की।

उक्त रचनाओं में श्री प्रेमघन जी का भारत-सौरभ उल्लेखनीय रचना है। नाटकीय उत्थान और उसके कलात्मक विकास की रूप रेखा का उक्त नाटकों में अभाव होने पर भी इनके कथावस्तु में समकालीन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक असंगठन का यथार्थवादी चित्रण मिलता है। देश की राजनीतिक हल-चलों की छाया इनमें वर्तमान है और साहित्यकारों का उसके प्रति आकर्षण भी उस काल की विशेष महत्वपूर्ण घटना है। राष्ट्रीय साहित्य का यह नवीनतम दृष्टि-कोण था जिसकी झलक इस साहित्य में मिलती है।

समस्या प्रधान धारा :

भारतेन्दु जी ने प्रेम-जोगिनी नाटक की रचना द्वारा सामाजिक समस्याओं की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। यथार्थवादी साहित्य का जन्म समस्या-मूलक साहित्य की इसी प्रेरणा से जन्म लेकर कार्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। इन रचनाओं में लेखक चरित्र-चित्रण द्वारा अपने विचारों को दर्शकों के सम्मुख उपस्थित करता है। पात्रों के पारस्परिक संवादों द्वारा ही लेखक समाज, राष्ट्र और व्यक्ति की समस्याओं पर प्रकाश डालता है। समस्या मूलक नाटकों तथा उपन्यासों ने कथोपकथनों को विशेष रूप से गम्भीरता और बल प्रधान किया और यहाँ तक कि उन्हें कथावस्तु से भी अधिक महत्व पूर्ण बना दिया। इस काल की प्रधान सामाजिक समस्यायें, बाल-विवाह। विधवा विवाह, वैवाहिक जीवन की विशेष कठिनाइयाँ तथा बुराइयाँ, स्त्रियों पर अत्याचार, शिष्टाचार का पतन, गो-वध, अछूत-प्रथा इत्यादि थीं और इन्हीं को-लेकर साहित्यकारों ने रचनायें लिखीं। पं० रुद्रदत्त शर्मा कृत **प्रबल विलाप** (१८८४) और जगन्नाथ भारतीय कृत **समुद्र यात्रा वर्णन** (१८८७) **वर्ण व्यवस्था** (१८८७) इत्यादि नाटक यहाँ पर उल्लेखनीय हैं। इस काल के लेखकों में भी प्रगतिशील मनोवृत्तियों का अभाव तथा प्राचीन रूढ़िवादिता के प्रति स्नेह था। परन्तु यह रहते हुए भी इस दिशा में आशा से अधिक प्रगति दिखलाई देती है। विवाह की समस्या पर श्री शरण ने **बालविवाह** (१८७४); राधा कृष्ण दास ने **दुखिनी बाला** (१८८०); देवकी नंदन त्रिपाठी **बाल-विवाह** (१८८१); काशीनाथ खत्री ने **विधवा-विवाह** (१८८२) निद्धि लाल ने **विवाहिता-विलाप** (१८८३); तोताराम ने **विवाह-विडम्बन** (१८८४); देवी प्रसाद शर्मा ने **बाल-विवाह** (१८८४); देवदत्त मिश्र ने **बाल-विवाह-दूषक** (१८८५); घन श्याम दास ने **वृद्धावस्था-विवाह-नाटक** (१८८८) तथा श्री दुहन लाल स्वामी ने **बाल-विवाह-नाटक** (१८६८) की रचना की नारी की समस्या को लेकर प्रतापनारायण मिश्र ने **कलि-कौतुक** (१८८६) कामता प्रसाद ने **कन्या-सम्बोधिनी**; खड़ग बहादुर मल्ल ने **भारत-ललना** (१८८८); बैजनाथ ने **वीर-नामा** (१८८३); छगनलाल कासजीवाल ने **सत्यवती** (१८६६); बालमुकन्द पांडे ने **गंगोत्तरी** (१८६७) पुत्तनलाल सारस्वत ने **स्वतन्त्र-बाला** (१६०३); बलदेव प्रसाद मिश्र ने **नवीन तपस्वनी** (१६०२) इत्यादि रचनायें उल्लेखनीय हैं। वेश्यावृत्ति पर राम गरीब चौबे ने **नागरी विलाप** (१८८५) और गौरी दत्त ने **सरीफी** (१६६०) नाटक लिखे।

उक्त नाटकों में लेखकों की रचना-कुशलता का कलात्मक विकास तो उतना उत्कृष्ट श्रेणी का देखने को नहीं मिलता पर दृष्टिकोण के विचार से नवीनता

आवश्यक है। यथार्थवाद की ओर अग्रसर होते हुए भी साहित्य में उपदेशात्मकता की ही परिपाटी दिखलाई देती है। यह भी नाटक प्रायः एकांकी के अधिक निकट हैं और इनमें गम्भीर संवादों का भी अभाव है।

प्रेम प्रधान धारा :

प्रेम-प्रधान धारा के अन्तर्गत श्री निवास दास ने रणधीर प्रेम मोहिनी (१८७७), तप्तासंवरण (१८८३); नानकचन्द ने चन्द्रकला (१८८३); अमन सिंह गोतिया ने मदन मंजरी (१८८४); खड्ग बहादुर मल्ल ने रति-कुसमायुध (१८८५); सतीश चन्द्र बसु ने मैं तुम्हारी ही हूँ (१८८६); कृष्णदेव शरण सिंह ने माधुरी रूपक (१८८८); विधेश्वरीप्रसाद ने मिथिलेशकुमारी (१८८६); किशोरी लाल गोस्वामी ने प्रणयिनी परिणय, मयंक-मंजरी (१८६१); शालिग्राम ने लावण्यवती सुदर्श (१८६२); खिलावन लाल ने प्रेम सुन्दर (१८६२) गोपाल राम ने विद्याविनोद (१८६२); राजेन्द्र सिंह ने प्रेमवाटिका (१८६२); गोकुलचन्द औदीच्य ने पुष्पवती (१८६४); बालमुकुन्द पांडेय ने गंगोत्री (१८६५); कालिका प्रसाद अग्निहोत्री ने प्रफुल्ल (१८६५); देवदिनेश मिनगा ने प्रेम-मंजरी (१८६४), कृष्ण नंद द्विवेदी ने विद्या विनोद (१८६४); जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने कुन्दकली (१८६५); जवाहरलाल वैद्य ने कममोहिनी भँवर सिंह (१८६८); व्रज जीवन दास ने प्रेमविलास भाग १ (१८६८); वजर प्रसाद ने मालती-वसन्त (१८६६); ज्ञानानंद जी ने प्रेमकुसुम (१८६६) जैनेद्र किशोर का सोमसती (१६००); सूर्यभान का रूपवसन्त (१६०१); शालिग्राम ने माधवानल काम-कन्दला (१६०४); हरिहर प्रसाद ने जिज्जल का जया (१६०३) तथा रायदेवी प्रसाद ने चन्द्रकला भानुकुमार (१६०४) नाटकों की रचना की।

उक्त नाटक सुखान्त है। श्री निवासदास कृत रणधीर-प्रेममोहिनी और शालिग्राम जी कृत लावण्यमयी-सुदर्शन नाटक दुखान्त हैं। इन नाटकों के कथानक आकस्मातिक घटनाओं से लड़ीबद्ध अवश्य है परन्तु फिर भी अतिमानुपिकता प्रयोग उनमें नहीं किया गया।

प्रतीकवादी धारा :

नाटक साहित्य की अन्य धाराओं के साथ ही साथ इस काल में प्रहसनों की रचना भी विशेष प्रगति के साथ हुई। प्रहसन लेखकों में देवकी नन्दन त्रिपाठी ने रक्षा बन्धन (१८७८), स्त्रीचरित्र (१८७६), एक एक के तीन-तीन (१८७६); कलयुगी जनेऊ (१८८६), वैलक्षेट के को, सैकड़ों में दस-दस (१८६०); बालकृष्ण भट्ट ने जैसा काम वैसा परिणाम (१८७७); रविदत्त ने देवाक्षर

चरित (१८८४); हरिश्चन्द्र कुल श्रेष्ठ ने ठगी की चपेट (१८८४); पन्ना लाल ने हास्यार्णव (१८८५); प्रतापनारायण मिश्र ने कलिकौतुक (१८८६); (१८६१); गोपालराम गहमरी ने दादा और मैं (१८६३); राधाचरण गोस्वामी बूढ़े मुँह मुहासे (१८८७); रामशरण शर्मा ने अनूठा रहस्य (१८८८; राधाचरण ने तन, मन, धनगोसांई जी के अर्पण (१८६०), भावतरंग (१८६२); माधव प्रसाद ने हास्यार्णव का एक भाग (१८६१); किशोरीलाल गोस्वामी ने चौपट की चपेट (१८६१); नवल किशोर चौधरी ने वेश्या (१८६३), बननेश मिश्र ने हास्य (१८६३); विजयानंद ने महा अंधेर नगरी (१८६२) प्रहसनों की रचना की।

उक्त प्रहसनों में सामाजिक समस्याओं को ही लेकर लेखकों ने छींटे कसे हैं और साथ ही कुछ सुधारवादी दृष्टिकोण भी अपनाया है। प्रहसन साहित्य अपने युग के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक चेतना का प्रतिनिधि साहित्य है और गम्भीर साहित्य की अपेक्षा लेखक गण इस धारा में अधिक खुलकर सामने आये हैं।

अनुवाद धारा :

संस्कृत अनुवाद : इस काल में संस्कृत के लगभग सभी नाटकों के हिंदी में अनुवाद किये गये। उत्तर राम-चरित नाटक के तीन अनुवाद १८७१, १८८६ और १८६७ में देवदत्त तिवारी, नन्दलाल विश्वनाथ दूबे तथा लाला सीताराम जी ने किये। लाला शालिग्राम जी और सीताराम ने मालती-माधव का अनुवाद १८८१ और १८६८ में किया; महावीर चरित का अनुवाद सीताराम जी ने १८६७ में किया। शकुन्तला का १६०२ में ज्वालाप्रसाद जी ने अनुवाद किया। १८६८ में सीतारामजी ने मालविकाग्निमित्र का अनुवाद; १८७६ और १८८५ में पं० शीतला प्रसाद तथा अयोध्या प्रसाद चौधरीने प्रबोध-चन्द्रोदय का अनुवाद ज्वाला प्रसाद मिश्र तथा अम्बिकादत्त व्यास ने १८६७ के लगभग वेणीसंहार का अनुवाद; १८८० के आस पास दयालसिंह ठाकुर, गदाधर भट्ट, बाल कृष्ण भट्ट, दामोदर शास्त्री तथा लाला सीताराम ने मृच्छकटिक के अनुवाद; १८७२-१८६५ और १८६८ में देवदत्त तिवारी, रामेश्वर भट्ट तथा बालमुकुन्द गुप्तने रत्नावली का अनुवाद किया। १६०० में लाला सीताराम ने नागानंद का अनुवाद किया।

उक्त अनुवादों में लाला बालमुकुन्द गुप्त के अनुवाद को छोडकर शेष अनुवाद बहुत सुन्दर नहीं बन पड़े। अनुवादों में वह सौंदर्य की छटा न आ पाई जो संस्कृत साहित्य में वर्तमान थी और इसीलिये इन अनुवादों को पढ़कर पाठक संस्कृत साहित्य की कला और उसके सौंदर्य का लाभ न उठा सके। परन्तु फिर भी यह अनुवादों का प्रयास इस दिशा में एक सफल प्रयास था।

बंगला से अनुवाद: सर्वप्रथम १८७८ और १८८० में माइकेल मधुसूदन दत्त के **पद्मावती** तथा **शर्मिष्ठा** के अनुवाद हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित हुए। बाबू ब्रजरत्न दास (हिन्दी नाटक साहित्य पृष्ठ १६०) के कथानुसार **शर्मिष्ठा** का अनुवाद श्री रामचरण शुक्ल ने किया परन्तु यह अनुवाद अपूर्ण है। सन् १८६५ में उदित नारायण लाल ने **अश्रुमती** और सन् १८८९ में मनमोहन वसु के **सती** नाटकों के अनुवाद किये। बाबूराम वर्मा ने **पद्मावती, कृष्ण कुमारी** तथा **वीरनारी** के अनुवाद १८८९ और १८९९ में किये। **नवाब सिराजुद्दौला** नाटक का अनुवाद शिवनंद त्रिपाठी ने १८९६ में किया ज्योतीन्द्रनाथ टाकुर के दो नाटकों का १८८१ और १९०२ में अनुवाद हुआ। **बूढ़े मुँह मुहासे लोग देखते तमासे** और **क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?** दो प्रहसन भी बंगला से अनुवाद होकर हिन्दी में आये। शरत और सरोजिनी के आधार पर **सज्जाद-संबुल** और सुरेन्द्र विनोदिनी के आधार पर **शमशाद सौसन** की रचना पं० केशवराम भट्ट ने सन् १८७७ और १८८० में की। यह दोनों ही नाटक रूपांतरित अनुवाद थे जिन्होंने भारतेन्दु जी की इस दिशा में प्रवाहित की गई धारा को क्रमबद्धता और बल प्रदान किया। सन् १८९९ में प्रकाशित **प्रभास मिलन** भी इसी धारा का नाटक है।